(119)

২
১

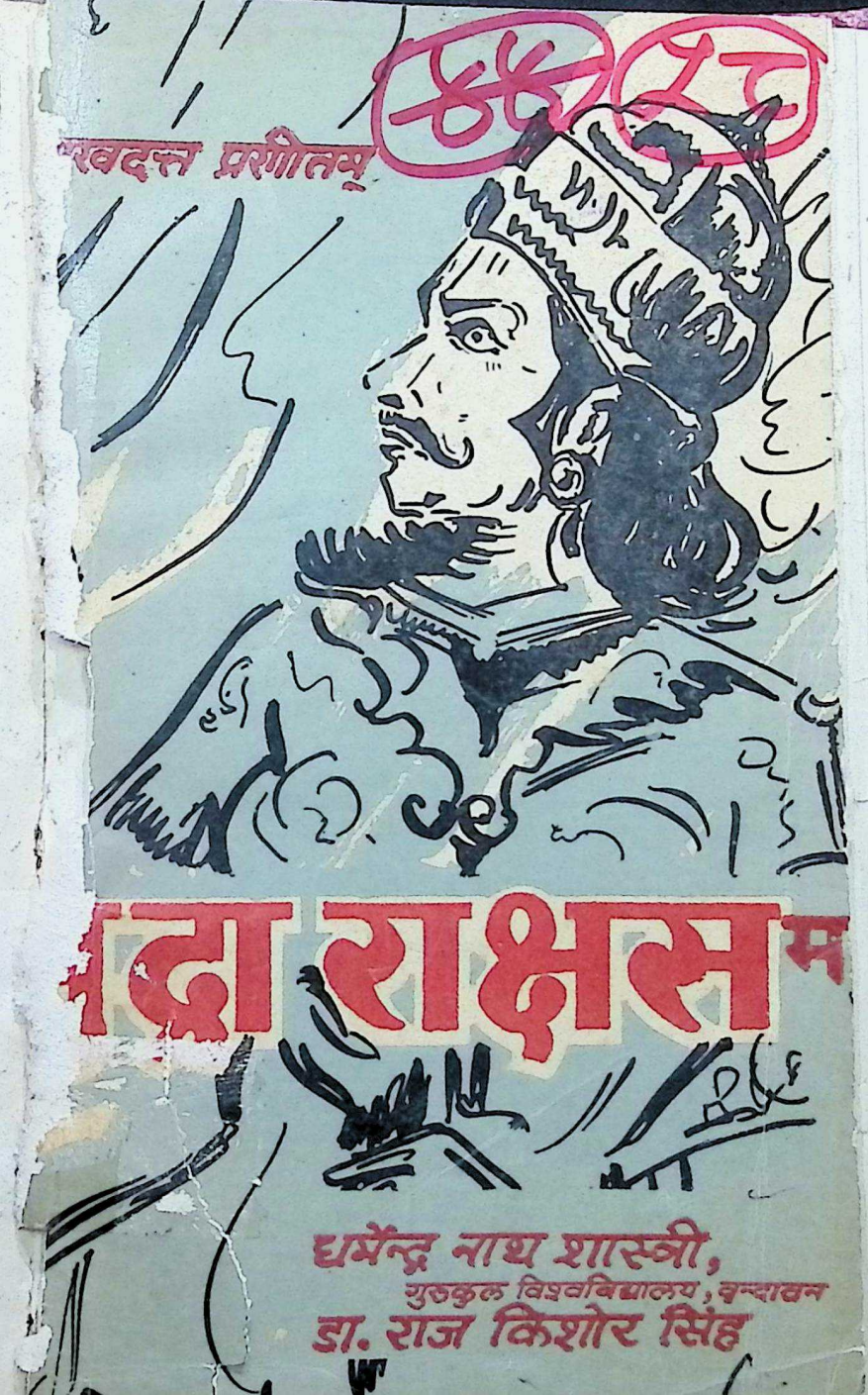
खदत्त प्रणीतम्
मुद्रा राक्षसम्
धर्मेन्द्र नाथ शास्त्री,
गुरुकुल विश्वविद्यालय, वृन्दावन
डा. राज किशोर सिंह

महाकविश्रीविशाखदत्तप्रणीतम्

मुद्राराक्षस-नाटकम्

संस्कृत व्याख्या, हिन्दी अनुवाद टिप्पणी, सर्वाङ्गपूर्ण भूमिका आदि से संवलित)

6888

प्राक्कथन-लेखक

तारिणीश झा

व्याकरणवेदान्ताचार्य

व्याख्याकार

धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री

साहित्याचार्य, दर्शनाचार्य, गुरुकुल विश्वविद्यालय, वृन्दावन

तथा

डॉ० राजकिशोर सिंह

एम० ए० पी-एच० डी०, शास्त्री साहित्य शिरोमणि

मूल्य : दस रुपये पचास पैसे (रु० 10·50) मात्र

प्रकाशन, केन्द्र न्यू बिल्डिंग्स, अमीनाबाद, लखनऊ

6888

159.8572
सि 685मु

★ प्रकाशक : प्रकाशन केन्द्र, न्यू बिल्डिंग्स, अमीनाबाद, लखनऊ

★ मूल्य : दस रुपये पचास पैसे (रु० 10·50) मात्र

★ सर्वाधिकार : कापीराइट प्रकाशकाधीन

मुद्रक : अनूप प्रिंटिंग प्रेस, इलाहाबाद

प्राक्कथन

महाकविविशाखदत्तरचित मुद्राराक्षस नाटक सुधी-समाज में अपनी महत्ता एवं गौरव के लिए विश्रुत है। इसमें शृंगारिक भावनायें उद्बुद्ध न होने के कारण भले ही यह रसिक जनों के लिए हृदयावर्जक न हो, किन्तु भावकों एवं बुद्धिवादियों के लिए मनस्तुष्टिकारिता में यह निःसन्देह अपना सानी नहीं रखता।

इस नाटक में सम्पूर्ण भारतीय राजनीति का रहस्य उद्घाटित करने का महनीय प्रयास लक्षित होता है—साम्राज्य का भविष्य अनियन्त्रित प्रभु-शक्ति पर नहीं, अपितु मन्त्र-शक्ति के द्वारा प्रभु-शक्ति के नियन्त्रण और दोनों के पारस्परिक सहयोग पर ही अक्षुण्ण रह सकता है—

अत्युच्छ्रिते मन्त्रिणि पार्थिवे च विष्टभ्य पादावुपतिष्ठते श्रीः।
सा स्त्री-स्वभावादसहा भरस्य तयोर्द्वयोरेकतरं जहाति॥
(मुद्राराक्षस अं० ४ श्लो० १३)

इसमें हास्य, हास्योत्पादक विदूषक, नायिका आदि का अभाव होने पर भी यह जन-साधारण से लेकर प्रबुद्ध सहृदय तक के अन्तस्तल को आप्यायित करता है—यह इसकी महती विशेषता है। इसके इतिवृत्त की समता संभवतः संस्कृत के किसी भी नाटक का इतिवृत्त नहीं कर सकता; क्योंकि अन्य नाटकों में इतिवृत्त चरित से स्वतन्त्र भी अपना अस्तित्व रखता है, पर मुद्राराक्षस का इतिवृत्त प्रमुख चरित की ही प्रेरणा से अनुप्राणित है। शैली, चरित्र-चित्रण आदि में भी यह नाटक अपने पूर्ववर्ती किसी भी नाटक से पीछे नहीं है; बल्कि अभिनेयता में तो यह बहुतों से आगे ही है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि प्रकृत नाटक नाट्यकला का उत्कृष्ट उदाहरण है।

किन्तु संस्कृत के अन्य नाटकों की भाँति इस नाटक को भी हृदयंगत करने

के लिए टीका-टिप्पणी की आवश्यकता पड़ती है। आये दिन इस पर न केवल राष्ट्रभाषा हिन्दी में ही अपितु अंगरेजी आदि कतिपय अन्य भाषाओं में भी टीका-टिप्पणी लिखी जा चुकी है। पर कोमलमति छात्रों के बोध के लिए सरल-सुगमतर टीका-टिप्पणी की अभी भी आवश्यकता है। इस बात को ध्यान में रखकर प्रस्तुत संस्करण के व्याख्याकारों ने सफल प्रयास किया है। उन्होंने इसकी विशद भूमिका में प्रायः सभी उपादेय सामग्रियों को समाविष्ट करते हुए उन पर अच्छा प्रकाश डाला है। इससे इसका महत्त्व बढ़ गया है।

आशा है, छात्रवृन्द इससे लाभान्वित होंगे।

6886

—तारिणीश झा
२८-१२-७३

सम्पादकीय

'मुद्राराक्षस' संस्कृत नाट्य साहित्य का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थरत्न है। यह विशाखदत्त द्वारा प्रणीत है। यह संस्कृत का नाटक परम्परागत मान्यताओं और रूढ़ियों से हटकर अपने नये आयाम स्थापित करने वाला सिद्ध हो चुका है। वस्तुतः यह सिद्धहस्त नाटककार की कृति है न कि महाकवि की। इसीलिए इसमें काव्य की अपेक्षा नाट्यकला की समग्र विशेषताएँ अभिव्यंजित हैं। इस नाटक में वीर रस का कल्पित उद्रेक नहीं है, इसमें शृंगार का नन्दन कानन नहीं है, करुण रस की निर्झरिणी नहीं है अपितु जीवन के कठोर यथार्थ की स्थापना है। इसमें कालिदास की शृङ्गारिक माधुरी और भट्टनारायण की कविता का अकाण्ड-ताण्डव भी नहीं है अपितु राजनीतिक ऊहापोह और चातुरी का प्रदर्शन है; अतः गम्भीर प्रभावात्मक नाटकीय योजना के द्वारा लेखक ने सहृदय पाठकों को बौद्धिक तुष्टि प्रदान की है। यह नाटक प्राचीन प्रभाववादी आलोचकों की अपेक्षा आज के प्रबुद्ध आलोचकों को अधिक प्रिय है। निश्चय ही नाटकीय एवं साहित्यिक सौन्दर्य के कारण मुद्राराक्षस संस्कृत का सफल नाटक होने के अतिरिक्त विश्वसाहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त करने का अधिकारी है।

'मुद्राराक्षस' की अनेक टीकाएँ और व्याख्याएँ उपलब्ध हैं किन्तु कोई भी पूर्ण और सन्तुलित नहीं। इसी अभाव को ध्यान में रखकर इसकी रचना हुई है। इसमें एक संतुलित और प्रामाणिक भूमिका है, जिसमें नाट्य-कला, उसका उद्भव, कवि और कवि की कृति से सम्बद्ध महत्त्वपूर्ण तथ्यों का सरल तथा रोचक शैली में प्रतिपादन किया गया है।

व्याख्या भाग में—मूल पाठ, हिन्दी अर्थ, व्याख्या, अलंकार, छन्द, कोष तथा व्याकरण आदि के द्वारा 'मुद्राराक्षस' के रहस्य को उद्घाटित करने का सफल प्रयास व्याख्याकार ने किया है। इस कार्य में व्याख्याकार को पूर्ण

सफलता मिली है। इसके अतिरिक्त परिशिष्ट में नाट्य-टिप्पणियाँ, सुभाषित-संग्रह और श्लोकसूची है जिससे पुस्तक की उपयोगिता और भी बढ़ गई है।

इस पुस्तक की एक अन्य विशेषता—इसका सन्तुलन है; न तो भूमिका और न ही व्याख्या अधिक विस्तृत है और न अधिक संक्षिप्त। इन्हीं शब्दों के साथ रचना प्रिय पाठकों को शुभ कामनाओं सहित समर्पित है।

—सम्पादक

भूमिका

काव्येषु नाटकं रम्यम्

मानव के हृदयगत आनन्द की शब्द रूप अभिव्यक्ति का नाम काव्य है। ब्रह्मानन्द और काव्यानन्द में यही अन्तर है कि ब्रह्मानन्द संसारनिरपेक्ष होता है, जबकि काव्य का आनन्द संसारनिरपेक्ष न होकर भी लौकिक तत्त्वों से ऊपर होता है। काव्य में व्यक्तित्व रहते हुए भी क्षुद्र स्वार्थों से वह ऊँचा होता है। कवि का हृदय जन साधारण के हृदय के साथ स्पन्दित होता है। कवि का दृष्टिकोण वैज्ञानिक की अपेक्षा अधिक मानवीय होता है। इसीलिए वह प्रकृति के तत्त्वों का भी मानवीकरण कर भावसमन्वित बना देता है। अतः काव्य महत्त्वपूर्ण तत्त्व है।

प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्रीय मान्यता के अनुसार काव्य-विभाजन के अनेक आधार हैं—(अ) इन्द्रिय, (ब) आकार और (स) बन्ध। इन्द्रिय के आधार पर काव्य का विभाजन विशेष रूप से मान्यता प्राप्त है। तदनुरूप काव्य दो प्रकार का है—श्रव्यकाव्य तथा दृश्यकाव्य। श्रव्यकाव्य वह काव्य है, जो कानों से सुना जाता है। दृश्यकाव्य वह काव्य है जो अभिनय के द्वारा देखा-सुना जाता है। नाट्यशास्त्र की मान्यता के अनुसार "देवताओं ने ब्रह्मा से यह निवेदन किया था कि हम एक ऐसा खेल चाहते हैं जो दृश्य-श्रव्य हो—"क्रीड़नकीयमिच्छामो दृश्यं श्रव्यं च यद् भवेत्।" नाटक ही एक ऐसा खेल है अथवा काव्य की विधा है जो दृश्य और श्रव्य इन दोनों ही कोटियों में आ जाता है। दृश्यकाव्य के आस्वाद के दो माध्यम होते हैं अतः दर्शक को उसका आनन्द सहज ही मिल जाता है। शिक्षित, अल्पशिक्षित एवं बालकों को सूक्ष्म की अपेक्षा मूर्त अधिक प्रभावोत्पादक होता है, बुद्धिगम्य होता है; अतः दृश्य काव्य का महत्त्व स्वयं सिद्ध है। श्री बलदेव उपाध्याय ने काव्य की विधाओं में

नाटक का सर्वाधिक महत्त्व प्रतिपादित करते हुए लिखा है कि—"काव्य की अपेक्षा नाटक की प्रतिष्ठा सदा अधिक रही है। काव्य के आनन्द से वंचित रहने वाले व्यक्ति भी नाटक का मनोहर अभिनय देखकर असीम अलौकिक आनन्द की उपलब्धि करते हैं। इसके लिए कारण की खोज में कहीं अन्यत्र जाने की आवश्यकता नहीं है। काव्य श्रवण-मार्ग से हृदय को आकृष्ट करता है तथा अपना प्रभाव जमाता है। परन्तु नाटक नेत्र-मार्ग से हृदय को चमत्कृत करता है। किसी वस्तु को देखने का आनन्द उसके सुनने की अपेक्षा कहीं अधिक होता ही है। काव्य में रसानुभूति के लिए अर्थ का समझना नितान्त आवश्यक होता है परन्तु नाटक में इसकी आवश्यकता नहीं। इसीलिये नाटक की समता चित्र से की गई है—

"सन्दर्भेषु दशरूपकं श्रेयः। तद्धि चित्रं चित्रपटवद् विशेषसाकल्यात्।"

जिस प्रकार चित्र भिन्न-भिन्न रंगों के सम्मिश्रण से सहृदय दर्शकों के चित्त में रस का स्रोत बहाता है, ठीक उसी प्रकार नाटक भी वेशभूषा,' नेपथ्य आदि उचित संविधानों से दर्शकों के हृदय में आनन्द का उदय कराता है। संस्कृत के प्रसिद्ध आलंकारिक वामन ने इसीलिये काव्यों में रूपक को विशेष महत्त्व प्रदान किया है। रूपक की श्रेष्ठता का एक और भी कारण है। काव्य की विशद रसानुभूति के लिये जिस कवित्वमय वातावरण की आवश्यकता होती है उसकी सृष्टि सभी नहीं कर सकते। वह तो कल्पना से प्रसूत होती है। इसीलिए काव्य का रसास्वाद सहृदयों को ही हुआ करता है। परन्तु अभिनय में तो रसोपभोग की सकल सामग्री वेशभूषा, नाना प्रकार के परदों आदि संविधानकों के द्वारा उपस्थित की जाती है। रसानुभूति के लिए वातावरण स्वयं उपस्थित हो जाता है। उसकी कल्पना करने की आवश्यकता नहीं रहती। यही कारण है कि साधारण व्यक्तियों के लिए भी काव्य की अपेक्षा नाटक का आकर्षण विशेष प्रभावशाली होता है। इसी से नाटक कवित्व की चरम सीमा माना जाता है—

"नाटकान्तं कवित्वम्"।

नाटककार भवभूति ने श्रेष्ठ नाटक का लक्षण मालतीमाधव में लिखते हुए बतलाया है कि "विभिन्न रसों का प्रचुर और प्रगाढ़ प्रयोग, सौहार्दपूर्ण हृदय-

हारी क्रियाकलापों का अभिनय, पराक्रम और प्रणय का चित्रण, विभिन्न कथा-वस्तु तथा विदग्धतापूर्ण संवादों से युक्त नाटक उत्कृष्ट कोटि के माने जाते हैं—

भूम्ना रसानां गहनाः प्रयोगाः,
सौहार्दहृद्यानि विचेष्टितानि।
औद्धत्यमायोजितकामसूत्रं
चित्राः कथा वाचि विदग्धता च।

इस प्रकार नाटक में रस, अभिनय, कथावस्तु, संवाद, गीत, नृत्य आदि का आनन्द एक स्थान पर ही मिल जाता है, अतः काव्य में नाटक की विधा एक महत्वपूर्ण विधा है।

भरत मुनि ने नाटक का लक्षण लिखते हुए लिखा है कि नाटक तीनों लोकों के भावों का अनुकरण है—

त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्त्तनम् (ना० शा० १/१०४)

तथा नाटक नाना भावों से सम्पन्न लोकवृत्त का अनुकरण है—

नानाभावोपसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मकम्।
लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम्॥
(ना० शा० १/१०८-९)

इसी प्रकार दशरूपककार धनजंय ने अवस्थानुकृति को नाटक कहा है—अवस्थानुकृतिर्नाट्यम् (१/७)।

अवस्था से यहाँ अभिप्राय मन तथा शरीर की वृत्तियों एवं दशा से है। अर्थात् नाटक बच्चों से लेकर वृक्षों तक को आनन्द प्रदान करता है। नाटक में मानव-जीवन की किसी भी अवस्था एवं भाव का अनुकरण हो सकता है, जहाँ मानव की वाणी मौन हो जाती है उन भावों को भी नाटक में अभिनय के द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है। नाटक में नृत्य, संगीत आदि से युक्त विभावादि का प्रदर्शन होता है—नाट्यं गीतादि रंजितम् (महिमभट्ट)। नाटक में सुख-दुःख की अवस्थाओं का अभिनय भी होता है—

अवस्था या तु लोकस्य सुखदुःखसमुद्भवा।
तस्यास्त्वभिनयः प्राज्ञैः नाट्यमित्यभिधीयते॥

इस प्रकार नाटक के लक्षणों से भी स्पष्ट है कि इसमें मावन-जीवन के किसी भी भाव का अभिनय के द्वारा प्रदर्शन किया जा सकता है। प्रत्येक अवस्था का व्यक्ति इससे रसास्वादन कर सकता है तथा इसमें नृत्य, गीत, अभिनय, कथा, आदि तत्त्वों का समावेश होता है, अतः अन्य विधाओं की तुलना में वह महत्त्वपूर्ण है। उन विधाओं में अभिनय, नृत्य आदि का अभाव होता है। नाटक, महाकाव्य और उपन्यास दोनों ही मानव की भावनाओं को तुष्ट करते हैं, तीनों ही जीवन की विषमता से त्रस्त मानव को शीतलता प्रदान करते हैं किन्तु तीनों का अपना-अपना महत्त्व होता है। महाकाव्य में पद्य के आकार के अतिरिक्त जातीय अथवा युग-भावनाओं का प्राधान्य रहता है। महाकाव्य संस्कृति का परिचायक होता है। नाटक गद्य-पद्यात्मक होता है, किन्तु उसमें कथोपकथन का प्राधान्य होता है, अतः इसके द्वारा वह शब्दार्थ का अनुकरण अधिक करता है। महाकाव्य की अपेक्षा नाटक में चरित्रचित्रण का प्राधान्य होता है। उपन्यास एवं नाटक में अभिव्यक्ति का अन्तर होता है। उपन्यास भूतकाल की घटना पर आश्रित रहता है नाटक की घटना भूतकाल पर आश्रित होते हुए भी वह प्रत्यक्ष घटना के रूप में दर्शक और पाठक के समक्ष आती है। वह अतीत को प्रत्यक्ष कर देता है। उपन्यास की अपेक्षा नाटक में रस का प्राधान्य होता है, क्योंकि नाटक के तत्त्वों में वस्तु, नेता और रस प्रमुख हैं। "नाटक में महाकाव्य और उपन्यास जैसी बाह्यार्थता रहती है किन्तु पात्रों की प्रगति काव्य जैसी भावपरायणता रहती है। नेत्रों के अनुरंजन के साथ शिक्षा और उपदेश 'कांतासम्मिततयोपदेशयुजे' की उक्ति को सार्थक करता है। नाटक में उपन्यास की इसी वास्तविकता के साथ महाकाव्य के से आदर्श की व्यंजना रहती है। नाटक एक साथ मनोरंजन और शिक्षा का कारण बन जाता है।"

प्राचीन समय में वेद सार्ववर्णिक नहीं था, शूद्रों को उसे पढ़ने का अधिकार नहीं था, इसीलिए नाटक नामक पाँचवाँ सार्ववर्णिक वेद रचा गया—

"तस्मात्सृजापरं वेदं पंचमं सार्ववर्णिकम्"।

(ना० शा० १/१२)

जिस प्रकार वेद ज्ञान की राशि है, ज्ञानप्रदाता है, उसी प्रकार नाटक भी एक सर्वसुलभ, ज्ञान प्रदान करने वाली मनोरंजन-विद्या है। नाटक का दूसरा महत्त्व यह है कि वह सम्पूर्ण कलाओं में श्रेष्ठ है, कलाओं में ललित कलाएँ, ललित कलाओं में काव्य और काव्यों में भी नाटक श्रेष्ठ है। भरतमुनि ने स्पष्ट लिखा है कि ऐसा कोई ज्ञान, शिल्प, विद्या, कला, योग अथवा कार्य नहीं है, जिसकी सत्ता नाटक में न हो, सम्पूर्ण शास्त्र, सम्पूर्ण शिल्प और विविध कर्म नाटक में होते हैं—

"न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
न स योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते॥
सर्वशास्त्राणि शिल्पानि कर्माणि विविधानि च।
अस्मिन्नाट्ये समेतानि तस्मादेतन्मया कृतम्॥
(ना० शा० १/११३-११५)

नाटक के लिए रंगमंच, नाट्यशाला, स्थापत्य, शिल्प यवनिका के लिए चित्रकला की आवश्यकता होती है, अभिनय में नृत्य, संगीत और काव्य की आवश्यकता होती है, अतः हम कह सकते हैं कि नाटक में अनेक कलाओं की समवेत अभिव्यक्ति होती है, जो कि अन्यत्र दुर्लभ है, अतः नाटक अन्य कलाओं में श्रेष्ठ है।

नाटक में आनन्द एवं विश्रामदायक तत्त्व भी होते हैं, नाटक धर्म, अर्थ काम का साधन होता है, वह दुर्विनीतों का संस्कार करने वाला, नपुंसक, भीरू-कायरों का बल प्रदाता, शूरों का उत्साहवर्धक होता है, अज्ञानियों को ज्ञानदाता, पंडितों को पांडित्य, विलासियों को विलास, दुखियों को स्थिरता और शांति देने वाला होता है—

दुःखार्त्तानां श्रमार्त्तानां शोकार्त्तानां तपस्विनाम्।
विश्रामजननं काले नाट्यमेतत् भविष्यति।
धर्मो धर्मप्रवृत्तानां कामः कामोपसेविनाम्।
निग्रहो दुर्विनीतानां मत्तानां दमनक्रिया॥

क्लीबानां धाष्ट्र्यकरणमुत्साहः शूरमानिनाम् ।
अबुधानां विबोधश्च वैदुष्यं विदुषामपि च ।
ईश्वरानां विलासश्च स्थैर्यं दुःखार्दितस्य च ।
अर्थोपजीविनामर्थो वृत्तिरुद्विग्नचेतसाम् ॥
(ना० शा० १/११४, १०८-१११)

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि काव्य की सम्पूर्ण विधाओं में नाटक महत्त्वपूर्ण है, अतः यह कथन सर्वथा समीचीन है कि काव्य की सम्पूर्ण विधाओं में नाटक रम्य है—

"काव्येषु नाटकं रम्यम् ।"

नाट्यकला का उदय

संस्कृत साहित्य में 'नाटक' के लिए 'रूपक' शब्द का प्रयोग हुआ है। 'रूपक' के दस प्रकारों में सर्वप्रथम एवं सर्वश्रेष्ठ स्थान 'नाटक' का है। किन्तु कालान्तर में 'रूपक' की अपेक्षा 'नाटक' शब्द ही अधिक प्रचलित हुआ और आज सभी प्रकार के रूपकों के लिए 'नाटक' शब्द ही प्रयुक्त होने लगा है। नाटकों का उद्भव अत्यन्त पुरातन युग में हो गया था। भारतवर्ष के प्राचीन नाटकों में कालिदासप्रणीत 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' का सर्वोपरि स्थान है। इस नाटक ने पाश्चात्त्य मनीषियों को इतना चमत्कृत कर दिया था कि वे बड़ी जिज्ञासा के साथ यहाँ की नाट्यकला का अध्ययन करने की ओर उन्मुख हुए। इस प्रसंग में अनेक आयामों का उद्घाटन हुआ। जैसे—नाटकों की उत्पत्ति कब और कैसे हुई ? और इसकी उत्पत्ति में धार्मिक विश्वासों ने कितना योगदान किया।

नाटकों की उत्पत्ति में अनेक मतवाद प्रसिद्ध हैं। इन वादों को तीन भागों में विभक्त कर हम अध्ययन कर सकते हैं, वे इस प्रकार हैं :—

(१) परम्परागतवाद,
(२) धार्मिक वादों से सम्बद्ध मत,
(३) लौकिक लीलाओं से सम्बद्ध मत।

परम्परागतवाद

दैवी उत्पत्तिवाद—इस मत के अनुसार नाट्य-कला का अविर्भाव द्युलोक से हुआ है। इसके आविर्भाव का युग त्रेता है। सतयुग में सभी प्राणी प्रसन्न थे, सुखी थे, अतः उन्हें किसी मनोविनोद की आवश्यकता न थी, किन्तु त्रेता युग में दुःखों का आविर्भाव भूतल पर हो चुका था। इसी दुःख के निराकरण के लिए देव और दानव संयुक्त रूप से ब्रह्मा जी के पास गये और उनसे निवेदन किया कि एक सार्ववर्णिक वेद की रचना करें, जो दृश्य भी हो और श्रव्य भी हो, जिससे हम सांसारिक कष्टों को भूल जाँय। ब्रह्मा ने ध्यानावस्थित हो नाट्यवेद का ऋग्वेद से पाठ्य, सामवेद से गान, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्वद से रस लेकर सृजन किया—

नाट्यवेदं ततश्चक्रे चतुर्वेदाङ्गसम्भवम्।
जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि॥

(ना० शा० १/१६-१७)

इस नाट्य में शिव जी ने ताण्डव नृत्य, पार्वती जी ने लास्य नृत्य तथा विष्णु ने चार वृत्तियों का समावेश कर और अधिक कलात्मक बना दिया।

ब्रह्मा के आदेश पर भरत ने इन्द्रध्वज महोत्सव पर सूरविजय नामक नाटक का सर्वप्रथम अभिनय किया। देवगण इस नाटक में अपनी विजय देख प्रसन्न हुए तथा असुरों ने अपनी पराजय देखकर रोष व्यक्त किया और उसमें विघ्न उपस्थित करने लगे। इन्द्र ने अपने ध्वज से विघ्नों को जर्जर कर दिया, तभी से ध्वज का नाम 'जर्जर' हो गया। भविष्य में विघ्नों से बचाव के लिए भरत के निवेदन पर ब्रह्मा ने विश्वकर्मा को नाट्यशाला के निर्माण का आदेश दिया, और विश्वकर्मा ने सुन्दर नाट्यशाला का निर्माण किया। इस प्रकार भरत के माध्यम से यह कला मर्त्यलोक में अवतरित हुई। उपर्युक्त उपाख्यान से नाट्यकला का आविर्भाव भले ही दैवी सिद्ध हो किन्तु इतना तो सुनिश्चित ही है कि—

(१) नाट्यकला के मूल में चारों वेदों का योगदान है।

(२) नर और नारी दोनों ही इसमें अभिनय करते थे।
(३) नाटक पहले धार्मिक पर्वों पर अभिनीत होते थे।
(४) नाट्यकला का आविर्भाव वेदों के अनन्तर हुआ है।

धार्मिकभावनावाद

मृतकपूजावाद—डॉ० रिजवे का मत है कि नाटक की उत्पत्ति मृतात्माओं के प्रति प्रकट की गई श्रद्धा से हुई है। समस्त देशों में मृतकों के प्रति श्रद्धा प्रकट करने की पद्धति रही है। अतः नाटक मूलतः मृतात्माओं की शान्ति के लिए अभिनीत होते थे। रामलीला और कृष्णलीला में भी राम और कृष्ण के प्रति श्रद्धा प्रकट की गई है। इस प्रकार मृतक पूजा के समय होने वाला उत्सव ही आगे चलकर नाटकों के जन्म का कारण बनता है। किन्तु अनेक प्राच्य एवं पाश्चात्त्य विद्वान् इस मत से सहमत नहीं हैं।

मे-पोलवाद—पाश्चात्त्य विद्वानों का मत है कि नाटक की उत्पत्ति 'मे-पोल' May-Pole नृत्य से हुई है। पाश्चात्त्य देशों में मई मास आनन्द और उत्सव का मास होता है। क्योंकि ऋतु की दृष्टि से इसमें सुहावना मोसम रहता है। जनमानस इस समय उल्लसित हो, आनन्दमग्न नृत्य आदि करता है। एक बाँस गाड़कर उसके नीचे एकत्र हो सम्मिलित रूप में वे सभी नृत्य करते हैं, अतः इसे May-Pole नृत्य कहते हैं। भारत में 'इन्द्रध्वज' उत्सव भी इसी प्रकार का होता था। अतः हम कह सकते हैं कि नाटकों की उत्पत्ति के मूल में इन त्यौहारों का योगदान अवश्य रहा है। भले ही May-Pole नृत्य वसन्त में होता हो और इन्द्रध्वज पर्व वर्षा ऋतु के बाद होता हो।

कृष्णोपासनावाद—इस मत के अनुसार नाटकों की उत्पत्ति का सम्बन्ध कृष्णोपासना से है। कृष्णोपासना के अङ्ग—रथयात्रा, नृत्य, गीत और संगीत तथा लीलाएँ आदि नाटकों के निर्माण में सहयोगी रहे हैं, अतः नाटकों के आविर्भाव के मूल में कृष्णोपासना रही है। इस मत के अनुसार नाटकों का प्रारम्भिक उदय शूरसेन देश में हुआ है। इसीलिए नाटकों में शौरसेनी प्राकृत का बोलबाला रहा है।

किन्तु इस मत में दोष यह है कि इसका कोई प्रमाण नहीं है कि कृष्ण

विषयक नाटक ही सर्वाधिक प्राचीन हैं तथा दूसरा दोष यह है कि राम, शिव आदि अन्य प्रसिद्ध देवताओं की उपासना की इसमें उपेक्षा हुई है।

लौकिक लीलावाद

लोकप्रिय स्वाँगवाद—प्रो० हिलब्राँण्ट तथा स्टेनकोनों का मत है कि भारत में स्वाँग हुआ करते थे, उन स्वाँगों से ही नाटकों का उदय हुआ है। रामायण-महाभारत के सहयोग से इन स्वाँगों की कथा को ही नाटकों का आधार बनाया गया है।

किन्तु डॉ० कीथ ने इस मत का खण्डन करते हुए लिखा है कि नाटकों के प्रचार और प्रसार से पूर्व स्वाँगों की सत्ता के लिए कोई पुष्ट प्रमाण नहीं मिलता है। मि० कोनों के प्रमाण महाभाष्य के समकालीन अथवा परवर्त्ती हैं। अतः उनसे स्वाँगों की प्राचीनता सिद्ध नहीं होती।

प्रोफेसर हिलब्राँण्ट के अनुसार—(१) नाटकों में संस्कृत के साथ प्राकृत का प्रयोग, (२) गद्य-पद्य का सम्मिश्रण, (३) रङ्गशालाओं की सादगी और स्वच्छता, (४) विदूषक का अस्तित्व आदि तत्त्व इस बात के प्रमाण हैं कि नाटकों के उदय में जनसमुदाय में प्रचलित स्वाँगों का बहुत बड़ा योगदान है।

विचार करने पर हम कह सकते हैं कि पहले तीन तत्त्व धार्मिक हैं जो मृतक-पूजा और कृष्णोपासना से भी सम्बद्ध हैं तथा विदूषक नामक पात्र की सत्ता का आविर्भाव महाव्रत जैसे संस्कार में शूद्रपात्र की आवश्यकता के आधार पर हुआ होगा।

पुत्तलिका नृत्यवाद

डॉ० पिशेल नाटक की उत्पत्ति पुत्तलिका नृत्य से मानते हैं। वे अपने मत की पुष्टि के लिए 'सूत्रधार' तथा 'स्थापक' शब्दों को प्रस्तुत करते हैं। नाटक का 'सूत्रधार' उसका निर्देशक होता है तथा प्रस्तावना करने वाला 'स्थापक'। इन दोनों शब्दों का सम्बन्ध पुत्तलिका नृत्य से है। पुतलियों के नृत्य में एक मनुष्य पुतलियों को सूत्र में बाँधकर नचाता है और उसे नचाकर एक स्थान पर आसीन कर देता है, अतः उस सूत्र को धारण करने वाला सूत्रधार कहा जाता

है तथा रखने वाला 'स्थापक'। इन शब्दों के आधार पर डॉ० पिशेल अपने मत की स्थापना करते हैं किन्तु यह मत भी निराधार है, क्योंकि मनुष्य ने पहले स्वयं अभिनय किया होगा और बाद में उसका आरोप पुतलियों पर। इस मत में दूसरा दोष यह है कि रस, और भाव से भरपूर अभिनय वाले नाटकों की उत्पत्ति सामान्य, निर्जीव पुत्तलिका नृत्य से मानना समीचीन नहीं है। अतः यह मत भी निराधार है।

छाया नाटकवाद

डॉ० पिशेल ने एक अन्य मत का भी प्रतिपादन किया था—नाटकों की उत्पत्ति छाया नाटकों से हुई है। इस मत का समर्थन डॉ० कोनों और डॉ० ल्यूडर्स ने भी किया है। किन्तु इस मत के मानने में भी कई आपत्तियाँ हैं—पहली आपत्ति यह है कि नाटकों में गद्य-पद्य के प्रयोग तथा प्राकृत के प्रयोग का कोई कारण नहीं बताया गया है। द्वितीय आपत्ति यह है कि इस मत के मानने वाले छाया नाटकों की प्राचीनता सिद्ध करने में असफल हैं, क्योंकि संस्कृत के नाट्यग्रन्थों में कहीं भी छाया नाटक का उल्लेख नहीं है। 'दूताङ्गद' नाटक भी अधिक प्राचीन नहीं है। जिसके आधार पर इस मत को स्वीकार किया जा सके।

संवाद सूक्तवाद

नाटकों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में डॉ० मैकडानल, डॉ० मैक्समूलर आदि का मत है कि नाटकों की उत्पत्ति संवाद सूक्तों से हुई है ऋग्वेद में—पुरुरवा-उर्वशी, यम-यमी, अगस्त्य-लोपामुद्रा, विश्वामित्र-नदी, इन्द्रादिति-वामदेव, आदि अनेक संवाद-सूक्त हैं जिनमें धार्मिक भावनाओं के अतिरिक्त, लोक-व्यवहार का उल्लेख मिलता है। सरस कथाएँ और नृत्य का रूप मिलता है। अतः ये संवाद-सूक्त नाटकों की उत्पत्ति के मूल हैं। डॉ० कीथ ने इन सूक्तों को 'आख्यान' कहा है। डॉ० कीथ, डॉ० पिशेल आदि का मत है कि ये संवाद मूलतः गद्य-पद्यात्मक थे, पद्य भाग सरल और सुन्दर थे अतः स्मरण बने रहे तथा गद्य भाग विस्मृत हो गया, इसलिए सम्प्रति इनका नाटकीय अंश नष्ट हो गया है।

'सुपर्णाध्याय, विवाहसूक्त आदि संवाद-सूक्त इस बात के प्रबल प्रमाण हैं।

यह तो सुनिश्चित है कि नाटक में नृत्य, गीत और संवाद नामक तत्त्व होते हैं। इन तीनों का अस्तित्व इन सूक्तों में रहा है। अतः इन संवादों से नाटकों की उत्पत्ति सम्भव है।

वैदिकानुष्ठानवाद

डॉ० मैक्समूलर डॉ० श्रोडर, योहान्स हर्टेल और सिल्वाँ लेवी का विचार है कि नाटकों का मूल वैदिक कर्मकाण्ड में निहित है। यज्ञ के अवसर पर सूक्तों का अभिनय, गायन और नृत्य के साथ होता है। श्रोडर ने सातवें मण्डल के 'मण्डूक सूक्त' को नाटकीय माना है। इन विद्वानों का यह अभिमत है कि इन सूक्तों में कथोपकथन, भाषण और व्यंग्य हैं जो नाटकीय संवाद के गुण हैं। यद्यपि डॉ० कीथ ने ऋग्वेदीय सूक्तों का गायन अस्वीकार करते हुए इस मत का विरोध किया है किन्तु डॉ० विण्टर नित्स ने सूक्तों को नाटक का स्थानापन्न न मानते हुए भी नाट्य का दूसरा रूप स्वीकार किया है।

उपर्युक्त विभिन्न मतों के विश्लेषण के अनन्तर हमारा विचार है कि यद्यपि किसी एक मत को मानकर नाटक के मूल की खोज नहीं की जा सकती है तथापि नाटक के तत्त्व—नृत्य, गीत एवं संवाद आदि की खोज इन मतों में की जा सकती है। और इस प्रकार नाटक का उदय स्वीकार किया जा सकता है। स्वांग, पुत्तलिकानृत्य, संवाद सूक्त, वैदिक कर्मकाण्ड का अभिनय आदि तत्त्व नाटक के मूल प्रेरक-स्रोत मान कर हम नाट्य-कला का उदय सुदूर अतीत में मानते हैं।

रूपक का यूनानी उद्भव विषयक मत

डॉ० वेबर ने संस्कृत नाटकों पर ग्रीक प्रभाव की घोषणा की है, उनका विचार है कि 'नाटक के उपादान प्राचीन संस्कृत साहित्य में इतने कम हैं कि उनके आधार पर नाटक जैसी कमनीय कला का उदय नहीं हो सकता और सिकन्दर महान् के आक्रमण के पश्चात् जो कुछ यूनानी भारतीय समुद्र तट पर निवास करने लगे थे वह आमोद-प्रमोद के लिए जिन उपकरणों को जुटाते थे,

उनमें से एक नाटक भी था, भारतीयों को यहीं से नाट्य-कला की प्राप्ति हुई है'। इस मत का खण्डन डॉ० पिशेल ने जोरदार शब्दों में किया था। फलतः भारतीय नाटकों पर यूनानी प्रभाव की चर्चा ही स्थगित हो गई, किन्तु डॉ०कोनो तथा विंडिश ने पुनः इस मत का उन्नयन किया—भारतीय और यूनानी नाटकों का सादृश्य दिखलाते हुए संस्कृत नाटकों में प्रयुक्त 'यवनिका' या 'जवनिका' शब्द को यूनानी शब्द 'यवन' से व्युत्पन्न मानकर इस मत का आधार खड़ा किया और भारतीय नाटकों का मूल स्रोत यूनानी साहित्य को सिद्ध किया।

इस सिद्धान्त का विस्तार से अध्ययन करते हुए डॉ० बलदेव उपाध्याय ने पूर्णतः खण्डन कर निम्न निष्कर्ष प्रस्तुत किया है।—

"इस प्रसंग में विचारणीय वस्तु यूनानी नाटकों में जवनिका का मूलतः अभाव भी है। यवन देश में नाट्य के लिए परदे की चाल नहीं थी। वहाँ, दर्शकों की संख्या इतनी अधिक होती थी कि उनकी सुगमता के लिए रंगमंच बड़ा ऊँचा बनाया जाता था। नाटक का अभिनय खुले मैदान में ही दर्शकों के सुभीते के लिये किया जाता था। उस पर किसी प्रकार का परदा नहीं होता था। जब यूनानी नाटकों में परदा ही नहीं था, तब भारतीयों के लिए उनकी नकल का प्रश्न ही नहीं उठता।....'जवनिका' भारतीय नाट्यशास्त्र का पारिभाषिक शब्द नहीं, एक सामान्य शब्द है। यदि भारतीय नाट्य-रचयिताओं ने इसे यूनानी रंगमंच से लिया होता तो वे इसे नाटकीय परदे के अर्थ में ही सीमित किए रहते, परन्तु वस्तुस्थिति इसके नितान्त विरुद्ध है। ऐसी दशा में 'यवनिका' शब्द के आधार पर की गई यह कल्पना भी पूर्णतः भ्रामक एवं सर्वथा निराधार है। भारतीय प्रतिभा जिस प्रकार नाटक के विन्यास में स्वतन्त्र है, उसी प्रकार अभिनयकला में भी वह परमुखापेक्षी नहीं है। 'जवनिका' के लिए भारतीय नाटककार यवनों के परा- धीन नहीं हैं। नाटकीय परदा भारत की अपनी निजी वस्तु है, मँगनी की चीज नहीं।"[१]

---

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास पृ० ४६२।

संस्कृत नाटक साहित्य का विकास

संस्कृत नाटक साहित्य प्राचीनता, साहित्यिक सौंदर्य एवं समृद्धि की दृष्टि से विश्व साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' नामक रचना के ही विश्व की विभिन्न भाषाओं में अनुवाद तथा उनके अनेक संस्करण निकल चुके हैं। देश एवं विदेश के विद्वान् इस नाटक की मुक्त कंठ से सराहना कर चुके हैं। समग्र संस्कृत नाटक साहित्य का तो कहना ही क्या ? विविधता, समृद्धि, एवं नाट्य-शिल्प की दृष्टि से भी यह साहित्य अपूर्व है।

संस्कृत नाटक साहित्य के उद्भव की कहानी पुरातन है। भरत मुनि के अनुसार नाटकीय तत्त्वों की खोज वैदिक साहित्य में की जा सकती है। मानव मात्र के मनोविनोद के लिए ऋग्वेद से कथा, सामवेद से गीत, अजुर्वेद से अभिनय, और अथर्ववेद से अभिनय तत्त्व का अधिग्रहण किया गया है। इस प्रकार सार्ववर्णिक पंचम वेद का सृजन हुआ है।

महाभारत के वन पर्व में रंगशाला का उल्लेख मिलता है। 'नट, नर्तक, सूत्र-धार, गायक आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है।[१] इस 'नट' का श्रीधरस्वामी के अनुसार अर्थ है—नवरसाभिनयचतुर। रामायण में नट, नर्तक,[२] नाटक जैसे शब्दों का प्रयोग हुआ है। यहीं अभिनेता के लिए 'शैलूष' शब्द का प्रयोग भी मिला है। हरिवंश पुराण में रामायण कथा मूलक नाटक के अभिनय का प्रसंग आया है।[३] पाणिनि को 'अष्टध्यायी' में दो सूत्र मिलते हैं जिनमें 'शिलालिन्' और 'कृश्वाश्व' नामक नटों का उल्लेख है— 'पाराशर्यशिला-लिभ्यां भिक्षु-नट-सूत्रयोः' तथा 'कर्मन्दकृशाश्वादिनिः।[४]

उपर्युक्त प्रमाण की पृष्ठभूमि में हम कह सकते हैं कि नाटकों की रचना पाणिनि से पूर्व हो चुकी थी। ई० पू० द्वितीय शतक में पतजंलि ने

---

१. महाभारत वन पर्व १५/१३। आनर्ताश्च तथा सर्वे नटनर्तकगायकाः।
२. वा० रा० २/६७/१५। नाराजके जनपदे प्रहृष्टननटर्तकाः।
३. हरि २।९३।६;
४. पाणिनि अष्टाध्यायी ४।३।११०—१११।

अपने महाभाष्य में 'कंसवध' एवं 'बलिवध' नामक दो रूपकों का उल्लेख—इह कथं वर्तमानकाले कंसं घातयति बलिं बन्धयति इति चिरहते कंसे चिरबद्धे तु बलि....प्रत्यक्षं कंसं घातयति प्रत्यक्षं च बलिं बन्धयति।" अर्थात् 'कंस को मारता है, 'बलि को बाँधता है' में प्रयुक्त वर्तमान काल की क्रिया का समाधान करते हुए भाष्यकार ने नटों—सौमिकया शोभनिक का उल्लेख किया है, जो प्रत्यक्षतः सब के सामने कंस को मारते हैं तथा बलि को बाँधते हैं। इस प्रकार अभिनय का 'महाभाष्य' में स्पष्ट उल्लेख मिलता है। पतंजलि का कहना है कि "'कंसवध' नाटक में कंस के भक्त लोग तो काला मुख बनाकर अभिनय करते और कृष्ण के अनुयायी अपना मुँह लाल रंग से रंगकर अभिनय करते थे—"अतश्च सतः व्यामिश्रा हि दृश्यन्ते केचित् कंसभक्ता भवन्ति केचित् वासुदेव-भक्ताः। वर्णान्यत्वं खलु पुष्यन्ति। केचिद्रक्तमुखा भवन्ति केचित् काल मुखाः।"

उपर्युक्त उद्धरण अभिनय और नाटक के प्राचीन अस्तित्व का पुष्ट प्रमाण है।

वात्स्यायन के कामसूत्र (द्वितीय शतक) में भी नागरिक के मनोरंजन का उल्लेख मिलता है। जिसमें आगन्तुक नट (कुशीलव) अभिनय द्वारा मनोरंजन करते थे।[1]

इन समस्त प्रमाणों से सिद्ध है कि वैदिक काल से लेकर कालिदास तक अभिनय और नाटकों की अविच्छिन्न परम्परा का उल्लेख तथा निर्वाह मिलता है। कालिदास ने अपने ग्रन्थरत्नों द्वारा एक प्रमाणिक मूर्त आधार ही हमारे समक्ष प्रस्तुत कर दिया है। निश्चय ही नाट्यकला भारत की अपनी सम्पत्ति है।

बौद्ध और जैन साहित्य में भी नाट्यकला के यत्र-तत्र उल्लेख मिल जाते हैं।

संस्कृत साहित्य में कालिदास से पूर्व सौमिल्ल कविपुत्र जैसे कई नाटक-कारों का उल्लेख मिलता है। किन्तु भास के 'प्रतिमा', 'अभिषेक', 'पंचरात्र',

---

१. यक्षस्य मासस्य वा प्रज्ञातेऽहनि सरस्वत्याः भवने नियुक्तानां नित्यं समाजः। कुशीलवाश्चागन्तवः प्रेक्षकमेषां दद्युः। कामसूत्र।

'दूतवाक्य', 'मध्यम-व्यायोग', 'दूतघटोत्कच', 'कर्णभार', 'ऊरुभंग', 'बाल-चरित', 'प्रतिज्ञा-यौगन्धरायण', 'स्वप्नवासवदत्तम्', 'चारुदत्त', 'अविमारक', जैसे नाटक ही उपलब्ध हैं।

किन्तु कालिदास से लेकर दशम शतक तक नाटकों की महनीय अविच्छिन्न परम्परा मिलती है। कालिदास के 'मालविकाग्निमित्र', 'विक्रमोर्वशीय', 'अभिज्ञानशाकुन्तल', शूद्रक का 'मृच्छकटिक' अश्वघोष का 'सारिदुत्तप्पकरणं,' दिङ्नाग का 'कुन्दमाला' विशाखदत्त का 'मुद्राराक्षस', 'देवीचन्द्रगुप्त', तथा अज्ञात लेखक का 'कौमुदीमहोत्सव, हर्षदेव के 'रत्नावली' 'प्रियदर्शिका', नागानन्द, भट्नारायण का 'वेणीसंहार', 'भवभूति के 'उत्तररामचरित', मालती-माधव', तथा 'महावीरचरित', हनुमान् कवि का 'हनुमन्नाटक,, राजशेखर के 'कर्पूरमंजरी', 'बालरामायण', 'विद्धशालभंजिका' 'बालमहाभारत', और क्षेमीश्वर के 'चण्डकौशिक' है।

इनके अतिरिक्त क्षेमेन्द्र के "चित्रभारतं" कनकजानकी', कर्णसुन्दरी', मुरारि का अनर्घराघव, कृष्ण मिश्र का 'प्रबोधचन्द्रोदय' आदि नाटकों की एक विशाल परम्परा है। इन नाटकों में "रसोन्मेष, महनीय और आदर्श चरित्रों की अवतारणा, काव्यात्मक वातावरण, नायक की विजय, सुखान्त आशीः, रसानुकूल वस्तु-प्रकृति, अवस्था और सन्धि के निर्वाह, कथा की सरलता, रंग-मंचीय सज्जा, वेश और वचन के विन्यास, धर्म, अर्थ, काम के सेवन पर बल दिया गया है।

विशाखदत्त

विशाखदत्तः मुद्राराक्षस

संस्कृत नाट्य परम्परा में विशाखदत्त अपनी गौरव-गरिमा और अपनी महत्ता से विशिष्ट स्थान के अधिकारी हैं। परम्परागत मान्यताओं तथा शास्त्रीय रूढ़ियों से अलग हटकर नये कीर्तिमान स्थापित करने की अद्भुत क्षमता से सम्पन्न विशाखदत्त भले ही प्राचीन आलोचकों और रसिकों के प्रिय न बने हों किन्तु शास्त्रज्ञों और विवेकियों के निरन्तर सम्मान-भाजन रहे हैं। विशाखदत्त उन रचनाकारों में रहे हैं जो काव्य और नाटक को अपने-अपने स्थान पर प्रतिष्ठित करना चाहते थे, इसीलिए उनके नाटक में वीर रस का कल्पित आदर्श शृंगार का नन्दन-कानन नहीं है, अपितु उनके नाटक में जीवन का कठोर यथार्थ मूर्तिमान् हैं। विशाखदत्त के नाटक में न कालिदास और शूद्रक की शृंगारी परम्परा है और न भट्टनारायण की कविता का अकाण्ड-ताण्डव ही है। इसके अतिरिक्त राजनीति की कुटिल और वक्र पद्धति को न अपनाकर एक नवीन मानदण्ड प्रस्तुत किया है, यही उनकी एक विशेषता है। इस विशेषता ने उन्हें सदैव एक-सा सम्मान प्रदान किया है। भोलाशंकर व्यास ने लिखा है कि "कालिदास के नाटक और मृच्छकटिक दोनों में भावपक्ष के चित्र अधिक हैं, जब कि विशाखदत्त की दृष्टि विचार-पक्ष की गम्भीरता से संकलित है। सम्भवतः यह भी उन कारणों में एक है, जिसके कारण विशाखदत्त को आज का आलोचक अधिक सम्मान देगा। पर इतना ही नहीं, विशाखदत्त की कृति का सबसे बड़ा महत्त्व तो इसमें है कि उसने हर कदम पर इस बात को ध्यान में रखा है कि वह दृश्य काव्य की रचना कर रहा है, श्रव्यकाव्य की नहीं, और अपनी गम्भीर प्रभावात्मकता को नाटकीय योजना के द्वारा उत्पन्न करना चाहता है, महज कवित्व या वैदग्ध्यभङ्गीभणिति या अनुप्रास और वर्णाडम्बर की पद-घटा के द्वारा नहीं।"

समय—संस्कृत का साहित्यकार अपनी प्रसिद्धि की अपेक्षा अपनी रचना की लोकप्रियता चाहता है, अतः प्रायः समस्त रचयिता अपना परिचय आदि नहीं देते हैं। विशाखदत्त भी इसके अपवाद नहीं हैं। विशाखदत्त के विषय में जो कुछ जानकारी मिलती है वह उनकी प्रस्तावना की इन दो पंक्तियों से है—"अद्य सामन्तबटेश्वरदत्तपौत्रस्य महाराजपदभाक्पृथुसूनोः कवेर्विशाखदत्तस्य कृतिर्मुद्राराक्षसं नाम नाटकं नाटयितव्यमिति। अर्थात् विशाखदत्त के पितामह का नाम 'बटेश्वरदत्त' तथा पिता का नाम 'पृथु' था। कतिपय संस्करणों में पिता का नाम भास्करदत्त भी मिलता है। इसके अतिरिक्त वे कहाँ के रहने वाले, किसके सामन्त थे, आदि बातों का पता नहीं चलता है।

विद्वान् मुद्राराक्षस के भरतवाक्य के द्वारा विशाखदत्त का काल निर्धारित करने की चेष्टा करते हैं, तदनुसार भरतवाक्य इस प्रकार है—

वाराहीमात्मयोनेस्तनुमतनुबलामास्थितस्यानुरूपां
यस्य प्राग्दन्तकोटिं प्रलयपरिगतां शिश्रिये भूतधात्री।
म्लेच्छैरुद्वेज्यमाना भुजयुगमधुना संश्रिता राजमूर्त्तेः
स श्रीमद्बन्धुभृत्यश्चिरमवतु महीं पार्थिवश्चन्द्रगुप्तः।

कुछ विद्वान् विशेषकर श्री रामा स्वामी ने पार्थिवो दन्तिवर्मा तथा अवन्तिवर्मा भी पाठ मानते हैं, और इसके अनुसार विशाखदत्त को दक्षिण के पल्लव नरेश दन्तिवर्मा (७७९ ई० से ८३० ई०) का समसामयिक सिद्ध करते हैं। किन्तु भरतवाक्य में जिन म्लेच्छों का उल्लेख है, उनके आक्रमण की पुष्टि दन्तिवर्मा के समय में नहीं होती है। इसके अतिरिक्त पल्लवनरेश शैव थे, जब कि भरतवाक्य में राजा को विष्णु का अवतार कहा गया है। अतः यह मत सर्वथा सन्दिग्ध है।

इस मत के अतिरिक्त विशाखदत्त के समय निर्धारण प्रसङ्ग में निम्न विद्वानों के अन्य मत भी विचारणीय हैं—

(१) डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल एवं प्रो० शारदा रंजन राय 'चन्द्रगुप्त' पाठ को ठीक मानकर विशाखदत्त को गुप्तवंश के प्रसिद्ध सम्राट् द्वितीय चन्द्र-

गुप्त (३७५-४१३) का समसामयिक मानते हैं। किन्तु यह मत सिद्ध नहीं हो सका है।

(२) याकोबी 'अवन्तिवर्मा' पाठ को शुद्ध मानकर काश्मीर नरेश अवन्तिवर्मा (८५५-८८३ ई०) के समय को विशाखदत्त का समय मानते हैं और मुद्राराक्षस में उल्लिखित चन्द्रग्रहण का समय २ दिसम्बर ८६० ई० मानते हैं। किन्तु याकोबी का मत पुष्ट नहीं हो सका है।

(३) डॉ० कीथ किसी निश्चित मत पर न पहुँचकर नवीं सदी से पूर्व विशाखदत्त का समय मानते हैं।

(४) मुद्राराक्षस के टीकाकार ढुण्ढिराज ने 'चन्द्रगुप्त' पाठ को ठीक मानकर चन्द्रगुप्त का आशय चन्द्रगुप्त मौर्य से माना है। किन्तु यह मत भी विचारणीय है; क्योंकि भरतवाक्य में उल्लिखित व्यक्ति का सम्बन्ध नायक से नहीं होता है। अतः यह कृति मौर्य युग की नहीं है।

श्री तैलंग महोदय ने 'अवन्तिवर्मा' पाठ मानकर कन्नौज के मौखरिवंशीय नरेश अवन्तिवर्मा का समसामयिक चन्द्रगुप्त को माना है। अवन्तिवर्मा ने सन् ५८३ ई० के लगभग स्थानेश्वर के राजा प्रभाकरवर्धन के सहयोग से हूणों (म्लेच्छों) को पराजित किया था। अतः विशाखदत्त का समय ईसा की छठी शताब्दी का अन्तिम भाग माना जाना चाहिए। प्रो० ध्रुव ने भी यही काल माना है। साथ ही पाश्चात्त्य विद्वान् मैकडानल और रैप्सन का भी यही मत है।

विशाखदत्त की रचनाएँ—विशाखदत्त की रचनाओं में दो नामों की प्रायः चर्चा होती है। एक 'मुद्राराक्षस' तथा दूसरी रचना 'देवीचन्द्रगुप्तम्' है। कुछ विद्वानों ने दो-एक अन्य कृतियों को भी विशाखदत्त के साथ जोड़ा है, जो कि केवल काल्पनिक हैं। मुद्राराक्षस निर्विवाद रूप से विशाखदत्त की रचना है किन्तु 'देवीचन्द्रगुप्तम्' के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता है; क्योंकि उसका उल्लेख नाट्यशास्त्र की रचना-'नाट्य-दर्पण' में रामचन्द्र गुणचन्द्र ने किया है। रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने 'देवीचन्द्रगुप्तम्' के पाँचवें अंक की एक प्राकृत गाथा को उद्धृत किया है—

एसो सिअकर सत्थप्पणासिआसेस वेरितिमिरोहो ।
निअविहवएण चन्दो गअणं गहलंघिओ विसई ।।
(एष सितकरसार्थप्रणाशिताशेषवैरितिमिरौघः ।
निजविभवकेन चन्द्रो गगनं ग्रहलंघितो विशति) ।।

यह नाटक शृंगार रस का है । इसमें चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य और ध्रुवस्वामिनी के प्रणय की कथा रही होगी । इसी नाटक के कुछ स्थलों को आधार बनाकर जयशंकर प्रसाद जी ने 'ध्रुवस्वामिनी' नामक हिन्दी नाटक की रचना की है ।

विशाखदत्त का केवल एक नाटक मुद्राराक्षस ही उन्हें संस्कृत साहित्य संसार में अमर रखने के लिए पर्याप्त है । वह अपनी विशेषताओं के कारण निश्चय ही अद्वितीय है

●

मुद्राराक्षस

कथावस्तु का मूलाधार

मुद्राराक्षस की कथा का मूलाधार प्राचीन ग्रन्थ हैं, यह कथा विष्णु, भागवत आदि पुराणों में भी उल्लिखित है, जहाँ लिखा है कि कौटिल्य द्वारा नन्द का वध किया गया और उसके स्थान पर चन्द्रगुप्त राजा बनाया गया। चाणक्य ने अपने शिष्य कामन्दक के द्वारा अभिचार क्रिया से नन्द का वध कराया। धनजंय के उद्धरण से प्रकट होता है कि मुद्राराक्षस की कथावस्तु का मूल आधार बृहत्कथा है—

तत्र बृहत्कथामूलं मुद्राराक्षसम्
चाणक्यनाम्ना तेनाथ शकटालगृहे रहः।
कृत्यां विधाय सहसा सपुत्रो निहतो[1] नृपः।
योगानन्दयशः शेषे पूर्वनन्दसुतस्ततः।
चन्द्रगुप्तः कृतो राजा चाणक्येन महौजसा"
इतिबृहत्कथायां सूचितम्,

अर्थात् "शकटार के घर में छिपकर उस चाणक्य ने कृत्या (डाकिनी) को पैदा कर राजा को पुत्रों सहित एकदम मार डाला। योगानन्द के कीर्ति के शेष रह जाने पर (मर जाने पर), पूर्वनन्द का पुत्र, चन्द्रगुप्त उस पराक्रमी चाणक्य के द्वारा राजा बना दिया गया।" इस प्रकार का संकेत बृहत्कथा में मिलता है।" उपर्युक्त प्रसंग बृहत्कथा में है। इस लघु उल्लेख को मूल आधार बनाकर नाटककार ने अपनी नवनवोन्मेषिनी प्रतिभा एवं कल्पना के सहयोग से मनोहारी, सतरंगी प्रारूप प्रस्तुत पर विद्वान् पाठकों को चमत्कृत किया है।

लोक-परम्परा में नन्द, चाणक्य की कथा बहु-प्रचलित थी, वह इस प्रकार है—प्राचीन काल में मगध बड़ा जनस्थान था, उसकी राजधानी पाटलीपुत्र

---

१. दशरूपक १।६८।वृत्ति;

अथवा पुष्पपुर थी। वहाँ के राजा पुरुवंशी थे, किन्तु कालान्तर में नन्द-वंश का वहाँ साम्राज्य स्थापित हुआ, जिसका प्रताप समग्र भारतवर्ष को अभिभूत एवं आत्मसात् किये हुए था। इसी वंश में महानन्द का जन्म हुआ; यह वीर और प्रतापी राजा था।

नन्द के वक्रनास आदि मंत्री थे, उनमें राक्षस ब्राह्मण था तथा शकटार शूद्र। दोनों ही प्रतिभा-सम्पन्न एवं बुद्धिमान् थे, किन्तु शकटार कुछ उद्धत था। किसी कारण से असन्तुष्ट हो नन्द ने शकटार को बन्दी बना लिया।

शकटार कालान्तर में मुक्त हो गया किन्तु अपनी प्रतिष्ठा की हानि और परिवार के विनाश को सहन न कर सका और प्रतिहिंसा की ज्वाला से निरन्तर जलता हुआ समय की प्रतीक्षा करने लगा। अचानक एक दिन भ्रमण करते समय मार्ग में काले ब्राह्मण को कुशाओं की जड़ों में मट्ठा डालते देख, उसने ब्राह्मण से कारण पूछा—ब्राह्मण ने अपना परिचय देते हुए बतलाया कि मैं ब्राह्मण हूँ, मेरा नाम विष्णुगुप्त चाणक्य है। मेरे कार्य में इन कुशाओं ने मेरे पैर में गड़कर बाधा पहुँचाई है, अतः मैं इनके विनाश के लिए इनकी जड़ों में मट्ठा डाल रहा हूँ, जिससे इनका सर्वनाश हो सके।

इस बात को सुनकर शकटार ने विचार किया कि अगर यह ब्राह्मण नन्द से रुष्ट हो जाय तो उसका विनाश हो सकता है। वह अवसर की प्रतीक्षा करने लगा। नन्द के यहाँ श्राद्ध के अवसर पर शकटार चाणक्य को आमंत्रित कर, वहाँ पहुँचा कर वह स्वयं कहीं चला गया। क्योंकि वह जानता था कि नन्द काले ब्राह्मण को देखकर क्रुद्ध होगा और श्राद्ध के स्थल से प्रताड़ित कर देगा। अन्त में ऐसा ही हुआ। इस अपमान से क्रुद्ध हो, चाणक्य नन्द-वंश के विनाश की प्रतिज्ञा कर राजभवन से चला गया।

महानन्द की पटरानी का नाम सुनन्दा था तथा एक अन्य रूपवती मुरा नाम की दासी उसकी प्रिया थी। एक दिन राजदरबार में एक तपस्वी आये, राजा ने उनकी अभ्यर्थना की और उनके चरणोदक को सुनन्दा एवं मुरा के ऊपर छिड़क दिया। रानी के सिर पर नौ बूंदें गिरीं और मुरा के ऊपर एक। मुरा ने उसे श्रद्धाभाव से स्वीकार किया, उसकी भक्ति से प्रसन्न हो, तपस्वी

के आशीर्वाद से एक सर्वगुण-सम्पन्न पुत्र उत्पन्न हुआ तथा सुनन्दा के नौ पुत्र उत्पन्न हुए। राक्षस ने इन पुत्रों का पालन किया। महानन्द के दिवंगत होने पर सुनन्दा के पुत्र राज्याभिषिक्त हुए। इन सभी का नाम नन्द था, तथा मुरा के पुत्र का नाम 'मौर्य' और 'वृषल' था।

मौर्य समस्त पुत्रों से बड़ा तथा बुद्धिमान् था, अतः वह अपने को राज्य का अधिकारी समझता था, इसी बात को लेकर परिवार में भी आन्तरिक कलह था।

एक बार सिंहल देश के राजा ने मोम का सिंह पिंजड़े में बन्द कर नन्दों के पास भेजा और कहा कि इस सिंह को बिना पिंजड़ा खोले कोई निकाल दे तो हम उसे बुद्धिमान् मान लें। राज-दरबार के सभी व्यक्ति चुप रह गए; किन्तु चन्द्रगुप्त ने पिंजड़े के चारों ओर अग्नि जला कर सिंह को गला दिया। यह देख सभी दंग रह गये।

चाणक्य और शकटार ने प्रयत्न कर चन्द्रगुप्त को मिला लिया और वह इनका प्रिय हो गया।

चाणक्य, शकटार और चन्द्रगुप्त के प्रयत्न से नव नन्दों का विषैला भोजन खाकर प्राणान्त हो गया, शकटार की कालान्तर में मृत्यु हो गयी। चाणक्य चन्द्रगुप्त को राज्यासीन कराने के लिये प्रयत्न करने लगा। वह पर्वतक को आधा राज्य देने का लालच देकर पाटलीपुत्र पर आक्रमण करने के लिए बुला लाया। पर्वतक के साथ कई म्लेच्छ राजा भी थे।

राक्षस नन्द के भाई सर्वार्थसिद्धि को सिंहासन पर बैठा कर राज्य करने लगा, सर्वार्थसिद्धि कुछ समय के अनन्तर तपस्या करने चला गया, उसका चाणक्य ने वध कर दिया। राक्षस पर्वतक को मिलाने का प्रयत्न करने लगा, चाणक्य ने कामी पर्वतक को विषकन्या भेज कर मरवा दिया, पर्वतक का पुत्र भयभीत होकर अपने देश चला गया। अब राक्षस चन्द्रगुप्त का अनिष्ट करने के लिए सन्नद्ध हो गया। इन्हीं परिस्थितियों की पृष्ठभूमि में नाटक का आरम्भ होता है।

मुद्राराक्षस नाटक सात अङ्कों का नाटक है। इसकी सम्पूर्ण घटना राज

नीतिक है, इतिहास से सम्बद्ध हैं, फिर भी नाटककार को कथावस्तु के संघटन तथा निर्वाह में पूर्ण सफलता मिली है। नाटक का नायक 'चाणक्य' है, प्रतिनायक राक्षस। राक्षस और चाणक्य के दृष्टिकोण में अन्तर है। चाणक्य राक्षस की प्रतिभा से प्रभावित है, अतः उसे जीतकर चन्द्रगुप्त का सहयोगी बनाना चाहता है, जबकि स्वामिभक्त राक्षस अपने स्वामी के नाश का प्रतिकार लेना चाहता है।

मुद्राराक्षस की कथावस्तु

प्रथम अङ्क—नान्दी में शंकर की स्तुति हो जाने पर प्रस्तावना में यह सूचित किया जाता है कि "आज सामन्त बटेश्वरदत्त के पौत्र और महाराज पृथु के पुत्र विशाखदत्त कवि द्वारा निर्मित नाटक रंगमंच पर अभिनीत किया जायगा।" सूत्रधार अभिनय में भाग लेने के लिये अपनी पत्नी को बुलाने घर जाता है। वहाँ विदित होता कि चन्द्रग्रहण के उपलक्ष्य में उसकी पत्नी ने ब्राह्मण-भोजन का आयोजन किया है; किन्तु सूत्रधार कहता है कि चन्द्र-ग्रहण नहीं हो सकता; इस प्रसङ्ग में तुम्हें किसी ने धोखा दिया है क्योंकि क्रूरग्रहः सकेतुश्चन्द्रमसम्पूर्णमण्डलमिदानीम्। अभिभवितुमिच्छति बलात्—

इतना ही कहने पर चाणक्य चन्द्रगुप्त के नामसादृश्य के कारण चन्द्र ग्रहण को असम्भव मान कर "आः, क एष मयि स्थिते चन्द्रगुप्तमभिभवितुमिच्छति" नेपथ्य में कहता हुआ अपनी खुली शिखा के साथ रङ्गमंच पर पदार्पण करता है, उसके आने से पूर्व ही नट-नटी रंगमंच से चले जाते हैं। वह राक्षस की प्रशंसा करता है, क्योंकि नन्द-वंश का नाश हो जाने पर भी वह उनकी सेवा में है। जनता में यह प्रचारित करा दिया गया है कि पर्वतक को राक्षस ने मरवाया है। मलयकेतु को भी बतला दिया गया है कि तुम्हारे पिता की हत्या चाणक्य ने कराई है, अतः वह अपने देश लौट जाता है। चाणक्य विष्णु शर्मा नामक ब्राह्मण को संन्यासी बनाकर कुसुमपुर भेजता है, वह राक्षस का विश्वासपात्र बन कर उसके भेद चाणक्य के पास पहुँचाता है।

रंगमंच पर यम का चित्र लिए योगीवेष में चाणक्य का गुप्तचर निपुणक प्रवेश करता है। वह सूचना देता है कि राक्षस के तीन सहयोगी हैं—जीव-

सिद्धि क्षपणक। राक्षस का परममित्र शकटदास तथा सेठ चन्दनदास। सेठ ने राक्षस के परिवार को आश्रय दिया है। इसके प्रमाण में वह राक्षस की अँगूठी (मुद्रा) चाणक्य को देता है। मुद्रा को देखकर चाणक्य अत्यन्त प्रसन्न होकर मन में कहता है कि—"कहना तो यह चाहिए कि राक्षस ही हमारी मुट्ठी में आ गया है—"ननु वक्तव्यं राक्षस एवास्मदंगुलिप्रणयी संवृत्त इति।"

इसके बाद चाणक्य योजनानुसार चन्दनदास को बुलवाता है और उससे राक्षस के परिवार को सौंपने को कहता है किन्तु चन्दनदास कहता है कि राक्षस का परिवार मेरे यहाँ नहीं है, यदि होता भी तो तुम्हें नहीं सौंपता। इस उत्तर को सुन चाणक्य अप्रसन्न होता है और चन्दनदास को कैद करने तथा उसकी सम्पत्ति अधिग्रहण की आज्ञा देता है। इससे पूर्व ही क्षपणक जीवसिद्धि पर यह आरोप लगाया जाता है कि उसने राक्षस की प्रेरणा से विषकन्या द्वारा पर्वतक का वध किया है तथा शकटदास पर यह आरोप है कि वह हमारे विरोध में षडयन्त्र करता है। फलस्वरूप पहले को देश निकाला तथा दूसरे को फाँसी का दण्ड दिया जाता है।

इसी समय नेपथ्य के कोलाहल से विदित होता है कि शकटदास को सिद्धार्थक वध स्थान से भगा ले गया है। भागुरायण, भद्रभट आदि भी भाग गये हैं। इस सूचना से चाणक्य प्रसन्न होता है, क्योंकि यह उसी की योजना का अङ्ग था। जिसके आधार पर सिद्धार्थक शकटदास और राक्षस का विश्वास आर्जित कर सके और उनके रहस्य चाणक्य को मिलते रहें।

द्वितीय अङ्क—इस अङ्क में राक्षस रंगमंच पर रहता है और उसकी योजना दर्शकों के समक्ष प्रस्तुत होती है। तदनुसार रंगमंच पर जीर्णविष नामक सँपेरा आता है, जो राक्षस का गुप्तचर विराधगुप्त है। वह राक्षस से मिलना चाहता है।

राक्षस शय्या पर चिन्ताग्रस्त दृष्टिगत होता है। इसी समय मलयकेतु का कञ्चुकी, मलयकेतु द्वारा प्रेषित आभूषण पहनने के लिए देता है। राक्षस उन्हें स्वीकार कर लेता है।

सँपेरा राक्षस से मिलकर कुसुमपुर के समाचार राक्षस को देता है। राक्षस

को उससे पता चलता है कि चन्द्रगुप्त को मारने के लिए जो विषकन्या गयी थी, उससे पर्वतक मारा गया, चन्द्रगुप्त के भ्रम से वैरोचक मारा गया। दारुवर्मा भी मारा गया। वैद्य अभयदत्त को चाणक्य द्वारा संदेह होने पर स्वयं उस विष को पान कर मृत्यु का वरण करना पड़ा, जो विष चन्द्रगुप्त के लिए प्रेषित था। विराधगुप्त यह भी बताता है कि प्रमोदक, वीभस्सादिक आपके गुप्तचर भी मारे गये। शकटदास का वधस्थान भेजा जाना, चन्दनदास का पकड़ा जाना और क्षपणक जीवसिद्धि के निर्वासन का समाचार भी वह राक्षस को देता है।

इसी समय सिद्धार्थक शकटदास को लेकर आता है। शकटदास बताता है कि उसके प्राणों की रक्षा मित्र सिद्धार्थक की कृपा से हुई है। प्रसन्नतावश राक्षस सिद्धार्थक को मलयकेतु वाले आभूषण देता है। सिद्धार्थक आभूषण स्वीकार कर राक्षस से कहता है कि मैं इस स्थान से अपरिचित हूँ अतः मुद्रा से अंकित कर वह उन आभूषणों को राक्षस के पास ही रखवा देता है। मुद्रा को देखकर राक्षस आश्चर्यान्वित होता है और फिर मुद्रा सहित आभूषण लेकर शकटदास को राज-काज करने को कहता है। सिद्धार्थक राक्षस के यहाँ उसी की सेवा में रह जाता है।

विराधगुप्त पुनः सूचना देता है कि मलयकेतु के भाग जाने के कारण चन्द्रगुप्त और चाणक्य में फूट पड़ गई है। राक्षस विराधगुप्त को पुनः कुसुम-पुर भेजता है, और आदेश देता है कि चाणक्य और चन्द्रगुप्त के मतभेद को और बढ़ाया जाय।

इसी समय शकटदास की सूचना देने पर राक्षस की सहमति से तीन आभू-षण खरीदे जाते हैं। राक्षस करभक को कुसुमपुर भेज देता है और आशा करता है कि चाणक्य चन्द्रगुप्त का विरोध और अधिक बढ़ेगा।

तृतीय अंक—'कौमुदीमहोत्सव' पर नगर को सुसज्जित करने का आदेश राजा ने दिया है। उसी सजावट को देखने के लिये राजा सुगांग नामक महल पर चढ़ता है किन्तु नगर में कहीं उत्सव का चिह्न नहीं है। राजा को कंचुकी से पता चलता है कि मंत्री चाणक्य के आदेश पर 'कौमुदीमहोत्सव' स्थगित

कर दिया गया है। राजा क्रुद्ध होकर मंत्री को बुलाने का आदेश कंचुकी को देता है।

कंचुकी चाणक्य की कुटी पर जाकर निवेदन करता है कि राजा आपके दर्शन करना चाहते हैं। मंत्री कंचुकी से पूछता है कि कौमुदीमहोत्सव के रोके जाने का समाचार राजा को मिल गया है, कंचुकी के 'हाँ' करने पर चाणक्य क्रुद्धमुद्रा में चल देता है।

चन्द्रगुप्त प्रणाम कर उत्सव रोके जाने का कारण पूछता है। वैतालिक राजा की स्तुति करते हैं, इनमें एक वैतालिक राजा का है दूसरा राक्षस-प्रेषित। चाणक्य यह समझ कर पूर्व योजनानुसार कलह करता है। राजा वैतालिकों को पुरस्कार देने का आदेश देता है, चाणक्य उस पर भी हस्तक्षेप करता है। इस प्रकार परस्पर तीव्र झगड़ा होता है। चन्द्रगुप्त राक्षस की प्रशंसा करता है, प्रशंसा सुनकर चाणक्य शस्त्र भूमि पर पटक कर यह कहता हुआ चला जाता है कि यदि राक्षस मुझसे श्रेष्ठ है तो तुम उसे अपना अमात्य बना लो।

चन्द्रगुप्त कंचुकी को आदेश देता है कि नगर में घोषणा कर दो कि आज से चन्द्रगुप्त मंत्री चाणक्य को हटाकर स्वयं राज-काज करेगा। कंचुकी वास्तविक कलह समझकर कहता है कि आज महाराज राजा हुए—"देव ! न किञ्चिद्विचारयामि, किन्तु एतद्विज्ञापयामि, दिष्ट्या देव इदानीं देवः संवृत्त इति।" इस पर राजा मन में सोचता है कि जब हमारे कंचुकी ने ही हमारे बनावटी झगड़े को वास्तविक मान लिया है फिर औरों का तो कहना ही क्या ? निश्चय ही आचार्य चाणक्य अपने उद्देश्य में सफल होंगे।

चतुर्थ अङ्क—राक्षस का गुप्तचर करभक पाटलीपुत्र के समाचार लेकर राक्षस से मिलना चाहता है, द्वारपाल कहता है कि देर तक जगने के कारण राक्षस के सिरदर्द है अतः प्रतीक्षा करो। राक्षस भी चिन्तित है, कहीं सफलता नहीं मिल रही है, इसी समय द्वारपाल करभक को लेकर राक्षस के पास पहुँचता है। इसी समय राक्षस के अस्वस्थ होने के समाचार को सुन कर मलयकेतु और भागुरायण भी आ जाते हैं और मार्ग में भागुरायण कुछ ऐसी बातें कहता है कि राक्षस और मलयकेतु में फूट पड़ जाय। इसी बीच यह भी कहता है कि

सम्भव है कि चन्द्रगुप्त चाणक्य को मंत्रीपद से अलग कर राक्षस को मंत्री बना ले। राक्षस और करभक की वार्त्तालाप को ये दोनों छिपकर सुनते हैं, चन्द्रगुप्त और चाणक्य के झगड़े की बात पर राक्षस विश्वास नहीं करता किन्तु शकटदास इसकी सचाई का विश्वास दिलाता है और सम्भावना व्यक्त करता हैं कि वह शीघ्र ही तपस्या करने तपोवन चला जायगा।

भागुरायण मलयकेतु को इन बातों को समझाता है और मलयकेतु के मन में राक्षस के प्रति सन्देह उत्पन्न कर देता है। यह भी कहता है कि राक्षस चन्द्रगुप्त को चाहता है और वह इस प्रतीक्षा में है कि चाणक्य यदि तपोवन चला जाय तो वह चन्द्रगुप्त का मन्त्री बन जाय।

मलयकेतु राक्षस के पास आता है, और स्वास्थ्य का समाचार पूछता है, राक्षस कहता है कि जब तक आपको राज के पद पर अभिषिक्त नहीं कर देता हूँ, मुझे चैन कहाँ ?—कुमारस्याधिराजशब्देनातिरस्कृते कुमारशब्दे कुतः शिरोवेदनायाः सह्यता। मलयकेतु आक्रमण का आदेश दे देता है। क्योंकि राजा और मंत्री में कलह होने के समय से अच्छा समय आक्रमण का और क्या हो सकता है। मलयकेतु यह सुनकर भागुरायण के साथ चला जाता है।

इसी समय जीवसिद्धि आता है। राक्षस आक्रमण करने का शुभ मुहूर्त पूछता है। जीवसिद्धि शुभ मुहूर्त बताता है किन्तु राक्षस किसी दूसरे ज्योतिषी से मुहूर्त्त पूछने को कहता है, क्योंकि जीवसिद्धि का बताया हुआ मुहूर्त्त शुभ नहीं है। इस पर जीवसिद्धि क्रुद्ध होकर जाने लगता है तो राक्षस पूछता है कि क्या आप नाराज हो गये—न खलु कुपितो भवान्, इस पर क्षपणक उत्तर देता है, कि मैं नाराज नहीं हूँ अपितु "भगवान् कृतान्त।" येन आत्मनः पक्षमुज्झित्वा परपक्षं प्रमाणीकरोषि। इतने में सूर्यास्त हो जाता है।

पञ्चमअङ्क—सिद्धार्थक [चाणक्य का गुप्तचर, किन्तु वर्तमान में राक्षस का कपट सेवक] राक्षस से प्राप्त आभूषण लेकर पाटलीपुत्र जा रहा है। मार्ग में जीवसिद्धि बतलाता है कि नवीन नियमानुसार तुम भागुरायण के अनुमति-पत्र के बिना कुसुमपुर नहीं जा सकते, मैं भी अनुमति-पत्र लेने जा रहा हूँ, किन्तु सिद्धार्थक स्वयं को राक्षस का सेवक होने के कारण मुद्रा की आवश्यकता

अनुभव नहीं करता है और दोनों अपने- अपने गन्तव्य की ओर चले जाते हैं।

क्षपणक भागुरायण के यहाँ पहुँचकर वार्तालाप करता ही होता है कि उसी समय मलयकेतु भागुरायण के पास पहुँचता है और जीवसिद्धि तथा भागुरायण की बातों को छिप कर सुन लेता है। जीवसिद्धि राक्षस से दूर जाने की बात कहता है, क्योंकि उसने मेरे द्वारा विषकन्या का प्रयोग करवाकर पर्वतेश्वर की हत्या करवायी है। चाणक्य ने मेरा निर्वासन इसीलिए किया था, अब राक्षस भी ऐसा ही करना चाहता है।

जीवसिद्धि की बात को सुनकर मलयकेतु को यह विश्वास हो जाता है कि पर्वतेश्वर की हत्या राक्षस ने ही करायी है। भागुरायण जीवसिद्धि को मुद्रा देकर समस्त प्रसङ्ग मलयकेतु से कहने का आग्रह करता है किन्तु मलयकेतु बीच में ही बोल उठता है कि रहने दो, मैंने सब सुन लिया है। क्षपणक वहाँ से चला जाता है। भागुरायण मलयकेतु को समझाता है और कहता है कि राजनीति में मित्र और शत्रु स्वार्थवश होते हैं। अतः जब तक आपको राज्य न मिल जाय, किसी से कुछ न कहिए, और वह बात मान लेता है।

इसी समय बिना मुद्रा के जाते हुए सिद्धार्थक पकड़ा जाता है और मलयकेतु के समक्ष ही अनेक रहस्यों का उद्घाटन होता है—एक पत्र है जिस पर राक्षस की मुद्रा है, वह पत्र भागुरायण मलयकेतु को दिखाता है, स्पष्ट और सही उत्तर न देने के कारण सिद्धार्थक पीटा जाता है, तो उसकी बगल से आभूषणों की पेटी गिर पड़ती है। यह राक्षस की मुद्रा से अङ्कित पेटी भी मलयकेतु और भागुरायण के समक्ष प्रस्तुत की जाती है। पेटी में वही आभूषण हैं जो मलयकेतु ने राक्षस के लिए भेजे थे। पूछने पर सिद्धार्थक बताता है कि यह पत्र और पेटी चन्द्रगुप्त को राक्षस ने भिजवाये हैं। पत्र में सन्देश है कि आपने जो आभूषण प्रेषित किये थे, प्राप्त हो गये हैं। मेरे पाँच प्रिय मित्रों—चित्रवर्मा, सिंहनाद, पुष्कराक्ष, सिन्धुसेन और मेघनाद—में से प्रथम तीन तो मलयकेतु के राज्य को चाहते हैं, शेष दो उसके कोष तथा गजसेना को चाहते है। अतः उनकी अभिलाषा पूर्ण होनी चाहिए। यही मौखिक सन्देश है।

राक्षस को बुलाने के लिए मलयकेतु प्रतिहारी को भेजता है। राक्षस अपनी

व्यूहरचना में लगा है। राक्षस अविलम्ब मलयकेतु से मिलने खरीदे हुए आभूषणों में से एक को पहन कर चल देता है। मलयकेतु शिष्टाचार के बाद आक्रमण की योजना जानना चाहता है। राक्षस बतलाता है कि सबसे आगे वह स्वयं रहेगा, उसके पीछे खश तथा मगध की सेनाएँ मध्य में गान्धार और अन्त में चीन और हूणों से युक्त शक राजा, तथा शेष मलयकेतु की रक्षा में रहेंगे। इस व्यूहरचना को सुनकर मलयकेतु सोचता है कि जो मेरे राज्य, धन आदि के इच्छुक होकर मुझे मारना चाहते हैं, वही मेरे रक्षक हैं, "कथं य एव मद्विनाशेन चन्द्रगुप्तमाराधयितुमुद्यताः त एव मां परिवृण्वन्ति।"

मलयकेतु राक्षस से पूछता है कि आपने सिद्धार्थक को पाटलीपुत्र क्यों भेजा है। भागुरायण उत्तर में कहता है कि आपने जो पत्र, आभूषण तथा मौखिक सन्देश चन्द्रगुप्त के पास भेजा है, वह यह है। राक्षस इसका निषेध करता है। तथा आभूषणों को उपहार रूप में दिया बताता है। सिद्धार्थक से यह पूछने पर कि तुम्हें पत्र किसने दिया सिद्धार्थक शकटदास का नाम लेता है। राक्षस इसे सुन चुप रह जाता है। मलयकेतु शकटदास को बुलाना चाहता है किन्तु षडयंत्र के खुल जाने के भय से भागुरायण केवल शकटदास के लेख की प्रतिलिपि मँगवाता है। दोनों के लेख मिल जाते हैं। राक्षस के मन में सन्देह पैदा हो जाता है। राक्षस के आभूषण को देखकर मलयकेतु उसे अपने पिता का आभूषण कहता है। राक्षस उत्तर में उन्हें खरीदा हुआ बताता है।

मलयकेतु राक्षस को पिता का हत्यारा कहता है, प्रमाण स्वरूप जीवसिद्धि का नाम लेता है। जीवसिद्धि का नाम सुन राक्षस चौंकता है। इसके बाद मलयकेतु शिखरसेन को आदेश देता है कि चित्रवर्मा, सिंहनाद, पुष्कराक्ष, सुषेण और मेघनाद को मार डालो। इसे कार्यान्वित किया जाता है, इसके बाद राक्षस अपने एकमात्र मित्र चन्दनदास को छुड़ाने चला जाता है।

षष्ठ अङ्क—प्रवेशक में सज्जित सिद्धार्थक रंगमंच पर आता है। उसका मित्र सुसिद्धार्थक भी है। परस्पर दोनों वार्तालाप कर रहे हैं जिसका सार है कि मलयकेतु ने राक्षस को हटा दिया है, चित्रवर्मा आदि पाँचों राजाओं को मरवा दिया गया है। चाणक्य के गुप्तचरों ने मलयकेतु को कैद कर लिया है।

राक्षण अपने मित्र चन्दनदास की रक्षा के लिए कुसुमपुर आया है। सिद्धार्थक यह भी सूचित करता है कि चन्दनदास के वध की आज्ञा चाणक्य द्वारा दी जा चुकी है।

राक्षस विगत घटनाओं के चिन्तन में लीन है। वही एक व्यक्ति (चाणक्य का गुप्तचर) फाँसी लगाने का अभिनय करता हैं, जिसे देख राक्षस उसका कारण पूछता है। वह कहता कि सेठ जिष्णुदास मेरे मित्र है, जिष्णुदास के मित्र हैं सेठ चन्दनदास। सेठ चन्दनदास ने राक्षस के परिवार को अपने यहाँ छिपा कर उनकी रक्षा की थी, इसी अपराध के कारण चन्द्रगुप्त ने चन्दनदास को फाँसी का दंड दिया है, इसी मित्र-शोक में जिष्णुदास आग में जलकर मरना चाहते हैं, उनकी मृत्यु से पूर्व ही मैं आत्महत्या करना चाहता हूँ, क्योंकि मित्र के विनाश को मैं सहन नहीं कर सकता। इस वृत्त को सुन राक्षस उससे कहता है कि तुम जाकर जिष्णुदास को मरने से रोको, मैं चन्दनदास की रक्षा का प्रयत्न करूँगा। विचार करने के पश्चात् राक्षस चन्दनदास को रक्षा के लिए समर्पण करने का निश्चय करता हुआ कहता है कि—

औदासीन्यं न युक्तं प्रियसुहृदि गते मत्कृते चातिघोरां
व्यापत्तिं ज्ञातमस्य स्वतनुमहमिमां निष्क्रयं कल्पयामि।

अर्थात् "प्रियमित्र के अत्यन्त दारुण विपत्ति को प्राप्त होने पर मेरा उदासीन रहना उचित नहीं है। मैंने कर्त्तव्य निश्चित कर लिया है। मैं इस अपने शरीर को चन्दनदास की मुक्ति का मूल्य निर्धारित करता हूँ।"

सप्तम अङ्क—जल्लादों के साथ वध्यवेश में चन्दनदास कंधे पर सूली, मृत्यु का कपड़ा पहने, पुत्र और पत्नी सहित तथा एक अन्य चाण्डाल रंगमंच पर दृष्टिगत होते हैं। एक वधिक चिल्लाता हुआ आता है कि "हटो, दूर हटो, जो अपने प्राण, धन व कुल की रक्षा चाहते हो तो दूर रहो। राजा का विरोध मत करो।" वधस्थल से चन्दनदास अपनी पत्नी को घर वापिस जाने को कहता है। अपने पुत्र से अन्तिम बार प्रेम से मिलता है कि उसकी पत्नी आर्त नाद करती हुई कहती है सज्जनो। बचाओ, बचाओ—आर्याः! परित्रायध्वम् परित्रायध्वम्।' इसी समय तेजी से राक्षस आता है और वधिकों से कहता है

कि चन्दनदास को न मारो ! और चाणक्य से कहो कि अमात्य राक्षस पकड़ा गया। चन्दनदास इसका पर्याप्त विरोध करता हुआ कहता है कि आर्य अमात्य ! आपने यह क्या किया।

वधिक से सूचना प्राप्त कर चाणक्य वहाँ आता है और राक्षस का अभिवादन करता हुआ कहता है—'भो भो अमात्यराक्षस ! विष्णुगुप्तोऽभिवादयते।' राक्षस मन में 'अमात्य' विशेषण को सुनकर लज्जा का अनुभव करता है और कहता है कि हे चाणक्य ! चाण्डाल के स्पर्श से दूषित मुझे आप स्पर्श न करें। चाणक्य कहता है कि अमात्य राक्षस ! यह चाण्डाल नहीं है। यह तो आपका पहले ही का देखा हुआ सिद्धार्थक नाम का राजपुरुष हैं। जो यह दूसरा है, वह भी सुसिद्धार्थक नामक राजपुरुष है। इन्हीं दोनों के साथ मित्रता उत्पन्न करा कर मैंने ही बेचारे शकटदास से भी उस कूट पत्र को वैसा न जानते हुए भी लिखवाया था।" यही नहीं, अपनी समस्त योजना को स्पष्ट करता है। साथ ही यह भी कहता है कि यह सब मैंने आपसे चन्द्रगुप्त के सम्बन्ध स्थापित कराने के लिए ही किया है। चन्द्रगुप्त भी इसी समय आकर प्रणाम करता है। राक्षस उसे विजयी होने का आशीर्वाद देता है। चाणक्य राक्षस से कहता है कि यदि आप वास्तव में चन्दनदास के जीवन की रक्षा चाहते हैं तो आप चन्द्रगुप्त का अमात्य पद ग्रहण कर लें। राक्षस इस पद को स्वीकार कर तत्सूचक शस्त्र भी धारण कर लेता है। इसी समय भागुरायण, भद्रभट आदि से घिरा हुआ मलयकेतु द्वार पर लाया जाता है। राक्षस मलयकेतु को क्षमादान दिलवाकर, उसे चन्द्रगुप्त के द्वारा उसके पैतृक राज्य पर प्रतिष्ठित करा देता है।

अन्त में चाणक्य चन्दनदास को पृथ्वी के समस्त नगरों के सेठ के पद पर नियुक्त करता है और आदेश देता है कि राक्षस के अमात्य पद ग्रहण कर लेने पर हाथी घोड़ों की क्या आवश्यकता ? (उन्हें मुक्त करवा देता है) अब तो केवल प्रतिज्ञापूर्ण होने के कारण—केवल चाणक्य की शिखा का बन्धन होना चाहिए और वह अपनी शिखा को बाँध लेता है। चाणक्य राक्षस से पूछता है कि अब और क्या तुम्हारा प्रिय कार्य करूँ—राक्षस कहता है कि उससे बढ़कर और क्या प्रिय है।

मुद्राराक्षस की कथावस्तु की समीक्षा

इस नाटक की कथावस्तु सात अंकों में विभक्त है। अंकों में दृश्य-विभाजन भी स्पष्ट है। भारतीय नाट्यकला के समस्त तत्त्वों का समावेश होने पर भी यह नाटक अन्य नाटकों से कुछ भिन्न है। इसका संविधान कुछ ऐसा है कि कालिदासदि के नाटकों की परम्परा में यह खपता नहीं है। इसकी अपनी यही विशेषता, अपनी मौलिकता इसे पूर्ण सम्मान से भी वंचित करा देती है। परम्परागत संस्कृत विद्वानों ने मृच्छकटिक तक को सम्मान दिया किन्तु मुद्राराक्षस का कथ्य, इसका वातावरण अपनी गम्भीरता के कारण सहृदय रसिकों को अपनी ओर आकृष्ट न कर सका। "संस्कृत नाटकों की रोमानी परम्परा और प्रणय-चित्रण को छोड़कर गम्भीर विषय को अपना लक्ष्य बनाना मुद्राराक्षस की पहली विशेषता है। मुद्राराक्षस में कोई नायिका नहीं है, न प्रणय का कोमल वातावरण ही। सम्पूर्ण नाटक में केवल एक नारी पात्र है, चन्दनदास की पत्नी किन्तु उसका कथा के विकास में कोई योगदान नहीं है।" "मुद्राराक्षस राजनीतिक षड्यन्त्र का, कूटनीति के दाँव-पेंच का नाटक है, जहाँ वस्तु का निर्वाह दृढ़ निर्बन्ध वाले व्यापार-चक्र से ही हो सकता है। पर मुद्राराक्षस का व्यापार सतत क्रियाशील होते हुए भी रक्तपात-विहीन है, उसमें तलवारों की झनझनाहट, कबन्धों का नृत्य, या रुधिर की सरिता का चित्र नहीं आता, चाहे वाणी की उत्तेजना भले ही मिल जाय।" मुद्राराक्षस का समग्र संघर्ष चाणक्य और राक्षस का नहीं है, उनकी मन्त्रशक्तियों का संघर्ष है। नाटक का सम्पूर्ण कुतूहल उनके घात-प्रतिघात में है। इसीलिए इसमें न प्रणय व्यापार है, न संगीत की तान और न नृत्य का उल्लासमय वातावरण। तथापि नाटक की वस्तुयोजना इस रूप में की गई है कि व्यापार की गत्यात्मकता कहीं शिथिल नहीं होती, पात्रों का प्रवेश व्यापार को गति देने के लिए कराया जाता है। नाटकीय व्यापार की गत्यात्मकता पर विचार करते हुए श्री भोला शंकर व्यास ने लिखा है कि—

"मुद्राराक्षस के नाटकीय व्यापार की गत्यात्मकता, घटनाचक्र का उतार-चढ़ाव, चाणक्य तथा राक्षस के परस्पर प्रयुक्त षड्यन्त्रों के साथ चलता है।

प्रत्येक अङ्क व्यापार की दृष्टि से स्वतः पूर्ण है, किन्तु एक दूसरे से विच्छिन्न नहीं है। हर कड़ी स्वतःपूर्ण होते हुए भी दूसरी में जुड़कर नाटकीय व्यापार शृंखला की निर्मिति में सहयोग देती है, महाकार्य की ओर नाटकीय-वस्तु को अग्रसर करती है। नाटक में ऐसी कोई घटना या परिस्थिति नहीं, जिसे जबर्दस्ती रख दिया गया हो, और वह अस्वाभाविक जान पड़ती हो। नाटक की समस्त घटनाएँ, पात्र-संवाद और योजनाएँ केवल एक ही लक्ष्य की ओर बढ़ती दिखाई गई है, ये सारे नद-नाले एक ही सरिता में गिर कर महासमुद्र की ओर बहते हैं। विशाखदत्त का वस्तु-निर्वाह बड़े ध्नान से नियोजित किया गया जान पड़ता है, तथा एक कुशल कलाकार की कृति है। मुद्राराक्षस की व्यापारान्विति का जो सुगठित सुष्ठु रूप दिखाई पड़ता है, वह अन्य किसी संस्कृत नाटक में नहीं है।"

वीररसप्रधान होने पर भी यह नाटक घटनाप्रधान है। सजीवता इसकी अपनी विशेषता है। युद्ध की चर्चा और युद्ध के प्रति उत्साह मिलता है फिर भी कहीं युद्ध नहीं है, रक्तपात नहीं है। अतः इस नाटक का वीर रस युद्धभूमि का न होकर, युद्ध को जन्म देने वाली राजनीतिज्ञों की प्रतिभा का है। इसका नायक है चाणक्य और प्रतिनायक राक्षस। इसमें इन दोनों का संघर्ष शस्त्र-बल का न होकर शास्त्र बल का है।

नाटक की कथावस्तु का विभाजन बड़ा ही सटीक है। शास्त्रीय शैली पर इसका विभाजन इस रूप में किया जा सकता है। चाणक्य मौर्यराज्य की स्थिरता के लिये जब प्रथम अङ्क में राक्षस को मन्त्री बनाने का विचार करता है वह 'बीज' है। राक्षस की मुद्रा से अंकित कर शकटदास के पत्र को मलय केतु को दिखाना 'बिन्दु' है। विराधगुप्त का प्रयत्नों की सफलता के लिये राक्षस से सन्देह करना 'पताका' है, चन्दगुप्त और चाणक्य का कपट-कलह 'प्रकरी' और राक्षस का मंत्रि-पद स्वीकार करना 'कार्य' है।

नाटक में कार्य की अवस्थाओं का पूर्ण निर्वाह हुआ है। प्रथम अंक में कार्य 'आरम्भ', द्वितीय अंक में राक्षस के उपायों की निष्फलता तथा चतुर्थ अंक में चन्द्रगुप्त और चाणक्य का कपट-कलह यत्नावस्था है। चतुर्थ और पंचम अङ्क

में मयलकेतु का राक्षस पर सन्देह करना, फिर कलह 'प्राप्त्याशा' है। षष्ठ अङ्क में राक्षस का वधस्थल पर जाना 'नियताप्ति' और राक्षस का मंत्रित्व स्वीकार करना फलागम है।

संधियों का निर्माण अर्थप्रकृति एवं अवस्थाओं के समन्वय से होता है। अतः प्रथम तथा द्वितीय अङ्क में मुखसन्धि, चतुर्थ अङ्क के आधे भाग तक प्रतिमुख, चतुर्थ-पंचम अङ्क में गर्भसन्धि, पंचम तथा षष्ठ अङ्क में विमर्शसन्धि और सप्तम अङ्क में निर्वहणसन्धि का निर्वाह हुआ है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि नाटक की कथावस्तु का सफल निर्वाह हुआ है। मुद्राराक्षस की कथावस्तु का सुगठित विकास अपने रूप में अपूर्व है। व्यापारान्विति का इतना सुन्दर निर्वाह संस्कृत के अन्य नाटकों में नहीं हुआ है।

पात्र और चरित्र-चित्रण

संस्कृत के नाटक प्रायः पात्र-बहुल होते हैं। मुद्राराक्षस भी इसका अपवाद नहीं है। पात्रों की बहुलता होने पर भी उसके चरित्र की रेखाएँ स्पष्ट हैं। प्रधान पात्र चार ही हैं। शेष उनके सहायक हैं। कोई भी पात्र अव्यावहारिक, अनावश्यक और भारस्वरूप नहीं है। चाणक्य और राक्षस की राजनीतिक गोटियों को 'फिट' करने के लिये जहाँ जिस और जितने पात्रों की आवश्यकता है, उतने पात्र नाटक में प्रयुक्त हुए हैं। विशाखदत्त ने अपने पात्रों के चरित्रांकन में विशेषकौशल दिखाया है, यह कौशल संस्कृत के अन्य नाटककारों में नहीं मिलता है। चरित्रांकन की पहली विशेषता है तुलनात्मक चरित्र-चित्रण। इस पद्धति पर पात्र के चरित्र की रेखाएँ पूर्णतः उभर कर स्पष्ट हो जाती है। "चाणक्य और राक्षस का तुलनात्मक चित्रण पूर्ण सफल हुआ है। चाणक्य यदि स्थिरचित्त प्रतिक्षण जागरूक, कठोर, शाठ्यनीति-निपुण और कभी न झुकने वाला है, तो राक्षस अस्थिरचित्त, विस्मरणशील, उदारहृदय, सज्जन और अन्त में झुक जाने वाला है। इसी प्रकार चन्द्रगुप्त और मलयकेतु, भागुरायण और सिद्धार्थक, निपुणक और विराधगुप्त, वैहीनरि और जाजलि आदि पात्रों का सुन्दर तुलनात्मक चित्रण किया है।" लेखक ने चित्रकार की

कूची से पात्रों में जीवन रस भर दिया है। शकटदास और चन्दनदास जैसे जीवन्त पात्रों का सृजन विशाखदत्त की अपनी विशेषता है। इसी प्रकार के पात्रों का सृजन शूद्रक ने 'मृच्छकटिक' में किया है किन्तु विशाखदत्त के पात्र उनसे भी अधिक जीवन्त, अधिक स्पष्ट, अधिक सशक्त और अधिक यथार्थ हैं। इस नाटक के चाणक्य और चन्द्रगुप्त पूर्णतः ऐतिहासिक पात्र हैं, अन्य की ऐतिहासिकता सिद्ध नहीं है। अतः वे काल्पनिक पात्र ही हैं।

नाटक का नायक

चन्द्रगुप्त और चाणक्य को लेकर हिन्दी एवं संस्कृत में अनेक नाटक लिखे गये हैं, प्रायः सभी का नायकत्व विवादास्पद हैं, क्योंकि चाणक्य का व्यक्तित्व ही कुछ ऐसा है कि विवाद की स्थिति उठ खड़ी होती है। इस विवाद के मूल में संस्कृत-नाट्य-शास्त्र में निर्धारित नायक के गुण और लक्षण भी हैं। नाटक का प्रधान पात्र नायक ही होता है, वही अपने कार्यों द्वारा नाटक को फल की ओर ले जाता है। नायक का ऐसा व्यक्तित्व होता है कि जिसके साथ पाठक, श्रोता या द्रष्टा की सहानुभूति स्वतः जागृत हो जाती है। भारतीय काव्य-शास्त्रीय दृष्टिकोण से नायक को धीरोदात्त, सर्वगुणसम्पन्न, उदार तथा उच्च कुलजन्मा होना चाहिए। नायक विनयशील, उदार, त्यागी, कार्यकुशल, प्रिय-भाषी, लोकप्रिय, स्थिरचित्त, दृढ़निश्चयी, साहसी, शूरवीर, प्रज्ञावान्, स्वाभि-मानी, तेजस्वी, शास्त्रज्ञ होना चाहिए। इन गुणों से सम्पन्न व्यक्ति ही आशा-निराशा, सफलता-असफलता एवं विघ्न-बाधाओं पर विजय प्राप्त करने में सफल होता है।

इनमें से अधिकांश गुणों से सम्पन्न चाणक्य, चन्द्रगुप्त और राक्षस हैं। किन्तु नाटककार ने अपने पात्रों की चरित्र-रेखाएँ स्वयं उजागर की हैं, अतः नाट्यशास्त्र के शास्त्रीय नियमों की रूढ़ि का अनुसरण करने वाले विद्वान् चन्द्र-गुप्त को भले ही नायक मानें, किन्तु निष्पक्ष दृष्टि से विचार करने पर चाणक्य ही इस घटना-प्रधान नाटक का नायक प्रतीत होता है, क्योंकि आरम्भ से अन्त तक वही इसकी समस्त घटनाओं का सूत्र संचालन करता है। चाणक्य को नायक मानने में निम्न हेतु हैं—

(१) सम्पूर्ण कृति में चाणक्य का व्यक्तित्व सर्वाधिक स्पष्ट प्रभावशाली है। नाटककार का उद्देश्य ही चाणक्य के गहन व्यक्तित्व को उजागर करना है। इसीलिए वह स्थान-स्थान पर चाणक्य को नायक मानने का स्पष्ट संकेत भी करता है। इसके लिए निम्न श्लोक देखें :—

जयति जलदनीलः केशवः केशिघाती
जयति सुजनदृष्टिश्चन्द्रमाश्चन्द्रगुप्तः।
जयति जयनसज्जं या अकृत्वा च सैन्यं
प्रतिहतप्रतिपक्षा आर्यचाणक्यनीतिः (६।१)

यद्यपि चन्द्रगुप्त को अमात्य रूप फल का लाभ हुआ है, किन्तु चाणक्य जैसे निस्पृह तपस्वी को भी विशेष लाभ हुआ है, वह है विजय, जीवन-संघर्षों से मुक्ति, अपमान का बदला आदि। नाटक में इसी का विशिष्ट फलागम है। एक बात और भी है, वह यह कि चाणक्य जैसे निस्पृह व्यक्ति को किसी विशेष फल-प्राप्ति की चाह नहीं थी, उसका लक्ष्य था चन्द्रगुप्त के लिए निष्कण्टक राज्य की स्थापना और राक्षस को मन्त्रित्व प्रदान करना "अगृहीते राक्षसे किमुत्खातं नन्दवंशस्य" यह कथन इसी बात का समर्थक है। नन्द-वंश पर विजय तो बहुत पहले ही मिल जाती है। नाटक को वहीं समाप्त हो जाना चाहिए, किन्तु नाटक राक्षस पर विजय प्राप्त कर समाप्त होता है।

एक बात यह है कि नाटककार ने नाटक का नाम रखा है मुद्राराक्षस। इस मुद्रा का प्रयोग सर्वत्र चाणक्य ही करता है—मुद्रया गृहीतो राक्षसो यस्मिन् तन्मुद्राराक्षसं नाम नाटकम्। अतः चाणक्य ही इस नाटक का नायक है।

एक तथ्य चाणक्य का नायकत्व और भी प्रमाणित करता है। वह यह है कि चाणक्य ही चन्द्रगुप्त और राक्षस से पूछता है कि हे राजन्! तुम्हारा और क्या प्रिय कार्य करूँ—"भो राजन्! चन्द्रगुप्त! किं ते भूयः प्रियमुपकरोमि।" चन्द्रगुप्त उत्तर देता है कि—राक्षस के साथ मित्रता करवा दी, हमें राज्य पर प्रतिष्ठित कर दिया और सभी नन्दों का विनाश कर दिया। इससे अधिक क्या प्रिय करना है?—

राक्षसेन समं मैत्री राज्ये चारोपिता वयम् ।
नन्दाश्चोन्मूलिताः सर्वे किं कर्त्तव्यमतः परम् ? ॥ (७।१७)

इसी प्रकार नाटक की समाप्ति पर चाणक्य ही आदेश देता है—

सह वाहनहस्तिभ्यां मुच्यतां सर्वबन्धनम् ।
मया पूर्णप्रतिज्ञेन केवलं बध्यते शिखा (७।१८)

इस प्रकार पूर्णकाम चाणक्य अपनी शिखा का बन्धन करता है। यही नहीं, वह राक्षस से भी प्रश्न करता है कि अमात्य राक्षस! आपका प्रिय उपकार क्या करूँ ? राक्षस भी कहता है कि इससे बढ़ कर भी क्या कोई प्रिय कार्य है।

इस प्रकार यह सिद्ध है कि इस नाटक का नायक चाणक्य है। शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार वह धीर शान्त और धीरोद्धत की मिश्रित कोटि में स्थान प्राप्त कर सकता है। वैसे उसमें त्याग, निस्पृहता, धीरता, आत्मविश्वास जैसे गुण भी हैं जो उसे धीरोदात्त सिद्ध करते हैं किन्तु कठोरता, विकत्थना, षड्यन्त्र-मयी नीति आदि गुण उसे धीरोद्धत सिद्ध करते हैं। अतः वह शास्त्रीय किन्तु संकुचित नायक की कोटियों में कहीं स्थान प्राप्त नहीं करता, फिर भी अपनी विशेषताओं से सभी को आकृष्ट करता है।

चरित्र-चित्रण

चाणक्य—मुद्राराक्षस का चाणक्य अपनी आभा से अलग दीप्तिमान् है। वह निःस्वार्थी, दृढ़प्रतिज्ञ, कूटनीतिपारङ्गत, महान् राजनीतिज्ञ होने के साथ-साथ गुरु, मन्त्री, उदारहृदय और भविष्यद्रष्टा सभी कुछ तो है। एक ओर वह विशाल साम्राज्य का विधाता और राजा चन्द्रगुप्त का भाग्य-विधाता है तो दूसरी ओर अपने सुखों से निस्पृह, तपस्वी है। भारतीय संस्कृति के अनुरूप राजा का मन्त्री है। इसीलिए वह नगर से बाहर एक कुटी में रहता है—"जहाँ एक ओर कण्डों को तोड़ने का पत्थर का टुकड़ा पड़ा है, दूसरी ओर शिष्यों के द्वारा लाई हुई कुशा का ढेर लगा है, कुटी की छत सुखाई गई समिधाओं के भार से झुकी हुई है और दीवारें जीर्ण-शीर्ण हो रही हैं :—

उपलशकलमेतद् भेदकं गोमयानां
बटुभिरुपहृतानां बर्हिषां स्तोम एषः ।

शरणमपि समिद्धिश्चुष्यमाणाभि—

राभिर्विनमितपटलान्तं दृश्यते जीर्णकुड्यम् । (३।१५)

यह है प्राचीन महामन्त्री के जीवन का आदर्श । मिलाइये आज के प्रधान-मंत्री के आदर्शों से ।

चाणक्य कर्म और उद्यम पर विश्वास करता है । भाग्य पर उसकी अनास्था है । चन्द्रगुप्त नन्द-वंश के नाश का कारण दैव को मानता है "नन्दकुलविद्वेषिणा दैवेन" । इसे सुनकर स्वाभिमानी चाणक्य नाराज होकर कहता है कि मूर्ख व्यक्ति ही दैव पर विश्वास करते हैं—

दैवमविद्वांसः प्रमाणयन्ति ।' (तृतीय अंक)

पुरुषार्थ की सफलता ने उसे आत्मविश्वासी बना दिया । परिणामस्वरूप वह कभी-कभी आत्मश्लाघा भी करने लगता है । वह अपनी बुद्धि के बल पर सैकड़ों शक्तिमती सेनाओं की भी चिन्ता नहीं करता है, उसका उद्घोष है :—

एका केवलमर्थसाधनविधौ सेनाशतेभ्योऽधिका ।

नन्दोन्मूलनदृष्टवीर्यमहिमा बुद्धिस्तु मा गान्मम ॥१।२६॥

चन्द्रगुप्त के यह कहने पर कि विद्वान् भी अपने मुँह मियाँ मिट्ठू नहीं होते हैं, चाणक्य क्रुद्ध होकर कह उठता है कि वृषल ! नौकर के समान मुझ पर शासन करना चाहते हो ? "यह हाथ, बंधी हुई शिखा को खोलने के लिए पुनः दौड़ रहा है । [भूमि पर पैर पटककर] यह चरण भी प्रतिज्ञा करने के लिए चल रहा है । काल के वशीभूत होकर नन्दों के विनाश से शान्ति को प्राप्त मेरी क्रोधाग्नि को तुम पुनः प्रज्ज्वलित कर रहे हो ।—

शिखां मोक्तुं बद्धामपि पुनरयं धावति करः ।

प्रतिज्ञामारोढुं पुनरपि चलत्येष चरणः ।

प्रणाशान्नन्दानां प्रशममुपयातं त्वमधुना ।

परीतः कालेन ज्वलयसि मम क्रोधदहनम् ॥ (३।२९)

वस्तुतः चाणक्य के आत्मविश्वास ने उसके क्रोध को बढ़ावा दिया है । इस क्रोध को देखकर चन्द्रगुप्त को ऐसा प्रतीत होता है कि 'मानो पृथ्वी चाणक्य के प्रहारों को सहकर ताण्डव नृत्य के समय रौद्र रस का अभिनय करते

हुए रुद्र के पादविक्षेप का स्मरण कर रही है—

संरम्भस्पन्दिपक्ष्मक्षरदमलजलक्षालनक्षामयापि
भ्रूभङ्गोद्भेदधूमं ज्वलितमिव पुरः पिङ्गया नेत्रभासा ।
मन्ये रुद्रस्य रौद्रं रसमभिनयतस्ताण्डवे संस्मरन्त्या
सञ्जातोदग्रकम्पं कथमपि धरया धारितः पादघातः ॥

(३।३०)

किन्तु यह क्रोध कल्पित है। ऊपर से धारण किया गया है । अन्यथा हृदय से चाणक्य कोमल है। चाणक्य का चरित्र यदि पत्थर से अधिक कठोर और रूक्ष है तो वह फूल से मृदुल और मोम से अधिक स्निग्ध भी है। वह लोकोत्तर चरित्र है। जिसके लिए भवभूति ने लिखा है—"लोकोत्तराणां चेतांसि को हि विज्ञातुमर्हति ।" राजनीति की कठोर वनस्थली पर चलने के कारण ही उनके पैर कठोर हो गये हैं।

चाणक्य स्वयं आत्मनिरीक्षण भी करता है। इसीलिए वह सोचता है कि राजनीति में व्यस्त रहने के कारण बटुकों के साथ मेरा व्यवहार शुष्क हो गया है। वह कहता भी है कि—वत्स ! कार्याधिक्य ही मुझे व्याकुल करता है न कि छात्र के प्रति आचार्य का स्वाभाविक रूखापन, इसलिए तुम यह न समझना, कि उपाध्याय का व्यवहार शुष्क एवं कठोर है, यह तो परिस्थितिवश ही है—

वत्स, कार्याभिनियोग एवास्मानाकुलयति न पुनरुपाध्यायसहभूः शिष्यजने दुःशीलता (प्रथम अङ्क)

चाणक्य की उदारता, उसकी कोमलता और बुद्धिमत्ता ही उसे राक्षस की भी प्रशंसा करने के लिए बाध्य करती है। प्रथम अङ्क में वह कहता है कि "अतएवास्माकं त्वत्संग्रहे यत्नः ।" और सप्तम अङ्क में राक्षस के पकड़े जाने पर वह पहले प्रणाम करता हुआ कहता है कि—भो भो अमात्यराक्षस ! विष्णुगुप्तोऽभिवादयते ।" निश्चय ही चाणक्य गुणग्राही भी है। इसीलिए वह राक्षस की मेधा और चन्द्रगुप्त की शक्ति का समन्वय कर भावी विशाल भारत राष्ट्र के निर्माण का मार्ग (राक्षस को मन्त्रित्व प्रदान कर) प्रशस्त करता है।

डा. हिन्दी कल्याणी पुस्तकालय

चाणक्य बुद्धि-वैभव-सम्पन्न, दूरद्रष्टा, प्रत्युत्पन्नमति और मनोवैज्ञानिक है। वह शत्रु की समस्त गतिविधियों को लागू होने से पूर्व ही जान लेता है और उनका तुरन्त निराकरण भी प्रस्तुत कर देता है। इसीलिए सहयोगी और विरोधी सभी चाणक्य की नीति की प्रशंसा करते हैं। भागुरायण कहता है कि —"कभी तो चाणक्य की गूढ़ चालें प्रकाशित होने लगती हैं और कभी इतनी गहन हो जाती हैं कि बुद्धि गम्य नहीं हो पातीं, कभी अपने सम्पूर्ण रूप से दृष्टिगत होती हैं, कभी किसी कार्य-विशेष से अत्यन्त धुँधली हो जाती हैं, कभी उनका बीज तक नष्ट होता प्रतीत होता है और कभी विविध फलों से युक्त हो जाती है। वास्तव में चाणक्य की नीति नियति की भाँति विचित्र आकार प्रदर्शित करती है—

मुहुर्लक्ष्योद्भेदा मुहुरधिगमाभावगहना
मुहुः सम्पूर्णाङ्गी मुहुरतिकृशा कार्यवशतः।
मुहुर्भ्रश्यद्बीजा मुहुरपि बहुप्रापितफले—
त्यहो चित्राकारा नियतिरिव नीतिर्नयविदः॥

विशाखदत्त ने चाणक्य को केवल एक राजनीतिज्ञ और कूटनीतिज्ञ के रूप में चित्रित कर अपने कर्त्तव्य की इतिश्री नहीं की है अपितु उसे सर्वगुणसम्पन्न महामानव मानकर उसके चरित्र की रेखाएँ चित्रित की हैं। राक्षस उसकी प्रशंसा करता हुआ कहता है कि "वह रत्नों के समुद्र की भाँति समस्त शास्त्रों की खान है, जिसके गुणों से हम ईर्ष्यालु कभी सन्तुष्ट नहीं होते हैं—

आकरः सर्वशास्त्राणां रत्नानिव सागरः।
गुणैर्न परितुष्यामो यस्य मत्सरिणो वयम्॥

राक्षस—इस नाटक का दूसरा प्रभावशाली पात्र है। वह भाग्य-चक्र के उत्थान-पतन का जीता जागता नमूना है। वह स्वयं अपने विषय में कहता है कि "जो मैं पहले हजारों राजाओं से घिरा हुआ तथा राजा के समान नागरिकों की अंगुलियों द्वारा नवोदित चन्द्रमा की भाँति संकेतित होता हुआ, धीरे-धीरे नगर से निकलता था, वही निष्फल प्रयास वाला मैं इस समय फिर उसी नगर में चोर की भाँति भय से शीघ्रता के साथ जीर्ण उपवन में प्रवेश कर रहा हूँ—"

पौरैरङ्गुलिभिर्नवेन्दुवदहं निर्दिश्यमानः शनैः
यो राजेव पुरा पुरान्निरगमं राज्ञां सहस्रैर्वृतः ।
भूयः सम्प्रति सोऽहमेव नगरे तत्रैव बन्ध्यश्रमो
जीर्णोद्यानकमेष तस्कर इव त्रासाद् विशामि द्रुतम् ॥ (६।१०)

राक्षस भी प्रतिभाशाली, निस्वार्थ, दृढ़प्रतिज्ञ राजनीतिज्ञ है, उसके भय के कारण ही मगध की राजलक्ष्मी चन्द्रगुप्त का आलिङ्गन नहीं कर सकी है—

वामां बाहुलतां निवेश्य शिथिलं कण्ठे निवृत्तानना
स्कन्धे दक्षिणया बलान्निहितयाप्यङ्गे पतन्त्या मुहुः ।
गाढ़ालिङ्गनसङ्गपीडितमुखं यस्योद्यमाशङ्किनी
मौर्यस्योरसि नाद्युनाऽपि कुरुते वामेतरं श्रीः स्तनम् ॥ (२/१२)

राक्षस भाग्यवादी है। राक्षस का यह भाग्य या दैव उसके विपरीत है, इसीलिए वह पराजित होता है; वह प्रयत्न करता है, किन्तु दैव दुर्विपाक से से वह हताश हो जाता है—दो गुप्तचरों के मारे जाने पर वह कहता है कि ये दोनों ही नहीं मारे गये भाग्य ने हमें मार दिया है—"नैतावुभौ हतौ, दैवेन वयमेव हताः"। एक स्थान पर वह बड़े ही स्पष्ट शब्दों में कहता है कि : "उस प्रकार की मृत्यु के अयोग्य महाराज नन्द के दिवंगत हो जाने पर, पर्वतेश्वर का आश्रय लेकर प्रयत्न किया। उसके मार डाले जाने पर उसके पुत्र मलयकेतु का आश्रय लेकर प्रयत्न किया। फिर भी सफलता नहीं मिली। भाग्य ही नन्दवंश का शत्रु है, वह ब्राह्मण नहीं—

देवे गते दिवमतद्विधमृत्युयोग्ये
शैलेश्वरं तमधिकृत्य कृतः प्रयत्नः ।
तस्मिन् हते तनयमस्य तथाप्यसिद्धि—
दैवं हि नन्दकुलशत्रुरसौ न विप्रः ।" (६/७)

चाणक्य भी राक्षस की पराजय का कारण दैव को कहता है। चाणक्य कहता है कि यह विकटतम कृत्य किसने किया है। चाण्डाल का उत्तर है—आर्य चाणक्य ने। इस पर चाणक्य का स्पष्ट कथन है कि नहीं, ऐसा मत कहो, नन्दवंश के शत्रु भाग्य ने ऐसा किया है—"भद्र ! मा मैवम्। नन्दकुलद्वेषिणा

दैवेनेति ब्रूहि।" चाणक्य राक्षस की प्रतिभा से परिचित है। इसीलिए वह राक्षस को चन्द्रगुप्त के मंत्रिपद पर प्रतिष्ठित करता है। राक्षस की यह एक बहुत बड़ी विजय है। सातवें अङ्क में चन्द्रगुप्त द्वारा सम्मान किये जाने पर राक्षस सोचता हुआ (स्वगत कथन) कहता है कि योग्य विजयेच्छुक राजा को पाकर मंदबुद्धि मंत्री की भी स्थिति यशस्वी पद पर निश्चित होती है। किन्तु अयोग्य राजा को पाकर अनवद्य-नीतिशाली मंत्री भी विनष्ट आश्रय वाला होता हुआ तटवर्ती वृक्ष की भाँति धराशायी हो जाता है; (७।१४) यही स्थिति राक्षस की हुई है। राक्षस को योग्य और आज्ञाकारी राजा नहीं मिला, जो मिले भी वे विलासी। भाग्यवादी होने पर भी राक्षस अकर्मण्य नहीं है। वह निरन्तर प्रयत्न करता है। आत्म-समर्पण करने तक वह सक्रिय रहता है।

राक्षस के कुछ गुण (राजनीति में दोष) ऐसे हैं जो उसकी पराजय के कारण बनते हैं। उसमें मानवोचित उदात्तता है। वह सहृदय विश्वासी है। भावुक है। मित्रता पर आत्मसमर्पण करने वाला है। यह गुण उसे ले डूबते हैं—आत्मसमर्पण के समय निकले हुए उसके उद्गार मार्मिक हैं; मित्र की रक्षा को वह कर्त्तव्य मान लेता है—

नन्दस्नेहकणाः स्पृशन्ति हृदयं भृत्योऽस्मि तद्विद्विषां
ये सिक्ताः स्वयमेव पाणिपयसा छेद्यास्त एव द्रुमाः।
शस्त्रं मित्रशरीररक्षणकृते व्यापारणीयं मया
कार्याणां गतयो विधेरपि न यान्त्यालोचनागोचरम्। (७/१६)

वह स्वामिभक्त है। शकटदास उसकी स्वामिभक्ति की प्रशंसा में कहता है कि—"नन्द के नष्ट हो जाने पर भी उनके प्रति अनुराग को नष्ट किये बिना स्वामिभक्तों की सर्वाधिक मात्रा राक्षस में है—

अक्षीणभक्तिः क्षीणेऽपि नन्दे स्वाम्यर्थमुद्वहन्।
पृथिव्यां स्वामिभक्तानां प्रमाणे परमेस्थितः॥" (२/२२)

नन्दवंश के विनाश के बाद भी उसके प्रति राक्षस की भक्ति यथापूर्व रहती है। इसी तथ्य पर मुग्ध चाणक्य कहता है कि "अहो! राक्षसस्य नन्दवंशे निरतिशयो भक्तिगुणः। स खलु कस्मिंश्चिदपि जीवति नन्दान्वयावयवे वृषल-

स्य साचिव्यं ग्राहयितुं न शक्यते (प्रथम अङ्क)। पुनः वह कहता है कि विपत्ति में भी जो स्वामी का अनुगमन करते हैं, वे दुर्लभ होते हैं—

"भक्त्या कार्यधुरां वहन्ति बहवस्ते दुर्लभास्त्वादृशाः"

इसीलिए तुम्हें वश में करने के लिए हमारा प्रयत्न हो रहा है—अतएवास्माकं त्वत्संग्रहे प्रयत्नः, कथमसौ वृषलस्य साचिव्यग्रहणेन सानुग्रहः स्यादिति।' क्योंकि "भक्ति से युक्त किन्तु बुद्धि और बल से रहित सेवक से क्या लाभ? और बुद्धि तथा पराक्रम से सम्पन्न, किन्तु भक्ति से हीन सेवक से भी क्या लाभ? जिन सेवकों में बुद्धि, पराक्रम तथा भक्ति इन तीनों गुणों का समन्वय हो, वे राजा के अच्छे तथा बुरे दिनों में भी कल्याणकारी होते हैं दूसरे स्त्री के समान होते हैं—

अप्राज्ञेन च कातरेण च गुणः स्याद् भक्तियुक्तेन कः
प्रज्ञा विक्रमशालिनोऽपि हि भवेत् किं भक्तिहीनात् फलम्।
प्रज्ञाविक्रमभक्तयः समुदिता येषां गुणा भूतये
ते भृत्या नृपतेः कलत्रमितरे सम्पत्सु चापत्सु च। (१/१५)

राक्षस निश्चय ही सर्वगुणसम्पन्न—प्रज्ञा, भक्ति तथा पराक्रम से सम्पन्न है। चाणक्य शास्त्रविद्या में प्रवीण है, इसीलिए युद्ध से बचता है, और बुद्धि से राक्षस को जीत लेता है किन्तु राक्षस का शस्त्रबल महान् है, वह शूरवीर है, उसकी शूरवीरता के प्रमाण स्वरूप निम्न श्लोक द्रष्टव्य है। राक्षस कहता है कि—

प्राकारं परितः शरासनधरैः क्षिप्रं परिक्रम्यतां
द्वारेषु द्विरदैः प्रतिद्विपघटाभेदक्षमैः स्थीयताम्।
त्यक्त्वा मृत्युभयं प्रहर्तुमनसः शत्रोर्बले दुर्बले
ते निर्यान्तु मया सहैकमनसो येषामभीष्टं यशः।

तथा—

यत्रैषा मेघनीला चरति गजघटा राक्षसस्तत्र याया—
देतत् पारिप्लवाम्भः प्लुति तुरगबलं वार्यतां राक्षसेन।
पत्तीनां राक्षसोऽन्तं नयतु बलमिति प्रेषयन्मह्यमाज्ञा—
मज्ञासीः स्नेहयोगात् स्थितमिव नगरे राक्षसानां सहस्रम्॥ (२/१४)

राक्षस की वीरता के आतंक से चन्द्रगुप्त की सेना की दशा का वर्णन करते हुए चाणक्य कहता है कि—"गर्वीले शत्रु के गर्व को चूर करने वाले अत्यन्त पराक्रमी आपके प्रभाव से पलान से रहित न होने वाले और निरन्तर लगाम के धारण करने से क्षीण घोड़ों के साथ नहाने, खाने, घूमने, पीने और सोने के यथेच्छ उपभोगों से वंचित तथा हौदे के सदा कसे रहने से सूजे हुए पृष्ठ भाग वाले इन हाथियों को देखिए—

अश्वैः सार्द्धमजस्रदत्तकविकाक्षामैरशून्यासनैः
स्नानाहारविहारपानशयनस्वेच्छासुखैर्वर्जितान् ।
माहात्म्यादतिपौरुषस्य भवतो दृप्तारिदर्पच्छिदः
पश्यैतान् परिकल्पनाव्यतिकरप्रोच्छूनवंशान् गजान्" (८।१५)

राक्षस बुद्धि में भी महान् है। कूटनीतिविशेषज्ञ चाणक्य भी इस बात को स्वीकार करता हुआ कहता है कि "सतत जागरण के कारणभूत कल्पना के क्लेशों से मेरी बुद्धि को और मौर्य की सेना को चिरकाल तक कष्ट का अनुभव कराया है—

गुरुभिः कल्पनाक्लेशैर्दीर्घजागरहेतुभिः
चिरमायासिता सेना वृषलस्य मतिश्च मे ॥ (७।८)

इस प्रकार एक योग्य मंत्री में होने वाले समस्त गुण राक्षस में हैं—वह युद्धकला में निष्णात है, शक्तिमान्, शूरवीर, सैन्यसंगठन तथा संचालन में निपुण, राज्य-व्यवस्था में पटु, तथा स्वामिभक्त है। फिर भी दैवदुर्विपाक, योग्य अनुयायी के अभाव और सहज प्रत्येक व्यक्ति का विश्वास करने तथा सहज मानवीय गुणों के अतिरेक के कारण उसकी पराजय होती है। नाटककार ने राक्षस को असफल सिद्ध करते हुए भी उसकी महत्ता की रक्षा की है। राक्षस एवं चाणक्य की तुलना करते हुए श्रीभोलाशंकर व्यास ने लिखा है कि—

"चाणक्य स्पष्टबुद्धि, आत्मविश्वासी तथा अप्रमत्त है, राक्षस भावुक, कोमल तथा गलती करने वाला। चाणक्य की नीति गुप्त है, वह किसी पर विश्वास नहीं करता। राक्षस स्पष्ट है, दयापूर्ण है तथा हर एक पर विश्वास करता है। यह हर एक पर विश्वास करना ही राक्षस का पतन कराता है।

चाणक्य का व्यक्तित्व इतना गम्भीर तथा कठोर है कि उसके मित्र तथा अनुयायी भी उससे डरते हैं, राक्षस के मित्रादि उसे प्रेम करते हैं। राक्षस के इन्हीं गुणों के कारण चाणक्य उसे जीतना चाहता है, उसका हृदय-परिवर्त्तन करना चाहता है, और इसमें वह पूर्णतः सफल होता है। राक्षस भी चाणक्य की योजनाओं को भंग करने के लिए कूटनीतिपूर्ण चालें चलता है, पर वह राजनीति के ही जगत् में नहीं रहता; जबकि चाणक्य उसी जगत् में उठता-बैठता है, राजनीति के अतिरिक्त चाणक्य को और कुछ सूझता ही नहीं।"

चन्द्रगुप्त

चन्द्रगुप्त इस नाटक का एक आदर्शपात्र है। वह सिद्धान्ततः नायक है, किन्तु उसका व्यक्तित्व उभर नहीं सका है। फिर भी वह चाणक्य के हाथ की कठपुतली नहीं है। लेखक ने कहीं उसे हीन सिद्ध भी नहीं किया है। किन्तु इतना सुनिश्चित है कि जब चाणक्य जैसे नीतिज्ञ, मेधावी ने भारत का भावी राष्ट्र-निर्माता, सम्राट् बनाने का निश्चय किया है, वह निश्चय ही वीरता, साहस और अन्यान्य गुणों से समन्वित होगा। वह प्रियदर्शन है, जनता उसे प्यार करती है। वह अपने गुरु और मन्त्री की आज्ञा का पालन करता है, उनके अनुसार सम्पूर्ण योजनाओं को कार्यान्वित करता है, वह प्रभुशक्ति के साथ मन्त्रशक्ति की उपयोगिता को समझता है, इसीलिए वह कहता है कि "यदि एक विनीत शिष्य की भांति मुझसे सब कुछ ठीक होता चला तो मुझे कुछ सुनना नहीं पड़ेगा और यदि असावधानीवश मैं कहीं मार्ग भूल जाऊँ, तब भी गुरु का नियन्त्रण है। मुझे किस बात की चिन्ता ? मुझे तो आर्य के आज्ञा-पालन में ही स्वतन्त्रता दृष्टिगत होती है। मेरे लिए तो सभी स्वच्छन्दताओं से ही मुख मोड़ लेना श्रेयस्कर है"—

इह हि रचयन् साध्वीं शिष्यः क्रियां न निवार्यते
त्यजति तु सदा मार्गं मोहात् तदा गुरुरङ्कुशः।
विनयरुचयस्तस्मात्सन्तः सदैव निरङ्कुशाः
परतरमतः स्वातन्त्र्येभ्यो वयं हि पराङ्मुखाः। (३।६)

इस श्लोक से स्पष्ट है कि चन्द्रगुप्त गुरुभक्त, विनयी और कर्त्तव्य-परायण है। गुरु का कपट क्रोध भी उसे वास्तविक लगता है—अये ! कथं सत्यमेवार्यः कुपितः। इस गुण की प्रशंसा करते हुए राक्षस कहता है कि—"यह चन्द्रगुप्त का विनय ही है। किन्तु मुझे ईर्ष्या इसके विपरीत ही प्रतीति कराती है। चाणक्य सब प्रकार से उचित यशस्वी है, "अथवा विनय एवैष चन्द्रगुप्तस्य। मत्सरस्तु मे विपरीतं कल्पयति। सर्वथा स्थाने यशस्वी चाणक्यः।"

नाटककार ने चन्द्रगुप्त का चित्र इस प्रकार प्रस्तुत किया है जिससे आचार्य चाणक्य के चरित्र पर, उनकी महत्ता पर आघात न हो। साम्राज्य की प्रतिष्ठा और चाणक्य की राजनीति के स्वप्न को साकार करने के लिए चन्द्रगुप्त अपनी भावनाओं को दमित भी करता है। सातवें अंक में वह स्वयं कहता है कि आचार्य चाणक्य की कूटनीति के कारण उसे पौरुष-प्रदर्शन का अवसर ही नहीं मिला है—विनैव युद्धादार्येण पराजितं दुर्जयं रिपुकुलमिति लज्जित एवास्मि। मम हि—

फलयोगमवाप्य सायकाना—
मनियोगेन विलक्षतां गतानाम्।
न शुचैव भवत्यधोमुखानां
निजतूणीशयनव्रतं प्रतुष्ट्यै। (६।१०)

अर्थात् "बिना युद्ध के ही आर्य ने कठिनाई से जीतने योग्य शत्रुकुल को परास्त कर डाला, इससे लज्जित सा हूँ; मेरे तो लोहे के अग्रभाग वाले बाण, बिना चलाये लक्ष्यहीनता को प्राप्ति किये हुए, मानो शोक से झुके हुए अग्रभाग वाले बाणों का अपने तूणीर में निश्चल पड़ा रहना सन्तोष के लिए नहीं हो रहा है।"

चन्द्रगुप्त के विषय में राक्षस की धारणा यह है कि वह न तो स्वयं ही राजकार्य संभाल कर मेरी सेना के आक्रमण का प्रतिरोध कर सकता है, न दूसरे पर राज्य-भार दे सकता है; क्योंकि वह सचिवायत्तसिद्धि है—"चन्द्रगुप्तस्तु दुरात्मा नित्यं सचिवायत्तसिद्धावेव स्थितश्चक्षुर्विकल इवाप्रत्यक्षलोक-

व्यवहारः कथमिव स्वयं प्रतिविधातुं समर्थः स्यात् ।" चाणक्य भी उसे सचिवायत्तसिद्धि कहता है। और इसीलिए वृषले' शब्द से सम्बोधित करता है। यही नहीं, 'कौमुदीमहोत्सव' के रोके जाने पर चन्द्रगुप्त की जिज्ञासा का समाधान यही कह कर करता है कि तुम सचिवायत्तसिद्धि हो तुम्हें इन सबसे क्या प्रयोजन—"सचिवायत्तसिद्धेस्तव किं प्रयोजनान्वेषणेन ।" (तृतीय अंक)

चन्द्रगुप्त में राजोचित गुण हैं, प्रजानुरंजन में वह समर्थ है, 'बुद्धिमान् है। अर्थ के प्रति उसे मोह नहीं है, इसीलिए चाणक्य चन्दनदास से कहता है कि—सेठ जी ! यह चन्द्रगुप्त का राज्य है, नन्द का राज्य नहीं। क्योंकि धन का सम्बन्ध धन के प्रेमी नन्द को ही प्रसन्न करता था, चन्द्रगुप्त को तो आप लोगों को कष्ट न होना ही रुचिकर है—भोः श्रेष्ठिन् । चन्द्रगुप्तराज्यमिदं, न नन्द-राज्यं, यतो नन्दस्यैवार्थरुचेरर्थसम्बन्धः प्रीतिमुत्पादयति, चन्द्रगुप्तस्य तु भवतामपरिक्लेश एव ।"

चाणक्य चन्द्रगुप्त के विनय, शक्ति, आज्ञाकारिता आदि गुणों के कारण परम स्नेह करता है। उसे भारत का चक्रवर्ती सम्राट् बनाना चाहता है। उसके निष्कण्टक राज्य की कामना करता हुआ राक्षस को उसका अमात्य नियुक्त करता है। चाणक्य की प्रसन्नता देखिए "सिंहासनासीन चन्द्र गुप्त को देखकर चाणक्य कहता है कि—सिंहासन धर्मराज्य की अवहेलना करने वाले नन्दों से रहित, राजाओं में श्रेष्ठ मौर्य से सुशोभित तथा अपने अनुरूप राजा से युक्त हो गया है—ये तीनों गुण मेरे अतिशय आनन्द को बढ़ा रहे हैं"—

नन्दैर्वियुक्तमनपेक्षितराजवृत्तै—
रध्यासितञ्च वृषलेन वृषेण राज्ञाम् ।
सिंहासनं सदृशपार्थिवसङ्गतञ्च
प्रीतिं परां प्रगुणयन्ति गुणा ममैते । (३।१८)

चन्द्रगुप्त चाणक्य को अतिशय सम्मान देता है, किन्तु उसमें एक कुशल प्रशासन के, जनप्रिय राजा के समस्त गुण हैं, यह इस नाटक की स्पष्ट अभि-व्यंजना है। इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता है।

मलयकेतु

मलयकेतु चन्द्रगुप्त का प्रतिरूप और उसका प्रतिद्वन्द्वी है। मलयकेतु के चरित्र से चन्द्रगुप्त के चरित्र को स्पष्टता मिलती है। "मलयकेतु ठीक उसी तरह चन्द्रगुप्त का उलटा चरित्र है, जैसे राक्षस चाणक्य का उलटा। चन्द्रगुप्त शान्त व गम्भीर है, मलयकेतु अशान्त, उद्धत और उज़ड्ड। उसे पाटलीपुत्र के गांग प्रासाद में स्थित सिंहासन पर बैठने की लालसा है, वह मौर्य को हटाकर सम्राट् बनना चाहता है, पर वह अविवेकी है, और भावावेश में आकर पता नहीं क्या कर देता है। चाणक्य के गुप्तचरों के जाल में फंसकर वह राक्षस का घोर अपमान करता है, जिसे देखकर राक्षस उसके अज्ञानी होने की घोषणा करता है—"अहो विवेकशून्यता म्लेच्छस्य।"

मलयकेतु को इस बात का अहं है कि वह स्वायत्तसिद्ध राजा है—दिष्ट्या न सचिवायत्ततन्त्रोऽस्मि मलयकेतु का यह अहंकार उसके पतन का कारण बनता है। वह अविवेकी है, उसमें दूरदर्शिता का अभाव भी है फिर भी उसमें साहस और पराक्रम का अभाव नहीं है। वह वीर पुरुषों की भाँति शत्रुओं का संहार कर युद्ध-क्षेत्र में पिता की वीरगति को पाना चाहता है। महान् कार्य भार उठाते हुए शत्रु-वनिताओं के नेत्रों से अश्रु वर्षा भी कराना चाहता है—

उद्यच्छता धुरमकापुरुषानुरूपां
गन्तव्यमाजिनिघनेन पितुः पथा वा।
आच्छिद्य वा स्वजननी जनलोचनेभ्यो
नेयो मया रिपुवधूनयनादिवाष्पः। (४।६)

मलयकेतु के धीरोद्धत स्वभाव का परिचायक यह उद्धरण देखिए—"वह राक्षस से कहता है कि मैं विश्वासघाती राक्षस नहीं हूँ; "तुम्हारे सहित आये हुए चाणक्य और चन्द्रगुप्त को विनष्ट करने में मैं उसी तरह समर्थ हूँ जिस तरह दुर्नीति धर्म, अर्थ और काम को—

विष्णुगुप्तञ्च मौर्यञ्च सममप्यागतौ त्वया।
उन्मूलयितुमीशोऽहं त्रिवर्गमिव दुर्नयः॥ (५।२२)

यही नहीं, वह परम हितैषी राक्षस की कटु शब्दों में और भी अनेक स्थलों पर भर्त्सना करता है, कि वास्तव में तुम राक्षस हो—

मित्रं ममायमिति निर्वृतचित्तवृत्ति
विश्रम्भतस्त्वयि निवेशितसर्वकार्यम् ।
तातं निपात्य सह बन्धुजनाक्षितोयै—
रन्वर्थतोऽपि ननु राक्षस राक्षसोऽसि । (५।७)

निश्चय ही मलयकेतु की उद्धतता, विवेकहीनता, अदूरदर्शिता और अशान्त प्रकृति का विवेचन कर नाटककार ने चन्द्रगुप्त के महत्त्व को प्रतिष्ठित किया है।

चन्दनदास

राक्षस के सहयोगियों में चन्दनदास का चरित्र दर्शकों और पाठकों को विशेष प्रभावित करता है। उसका चरित्र निर्दोष उदात्त किन्तु भव्य है। मित्र-धर्म की रक्षा के लिए वह अपने परिवार के सुख और अपने प्राणों का बलिदान करने में भी निर्द्वन्द्व है। चाणक्य की धमकियों से भी वह भयभीत नहीं है। वह स्पष्ट कहता है कि—"सन्तमपि गेहे अमात्यराक्षसस्य गृहजनं न समर्पयामि किं पुनरसन्तम्।" वह कारागार में डाल दिया जाता है, उसकी सम्पत्ति छीन ली जाती है। वह वध्यस्थल पर ले जाया जाता है। फिर भी उसकी नैतिकता और आत्मविश्वास डगमगाता नहीं है। चन्दनदास की प्रशंसा करता हुआ चाणक्य कहता है कि : "इस समय शिवि राजा को छोड़कर कौन व्यक्ति दूसरे की वस्तु को समर्पित कर देने से अर्थ-लाभ होने पर यह कठिन कार्य करे," अर्थात् ऐसे व्यक्ति आज संसार में दुर्लभ हैं—

सुलभेष्वर्थलाभेषु परसंवेदने जनः ।
क इदं दुष्करं कुर्यादिदानीं शिविना विना ॥ (१।२४)

एक इसी बात ने चाणक्य की बाजी जिता दी है। चाणक्य ने अनुमान लगाया, कि जिस प्रकार चन्दनदास राक्षस के लिए समर्पित व्यक्तित्व है इसी प्रकार राक्षस भी अपने मित्र के लिए समर्पित प्राण होगा—

त्यजत्यप्रियवत्प्राणान्यथा तस्यायमापदि ।
तथैवास्यापदि प्राणा नूनं तस्यापि न प्रियाः । (१।२५)

और राक्षस पकड़ा गया ।

चन्दनदास अपनी पत्नी से कहता है कि आर्ये ! सत्य है, मित्र के कार्य से मेरा विनाश हो रहा है, पुरुष के दोष (कुकर्म) से नहीं, अतः हर्ष के स्थान पर क्यों रो रही हो ?—आर्ये ! सत्यं, मित्रकार्येण मम विनाशो, न पुरुषदोषेण; तत् किं हर्षस्थानेऽपि रोदिषि इति !

चन्दनदास के महान् त्याग को देखकर राक्षस भी शत्रु के समक्ष समर्पण कर देता है, और उसकी रक्षा करता है । राक्षस कहता है कि "असज्जन रुचि वाले पापी कलियुग में भी प्राणों से दूसरे की रक्षा करते हुए यशस्वी जिस चन्दनदास ने शिवि के यश को भी तुच्छ कर दिया और निर्मल अन्तःकरण वाले चन्दनदास ने पवित्र चरित्र से बुद्धों के चरित्र को भी तिरस्कृत कर दिया, वह पूजा के योग्य होने पर भी जिसके लिए चाण्डालों ! तुम्हारा वध्य बन गया है, वह मैं यह हूँ :—

दुष्कालेऽपि कलावसज्जनरुचौ प्राणैः परं रक्षता
नीतं येन यशस्विनातिलघुतामौशीनरीयं यशः ।
बुद्धानामपि चेष्टितं सुचरितैः क्लिष्टं विशुद्धात्मना
पूजार्होऽपि स यत्कृते तव गतो वध्यत्वमेषोऽस्मि सः ॥
(७।५)

चाणक्य चन्दनदास के गुणों से आकृष्ट हो, पृथ्वी के समस्त नगरों का नगर सेठ नियुक्त करता है; यह उसके चरित्र की महिमा है ।

मुद्राराक्षस का साहित्यिक-सौन्दर्य

मुद्राराक्षस संस्कृत नाटच साहित्य की अन्यतम कृति है । नाटच-कला की उत्कृष्टता मुद्राराक्षस की अपनी निधि है, यह कथा एवं चरित्र प्रधान नाटक है । इसमें औचित्य का विशिष्ट ध्यान रखा गया है, यही कारण है कि इसमें नारी पात्रों का अभाव है । श्रृंगारिकता और कलात्मक-चमत्कार प्रायः नहीं है, फिर भी लेखक की काव्यशैली सशक्त गम्भीर एवं प्रवाहमयी है, कहीं कथा का

अवरोध नहीं हुआ, शास्त्रीयता की छाप, अतिबौद्धिकता (राजनीति के दांव पेच) के होने पर भी इसमें परिश्रमसाध्य कृत्रिमशैली दृष्टिगत नहीं होती। श्रीभोलाशंकर व्यास ने काव्य-शैली की समीक्षा करते हुए लिखा है कि "अभिव्यंजना की दृष्टि से चाहे उसे माघ जैसे कवियों के साथ नहीं रखा जा सके, पर विशाखदत्त के कई पद्य संस्कृत साहित्य की अपूर्व निधि हैं। विशाखदत्त में चाहे कालिदास जैसी उदात्त कल्पना तथा सरस भावतरलता न हो, हर्ष जैसा कोमल एवं विलासी प्रणय-चित्र न हो, शूद्रक जैसा व्यंग्य, हास्य एवं करुण का वातावरण न हो भट्टनारायण जैसी शक्ति तथा ऊष्मा न हो, न भवभूति जैसी करुण-हृदय की वेदना ही, फिर भी विशाखदत्त की अपनी शैली उसके विषय के अनुरूप है और इस दृष्टि से वह निम्न कोटि का कलाकार नहीं हैं।"

रस-परिपाक

मुद्राराक्षस में कालिदास और भवभूति की तुलना में रस की वेगवती भले ही न हो, किन्तु उनमें विभिन्न रसों को व्यक्त करने की अपूर्व क्षमता है। विशाखदत्त की रस-धारा अधिक गम्भीर और मन्थर है, यही रस-परिपाक में उनका औचित्य और वैशिष्ट्य है, विषयानुरूप रस की योजना कर वे सिद्धहस्त कलाकार की कोटि में आ जाते हैं।

मुद्राराक्षस का अंगी रस वीर है किन्तु इस वीर रस में वीरों का गर्जन-तर्जन, शस्त्रों की झनकार, तुमुल कोलाहल नहीं है अपितु इसका वीर रस बौद्धिक हैं, निस्पृह एवं वीतरागी व्यक्ति द्वारा विशाल साम्राज्य के निर्माण की आकांक्षा का चित्र है। चाणक्य की वीर रस से भरी हुई अनेक उक्तियाँ इस नाटक में विद्यमान है। चाणक्य के अदम्य उत्साह का यह एक अपूर्व चित्र—"वह कौन हैं जो जंभाई लेते हुए सिंह के मुँह खुल जाने से चमकती हुई उसकी उन दाढ़ों को उखाड़ना चाहता है, जो हाथों के रक्त का आस्वादन करने के कारण उसी प्रकार लाल कान्ति से युक्त है जिस प्रकार सन्ध्या कालीन चन्द्र की रक्त कान्ति"—

आस्वादितद्विरदशोणितशोणशोभां
सन्ध्यारुणामिव कलां शशलाञ्छनस्य।

जृम्भाविदारितमुखस्य मुखात्स्फुरन्ती
को हर्त्तुमिच्छति हरेः परिभूय दंष्ट्राम् ॥ (१।८)

चाणक्य ने विरोधियों का संहार कर दिया है। उसने संसार के सामने की हुई प्रतिज्ञा को पूरा कर दिया है। "दूसरे किसने लोगों के समक्ष उत्पन्न क्रोध के आवेग से टेढ़ी अंगुलियों के अग्रभाग से खोली गई शिखा वाली, भयंकर तथा सम्पूर्ण शत्रुकुल के विनाश करने के कारण बड़ी प्रतिज्ञा को कर अभिमानी तथा असंख्य धनराशि के स्वामी, नन्दों को बलिपशु की तरह मार दिया—

आरुह्यारुढकोपरस्फुरणविषमिताग्राङ्गुलीमुलचूडां
लोकप्रत्यक्षमुग्रां सकलरिपुकुलोच्छेददीर्घां प्रतिज्ञाम्।
केनान्येनावलिप्ता नवनवतिशतद्रव्यकोटीश्वरास्ते
नन्दाः पर्यायभूता पशव इव हताः पश्यतो राक्षसस्य ॥ (३।२७)

वीर रस की निष्पत्ति राक्षस और मलयकेतु की उक्तियों में भी हुई है। विराधगुप्त के कहने पर कि चाणक्य चन्द्रगुप्त और पर्वतश्वर की सेनाओं ने कुसुमपुर घेर लिया है राक्षस उत्तेजित होकर, वीर और ओज से भरी वाणी में कहता है—"सैनिक परकोटे के चारों ओर शीघ्र चक्कर लगावें शत्रुओं के हाथियों के समूह को तितर-बितर करने में समर्थ हाथी द्वारों पर खड़े हो जायँ। जिन्हें यश की चाह है, वे मरने का भय त्याग कर दुर्बल शत्रु-सेना पर एक मन से प्रहार करने की इच्छा वाले होकर मेरे साथ बाहर निकल आवें—

प्राकारं परितः शरासनधरैः क्षिप्रं परिक्रम्यतां
द्वारेषु द्विरदैः प्रतिद्विपघटाभेदक्षमैः स्थीयताम्।
त्यक्त्वा मृत्युभयं प्रहर्तुमनसः शत्रोर्बले दुर्बले
ते निर्यान्तु मया सहैकमनसो येषामभीष्टं यशः। (२।१३)

इस श्लोक में वीर रस का पूर्ण परिपाक है, उत्साह स्थायी भाव गौड़ी रीति और ओज गुण समन्वित श्लोक वीर रस की दृष्टि से सुन्दर हैं।

चन्दनदास के वध्यस्थान ले जाने के समाचार को सुनकर राक्षस का रक्त खौलने लगता है और वह तलवार संभालता हुआ कहता है कि "जल रहित आकाश की तरह चमकने वाली यह तलवार, जो युद्ध में श्रद्धा रखने के

कारण रोमाञ्चित हो गई है, जिसने मेरे हाथ से मित्रता प्राप्त कर ली है; तथा जिसकी वीरता को शत्रुओं ने युद्धभूमि की कसौटी पर परखा है, आज मुझे मित्र चन्दनदास के स्नेह के कारण साहस की ओर बढ़ने से प्रेरित कर रही है"—

निस्त्रिंशोऽयं विगतजलदव्योमसङ्काशमूर्त्ति—
र्युद्धश्रद्धापुलकित इव प्राप्तसख्यः करेण ।
सत्त्वोत्कर्षात् समरनिकषे दृष्टसारः परैर्मे
मित्रस्नेहाद्विवशमधुना साहसे मां नियुङ्क्ते ।। (६।१९)

मलयकेतु की इस उक्ति में सेनाओं के प्रयाण की हलचल देखी जा सकती है "हमारी सेना के घोड़ों के खुरपुटों से चूर्णित रणाङ्गण से उत्थित धूल गौड़ देश की स्त्रियों के लोध्रधूलि से चर्चित अत्यन्त सुगन्धित कपोलों को धूमिल बनाती हुई, उनके भ्रमरों के समान घुँघराले काले केशों को मलिन बनाती हुई तथा हमारे गजों के मदजल से मलिन कीचड़ को उछालती हुई शत्रुओं के मस्तकों पर गिरे"—

गौडीनां लोध्रधूलीपरिमलबहलान् धूम्रयन्तः कपोलान्
क्लिश्नन्तः कृष्णिमानं भ्रमरकुलरुचः कुञ्चितस्यालकस्य ।
पांशुस्तम्बा बलानां तुरगखुरपुटक्षोदलब्धात्मलाभाः
शत्रूणामुत्तमांगे गजमदमलिनच्छिन्नमूलाः पतन्तु । (५।२३)

वीर के सहयोगी रौद्र रस की व्यंजना भी मुद्राराक्षस में हुई है । चाणक्य, राक्षस और मलयकेतु के विभिन्न कथनों में रौद्ररस देखने को मिलता है । एक उद्धरण प्रस्तुत है—"वृषल ! वृषल ! क्या सेवक के समान मेरे ऊपर शासन करना चाहते हो ? यह हाथ बंधी हुई भी शिखा को खोलने के लिए पुनः उत्सुक हो रहा है, (पैर पटक कर) यह चरण भी प्रतिज्ञा करने के लिए चल रही है, काल के वशीभूत तुम नन्दों के नाश से शान्ति को प्राप्त, मेरी क्रोधाग्नि को अब प्रज्वलित कर रहे हो" —

[सक्रोधम्]

वृषल ! वृषल ! भृत्यमिव मामारोढुमिच्छसि ।
शिखां मोक्तुं बद्धामपि पुनरयं धावति करः

[भूमौ पादप्रहारं कृत्वा]

प्रतिज्ञामारोढुं पुनरपि चलत्येष चरणः ।
प्रणाशान्नन्दानां प्रशममुपयातं त्वमधुना
परीतः कालेन ज्वलयसि मम क्रोधदहनम् ।। (३।२९)

वीर रस से भरपूर होने पर भी नाटक में भयानक और बीभत्स रस का अभाव है। क्योंकि इस नाटक का वीर रस युद्ध भूमि का न होकर उक्तियों का है। अतः नाटक में सर्वत्र गम्भीरता है, यही कारण है कि प्रणय की कोमलता और नारी की सरसता का भी इसमें अभाव है। "चाणक्य की नीति की तरह विशाखदत्त की कला भी शृंगार के कौमुदी-महोत्सव को निषिद्ध कर देती है।" फिर भी एक-दो शृंगारी चित्र इस नाटक में है जो विशाखदत्त की शृंगारी कविता लिखने के समर्थ प्रमाण है। "अप्रस्तुत रूप में नारी रूपिणी राजलक्ष्मी की ये चेष्टाएँ शृंगार रस व्यंजना का आभास देती हैं"—

वामां बाहुलतां निवेश्य शिथिलं कण्ठे निवृत्तानना
स्कन्धे दक्षिणया बलान्निहितयाऽप्यङ्के पतन्त्या मुहुः ।
गाढालिङ्गनसङ्गपीडितमुखं यस्योद्यमाशङ्किनी
मौर्यस्योरसि नाधुनाऽपि कुरुते वामेतरं श्रोःस्तनम् ।। (२।१२)

यही वह अमात्य हैं "जिनके उद्योग से शंकित रहने वाली लक्ष्मी अपनी वाम भुजलता को चन्द्रगुप्त के गले में धीरे से डाल कर (राक्षस के भय से) मुँह फेर कर चन्द्रगुप्त के द्वारा बलपूर्वक कंधे पर रखी जाने पर भी बार-बार गोद में गिरती हुई दक्षिण भुजलता से दृढ़ आलिङ्गन की आसक्ति से पीड़ित अग्र-भाग वाले दाहिने कुच को अब भी चन्द्रगुप्त के वक्ष पर नहीं रखती है।"

चन्द्रगुप्त को केवल इस बात का खेद है कि कौमुदी-महोत्सव पर भी पुष्प-पुरवासी उत्सव क्यों नहीं मना रहे हैं "चतुर कथाओं में निपुण विटों के द्वारा अनुगत वार विलासिनियाँ आज अपने पुष्ट जघनभार से दबी हुई मन्थर-गति से पाटलीपुत्र की गलियों को सुशोभित नहीं कर रही हैं, साथ ही समृद्धि से एक दूसरे की स्पर्द्धा करने वाले श्रेष्ठ नागरिक भी निःशंक होकर अपनी

स्त्रियों के साथ कौमुदीमहोत्सव के अभिलषित उत्सव का आनन्द नहीं ले रहे हैं"—

धूर्तैरन्वीयमानाः स्फुटचतुरकथाकोविदैर्वेशनार्यो
नालङ्कुर्वन्ति रथ्याः पृथुजघनभराक्रान्तमन्दप्रयातैः ॥
अन्योन्यं स्पर्द्धमाना न च गृहविभवैः स्वामिनो मुक्तशङ्काः
साकं स्त्रीभिर्भजन्ते विधिमभिलषितं पार्वणं पौरमुख्याः ॥ (३।१०)

करुण रस की व्यंजना भी चन्दनदास की पत्नी और उसके बच्चे के विलाप में हुई है किन्तु नाटक में करुण का पूर्ण परिपाक नहीं हुआ है फिर भी हम यह कह सकते हैं कि नाटककार विशाखदत्त जहाँ कथा-विन्यास और चरित्र-चित्रण में अपूर्व क्षमतावान् थे वहीं भावुकों को रसाप्लुत करने की भी अद्भुत क्षमता रखते थे।

प्रकृति-चित्रण :

राजनीति की गुत्थियों को प्रस्तुत करने वाले इस नाटक में प्रकृति-चित्रण के लिए विस्तृत अवकाश न था फिर भी लेखक ने अपने प्रकृति-प्रेम और उसकी जानकारी का परिचय दिया है। शरत्कालीन सरिताओं और दिशाओं की तुलना में प्रकृति की माधुरी देखिए :—

"शरद् काल की बड़ी-बड़ी सरिताएँ दसों दिशाओं के समान प्रतीत हो रही हैं और दिशाएँ सरिताओं के समान एक ओर श्वेत मेघ खंड शान्त होकर नदी के पुलिनों के समान दिखाई दे रहे हैं, दूसरी ओर मधुर स्वर वाले सारसों से युक्त बालुकामय चमकते हुए शान्त पुलिन श्वेत मेघ खंड जैसे हैं। एक ओर रात्रि में विचित्र प्रकार के नक्षत्रों से युक्त आकाश की दिशाएँ ऐसी लग रही हैं जैसे विचित्र कुमुदों से पूर्ण सरिताएँ और दूसरी ओर विचित्र कुमुदों से पूर्ण सरिताएँ ऐसी प्रतीत होती हैं जैसे रंग-बिरंगे तारों से युक्त दिशाएँ हों—

शनैः शान्ताम्भूताः सितजलधरच्छेदपुलिनाः
समन्तादाकीर्णाः कलविरुतिभिः सारसकुलैः।
चिताश्चित्राकारैर्निशि विकचनक्षत्रकुमुदै—
र्नभस्तः स्यन्दन्ते सरित इव दीर्घा दशदिशः ॥(३/१७)

प्रकृति का अलंकरण रूप में एक चित्र—

"महादेव की मूर्ति के समान रूप वाली यह अपूर्व शरद् ऋतु आप लोगों के कष्ट का निवारण करे। महादेव काशपुष्पों की शोभा को तिरस्कृत करने वाली भस्म से आकाश को धवल बनाते हैं, शरत् भस्म के समान सफेद काश-पुष्पों की कांति से आकाश को धवल बनाती है; महादेव मस्तक पर धारण किये हुए चन्द्रमा की किरणों से मेघ के समान काले गजचर्म को गीला बनाते हैं, तो शरत् चन्द्रमा की किरणों से गजचर्म के समान काले मेघों को निर्मल बनाती है; महादेव चन्द्रमा के समान धवल कपालमाला को धारण करते हैं, तथा राजहंस के समान धवल अट्टहास से सुशोभित हैं, शरत् कपाल-माला के समान श्वेत चन्द्रिका धारण करती है, और राजहंसों की हास्यश्री से सम्पन्न है—

आकाशं काशपुष्पच्छविमभिभवता भस्मना शुक्लयन्ती।
शीतांशोरंशुजालैर्जलधरमलिनां क्लिन्दती कृत्तिमैभीम्।
कापालीमुद्वहन्ति स्रजमिव धवलां कौमुदीमित्यपूर्वा
हासश्रीराजहंसा हरतु तनुरिव क्लेशमैशी शरद्वः॥ (३/२०)

इसी प्रकार शरद् की तुलना प्रजाओं को नियन्त्रित करने वाली राजसत्ता से तथा शरदकालीन गंगा की तुलना प्रियतम से मिलने जाने वाली अभिसारिका से की गई है। उपर्युक्त प्रायः समस्त स्थलों पर प्रकृति का वर्णन अलंकरण रूप में ही हुआ है।

विशाखदत्त प्रकृति के करुण दृश्य को भी प्रस्तुत करते हैं। जीर्णोद्यान का चित्र प्रस्तुत है—"महाप्रयत्न से निर्मित भवन नन्दवंश के समान नष्ट हो गया, सरोवर मित्र के विनाश से सज्जन के हृदय के समान सूख गया। वृक्ष प्रतिकूल भाग्य के कारण नीतियों के समान फलशून्य हो गए। भूमि कुनीति से मूर्ख की बुद्धि के समान ही तिनकों से ढक गई"—

विपर्यस्तं सौधं कुलमिव महारम्भरचनं
सरः शुष्कं साधोर्हृदयमिव नाशेन सुहृदाम्।

फलैर्हीना वृक्षा विगुणनृपयोगादिव नया—
स्तृणैश्छन्ना भूमिर्मतिरिव कुनीतैरविदुषः ॥ (६/११)

तथा—

"यहाँ फन फैलाये फुत्कार करते हुए सर्प दृष्टिगत हो रहे हैं, जिनकी कँचुलों के टुकड़े पेड़-पौधों की डालियों में लटके हुए ऐसे लग रहे हैं, मानों लोगों के द्वारा सर्वथा उपेक्षित देखकर बड़ी-बड़ी तीक्ष्ण धार वाली कुल्हाड़ियों से कटे-पिटे पेड़ों की निरन्तर कपोतों के करुण कलरव के बहाने करुण-क्रन्दन करने वाली कटी-पिटी टहनियों और शाखाओं के घावों पर इन सर्पों ने ही संकट में पड़े अपने पूर्व परिचित इन पेड़-पौधों की दयनीय दशा में समवेदना दिखाते और आह खींचते मरहम पट्टी कर रखी हो"—

क्षताङ्गानां तीक्ष्णैः परशुभिरुदग्रैः क्षितिरुहां
रुजा कूजन्तीनामविरतकपोतोपरुदितैः ।
स्वनिर्मोकच्छेदैः परिचितपरिक्लेशकृपया
श्वसन्तः शाखानां व्रणमिव निबध्नन्ति फणिनः ॥ (६/१२)

मौर्य साम्राज्य के महामात्य चाणक्य की कुटी का दृश्य भी अपूर्व है। कहाँ तो वैभव से भरपूर सुगाङ्ग प्रसाद और कहाँ उस राज्य के मंत्री की जीर्ण-शीर्ण कुटिया। महामात्य के जीवन की सुन्दर व्यंजना इस श्लोक में—

उपलशकलमेतद् भेदकं गोमयानां
बटुभिरुपहृतानां बर्हिषां स्तोम एषः ।
शरणमपि समिद्भिः शुष्यमाणाभिराभि—
र्विनमितपटलान्तं दृश्यते जीर्णकुड्यम् ॥ (३/१५)

"एक ओर उपलों को तोड़ने वाला यह पत्थर का एक टुकड़ा पड़ा है, तो दूसरी ओर ब्रह्मचारियों द्वारा लाये हुए कुशों का ढेर दृष्टिगत हो रहा है। उस कुटी की दीवालें ही प्राचीन और जीर्ण नहीं है अपितु सूखती हुई समिधाओं के भार से झुकी हुई छाजन (छप्पर) वाला घर दृष्टिगत हो रहा है।"

शास्त्र-ज्ञान

विशाखदत्त शास्त्रज्ञ थे, ज्योतिष, राजनीति, न्याय आदि से उनका अच्छा

परिचय था, यह मुद्राराक्षस के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है। लेखक नाटक के आरम्भ में "रक्षत्येनं तु बुधयोगः" सूत्रधार के मुख से कहला कर अपने गणित ज्योतिष का परिचय देता है। इसी प्रकार—एकगुणा भवति तिथिश्चतुर्गुणं भवति नक्षत्रम्। चतुःषष्टिगुणं लग्नमेतद् दृश्यते ज्यौतिषसिद्धान्ते।" से लेखक के फलित ज्योतिष के ज्ञान का पता चलता है।

साध्ये निश्चितमन्वयेन घटितं बिभ्रत् सपक्षे स्थितिं
व्यावृत्तं च विपक्षतो भवति यत् तत् साधनं सिद्धये।
यत् साध्यं स्वयमेव तुल्यमुभयोः पक्षे विरुद्धं च यत्
तस्याङ्गीकरणेन वादिन इव स्यात्स्वामिनो निग्रहः॥

यह श्लोक लेखक की विद्वत्ता का प्रमाण है। इसमें न्याय-शास्त्र और नीति-शास्त्र का हृदयग्राही वर्णन है। इसका अर्थ इस प्रकार है—"न्याय की वाद-प्रणाली में वादी सदा ऐसा हेतु (साधन) चुनता है, जो साध्य के साथ निश्चित रूप से अन्वित हो, अर्थात् जिसका साध्य के साथ निश्चित व्याप्ति सम्बन्ध हो, जैसे धुएँ का आग के साथ। साथ ही वह हेतु ऐसा हो जो सपक्ष (महानसादि) में रहता हो, और विपक्ष (जलह्रदादि) में नहीं पाया जाता हो। ऐसा होने पर ही कोई साधन (हेतु) अनुमिति कराने में सफल हो सकता है। पर ऐसा साधन जो सपक्ष तथा विपक्ष दोनों में एक सा रहता है, तथा पक्ष (पर्वत) में भी विरुद्ध पड़ता है, उसका आश्रय लेने वाले वादी का निग्रह स्थान (पराजय) करा देगा। इसी प्रकार अमात्य को भी स्वामी के लिए ऐसी सेना (साधन) चुननी चाहिए, जो साध्य (जय) को प्राप्त कराने में निश्चित रूप से समर्थ हो, जो मित्रों से मिली हो और शत्रुओं से विरुद्ध हो। मित्र तथा शत्रु दोनों के प्रति समान बर्ताव करने वाली तथा पक्ष (स्वामी) के प्रति विरोधी रहने वाली सेना के आश्रय लेने से तो स्वयं स्वामी की ही पराजय होगी।"

राजनीति की गुत्थियों के तो वे मर्मज्ञ थे, सम्पूर्ण नाटक इसका प्रमाण है।

जानन्ति तन्त्रयुक्तिं यथास्थितं मण्डलमभिलिखन्ति।
ये मन्त्ररक्षणपरास्ते सर्पनराधिपावुपचरन्ति॥ (२/१)

तथा—

कार्योपक्षेपमादौ तनुमपि रचयंस्तस्य विस्तारमिच्छन्
बीजानां गर्भितानां फलमतिगहनं गूढमुद्भेदयंश्च ।
कुर्वन् बुद्ध्या विमर्शं प्रसृतमपि पुनः संहरन् कार्यजातं
कर्त्ता वा नाटकानामिममनुभवति क्लेशमस्मद्विधो वा ।। (४/३)

इस श्लोक से नाट्यशास्त्र के ज्ञाता होने के साथ वे अवस्थापञ्चक तथा अर्थप्रकृतिपञ्चक के भी ज्ञाता थे, सिद्ध हो जाता है ।

विशाखदत्त का बौद्ध और जैन दर्शन के सिद्धान्तों से भी परिचय रहा है । निम्न श्लोक इस तथ्य के प्रमाण हैं—

अर्हतां प्रणमामो ये ते गम्भीरतया बुद्धेः ।
लोकोत्तरैर्लोके सिद्धि मार्गैर्मार्गयन्ति ।।
शासनमर्हतां प्रतिपद्यध्वं मोहव्याधिवैद्यानाम् ।
ये प्रथममात्रकटुकं पश्चात् पथ्यमुपदिशन्ति ।।

उपर्युक्त प्रमाणों से सिद्ध है कि विशाखदत्त शास्त्रज्ञ विद्वान् और प्रतिभा-सम्पन्न थे ।

भाषा-शैली

'मुद्राराक्षस' नाटक की भाषाशैली सर्वथा सफल है, विषयानुकूल और भावानुकूल होने के कारण भाषाशैली का उदात्त रूप भी इसमें देखने को मिलता है । "मुद्राराक्षसकार ने अपनी भाषा को कालिदास के समान न तो उपमाओं से अलंकृत किया है, न भवभूति के समान सामासिकता को अपनाया है और न भट्टनारायण के समान उसे कृत्रिमता प्रदान की है अपितु वह तो नाटकीय स्वाभाविकता के अधिक अनुकूल है ।" अपनी उपर्युक्त समस्त विशेषताओं के कारण मुद्राराक्षस के प्रत्येक पात्र का वर्ण्य-विषय का और कथा का सुन्दर विकास हुआ है ।

मुद्राराक्षस की शैली ओज, प्रसाद और प्रवाह लिए हुए है । इसके गद्य-वाक्य प्रायः छोटे-छोटे और मुहावरेदार हैं । दीर्घ समास वाली भाषा का कम प्रयोग हुआ है । शब्द-विन्यास बड़ा ही प्रभावशाली है, उसमें प्रभविष्णुता है ।

व्यंग्य है और सूक्तिमयता। कुछ वाक्य तो सूक्ति की दृष्टि से संस्कृत साहित्य में बेजोड़ कहे जा सकते हैं :—

"कीदृशः पुनः तृष्णानामग्निना सह विरोधः।"
"अयमपरो गण्डस्योपरि स्फोटः।"
'अत्यादरः शङ्कनीयः'
दुराराध्या हि राजलक्ष्मीरात्मवद्भिरपि राजभिः।
दैवमविद्वांसः प्रमाणयन्ति।
नहि सर्वः सर्वं जानान्ति।
नीतिः कालान्तरेण प्रकटयति फलम्।
"न निष्प्रयोजनमधिकारवन्तः प्रभुभिराहूयन्ते।"

विशाखदत्त की शैली विषयानुरूप परिवर्तनशील रही है, पाटलीपुत्र के वर्णन में समस्त-पद-योजना है और जहाँ भावों की प्रचुरता है वहाँ असमस्त-पद-योजना।

विशाखदत्त ने संकेतात्मक भाषा का भी प्रयोग किया है। यह भाषा प्रायः व्यंग्यार्थक है। पताकास्थानक में भी श्लेषगर्भित संकेतात्मक भाषा का प्रयोग हुआ है :—

क्रूरग्रहः स केतुश्चन्द्रमसम्पूर्णमण्डलमिदानीम्।
अभिभवितुमिच्छति बलात्.....।

इसी प्रकार यमपट लेकर आने वाले चाणक्य के दूत की उक्ति में भी निहितार्थता है :—

कमलानां मनोहराणामपि रूपाद्विसंदति शीलम्।
सम्पूर्णमण्डलेऽपि यानि चन्द्रे विरुद्धानि॥ १।१९

अर्थात् "कमल सुन्दर होते हुए भी स्वभाव में रूप के विरोधी होते हैं तभी तो ये सम्पूर्ण मण्डल चन्द्र के भी वैरी ही बने रहते हैं।" इसी जीर्णविष सँपेरे तथा वैतालिकों की उक्तियाँ भी सांकेतिक भाषा की मानी जा सकती हैं।

विशाखदत्त की भाषा-शैली नाटकीय वातावरण एवं औचित्य के सर्वथा

अनुकूल है। स्वाभाविकता, सरलता, शक्ति और प्रवाह से युक्त प्रसाद शैली का एक उदाहरण देखिए :—

जयति जलदनीलः केशवः केशिघाती
जयति सुजनदृष्टिश्चन्द्रमाः चन्द्रगुप्तः।
जयति जयनसज्जं या अकृत्वा च सैन्यं
प्रतिहतप्रतिपक्षा आर्यचाणक्यनीतिः ॥ (६।१)

विशाखदत्त की भाषा में ओज होने पर भी लालित्यमय प्रवाह मिलता है, उदाहरण के लिये द्रष्टव्य है :—

आस्वादितद्विरदशोणित शोणशोभां
संध्यारुणामिव कलां शशलाञ्छनस्य
जृम्भाविदारितमुखस्य मुखात् स्फुरन्तीः
को हर्तुमिच्छति हरेः परिभूय दष्ट्राः ॥

भाषा-शैली की दृष्टि से विचार करने पर यह निश्चित होता है कि भाषा सरल, प्रासादिक और विषयानुरूप है। ओज और प्रसाद गुण सम्पन्न भाषा में प्रायः सर्वत्र गौड़ी और वैदर्भी रीति का प्रयोग हुआ है।

अलङ्कार

विशाखदत्त ने भाषा को अलंकारों से भाराक्रान्त नहीं बनाया है। अलंकार स्वतः स्वाभाविक रूप में आकर भाषा के सौंदर्य को बढ़ाते हैं। लेखक ने कभी सायास अलंकारों को लाने का प्रयास नहीं किया है। फिर भी प्रचलित अधिकांश अलंकार उनके नाटक में मिल जाते हैं। उदाहरण के लिए :—

उपमा, उत्प्रेक्षा, व्यतिरेक, रूपक, काव्यलिंग, समासोक्ति, श्लेष, अर्थान्तरन्यास, रूपकातिशयोक्ति, निदर्शन, सांगरूपक, परिसंख्या, दीपक आदि यत्र-तत्र मिल जाते हैं। कुछ श्लोक प्रस्तुत हैं :—

परम्परितरूपक और निदर्शना की संसृष्टि—

उल्लंघयन् मम समुज्ज्वलतः प्रतापं
कोपस्य नन्दकुलकाननधूमकेतोः।

सद्यः परात्मपरिमाणविवेकमूढः
कः शालभेन विधिना लभतां विनाशम्।

साङ्ग रूपक

श्यामीकृत्याननेन्दूनरियुवतिदिशां सन्ततैः शोकधूमैः
कामं मन्त्रिद्रुमेभ्यो नयपवनहृतं मोहभस्म प्रकीर्य।
दग्ध्वा सम्भ्रान्तपौरद्विजगणरहितान् नन्दवंशप्ररोहान्
दाह्याभावान्न खेदाज्ज्वलन इव वने शाम्यति क्रोधवह्निः ११।१

इस श्लोक में उपमा और परिसंख्या की संसृष्टि है।

उपमा—उपमा का सुन्दरतम प्रयोग देखिए :—

विरुद्धयोर्भृशमिहै मन्त्रिमुख्ययोर्महावने वनगजयोरिवान्तरे।
अनिश्चयाद् गजवशयेव भीतया गतागतैर्भृशमिव खिद्यते श्रिया २।३

उत्प्रेक्षा—उपमा और यथासंख्य अलंकार संसृष्टि :—

समुत्खाता नन्दा इव हृदयरोगा इव भुवः
कृता मोर्ये लक्ष्मीः सरसि नलिनीव स्थिरपदा।
द्वयोः सारं तुल्यं द्वितयमभियुक्तेन मनसा
फलं कोपप्रीत्योर्द्विषति च विमलं सुहृदि च। १।१३

व्यतिरेक—

ऐश्वर्यादनपेतमीश्वरनयं लोभोऽर्थतः कसेवते।
तं गच्छन्त्यनु ये विपत्तिषु पुनस्ते तत्प्रतिष्ठशया।
भर्तुर्ये प्रलयेऽपि पूर्वसुकृतासङ्गेन निःसङ्गया
भक्त्याकार्यधुरांवहन्ति बहवस्ते दुर्लभास्त्वादृशाः।

दीपक :—

स्वयमाहृत्य भुञ्जाना बलिनोऽपि स्वभावतः।
गजेन्द्राश्च नरेन्द्राश्च प्रायः सीदन्ति दुःखिताः॥

छन्दयोजना

छन्दयोजना को दृष्टि से विचार करने पर हम कहते हैं कि विशाखदत्त की

छन्द योजना विषयानुरूप है। नाटक का वातावरण सर्वत्र गम्भीर रहा है अतः लेखक ने स्रग्धरा और शार्दूलविक्रीडित छन्द का अधिक प्रयोग किया है। इनके अतिरिक्त निम्न छन्द संकेतित संख्या के अनुसार प्रयुक्त हुए हैं :—अनुष्टुप्, (२३) इन्द्रवज्रा, (१) उपजाति, (२) पृथ्वी, (१) प्रहर्षिणी) (३) मन्दाक्रान्ता, (१) मालिनो, (३) रुचिरा, (२) वसन्ततिलका, (१९) वंशस्थ, (१) शार्दूल-विक्रीडितम् (३९) शिखरिणी, (१८) सुवदना, (५) स्रग्धरा, (२४) हरिणी, (३) पुष्पिताग्रा, (१) मालभारिणी, (१) तथा आर्या (२३) का प्रयोग हुआ है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भाषा-शैली, अलंकार-विधान और छन्द-योजना की दृष्टि से यह नाटक सर्वथा सफल है। भले ही नाटक में रस की अजस्र निर्झरिणी न प्रवाहित हो, भाषा-शैली और अलंकारों का चमत्कार-पूर्ण हृद्रयाह्लादक प्रयोग न हो, किन्तु इतना सुनिश्चित है कि इस रचना का नाटकत्व अप्रतिम है। बलदेव उपाध्याय ने लिखा है कि "हम भाषा तथा भाव, शैली तथा कवित्व, वस्तु तथा पात्र-चित्रण के समीक्षण के बल पर कह सकते हैं कि विशाखदत्त का यह नाटक वास्तव में एक महनीय सफल कृति है जिसमें कालिदास के समान कोमल भावों की तरलता नहीं है, न भवभूति के समान हृदय को रुलाने वाली करुणा का प्रसार है, न भट्टनारायण के समान योद्धाओं को समरांगण में प्राण देने के लिए न्यौता देने वाले नगाड़े की गड़-गड़ाहट है, परन्तु जिसमें दो विशाल राजनीतिज्ञों के बुद्धि-वैभव के नाना खेलों का विपुल आगार है और मानवता की भव्यमूर्ति को उपस्थित करने वाली नाट्यकला का सुन्दर ओजस्वी रूप है। निस्सन्देह मुद्राराक्षस संस्कृत के सफल नाटक होने के अतिरिक्त विश्वसाहित्य में अपना उचित स्थान बनाए रखने की योग्यता रखता है।"

संस्कृत साहित्य का इतिहास पृ० ५१५ संस्करण १९६०

परिशिष्टम् १

नाट्यशास्त्रीय टिप्पणियाँ

नाटक के भेद

नाटक रूपक का एक भेद है, दशरूपकों की चर्चा करते हुए धनंजय ने उसके निम्न दस भेद माने हैं :—

नाटकं सप्रकरणं भाणः प्रहसनं डिमः :
व्यायोगसमवकारौ वीथ्यङ्केहामृगा इति । [दशरूपक १।८]

विश्वनाथ ने भी इन्हीं दस भेदों की चर्चा की है :—

नाटकमथ प्रकरणं भाणव्यायोगसमवकारडिमाः ।
ईहामृगाङ्कवीथ्यः प्रहसनमिति रूपकाणि दश । (सा०द० ६।३)

अर्थात् नाटक, प्रकरण, भाण, व्यायोग, समवकार, डिम, ईहामृग, अङ्क, वीथी और प्रहसन नामक दश रूपक हैं ।

रूपक के इन भेदों के स्वरूप में थोड़ा-बहुत अन्तर इस प्रकार है :—

नाटक—पंचसंधियुक्त, पौराणिक या ऐतिहाहिक कथावस्तु, पाँच से दस तक अंक, धीरोदात्त नायक, शृंगार या वीर नामक रस, कैशिकी या सात्वती वृत्ति का प्राधान्य वाला होता है ।

प्रकरण—कल्पित कथावस्तु, पंचसंधिसमन्वित पाँच से दश तक अंक, धीर प्रशान्त नायक, शृंगार रस और कैशिकी वृत्ति से युक्त होता है ।

भाण—धूर्त्तचरितयुक्त काल्पनिक कथा, एक अंक, विट नायक एक पात्र की उक्ति-प्रत्युक्ति का प्रयोग, वीर तथा शृंगारबहुल होता है ।

प्रहसन—कल्पित कथा वाला एक अंक, कामुक, धूर्त और पाखण्डी पात्रों से समन्वित तथा हास्य रस प्रधान होता है ।

डिम—पौराणिक कथावस्तु, चार अंक, विमर्शहीन चार सन्धियों से युक्त,

धीरोद्धत नायक वाला, हास्य तथा शृंगार के अतिरिक्त रसों वाला, आरभटी तथा सात्वती से समन्वित होता है।

व्यायोग—प्रसिद्ध पौराणिक कथावस्तु, गर्भ और विमर्श सन्धियों से भिन्न सन्धियों वाला, एक अंक, धीरोद्धत नायक, हास्य तथा शृंगार के अतिरिक्त छः रसों वाला, सात्वती तथा आरभटी वृत्ति समन्वित पुरुष प्रधान पात्र वाला होता है।

समवकार—देव-दैत्यों की पौराणिक कथा, विमर्श संधि के अतिरिक्त संधियों वाला, तीन अंक, धीरोदात्त तथा धीरोद्धत प्रकृति के नायकों से युक्त वीर रस प्रधान सात्वती और आरभटी वृत्ति प्रधान होता है।

वीथी—एक अंकीय कल्पितवृत्त से युक्त, शृंगारप्रिय नायक शृंगार रस प्रधान और कैशिकी वृत्ति से शोभित होती है।

अंक—प्रसिद्ध पौराणिक कथावस्तु, एक अंक, प्राकृत पुरुष नायक, करुण रस और सात्वती वृत्ति वाला होता है।

ईहामृग—मिश्र कथावस्तु युक्त चार अंक, गर्भ और विमर्श से रहित संधियों वाला, धीरोद्धत नायक और शृंगार रस प्रधान 'ईहामृग' रूपक होता है।

कथावस्तु—नाटक में वर्णित कथानक को वस्तु, कथावस्तु, इतिवृत्त, Plot आदि नामों से अभिहित किया जाता है। यह नाटक का मूलभूत तत्त्व है। उपादेयता की दृष्टि से कथावस्तु के दो भेद हैं—वस्तु च द्विधा—तत्राधिकारिकं मुख्यमङ्गं प्रासङ्गिकं विदुः। अर्थात् नाटक की कथावस्तु दो प्रकार की होती है। एक प्रधान जिसे आधिकारिक कथा कहते हैं, दूसरी अंगभूत या सहायक कथा जिसे प्रासंगिक कथा कहते हैं।

नाटक आदि में प्रधानभूत कथा को आधिकारिक कथा कहते हैं, जैसे रामायण में राम-सीता का वृत्तान्त तथा आधिकारिक कथा के अंगरूप में प्राप्त उपकथाएँ प्रासंगिक कहलाती हैं। रामायणकथा में विभीषण, सुग्रीव आदि की कथाएँ।

धनजंय ने आधिकारिक कथा का निरूपण इस प्रकार किया है :—

अधिकारः फलस्वाम्यमधिकारी च तत्प्रभुः ।
तन्निर्वृत्तमभिव्याप्ति वृत्तं स्यादाधिकारिकम् ।

'फल पर स्वामित्व प्राप्त करना अधिकार कहलाता है तथा उस फल का स्वामी अधिकारी कहलाता है। उस फल या फलभोक्ता के द्वारा फलप्राप्ति तक निर्वाहित वृत्त या कथा आधिकारिक कथावस्तु कहलाती है।'

प्रासङ्गिक जो कथा या वृत्त दूसरे (आधिकारिक) के प्रयोजन के लिए होती है किन्तु प्रसंग से जिसका स्वयं फल भी सिद्ध हो जाय, वह प्रासंगिक वृत्त होता है :—"प्रासंगिकपरार्थस्य स्वार्थो यस्य प्रसंगतः ।'

आधिकारिक वस्तु महासरिता के समान है जो निश्चित रूप से फलप्राप्ति की ओर बढ़ती है तथा प्रासंगिक कथाएँ क्षुद्र नद-नालों की भाँति उस महासरिता को आगे बढ़ाने में अपना योग देती हैं। प्रासंगिक वस्तु के दो भेद होते हैं :—पताका तथा प्रकरी—"सानुबन्धपताकाख्यं प्रकरी च प्रदेशभाक्" जो कथा काव्य या रूपक में दूर तक बराबर चलती है, वह सानुबन्ध कथा 'पताका' कहलाती है तथा जो केवल एक संक्षिप्त स्थल तक सीमित रहती है, उसे 'प्रकरी' कहते हैं। रामायण की कथा में सुग्रीव और विभीषण की कथाएँ 'पताका' हैं तथा श्रमणा, शबरी आदि की कथाएँ 'प्रकरी' हैं। 'पताका' का नायक मूल नायक से भिन्न होता है। इसे 'पताका' नायक कहा जाता है।

उत्पत्ति की दृष्टि से कथावस्तु के तीन दूसरे भेद भी हैं, इन्हें क्रमशः प्रख्यात, उत्पाद्य और मिश्र कहते हैं :—

प्रख्यातोत्पाद्यमिश्रत्वभेदात् त्रेधापि तत् त्रिधा ।
प्रख्यातमितिहासादेरुत्पाद्यं कविकल्पितम् ।
मिश्रं च संकराताभ्यां दिव्यमर्त्यादिभेदतः ॥

प्रख्यात कथावस्तु इतिहास पुराण आदि से गृहीत होती है। उत्पाद्य कवि की स्वयं की कल्पना होती है तथा मिश्र में दोनों की खिचड़ी रहती है। यह वृत्त साथ ही दिव्य, मर्त्य दिव्यादिव्य होता है। भवभूति के उत्तररामचरित तथा मुरारि के अनर्घराघव की कथा रामायण से गृहीत है। कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तल की कथा महाभारत तथा पद्मपुराण, विशाखदत्त के मुद्रा-

राक्षस की कथा ऐतिहासिक इतिवृत्त से सम्बद्ध है। उपर्युक्त कथाएँ प्रख्यात हैं, लोकप्रसिद्ध हैं।

उत्पाद्य इतिवृत्त कवि का स्वयं कल्पित होता है—"उत्पाद्यं कविकल्पितम्।" इस कथा का प्रयोग कई रूपकों में देखा जाता है, जैसे—भाण, प्रकरण तथा प्रहसन। मृच्छकटिक और 'मालती-माधव' की कथा उत्पाद्य है।

नाटच-कथावस्तु के दो अन्य भेद भी हैं—एक सूच्य-जिसकी सूचना रंगमंच पर पाँच अर्थोपक्षेपकों द्वारा दी जाती है। दूसरी कथावस्तु 'दृश्य' तथा श्रव्य है, इसका रंगमंच पर अभिनय किया जाता है—

द्वेधा विभागः कर्त्तव्यः सर्वस्यापीह वस्तुनः।
सूच्यमेव भवेत् किञ्चिद् दृश्यश्रव्यमथापरम्॥

जो वस्तु नीरस हो, अनुचित हो तथा अतिविस्तृत हो, उसकी सूचना दी जाती है तथा उसे सूच्य कहते हैं। दूसरी कथा सरस, रसभाव सम्पन्न होती है। उसका रंगमंच पर प्रदर्शन किया जाता है :—

नीरसोऽनुचितस्तत्र संसूच्यो वस्तुविस्तरः।
दृश्यस्तु मधुरोदात्तरसभावनिरन्तरः॥

नाटच-प्रकृति के आधार पर धनजंय ने कथावस्तु का तीन प्रकार से विभाजन किया है—सर्वश्राव्य अश्राव्य और नियतश्राव्य। सर्वश्राव्य को प्रकाश तथा अश्राव्य को स्वगत भी कहते हैं :—

सर्वश्राव्यं प्रकाशं स्यादश्राव्यं स्वगतम् मतम्-नियतश्राव्य कथा के जनान्तिक और अपवारित दो अन्य भेद भी होते हैं—द्विधाऽन्यन्नाटचधर्माख्यजनान्तमपवारितम्।'

जब मंच पर दो पात्र परस्पर वार्तालाप करते समय दूसरी ओर की हाथ की सम्पूर्ण उँगलियाँ उठाकर अनामिका उँगली को टेढ़ा करते हैं—यह 'त्रिपताककर' कहलाता है। इस प्रकार दूसरों का बचाव करते हुए वार्तालाप करने के ढंग को 'जनान्तिक' कहते हैं :—

त्रिपताककरेणान्यानपवार्यान्तरा कथाम्।
अन्योन्यामन्त्रणं यत्स्याज्जनान्ते तज्जनान्तिकम्॥

और जब मुख को दूसरी ओर कर कोई पात्र दूसरे व्यक्ति की गुप्त बात कहता है, उसे 'अपवारित' कहते हैं :—"रहस्यं कथ्यतेऽन्यस्य परावृत्यापवारितम् ।"

इसके अतिरिक्त जब पात्र आकाश की ओर देखता हुआ कुछ सुनने का उपक्रम करता है और स्वयं प्रश्नों को दुहराता है और स्वयं ही प्रश्नों का उत्तर भी दे देता है, उसे 'आकाशभाषित' कहते हैं—

किं ब्रवीष्येवमित्यादि विना पात्रं ब्रवीति यत् ।
श्रुत्वेवानुक्तमप्येकस्तत्स्यादाकाशभाषितम् ॥

अर्थप्रकृतियाँ

नाटक के प्रयोजन और फल की गतिविधि की सूचना देने वाले तत्त्व को अर्थप्रकृति कहते है—"अर्थप्रकृतयः प्रयोजनसिद्धिहेतवः ।" ये पाँच होती हैं, जिनके नाम क्रमशः निम्न हैं—बीज, विन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य । नाट्यशास्त्र के अनुसार—

बीजबिन्दुपताका च प्रकरी कार्यमेव च ।
अर्थप्रकृतयः पञ्च ज्ञाता योज्या यथाविधि ।

बीज—मुख्य फल का कारण भूत कथा भाग, जो संक्षेप में कहे गये फल को विकास की ओर ले जाता है—स्तोकोद्दिष्टकार्यसाधकः । यह भाग क्रमशः अधिक विस्तृत होता जाता है । विश्वनाथ के अनुसार बीज का निम्न लक्षण है :—

अल्पमात्रं समुद्दिष्टं बहुधा यदि सर्पति ।
फलस्य प्रथमो हेतुर्बीजं तदभिधीयते ॥

"जिस नाटक-प्रयोजन को पहले अत्यल्प कहा जाय, पर पीछे जिसका विपुल विस्तार हो जाय, वह बीज है । वृक्ष के बीज की भाँति इसका स्वरूप है ।

बिन्दु—जब कथा के प्रभाव के कारण अवान्तर कथा क्षीण होने लगती है, उस समय उस क्षीण कथा को पुनर्जीवित करने वाले फल का हेतु 'बिन्दु' कहलाता है—"अवान्तरार्थविच्छेदे बिन्दुश्छेदकारणम् ।"

साहित्यदर्पणकार के मतानुसार "प्रासंगिक प्रयोजन के समाप्त या विच्छिन्न हो जाने पर भी प्रधान प्रयोजन के अविच्छेद का निमित्त बिन्दु है।" नाट्यदर्पण-कार ने माली के उदाहरण से इसका स्पष्टीकरण किया है। उनके अनुसार "जिस प्रकार बीजारोपण के बाद माली उसको विकसित करने के लिए जल-बिन्दु निक्षेप करता है वैसे ही फल का बीजारोपण करने के पश्चात् नाटककार बिन्दु के द्वारा उसको विकसित करने का प्रयास करता है।

पताका:—पताका वह प्रासङ्गिक कथावस्तु है, जो दूर तक नाटक में चलती रहती है। इसका फल, भी प्राय: कथा के प्रधान नायक के समान ही होता है। किन्तु इसका नायक प्रधान नायक से भिन्न होता है।

प्रकरी—प्रसङ्गिक कथावस्तु के छोटे-छोटे कथानकों या घटनाओं को प्रकरी कहते हैं—शास्त्रीय लक्षण पताका तथा प्रकरी का इस प्रकार है—"सानुबन्धपताकाख्यं प्रकरी च प्रदेशभाक्।"

कार्य—कार्य से अभिप्राय नाटक के फल से है। जिस फल की प्राप्ति के लिए प्रयत्न किया जाता है, जो नाटक का साध्य होती है, इसी सिद्धि के लिए नाटक का समग्र समारम्भ होता है—"समापनं तु तत्सिद्ध्यै तत्कार्यमिति संमतम्।"

कार्य की अवस्थाएँ—कार्य की पाँच अवस्थाएँ होती हैं, जिनके नाम—आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम हैं। ये पाँचों अवस्थाएँ कार्य का क्रमिक विकास सूचित करती हैं।

आरम्भ—आरम्भ नाटक के कार्य की वह अवस्था है, जहाँ नायक की तीव्र इच्छा किसी फल विशेष के लिए व्यक्त होती है—

"औत्सुक्यमात्रमारम्भः फललाभाय भूयसे।"

प्रयत्न—फल-प्राप्ति के लिए धीरे-धीरे किया जाने वाला व्यापार प्रयत्न है। दशरूपककार ने प्रयत्न का लक्षण इस प्रकार लिखा है—"प्रयत्नस्तु तत्-प्राप्तौ व्यापार इति त्वरान्वितः।" अर्थात् जब कार्य से उत्पन्न फल की प्राप्ति में देर सी प्रतीत हो, उस विलम्ब को दूर करने के लिए जो प्रयत्न किये जाते हैं, उनका नाम प्रयत्न की अवस्था है।

प्राप्त्याशा—जब नाटक में अपेक्षित फल की प्राप्ति में कभी आशा हो और कभी निराशा, इन दोनों के संघर्ष के बाद जब फल-प्राप्ति की संभावना बढ़ जाय, उस कार्य की अवस्था का नाम प्राप्त्याशा है—"उपायापाय-शंकाभ्यां प्राप्त्याशा प्राप्तिसम्भवा।" विश्वनाथ के अनुसार प्राप्त्याशा का लक्षण भी लगभग यही है—"आशंका और आशा जहाँ दोनों ही उपाय या अपाय के बल पर चलें, वह प्राप्त्याशा है— "उपायापायशंकाभ्यां प्राप्त्याशा प्राप्तिसम्भवः।"

नियताप्ति—विघ्नों के दूर होने पर प्राप्ति की संभावना निश्चित हो जाय, वहाँ नियताप्ति होती है—"अपायाभावतः प्राप्ति नियताप्तिस्तु निश्चिता।" अर्थात् "विघ्नों की अनुपस्थिति के कारण फल-प्राप्ति का निश्चित होना ही नियताप्ति है।"

फलागम—जहाँ फल मिल जाय, वह फलागम नामक कार्य की अवस्था है—'सावस्था फलयोगः स्याद्यः समग्रफलोदयः।" यह कार्य की अवस्था प्रायः स्पष्ट एवं नाटक के अन्त में ही होती है। "पाश्चात्त्य नाट्य-सिद्धान्तों के अनुसार किसी नाटक में घटनाओं की शृंखला को कार्य या कार्य-व्यापार कहते हैं। अरस्तू के मतानुसार कार्यव्यापार नाटक में अनिवार्य है। किन्तु ड्राइडन का कथन है कि कथानक का नाटक में न्यूनतम महत्त्व है। बेनब्रफ इस विरोधी धारणा को और भी स्पष्ट करता है, मुझे विश्वास है कि मैं यह सिद्ध कर सकता हूँ कि मुख्य मनोरंजन एवं नैतिक सन्देश घटना-क्रम अथवा कार्य-व्यापार की अपेक्षा चरित्र एवं वाग्वैदग्ध्य पर अधिक निर्भर होता है।" किन्तु वास्तव में यदि देखा जाय तो कार्य का महत्त्व किसी प्रकार भी कम नहीं किया जा सकता, ठीक उसी प्रकार जैसे कि शरीर के किसी अंग के लिए यह नहीं कहा जा सकता कि कौन सा आवश्यक है और कौन सा कम और कौन अनावश्यक।

कार्य-व्यापार की अवस्थाओं के विषय में प्राच्य एवं पाश्चात्त्य नाट्याचार्यों के मत प्रायः मिलते हुए ही हैं। दोनों ही कथानक के पाँच भाग करते हैं। दोनों ही उद्देश्य के अनुसार उतार-चढ़ाव का निर्देश करते हैं। उनके अनुसार

कथानक के पाँच विभाग निम्न हैं—(१) आरम्भ (२) कार्य-विकास (३) चरम सीमा (४) निगति और (५) समाप्ति। भारतीय आचार्यों ने सुखकारी फल को महत्त्व दिया है, अतः वे आरंभ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम नामक अवस्थाएँ मानते हैं।

अर्थ प्रकृति एवं कार्यावस्थाओं के भेद का निरूपण करते हुए बच्चन सिंह ने लिखा है कि "अर्थप्रकृति में वस्तु को ध्यान में रखते हुए स्थितियों को विभाजित किया गया है और अवस्था में नायक के कार्य को दृष्टि में रखा गया है।" अर्थ प्रकृति एवं कार्य की अवस्था के मिलन से सन्धियों का निर्माण होता है।

संधियाँ

संस्कृत नाटचरचना में संधियों का बहुत महत्त्व है। धनंजय ने सन्धि को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "कथावस्तु के अंगों को अन्वित करने वाली स्थिति को संधि कहते हैं—अन्तरैकार्थसम्बन्धः सन्धिरेकान्वये सति" इस लक्षण को स्पष्ट करते हुए धनिक ने लिखा है कि "एक प्रयोजन से सम्बद्ध को दूसरे प्रयोजन से सम्बद्ध कथावस्तु के अंश से जोड़ने वाली विशेषता का नाम संधि है।" नाटक की कथावस्तु में प्रकृति तथा कार्य अवस्थाओं के मिलन से संधियों का आविर्भाव होता है। बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी तथा कार्य ये पाँच अर्थ-प्रकृतियाँ जब क्रमशः आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा नियताप्ति और फलागम नामक अवस्थाओं से मिलती हैं, तब मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और उपसंहृति (निर्वहण) संधियों का आविर्भाव होता है :—

अर्थप्रकृतयः पञ्च पञ्चावस्थासमन्विताः।
यथासंख्येन जायन्ते मुखाद्याः पञ्चसंधयः॥ द० रू० १२२
मुखप्रतिमुखे गर्भः सावमर्शोपसंहृतिः।

मुखसंधि—नाटक की प्रथम संधि मुखसंधि है। यह बीज अर्थ प्रकृति और आरम्भ नामक कार्यावस्था से बनती हैं। इसमें नाना रसों और अर्थों की सम्भावना समाविष्ट रहती है। दशरूपककार ने लिखा है कि मुखसंधि नाटक

की कथा का वह स्थल है, जहाँ से अनेक उपकथाओं और रसों की उद्भावना होती है।"

मुखं बीजसमुत्पत्तिनानार्थरससम्भवा।
तस्य बीजारम्भसमन्वयात्"

मुखसंधि का अभिप्राय रस और भाव प्रधान रस अर्थराशि से है जिससे किसी रूपक का उपक्रम किया जाता है। इसी आधार पर रूपक के उस भाग को जिसमें वह अर्थराशि प्रतिष्ठित रहती है 'मुखसंधि' कहा जाता है।

प्रतिमुखसंधि—रूपक की दूसरी संधि का नाम 'प्रतिमुख' है। इसमें बिन्दु नामक अर्थप्रकृति तथा प्रयत्न नामक अवस्था का मिश्रण होता है—कथा का वह अंश जहाँ पर बीज कुछ स्पष्ट (लक्ष्य) और कुछ अस्पष्ट (अलक्ष्य) हो प्रतिमुख संधि से सम्बन्धित माना जाता है—

"लक्ष्यालक्ष्यतयोद्भेदस्तस्य प्रतिमुखं भवेत्"

आशय यह है कि वह बीज जो मुखसंधि में बोया जाता है, कुछ स्पष्ट और कुछ अस्पष्ट रह प्रतिमुखसंधि का निर्माण करते हैं।

गर्भसन्धि—रूपक की संधियों में तीसरी सन्धि गर्भ है। दशरूपककार के अनुसार जब बीज दिखाई पड़ जाने के बाद पुनः नष्ट हो जाय लेकिन उसका अन्वेषण बार-बार किया जाय, तब 'गर्भसन्धि' होती है—

गर्भस्तु दृष्टनष्टस्य बीजस्यान्वेषणं मुहुः।
द्वादशाङ्गः पताका स्यान्न वा स्यात्प्राप्तिसम्भवः॥

इस संधि में पताका नामक अर्थप्रकृति और प्रात्याशा नामक कार्य की अवस्था का मिश्रण रहता है। इस संधि में बीज पूर्णतः नष्ट न होकर धूमिल हो जाता है, उसके अन्वेषण में बीज क और भी विकास करना पड़ता है। चूंकि फल इसमें गर्भस्थ होता है अतः इसे 'गर्भसंधि' कहते हैं।

अवमर्श (विमर्श) संधि—रूपक की चतुर्थ संधि का नाम 'अवमर्श' है। जहाँ क्रोध, व्यसन या लोभ से फलप्राप्ति के सम्बन्ध में पर्यालोचन किया जाय और जहाँ गर्भसंधि के द्वारा बीज को प्रकट कर दिया गया हो वहाँ 'अवमर्शसंधि' होती है। इस संधि में 'नियताप्ति' नामक कार्य की अवस्था तथा 'प्रकरी'

नामक अर्थप्रकृति का सम्मिश्रण रहता है। किन्तु प्रकरी की योजना वैकल्पिक होती है।

निर्वहणसंधि—'निर्वहण' रूपक की पाँचवी संधि है। जहाँ एक ही प्रमुख प्रयोजन में कार्य और फलागम के साथ ही अन्यान्य अर्थों का पर्यवसान हो जाता है, निर्वहण संधि होती है—

बीजवन्तो मुखाद्यर्था विप्रकीर्णा यथायथम्।
ऐकार्थ्यमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणं हि तत्॥

इस संधि में नाटक के समग्र प्रयोजन मिल जाते हैं, प्रधान कार्य की समाप्ति हो जाती है अतः इसे निर्वहणसंधि कहते हैं। निश्चय ही बीज से युक्त मुखादि संधियों में विकीर्ण समग्र कार्यों, अर्थों का जहाँ एक प्रधान प्रयोजन में यथावत् समन्वय सिद्ध होता है, वहाँ निर्वहण संधि होती है।

नाटक—साहित्यदर्पणकार ने नाटक का लक्षण इस प्रकार लिखा है :—

नाटकं ख्यातवृत्तं स्यात्पञ्चसंन्धिसमन्वितम्।
विलासद्ध्यादिगुणवद्युक्तं नानाविभूतिभिः।
सुखदुःखसमुद्भूतिनानारसनिन्तरम्।
पञ्चाधिका दशपरास्तत्राङ्काः परिकीर्तिताः।
प्रख्यातवंशो राजर्षिर्धीरोदात्तः प्रतापवान्॥
दिव्योऽथ दिव्यादिव्यो वा गुणवान्नायको मतः।
एक एव भवेदङ्गी शृंगारो वीर एव वा
अङ्गमन्ये रसाः सर्वे कार्यो निर्वहणेऽद्भुतः॥
चत्वारः पञ्च वा मुख्याः कार्यव्यापृतपूरुषाः।
गोपुच्छाग्रसमानं तु बन्धनं तस्य कीर्तितम्॥

अर्थात् "नाटक की कथा इतिहासप्रसिद्ध होनी चाहिए। उसमें मुख, प्रतिमुख आदि पञ्चसन्धियों का समायोजन होना चाहिए। विलास, समृद्धि आदि गुण तथा अनेक प्रकार के ऐश्वर्यों का वर्णन होना चाहिए। सुख-दुःख की उत्पत्ति का वर्णन तथा अनेक रसों का उसमें समन्वय होना चाहिए। पाँच से लेकर दस तक उसमें अङ्क होने चाहिए। नाटक का नायक प्रसिद्ध वंश में उत्पन्न

घोरोदात्त, प्रतापी और गुणवान् राजर्षि होना चाहिए। वह दिव्य हो या दिव्य अदिव्य दोनों प्रकार के गुणों से संयुक्त होना चाहिए। शृंगार या वीर रस का प्रधान्य तथा शेष रस उसके अङ्ग भूत होने चाहिए। नाटक निर्वहणसंधि में अद्भुत होना चाहिए। इसमें चार या पाँच कार्यरत पुरुष प्रधान हों और गौ की पूँछ के अग्रभाग के समान इसकी रचना होनी चाहिए।

अङ्क—नाटक के प्रमुख विभाग को अङ्क कहते हैं। नाटक में इसकी संख्या पाँच से दस तक होती है। अङ्कों में वस्तु-विन्यास सुनियोजित होना चाहिए। दशरूपककार ने इसका लक्षण इस प्रकार लिखा है :—

अङ्क इति रूढिशब्दो, भावैश्च रसैः प्ररोहयत्यर्थान्।
नानाविधानयुक्तो यस्मात्तस्माद् भवेदङ्कः ॥
यत्रार्थस्य समाप्तिर्यस्त्र च बीजस्य भवति संहारः।
किञ्चिदवलग्नबिन्दुः सोऽङ्क इति सदाऽवगन्तव्यः ॥

अर्थात् अङ्क में नाना भाव और नाना रसों के द्वारा विचारों का प्रस्फुटन होता है, जो नाना विधानों से सम्पन्न होता है, जहाँ एक अर्थ की समाप्ति तथा बीज का उपसंहार होता है किन्तु अंशतः बिन्दु का सम्बन्ध बना रहता है उसे अंक कहते हैं।

राजशेखर के अनुसार अङ्क की कथावस्तु एक दिन की होनी चाहिए—

"एकदिवसप्रवृत्तः कार्योऽङ्के सप्रयोगमधिकृत्य"

गर्भाङ्क—जो अङ्क के मध्य में होता है, जिसमें रंगद्वार तथा आमुख आदि हों, बीज और फल का आभास होता हो उसे गर्भाङ्क कहते हैं—

अङ्कोदरप्रविष्टो यो रङ्गद्वारामुखादिमान्।
अङ्कोऽपरः सगर्भाङ्कः सबीजः फलवानपि ॥

नान्दी—नान्दी को नाटक का मंगलाचरण भी कहते हैं। नान्दी की व्युत्पत्ति विद्वान् इस प्रकार करते हैं—"नन्दन्ति देवता अस्याम्' अथवा 'नन्दयति आनन्दयति लोकान् इति नान्दी शुभाशंसनेन लोकानन्दजननात् अर्थात् यह नाटक के आरम्भ का एक अंश है, जिसे पढ़कर या सुनकर आनन्द प्राप्त होता है, इससे लोग आनन्दित होते हैं। इसमें शंख, चक्र, चन्द्र, चक्रवाक और

मंगलजनक वस्तुओं का वर्णन या उल्लेख होता है। अथवा इनका उल्लेख करना आवश्यक है। नाटक में आने वाले विषय की सूचना भी इसमें रहती है इसका लक्षण 'साहित्यदर्पण' के अनुसार निम्न हैं :—

आशीर्वचनसंयुक्ता स्तुतिर्यस्माप्रयुज्यते।
देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता।
मंगल्यशङ्खचन्द्राब्जकोककैरवशंसिनी
पदैर्युक्ता द्वादशभिरष्टाभिर्वा पदैरुत ॥ ६।२४-२५

नान्दी दो प्रकार की होती है : एक कविकल्पित, दूसरी नाटककार द्वारा रचित। नटकल्पित नांदी पूर्वरङ्ग नांदी कहलाती है और नाटककाररचित रंगनान्दी कहलाती है। उदाहरण के लिए मुद्राराक्षस की नांदी रंगनांदी है, क्योंकि यह नाटककार द्वारा रचित है तथा इसे 'पत्रावली' नांदी कहा जा सकता है क्योंकि जिस नांदी में अभिधेय वस्तु के बीज का विन्यास होता है तथा श्लेष या समासोक्ति के माध्यम से व्यक्त है अतः पत्रावली नांदी है :— मुद्राराक्षस के पहले अङ्क के प्रथम दो श्लोक इसके उदाहरण हैं क्योंकि शंकर के छल ने गौरी से गंगा की रक्षा की है, उसी प्रकार चाणक्य के छल ने भी राक्षस से चन्द्रगुप्त की रक्षा की है।

सूत्रधार—रंगशाला के व्यवस्थापक को सूत्रधार कहते हैं। सूत्रधार शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है : सूत्रं नाट्यसूत्रं धारयतीति सूत्रधारः अथवा नाट्योपकरणादीनि सूत्रमित्यभिधीयते। सूत्रं धारयतीत्यर्थे सूत्रधारो निगद्यते। आधुनिक शब्दावली में सूत्रधार को निर्देशक कहा जा सकता है।

नाटक में नांदी के अनन्तर जो पात्र आता है. उसे सूत्रधार कहते हैं। इसका कार्य कथावस्तु या नाट्यवस्तु की सूचना देना है—

नाटकीयकथासूत्रं प्रथमं येन सूच्यते।
रङ्गभूमिं समाक्रम्य सूत्रधारः स उच्यते ॥

इस प्रकार नाटक की कथा की सूचना देने वाला तथा नाटक का निर्देश सूत्रधार कहलाता है, जैसे 'मुद्राराक्षस' नाटक में सूत्रधार आकर सूचना देता है कि आज 'विशाखदत्त' रचित मुद्राराक्षस का अभिनय होगा। सम्पूर्ण प्रस्ता-

वना में स्थित रह कर वह स्पष्टतः नाटकीय वस्तु का उल्लेख करता है :—

सूत्रधारः—अलमतिप्रसङ्गेन । आज्ञापितोऽस्मि परिषदा यथा—अद्य त्वया सामन्तवटेश्वरदत्तपौत्रस्य महाराजपदभाक्पृथुसूनोः कवेर्विशाखदत्तस्य कृतिः अभिनवं मुद्राराक्षसं नाम नाटकं नाटयितव्यम्' इति

आमुख या प्रस्तावना—प्रस्तावना नाटक का वह अंश है, जिसमें नटी, विदूषक अथवा पारिपार्श्विक नाम का नट सूत्रधार से बातें करता है। इसी प्रस्तावना में नाटक का नाम, उसका रचयिता और उसकी कथावस्तु की सूचना दी जाती है, इसे 'आमुख' तथा 'स्थापना' भी कहा जाता है—

नटी विदूषको वापि पारिपार्श्विक एव वा
सूत्रधारेण सहिताः संलापं यत्र कुर्वते ॥
चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैः प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः ।
आमुखं तत्तु विज्ञेयं नाम्ना प्रस्तावनाऽपि सा ॥

नेपथ्य—नेपथ्य पर्दे के पीछे का स्थान है, जहाँ नट वेषभूषा धारण करते हैं। इसे तीन अर्थों में प्रयुक्त करते हैं :—

(१) रंगभूमि कुशीलवकुटुम्बस्य गृहं नेपथ्यमुच्यते ।

(२) पर्दा—नेपथ्यं स्याज्जवनिका ।

(३) नट की वेषभूषा—रामादिव्यञ्जको वेषो नटे नेपथ्यमुच्यते ।

कञ्चुकी—अन्तःपुर में जाने वाला, वृद्ध, गुणी ब्राह्मण तथा सब कार्यों को करने में कुशल होता है अथवा, जो सदा सात्त्विक प्रकृति से युक्त, पवित्र आचरण वाले तथा ज्ञान-विज्ञान में प्रवीण होते हैं, उन्हें कञ्चुकी कहते हैं।

अन्तः पुरचरो वृद्धो विप्रो गुणगणान्वितः ।
सर्वकार्यार्थकुशलः कञ्चुकीत्यभिधीयते ।

पूर्वरङ्ग—नाट्य-वस्तु के पूर्व, रंग (नाट्यशाला) के विघ्नों की शांति के लिए, नर्तक या अभिनेतागण जो मंगलाचरण करते हैं, उसे पूर्वरंग कहते हैं—

यन्नाटचवस्तुनः पूर्वं रङ्गविघ्नोपशान्तये ।
कुशीलवाः प्रकुर्वन्ति पूर्वरङ्गः स उच्यते ॥

नायकः—

नेता विनीतो मधुरस्त्यागी दक्षः प्रियंवदः।
रक्तलोकः शुचिर्वाग्मी रूढवंशः स्थिरो युवा ॥
बुद्ध्युत्साहस्मृतिप्रज्ञाकलामानसमन्वितः।
शूरो दृढश्च तेजस्वी शास्त्रचक्षुश्च धार्मिकः। दशरूपक २।१-२

नेता या नायक में निम्न गुण होते हैं, अथवा नायक को इन गुणों से संपन्न होना चाहिए—नायक विनम्र, मधुर, त्यागी, चतुर (दक्ष), प्रियभाषी, लोगों को प्रिय लगने वाला, पवित्र मन वाला, बातचीत में कुशल सद्वंश में उत्पन्न, मन से स्थिर, युवा अवस्था वाला होता है। वह बुद्धि, उत्साह, स्मृति, प्रज्ञा, कला, मान से युक्त होता है, शूर, दृढ, तेजस्वी, शास्त्रज्ञ और धार्मिक होता है। आशय यह है कि नायक में ये गुण होने चाहिये। आचार्य विश्वनाथ ने इन्हीं विशेषताओं को संक्षेप में इस प्रकार लिखा है :—

त्यागी कृती कुलीनः सुश्रीको रूपयौवनोत्साही।
दक्षोऽनुरक्तलोकस्तेजोवैदग्ध्यशीलवान्नेता।

सा० द० ३।३०

नायक के भेद—नायक चार प्रकार के होते हैं, धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीर-ललित, धीरप्रशान्त—

धीरोदात्तधीरोद्धतस्तथा धीरललितश्च।
धीरप्रशान्त इत्ययमुक्तः प्रथमश्चतुर्भेदः ॥

सा. द. ३।३१

धनंजय ने चार नायकों का उल्लेख इस प्रकार किया है—

भेदैश्चतुर्धा ललितशान्तोदात्तोद्धतैरयम्।

दशरूपक ३।३

धीरोदात्त—धीरोदात्त नायक महासत्त्व, अत्यन्त गम्भीर, क्षमाशील, अविकत्थन, स्थिर, निगूढ़ अहंकार वाला तथा दृढव्रती होता है—

महासत्त्वोऽतिगम्भीरः क्षमावानविकत्थनः
स्थिरो निगूढाहङ्कारो धीरोदात्तो दृढव्रतः। दशरूपक २।४

विश्वनाथ के अनुसार—

अविकत्थनः क्षमावानतिगम्भीरो महासत्त्वः ।

स्थेयान्निगूढमानो धीरोदात्तो दृढव्रतः कथितः ।। ३।३२

राम और युधिष्ठिर इसी प्रकार के नायक हैं ।

धीरोद्धत—धीरोद्धत नायक घमण्ड और ईर्ष्या से पूर्ण, माया तथा कपट से युक्त अहंकारी, चंचलचित्त, क्रोधी और आत्मप्रशंसा करने वाला होता है—

दर्पमात्सर्यभूयिष्ठो मायाच्छद्मपरायणः

धीरोद्धतस्त्वहंकारी चलश्चण्डो विकत्थनः । दशरूपक २।५

विश्वनाथ के अनुसार इसका लक्षण निम्न हैं—

मायापरः प्रचण्डश्चपलोऽहंकारदर्पभूयिष्ठः ।

आत्मश्लाघानिरतो धीरैर्धीरोद्धतः कथितः ।।३।३३

भीमसेन इसका संस्कृत साहित्य में सर्वप्रिय उदाहरण है ।

धीरललित—धीरललित नायक सर्वदा निश्चिन्त रहने वाला, कोमल स्वभाव, सुखी और कलाओं में आसक्त रहने वाला होता है—निश्चिन्तो धीरललितः कलासक्तः सुखी मृदुः । २।३

विश्वनाथ के अनुसार धीरललित का निम्न लक्षण हैं—

निश्चिन्तो मृदुरनिशं कलापरो धीरललितः स्यात् ।।

रत्नावली का उदयन धीरललित नायक है ।

धीरप्रशान्त—धीरप्रशान्त वह नायक है, जिसमें तीन नायक के सामान्य गुणों के साथ-साथ वह ब्राह्मण, वैश्य अथवा मंत्री का पुत्र हो—

सामान्यगुणयुक्तस्तु धीरशान्तो द्विजादिकः ।

विश्वनाथ का लक्षण भी इन्हीं शब्दो को दुहरा देता है :—

सामान्यगुणैर्भूयान्द्विजादिको धीरशान्तः स्यात् ।

उदाहरण के लिये, मालतीमाधव के माधव, मृच्छकटिक के चारुदत्त को देखा जा सकता है ।

नायिका—नायिका नायक के धीरोदात्तादि सामान्य गुणों से युक्त होती है—नायकसामान्यगुणैर्युक्ता नायिका । यह नायिका तीन प्रकार की होती

है—स्वकीया, अन्या (परकीया) तथा साधारण स्त्री—"स्वान्या साधारणस्त्रीति तद्गुणा नायिका त्रिधा', ।

भरतवाक्य—नाटक की समाप्ति पर प्रयुक्त आशीर्वादयुक्त पद्य 'भरत-वाक्य' कहलाता है। यह उस समय स्थित पात्रों में विशिष्ट पात्र द्वारा नायक का फल-प्राप्ति के साथ-साथ दिए गये आशीर्वाद के रूप में प्रयुक्त होता है। इस प्रकार अंतिम मंगल कामना का नाम 'भरतवाक्य' है। इसे सद्भावना का प्रकाशन भी कहा जाता है। मुद्राराक्षस का भरतवाक्य निम्न श्लोक है—

वाराहीमात्मयोनेस्तनुमतनुबलामास्थितस्यानुरूपां
यस्य प्राग्दन्तकोटिं प्रलयपरिगता शिश्रिये भूतधात्री।
म्लेच्छैरुद्वेज्यमाना भुजयुगमधुना संश्रिता राजमूर्तेः
स श्रीमद्बन्धुभृत्यश्चिरमवतु महीं पार्थिवश्चन्द्रगुप्तः ॥

परिशिष्टम् २

अकारादिक्रममुद्राराक्षसस्थसुभाषितानां संग्रहः

१. अत्यादरः शङ्कनीयः (प्रथम अंक)

२. अनुचितउपचारो हृदयस्य परिभवादपि दुःखमुत्पादयति । (प्रथम अंक)

३. अधिकारपदं नाम निर्दोषस्यापि पुरुषस्य महदाशङ्कास्थानम् ।
(पंचम अंक)

४. अप्राज्ञेन च कातरेण च गुणः स्याद्भक्तियुक्तेन कः
प्रज्ञाविक्रमशालिनोऽपि हि भवेत्किं भक्तिहीनात्फलम् ।
प्रज्ञाविक्रमभक्तयः समुदिता येषां गुणा भूतये
ते भृत्या नृपतेः कलत्रमितरे संपत्सु चापत्सु च ।। १/१५

५. अयमपरो गण्डस्योपरि स्फोटः (पंचम अंक)

६. अलक्षितनिपाताः पुरुषाणां समविषमदशापरिणतयो भवन्ति । (षष्ठ अंक)

७. कपटमुद्रामप्युत्पादयितुं शक्नुवन्ति धूर्ताः (पंचम अंक)

८. कायस्थ इति लघ्वी मात्रा (प्रथम अंक)

९. काले भेदबीजमुप्तमवश्यंफलमुपदर्शयति । (चतुर्थ अंक)

१०. किं शेषस्य भरव्यथा न वपुषि क्ष्मां न क्षिपत्येष यत्
किं वा नास्ति परिश्रमो दिनपतेरास्ते न यन्निश्चलः ।
किंत्वङ्गीकृतमुत्सृजन्कृपणवच्छ्लाघ्यो जनो लज्जते
निर्व्यूढं प्रतिपन्नवस्तुषु सतामेकं हि गोत्रव्रतम् ।। २/१८

११. कीदृशस्तृणानामग्निना सह विरोधः (प्रथम अंक)

१२. खलु प्रारब्धमपरित्याज्यमेव । (प्रथम अंक)
तथापि नोद्यमस्त्याज्यः ।

१३. चीयते बालिशस्यापि सत्क्षेत्रपतिता कृषिः ।
न शालेः स्तम्बकरिता वप्तुर्गुणमपेक्षते । १/३

१४. ताड्यमानः पुरुषः किमिव न ब्रूयात् ।

१५. दुराराध्या हि राजलक्ष्मीरात्मवद्भिरपि राजभिः । (तृतीय अंक)

१६. दैवमविद्वांसः प्रमाणयन्ति । (तृतीय अंक)

१७. दैवेनोपहतस्य बुद्धिरथवा सर्वा विपर्यस्यति । ६।८

१८. न निष्परिग्रहं स्थानभ्रंशः पीडयिष्यति ।

१९. न निष्प्रयोजनंमधिकारवन्तः प्रभुभिराहूयन्ते । (तृतीय अंक)

२०. न नृशंसानामुदासीनेषु इतरेषु वा विशेषोऽस्ति ।

२१. नत्वयुक्ततरः सुहृद्द्रोहः । (द्वितीय अंक)

२२. नहि सर्वः सर्वं जानाति ।

२३. निरीहाणामीशस्तृणमिव तिरस्कारविषयः । ३/१६

२४. नीति : कालान्तरेण प्रकटयति फलम् । ६/२१

२५. परिहरत विषमं राजापथ्यं सुदूरेण ।

२६. प्रकृत्या वा काशप्रभवकुसुमप्रान्तचपला
पुरन्ध्रीणां प्रज्ञा पुरुषगुणविज्ञानविमुखी । २/७
प्रायो भृत्यास्त्यजन्ति प्रचलितविभवं स्वामिनं सेवमानाः ४/२२

२७. प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः
प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः ।
विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः
प्रारब्धमुत्तमजना न परित्यजन्ति ॥ २/१७

२८. भूषणाद्युपभोगेन प्रभुर्भवति न प्रभुः ।
परैरपरिभूताज्ञस्त्वमिव प्रभुरुच्यते ॥ ३/२३

२९. मुण्डितमुण्डो नक्षत्राणि पृच्छसि । (पंचम अंक)

३०. मुहुर्लक्ष्योद्भेदा मुहुरधिगमाभावगहना
मुहुः संपूर्णाङ्गी मुहुरतिकृशा कार्यवशतः ।
मुहुर्नश्यद्बीजा मुहुरपि बहुप्रापितफले—
त्यहो चित्राकारा नियतिरिव नीतिर्नयविदः ॥ ५/३

३१. ये सत्यमेव हि गुरूनतिपातयन्ति
तेषां कथं नु हृदयं न भिनत्ति लज्जा । ३/३३

३२. विद्वांसोऽप्यविकत्थना भवन्ति । (तृतीय अंक)

३३ सद्यः क्रीडारसच्छेदं प्राकृतोऽपि न मर्षयेत्
किमु लोकाधिकं तेजो बिभ्राणः पृथिवीपतिः । ४/१०

३४. सुलभेष्वर्थलाभेषु परसंवेदने जने
क इदं दुष्करं कुर्यादिदानीं शिबिना विना । ७/१/२३

३५. सेवा लाघवकारिणी कृतधियः स्थाने श्ववृत्ति विदुः । ३/१४

३६. स्वयमाहृत्य भुञ्जाना बलिनोऽपि स्वभावतः ।
गजेन्द्राश्च नरेन्द्राश्च प्रायः सीदन्ति दुःखिताः ॥ १/१६

३७. श्रीर्लब्धप्रसरेव वेशवनिता दुःखोपचर्या भृशम् ॥ ३/५

परिशिष्टम् ३

अकारादिक्रमश्लोकसूची

संख्या	श्लोक अंक	श्लोकसंख्या	संख्या	श्लोक अंक	श्लोकसंख्या
१.	अक्षीणभक्तिः	२/२२	२२.	इष्टात्मजः सपदि	२/८
२.	*अतिशयगुरुकेण	६/३	२३.	इह विरचयन्साध्वीं	३/६
३.	अत्युच्छ्रिते मंत्रिणि	४/१३	२४.	उच्छिन्नाश्रयकातरेव	६/५
४.	अन्तः शरीरपरिशोष	६/१३	२५.	उत्तुङ्गास्तुङ्गकूलं	४/१६
५.	अयमुद्वृत्तानां	३/८	२६.	उत्सिक्तः कुसचिव	३/१२
६.	अप्राज्ञेन च कानरेण	१/१५	२७.	उद्यच्छता धुरमका	४/६
७.	अम्भोधीनां तमाल	३/२४	२८.	*उपरि घनं पनरटितं	१/२२
८.	अश्वैः सार्धमजस्र	७/१५	२९.	उपलशकलमेतद्	३/१५
९.	*अस्ताभिमुखे शूरे	४/१९	३०.	उल्लङ्घयन् मम	१/१०
१०.	अस्माभिरमुमेव	२/२०	३१.	*एकगुणा भवति	४/२०
११.	*अर्हतां प्रणमामि	५/२	३२.	एतानि तानि तव	५/१६
१२.	आकरः सर्वशास्त्राणां	७/७	३३.	ऐश्वर्यादनपेतमीश्वरम्	१/१४
१३.	आकाशकाशपुष्पच्छवि	३/२०	३४.	कन्या तस्य वधाय	२/१६
१४.	आनन्दहेतुमपि देव	२/६	३५.	कन्यां तीव्रविष	५/२१
१५.	आनयन्त्यै गुणेषु	५/९	३६.	*कमलानां मनोहराणां	१/१९
१६.	आर्याज्ञयैव मम	३/३३	३७.	कर्णेनेव विषाङ्गनैक	२/१५
१७.	आरुह्यारूढ़कोप	३/२७	३८.	कामं नन्दमिव	२/९
१८.	आलिङ्गन्तु गृहीतधूप	३/२	३९.	कार्योपक्षेपमादौ	४/३
१९.	आविर्धूतानुरागाः	४/२१	४०.	किमौषधपया	६/१६
२०.	आशैलेन्द्राच्छिलान्त	३/१९	४१.	किं गच्छामि तपोवनं	५/२४
२१.	आस्वादितद्विरद	१/८	४२.	किं शेषस्य भरव्यथा	२/१८

* इस चिह्न वाले श्लोक प्राकृत पद्यों की छाया हैं।

संख्या श्लोक अंक	श्लोकसंख्या	संख्या श्लोक अंक	श्लोकसंख्या
४३. कुले लज्जायां च	५/४	६९. दृष्ट्वा मौर्यमिव	२/२२
४४. कृतागाः कौटिल्यो	३/११	७०. देवस्य येन पृथिवी	४/११
४५. केनोत्तुङ्गशिखाकलाप	७/६	७१. देवे गते दिवं	६/७
४६. कौटिल्यः कुटिलमति सः	१/७	७२. द्रव्यं जिगीषुमधि	७/१४
४७. कौटिल्यधीरज्जु	२/२	७३. धन्या केयं स्थिता	१/१
४८. कौमुदीकुमुदानन्दे	४/९	७४. धूर्तैरन्वीयमानाः	३/१०
४९. कौलूतश्चित्रवर्मा	१/२०	७५. न तावन्निर्वीर्यैः	२/१०
५०. क्रूरग्रहः सकेतुः	१/६	७६. नन्दकुलकाल	१/९
५१. क्षताङ्गीनां तीक्ष्णैः	६/१२	७७. नन्दस्नेहगुणाः	७/१६
५२. गम्भीरगर्जितरवाः	४/१७	७८. नन्दैर्वियुक्तमन	३/१८
५३. गुणवत्युपायनिलये	/५	७९. नायं निस्त्रिंश	६/२१
५४. गुरुभिः कल्पनाक्लेशैः	७/८	८०. निस्त्रिंशोऽयं	६/१९
५५. गृध्रैराबद्धचक्रं वियति	३/२८	८१. नृपोपकृष्टः	४/१४
५६. गौडीनां लोध्रधूली	५/२३	८२. नेदं विस्मृतभक्तिना	२/५
५७. चन्द्रगुप्तस्य विक्रेतुः	५/१७	८३. पतिं त्यक्त्वा देवं	६/६
५८. चाणक्येऽस्मिन्	१/२१	८४. परार्थानुष्ठाने	३/४
५९. चीयते बालिशस्य	१/३	८५. परिहृतमयशः	२/१९
६०. जगतः किं न विजितं	७/१३	८६. पादस्याविर्भवन	१/२
६१. *जयति जलदनीलः	६/१	८७. पादाग्रेदृशमव	५/१३
६२. *जानन्ति तन्त्रयुक्ति	२/१	८८. *पीत्वा निरवशेषं	२/११
६३. *तस्मात् लग्नं	४/२१	८९. पितॄन् पुत्राः पुत्रान्	६/१७
६४. तीक्ष्णादुद्विजते	३/५	९०. पुरुषस्य जीवितव्यं	१/१८
६५. त्यजत्यप्रियवत्प्राणान्	१/२४	९१. पृथिव्यां किं दग्धा	२/७
६६. त्वय्युत्कृष्टबलेऽभियो०	४/१५	९२. पौरैरंगुलिभिर्नवे	६/१०
६७. दुष्कालेपि कलावसज्जन	७/५	९३. *प्रणमत यमस्य	१/१७
६८. *दूरे प्रत्यासत्ति	४/४	९४. प्रत्यग्रोन्मेषजिह्या	३/२१

संख्या	श्लोक अंक	श्लोकसंख्या
९५. प्रमृदच्छोतृणां	६/१४	
९६. प्रस्थातव्यं पुरस्तात्	५/११	
९७. प्राकारं परितः	२/१३	
९८. प्रारभ्यते न खलु	२/१७	
९९. फलयोगमवाप्य	७/१०	
१००. बाल एव हि लोके	७/१२	
१०१. *बुद्धिजलनिर्झरै	५/१	
१०२. भक्त्या नन्दकुलानु	५/५	
१०३. भर्तुस्तथा कलुषितां	३/९	
१०४. *भवति पुरुषस्य	७/२	
१०५. भयं तावत्सेव्यात्	५/१२	
१०६. भूषणाद्युपभोगेने	३/२३	
१०७. भृत्यत्वे परिभाव	५/२०	
१०८. भृत्या भद्रभटा	७/९	
१०९. भेतव्यं नृपतेस्ततः	३/१४	
११०. मद्भृत्यैः किल सोऽपि	३/१३	
१११. मम विमृशतः कार्या	४/२	
११२. मित्रं ममेदमिति	५/७	
११३. मित्राणि शत्रुत्व	५/८	
११४. मुद्रा तस्य करांगुलि	५/१५	
११५. मुक्त्वा आमिषाणि	७/३	
११६. मुहुर्लक्ष्योद्भेदा	५/३	
११७. मौर्यस्तेजसि सर्वं	२/२४	
११८. मौर्योऽसौ स्वामि	५/१९	
११९. यत्रैषा मेघनीला	२/१४	
१२०. *यदि रक्षितुं	७/१	
१२१. यदि च शकटो	६/१०	
१२२. युष्माभिरमुमेव	२/२१	
१२३. येन स्वामिकुलं	७/४	
१२४. ये याता किमपि	१/२५	
१२५. *योजनशतं सम	४/१	
१२६. यो नन्दमौर्यनृपयोः	३/१७	
१२७. यो नष्टानपि बीज	६/८	
१२८. राक्षसेन समं मैत्री	७/१८	
१२९. राज्ञां चूडामणि	४/१२	
१३०. रूपादीनविषयान्	३/१	
१३१. लग्नं भवति सुलग्नं	४/२०	
१३२. लब्धायां पुरि	३/२६	
१३३. लेखो यं न ममेति	५/१८	
१३४. वक्षस्ताडनभिन्न	४/५	
१३५. वहति जलमियं	१/४	
१३६ वामां बाहुलतां	२/१२	
१३७. वाराहीमात्ययोने	७/१९	
१३८. विक्रान्तैर्नयशालि	१/२२	
१३९. विगुणीकृतकार्मुको	७/११	
१४०. विना वाहनहस्ति	७/१७	
१४१. विपर्यस्तं सौधं	६/११	
१४२. विरुद्धयोर्भृशमिह	२/३	
१४३. विष्णुगुप्तं च मौर्यं च	५/२२	
१४४. वृष्णीनामिव नीति	२/४	
१४५. शनैः शान्ता	३/७	
१४६. *शासनमर्हतां	४/१८	

संख्या श्लोक अंक श्लोकसंख्या		संख्या श्लोक अंक श्लोकसंख्या	
१४७. शार्ङ्गाकर्षाविमुक्त	६/९	१५९. *सन्तापयन्तः	६/२
१४८. शिखां मोक्तुं बद्धां	३/२९	१६०. समुत्खाता नन्दा	१/१३
१४९. शिबेरिव समुद्भूतं	६/१८	१६१. संरम्भोत्स्पन्दिपक्ष्म	३/३०
१५०. शोचन्तोऽवनतैः	१/१२	१६२. स हि भृशमभियुक्तो	३/२५
१५१. श्यामीकृत्याननेन्दून्	१/११	१६३. साध्ये निश्चितमन्व	५/१०
१५२. श्रावितोऽस्मि श्रियं	६/१५	१६४. सुलभेष्वर्थलाभेषु	१/२३
१५३. श्रुतं सखे श्रवण	५/६	१६५. सुविश्रब्धैरङ्गैः	३/३
१५४. *षड्गुणसंयोगदृढा	६/४	१६६. सोत्सेधैः स्कन्धदेशैः	४/७
१५५. सत्त्वभङ्गभयाद्राज्ञां	४/८	१६७. स्मृतं स्यात्पुत्रदारस्य	५/१४
१५६. सत्त्वोत्कर्षस्य धात्रा	३/२२	१६८ स्वच्छन्दमेकचर	१/२६
१५७. स दोषः सचिवस्यैव	३/३२	१६९. स्वयमाहृत्य भुञ्जाना	१/१६
१५८. सद्यः क्रीडारस	४/१०	१७०. स्तुवन्ति श्रान्तास्याः	३/१६

पात्र-परिचय

(मुद्राराक्षस में क्रमशः प्रयुक्त पुरुष पात्र तथा स्त्री पात्र)

(पुरुष पात्र)

(१) सूत्रधार—प्रधान नट, रंगमंच का समायोजक।
(२) चाणक्य—चन्द्रगुप्त का गुरु, विष्णुगुप्त।
(३) शार्ङ्गरव—चाणक्य का शिष्य।
(४) चर—यमपट धारण करने वाला चाणक्य का गुप्तचर।
(५) सिद्धार्थक—चाणक्य का गुप्तचर, राक्षस का कृत्रिम सेवक।
(६) चन्दनदास—राक्षस का प्रिय मित्र।
(७) विराधगुप्त—सँपेरे का वेश धारण करने वाला राक्षस का गुप्तचर।
(८) राक्षस—नन्दों का महामात्य।
(९) जाजलि—मलयकेतु का कंचुकी।
(१०) प्रियंवदक—राक्षस का अनुचर।
(११) शकटदास—राक्षस का निजी सचिव और मित्र।
(१२) वैहीनरि—चन्द्रगुप्त का कंचुकी।
(१३) चन्द्रगुप्त—मौर्यवंश का प्रथम सम्राट्, चाणक्य का शिष्य।
(१४) प्रथमवैतालिक—चन्द्रगुप्त का अपना चारण।
(१५) द्वितीयवैतालिक—राक्षस द्वारा नियुक्त चारण-व्यञ्जन गुप्तचर।
(१६) करभक—राक्षस का पथिकवेशधारी गुप्तचर।
(१७) दौवारिक—राक्षस का द्वारपाल।
(१८) वेत्रहस्त पुरुष—मलयकेतु के आगमन का सूचक पुरुष।
(१९) मलयकेतु—पर्वतेश्वर का पुत्र।
(२०) भागुरायण—चाणक्य का गुप्तचर, मलयकेतु का कृत्रिम मित्र।

(२१) जीवसिद्धि—चाणक्य का क्षपणकवेशधारी गुप्तचर ।
(२२) भासुरक—मलयकेतु का अनुचर ।
(२३) सुसिद्धार्थक—चाण्डाल के वेश में वेणुवेत्रक ।
(२४) पुरुष—चाणक्य का गुप्तचर, आत्महत्या का स्वांग करने वाला ।
(२५) वज्रलोमक—प्रथम चाण्डाल के वेश में सिद्धार्थक ।
(२६) वेणुवेत्रक—द्वितीय चाण्डाल के वेश में सुसिद्धार्थक ।
(२७) पुत्र—चन्दनदास का बालक ।
(२८) पुरुष—सन्देशवाहक ।

(स्त्री पात्र)

(१) नटी—सूत्रधार की स्त्री ।
(६) शोणोत्तरा—चन्द्रगुप्त की प्रतिहारी ।
(३) विजया—मलयकेतु की प्रतिहारी ।
(४) कुटुम्बिनी—चन्दनदास की स्त्री ।

———

श्रीमद्विशाखदत्तविरचितम्

मुद्राराक्षसम्

प्रथमोऽङ्कः

धन्या केयं स्थिता ते शिरसि शशिकला किं नु नामैतदस्या
नामैवास्यास्तदेतत्परिचितमपि ते विस्मृतं कस्य हेतोः ।
नारीं पृच्छामि नेन्दुं कथयतु विजया न प्रमाणं यदीन्दु—
र्देव्या निह्नोतुमिच्छोरिति सुरसरितं शाठ्यमव्याद्विभोर्वः ॥१॥

प्रसङ्ग—पद्यमिदं महाकविश्रीविशाखदत्तकृतस्य मुद्राराक्षसनाम नाटकस्य प्रथमाङ्कात् तत्रापि नान्दीमुखेन वर्णितात् आशीर्वादात्मकमङ्गलाचरणवर्णन-प्रसङ्गादुद्धृतम् । अस्मिन् पद्ये गौरी शिवस्य शिरसि गङ्गां पश्यन्ती शङ्करं प्रति जिज्ञासते ।

अन्वय—ते शिरसि स्थिता धन्या इयं का ? शशिकला, नु अस्याः एतत् नाम किम् ? तद् एतद् अस्याः नामैव, ते परिचितमपि कस्य हेतोः विस्मृतम् । नारीं पृच्छामि इन्दुं न, यदि इन्दुः प्रमाणं न, विजया कथयतु, इति देव्याः सुरसरितं निह्नोतुं इच्छोः विभोः शाठ्यं वः अव्यात् ।

संस्कृतार्थ—ते=तव त्रिलोकनाथस्यापीत्यर्थः, शिरसि = मूर्धनि, स्थिता =विद्यमाना, धन्या = सौभाग्यशालिनी, इयं=साक्षादवलोक्यमाना, का= किन्नामधेया ? शशिकला=शशिनः चन्द्रस्य, कला = अंशः इत्युत्तरम् । नु = भोः, अस्याः=स्त्रियः, एतत् = शशिकला इति नाम=शशिकला इत्यभिधानं किम् ? तद् एतत् अस्याः=मम मूर्धनि स्थितायाः अलंकरणभूतायाः, शशिकला इति,

नामैव = अभिधानमेव । ते = तव गौर्याः, परिचितमपि = विदितमपि, कस्य हेतोः = केन हेतुना, विस्मृतं = अविदितमिव जातम् । नारीं = युवतिं भवच्छिरसि स्थितां पृच्छामि, इन्दुं = चन्द्रं, न पृच्छामि । यदि = चेत्, इन्दुः = चन्द्रविषयकं मदुत्तरं न प्रमाणम् = न विश्वासजनकं, तर्हि विजया = तदाख्या तव सहचरी, एव = निर्धारणे, कथयतु = वदतु, इति = एवं, देव्याः = पार्वत्याः, सुरसरितं = गङ्गाम्, निह्नोतुं = गोप्तुं, इच्छोः = अभिलषतः, विभोः = व्यापकस्य, शंकरस्य, शाठ्यं = व्याजोक्तिः चातुर्यं वा, वः = युष्मान् सामाजिकान्, अव्यात् = पायात् ।

भाषार्थ—परम सौभाग्यशालिनी यह कौन स्त्री आप के सिर पर बैठी है ? हे प्रिये ! यह शशिकला है। "शशिनः कला" चन्द्रमा की कला है । क्या इसका शशिकला ही नाम है ? हाँ शशिकला यही नाम है । यह तो तुम्हारी परिचित थी, फिर आज किस कारण विस्मृत हो गई । आपके सिर पर जो स्त्री बैठी है उसके विषय में पूछती हूँ, चन्द्रमा के विषय में नहीं । मेरा वचन यदि तुम्हारे लिये प्रमाण नहीं तो विजया ही इसका उत्तर दे । इस प्रकार देवी पार्वती से गङ्गा को छिपाने की इच्छा करने वाले शङ्कर की चतुरता तुम सब की रक्षा करे ।

छन्द—स्रग्धरा "म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्" अर्थात् जहाँ प्रत्येक पाद में २१ अक्षर हों, प्रत्येक सातवें अक्षर पर यानी ७-१४-२१ वें अक्षर पर यति हो तथा मगण, रगण, भगण, नगण, यगण, यगण ये सात गण हों उसे स्रग्धरा छन्द कहते हैं ।

अलङ्कार = व्याजोक्तिः "व्याजोक्तिः गोपनं व्याजादुद्भिन्नस्यापि वस्तुनः' अर्थात् छल द्वारा स्फुट वस्तु के स्वरूप को छिपाना व्याजोक्ति अलङ्कार होता है ।

रीति—वैदर्भी, माधुर्यव्यञ्जकैः वर्णैः रचना ललितात्मिका ।
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते ॥

गुण—प्रसादः, चित्तं व्याप्नोति यः क्षिप्रं शुष्केन्धनमिवानलः ।
स प्रसादः समस्तेषु रसेषु रचनासु च ॥

व्याकरणम्—विभोर्वः यहाँ "बहुवचनस्य वस्नसौ" इस सूत्र से युष्मान् के स्थान पर 'वस्' (वः) हो गया।

देव्या निह्नोतुम् = यहाँ 'देव्याः' में "अन्तर्धो येनादर्शनमिच्छति" इस नियम से पञ्चमी विभक्ति है।

परिचितमपि ते=यहाँ 'ते' पद में "शेषे षष्ठी" इस सूत्र से षष्ठी है। नारीं पृच्छामि नेन्दुम् = यहाँ नारीं तथा इन्दुं में पृच्छ धातु के द्विकर्मक होने के कारण उभयत्र द्वितीया है।

कस्य हेतोः—यहाँ कस्य पद में "षष्ठी तुप्रयोगे" सूत्र से षष्ठी है।

शशिकला—शशिनः कला तत्पुरुषसमासः।

कोषः—"प्रमाणं हेतुमर्यादाशास्त्रेयत्ताप्रमातृषु" प्रमाण शब्द हेतु—मर्यादा—शास्त्र इयत्ता—प्रमाता—इन चार अर्थों में प्रयुक्त होता है। इन्दुः = हिमांशुः चन्द्रमाः चन्द्रः इन्दुः कुमुदबान्धवः इत्युभयत्रामरः। उनत्ति क्लेदयति चन्द्रिकया भुवनमिति, उन्दी (क्लेदने)—उ, आदेरिच्च।

टिप्पणी—विजया = वि + जि + अच् + टाप्। जया तथा विजया पार्वती की दो सेविकायें हैं।

धन्या = विपरीत लक्षणा द्वारा धन्या शब्द का अधन्या अर्थ भी हो सकता है क्योंकि पति के सिर पर चढ़ना स्त्री के दुर्भाग्य का कारण है दूसरे महादेव ने उसे सिर चढ़ा रखा है अतः पार्वती की ईर्ष्या तथा महादेव की मूढ़ता अर्थ भी व्यंजित होते हैं।

प्रमाणम् = प्रमाण शब्द जब विधेय के रूप में प्रयुक्त होता है तब नित्य नपुंसक लिङ्ग तथा एक वचन ही रहता है यथा—अत्र वेदाः प्रमाणम्। जब प्रमाण शब्द उद्देश्य रूप में प्रयुक्त होता है तब अन्य सभी वचनों में प्रयुक्त होगा यथा—चत्वारि प्रमाणानि सन्ति। इसी प्रकार पात्रं—भाजनं—आस्पदं—स्थानं शब्द भी जानने चाहिये।

कई विद्वानों ने परिचितमपि ते यहाँ परि + चि + क्त में वर्तमान की कल्पना कर "क्तस्य च वर्तमाने" सूत्र से 'ते' में षष्ठी मानी है, वह ठीक नहीं,

क्योंकि पूर्वं परिचितमपि अधुना विस्मृतं कस्य हेतोः, इस स्पष्टार्थ में विस्मृतं में तो वर्तमान की कल्पना किसी अंश में सम्भव भी है, परिचितं में कदापि नहीं।

दूसरे एक विद्वान् ने "देव्याः निह्नोतुम्" में देव्याः यहाँ चतुर्थ्येव युक्ता (देव्यै) ऐसा माना है, वह भी ठीक नहीं क्योंकि "श्लाघ्ह्नुङ्स्थाशपां ज्ञीप्स्यमानः" में ज्ञीप्स्यमानः बोधयितुमिष्टः अपेक्षित है और देव्याः निह्नोतुं में बोधयितुं इष्टः के विपरीत निह्नोतुं इष्टः है, अतः देव्याः में पञ्चमी ही उपयुक्त है चतुर्थी नहीं।

इत्यलं विद्वद्वर्येषु कटाक्षनिक्षेपेण।

अपि च

पादस्याविर्भवन्तीमवनतिमवने रक्षतः स्वैरपातैः
संकोचेनैव दोष्णां मुहुरभिनयतः सर्वलोकातिगानाम्।
दृष्टिं लक्ष्येषु नोग्रां ज्वलनकणमुचं बध्नतो दाहभीते-
रित्याधाराऽनुरोधात् त्रिपुरविजयिनः पातु वो दुःखनृत्यम् ॥२॥

प्रसङ्ग—इदमपरं नान्दीपद्यं भगवतः त्रिपुरान्तकस्य रौद्ररसमभिनयतः दुःखनृत्यं वः पातु, इति वर्णनप्रसंगे समुद्धृतम्।

अन्वय—पादस्य स्वैरपातैः अवनेः आविर्भवन्तीं 'अवनतिं' रक्षतः सर्वलोकातिगानां दोष्णां सङ्कोचेन एव मुहुः अभिनयतः, ज्वलनकणमुचं उग्रां दृष्टिं लक्ष्येषु दाहभीतेः न बध्नतः इत्याधारानुरोधात् त्रिपुरविजयिनः दुःखनृत्यं वः पातु।

संस्कृतार्थ—पादस्य = चरणस्य, स्वैरपातैः = स्वच्छन्दं आस्फालनैः, अवनेः = पृथिव्याः, आविर्भवन्तीं = प्रादुर्भवन्तीं, अवनतिं = अधोगमनं, रसातलनिवेशमित्यर्थः, रक्षतः = रक्षां कुर्वतः सर्वलोकातिगानां = सर्वान् चतुर्दशलोकान् अतिक्रम्य गन्तुं शक्तानां, दोष्णां = बाहूनां, संकोचेन = आकुण्ठनेन, एव = नूनं, मुहुः = असकृत्, अभिनयतः = अङ्गसञ्चालनं कुर्वतः, ज्वलनकणमुचे = अग्नेः स्फुलिङ्गवर्षणशीलां, उग्रां = तीव्रां, दृष्टिं = तृतीयलोचनं, लक्ष्येषु = लक्षेषु, दाहभीतेः = दहनभयात्, न बध्नतः = न निक्षिपतः, इत्याधारानुरोधात् = उप-

युक्तस्य आधारस्य = नृत्यक्रियाऽऽश्रयस्य भूतलादेः अनुरोधात् = अनुक्रोशात्, यथायथं पदार्थसार्थाः तिष्ठन्तु मा भूवन् अङ्गभङ्गाः इत्यभिप्रायात्, त्रिपुरविजयिनः = महादेवस्य, दुःखनृत्यं = कष्टतोऽनुष्ठीयमानं नर्तनं, वः = युष्मान्, सामाजिकान् इत्यर्थः, पातु = अवतु ।

भाषार्थ—इच्छानुकूल पैर के चलाने से हो जाने वाली पृथिवी की अधोगति को बचाते हुए, त्रिलोकव्यापी अपनी भुजाओं को थोड़ा-सा ही फैलाकर नाचते हुए, जलने के भय से देखी जाने वाली वस्तुओं में अग्नि कण उत्पन्न करने वाली तीव्र दृष्टि न डालते हुए, त्रिपुरविजयी शिवजी का ऊपर कहे कारणों के कारण कष्टसाध्य नृत्य आप सभी सामाजिकों की रक्षा करे ।

छन्द—स्रग्धरा (लक्षणं प्रथमपद्ये दत्तम्)

अलङ्कार—अतिशयोक्तिः, अधिक, परिकर ।

इस पद्य में पृथिव्यादि के रसातल को जाने आदि सम्बन्ध के असद्भाव होने पर भी सम्बन्ध स्थापित किये जाने से असम्बन्धे सम्बन्ध रूपातिशयोक्ति अलंकार है ।

भेदेऽप्यभेदः सम्बन्धेऽसम्बन्धस्तद्विपर्ययौ ।
पौर्वापर्यात्ययः कार्यहेत्वोः सा पञ्चधा मता ॥

नृत्य के आधार पृथिवी से चरण पात का आधिक्य वर्णन करने से अधिक अलंकार है । आश्रयाश्रयिणोरेकस्याऽऽधिक्येऽधिकमुच्यते । पादस्य का एकवचन, दोष्णां का बहुवचन तथा त्रिपुरविजयी पदों के साभिप्राय होने से 'परिकर' अलंकार है, दो पैर होते हुए भी नृत्य में एक पद पर ही बल होता है या तीव्रता के कारण दो पैर भी एक पैर से ही दीखते हैं, अतः पादस्य एकवचनोपादान तथा दो भुजायें होते हुए भी शीघ्रातिशीघ्र भुजसञ्चालन के कारण अनेक भुजप्रतीति के कारण दोष्णां में वहुवचनोपादान किया गया है ।

"उक्तिर्विशेषणैः साभिप्रायैः परिकरो मतः"

रीति—पाञ्चाली 'समस्तपञ्चषपदोबन्धः पाञ्चालिका मता । पाचःछः समस्त पद जिसमें हों उसे पाञ्चाली रीति कहते हैं ।

गुण—प्रसादगुणः, चित्तं व्याप्नोति यः क्षिप्रं इत्यादि लक्षण प्रथम पद्य में देखें।

व्याकरणम्—आविर्भवन्तीम् = आविर् + भू + शतृ + ङीप् + अम्।

अवनतिम् = अव + नम् + क्तिन्। द्वितीया एकवचनम्। स्त्रियां क्तिन्। रक्षतः = रक्ष् + शतृ + ङस्। सर्वलोकान् अतिक्रम्य गच्छन्ति ये तेषां बहुव्रीहिः समासः गमेर्डः—गम् + ड = गः, सर्वलोकातिगानां। दाहभीतेः = दाहस्य भीतिः तस्याः, षष्ठी तत्पुरुषः। भी + क्तिन् + ङसि। कर्णान् मुञ्चतीति विग्रहे मुञ्च् + क्विप्।

कोषः—भुजबाहू प्रवेष्टो दोरित्यमरः। त्र्यम्बकस्त्रिपुरान्तकः इत्यमरः।

टिप्पणी—'पादस्य' में एकवचन निर्देश तथा दोष्णां में बहुवचन निर्देश महादेव के दुःख नृत्य का उत्कर्ष प्रकट करते हैं। नृत्य में क्षिप्रकारिता के कारण पृथ्वी पर एक पैर ही दृष्टिगत होता है तथा भुजायें अनेक। यदि पादस्य में जातौ एकवचन माना जाय तो दोष्णां में एकवचन क्यों नहीं? अतएव इन दोनों पदों के साभिप्राय द्योतक होने से नृत्य की कला का निर्देश करना ही कवि को अभिप्रेत है।

आविर्भवन्तीम्, रक्षतः, अभिनयतः, बध्नतः, सर्व शतृ प्रत्ययान्त रूप हैं तथा "वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा" सूत्र से भविष्यत् अर्थ में वर्तमान का प्रयोग है।

त्रिपुरविजयिनः—तीन नगर जो आकाश-वायु-पृथ्वी पर बने हैं, उनको जीतने वाले या त्रिपुर नामक राक्षस को जीतने वाले महादेव। इस पद से नन्द वंश को त्रिपुर के समान भस्म करने में समर्थ भी चाणक्य का राक्षस को पकड़ने में कूटनीतिप्रयोग ध्वनित होता है।

दुःखनृत्यं—पद से नन्द वंश के समान चाणक्य, महामन्त्री राक्षस तथा मलयकेतु को नष्ट करने में समर्थ होते हुए भी उन्हें पकड़ कर अपने अधीन करने के लिये बड़ी कठिनाई से अपनी कुटिल नीति का प्रयोग कर सके, यह अर्थ द्योतित होता है।

(नान्द्यन्ते)

सूत्रधारः—अलमतिप्रसंगेन । आज्ञापितोऽस्मि परिषदा, यथाऽद्य सामन्तवटेश्वरदत्तपौत्रस्य महाराजपदभाक्पृथुसूनोः, कवेः विशाखदत्तस्य कृतिः मुद्राराक्षसं नाम नाटकं नाटयितव्यमिति ।

संस्कृतार्थ—नन्दयति आनन्दयति सामाजिकान् इति नान्दी । ग्रन्थादौ मङ्गलार्थं प्राक् प्रयुक्तः श्लोकः नान्दी शब्देनोच्यते । तस्याः अन्ते = अवसाने, समाप्तौ इत्यर्थः । सूत्रधारः = नाट्योपकरणधारकः प्रधाननटः, अतिप्रसङ्गेन = अति विस्तरेण, अलं = व्यर्थम्, परिषदा = गोष्ठ्या, आज्ञापितः = आदिष्टः, अस्मि । अद्य त्वया = सूत्रधारेण, सामन्तस्य = सीमावर्तिनः माण्डलिकस्य वा वटेश्वरदत्तस्य पौत्रस्य, महाराजपदं = महाराज इत्युपाधिं भजते इति महाराजपदभाक् स चासौ पृथुः तस्य सूनोः = पुत्रस्य, कवेः = नाटकप्रणेतुः, विशाखदत्तस्य कृतिः मुद्रया = अङ्गुलीयकेन परिगृहीतः राक्षसः यत्र तत् मुद्राराक्षसं नाम नाटकं, नाटयितव्यम् = अभिनेतव्यमिति ।

भाषार्थ—विस्तार से बस । परिषद् ने मुझे आज्ञा दी है कि आज तुम्हें सामन्त वटेश्वरदत्त के पौत्र पृथु महाराज के पुत्र कवि विशाखदत्त का बनाया हुआ मुद्राराक्षस नामक नाटक का अभिनय करना है । इति

व्याकरणम्—अलमतिप्रसङ्गेन = "गम्यामानाऽपि क्रिया कारकविभक्तौ प्रयोजिका" इस नियम से अलं के योग में तृतीया । सूत्रधारः = सूत्रं नाट्यानुष्ठानं धारयति, सूत्र + धृ + अण् "कर्मण्यण्" । परिषदा = परि = समन्तात् सीदन्ति अस्यामिति तया परि + सद् + क्विप् + टा । नाटकम् = नट् + ण्वुल् (अकादेशः) । मुद्राराक्षसम् = मुद्रया गृहीतः राक्षसः यस्मिन्निति बहुव्रीहिः, रक्षस् + अण् "अधिकृत्य कृते ग्रन्थे" से अण्, नपुंसकम् च ।

टिप्पणी—नान्दी लक्षण—

आशीर्वचनसंयुक्ता स्तुतिर्यस्मात्प्रयुज्यते ।
देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता ॥

सूत्रधार लक्षण—

नाट्योपकरणादीनि सूत्रमित्यभिधीयते ।
सूत्रं धारयतीत्यर्थे सूत्रधारो निगद्यते ।।

नाटक लक्षण—

नाटकं ख्यातवृत्तं स्यात् पञ्चसन्धिसमन्वितम् ।
प्रख्यातवंशो राजर्षिः धीरोदात्तः प्रतापवान् ।।

यत् सत्यं काव्यविशेषवेदिन्यां परिषदि प्रयुञ्जानस्य ममापि चेतसि सुमहान् परितोषः प्रादुर्भवति ।

संस्कृतार्थ—काव्यस्य = दृश्य-श्रव्यात्मकस्य रसात्मकस्य च, विशेषः = धर्मः, उत्कर्षाऽपकर्षसूचकगुणदोषरूपः, तद्वेदिन्यां = तद्ज्ञाने निपुणायां, परिषदि = सभायां, प्रयुञ्जानस्य = अभिनयतः, ममापि = सूत्रधारस्यापि, चेतसि = स्वान्ते, सुमहान् = अतिशयेन वर्तमानः, परितोषः = हर्षः, अपिशब्देन परिषद्वर्तिजनानां चेतसि परितोषः, प्रादुर्भवति = उत्पद्यते, तत् सत्यम् ।

भाषार्थ—काव्य के गुण-दोष जानने वाली सभा में, अभिनय करने वाले मेरे हृदय में सचमुच सुमहान् हर्ष तथा पारिषद्यों के हृदय में परितोष उत्पन्न हो रहा है, यह ठीक ही है ।

व्याकरणम्—काव्यं = कु + इ = कवि + ण्यत् = काव्यं । विशेषः = विशिष्यते अनेनेति विशेषः = धर्मः, वि + शिष् + घञ् ।

प्रयुञ्जानस्य = प्र + युज् + शानच् + ङस् । वेदिन्याम् = विद् + णिनि + ङीप् + ङि सप्तम्येकवचनम् । परितोषः = परि + तुष् + घञ् ।

टिप्पणी—मुद्राराक्षस नाटक में नायकादि सिद्धान्त—

नायक = चन्द्रगुप्त धीरोदात्त,

प्रतिनायक = मलयकेतु

उपनायक = चाणक्य और राक्षस क्रमशः चन्द्रगुप्त और मलयकेतु के !

रस = वीर रस प्रधान रस है, करुणादि अङ्ग रस हैं ।

स्थायिभाव = उत्साह । रीतिः = गौड़ी । गुणः = ओजः ।

प्रस्तावना = उद्घात्यकरूपा ।

कुतः—चीयते बालिशस्यापि सत्क्षेत्रपतिता कृषिः।
न शालेः स्तम्बकरिता वप्तुर्गुणमपेक्षते ॥३॥

प्रसंग—परिषदि प्रयुक्तस्याऽभिनयस्य उत्कर्षाऽपकर्षत्वं; सफलत्वं विफलत्वं सरसत्वं नीरसत्वं च निर्णेतुं दर्शकाधीनत्वमिति दृष्टान्तमुखेन दर्शयितुं पद्यमिदमुद्धृतम्।

अन्वयः—बालिशस्यापि सत्क्षेत्रपतिता कृषिः चीयते, शालेः स्तम्बकरिता वप्तुः गुणं न अपेक्षते।

संस्कृतार्थ—बालिशस्यापि=अज्ञस्यापि, कृषिकर्मणीति शेषः, सत्क्षेत्रे=उर्वरायां भुवि, पतिता=उप्ता, कृषिः=बीजम्, चीयते=वर्द्धते, शालेः=धान्यस्य, स्तम्बकरिता=प्राचुर्यम्, वप्तुः=बीजारोपकस्य, गुणं=चातुर्यं नापेक्षते=न वाञ्छति।

भाषार्थ—कृषि कार्य को भली भाँति न जानने वाले भी पुरुष से उत्तम खेत में बोया गया बीज बढ़ता है। धान्य का अधिक होना बीज बोने वाले के गुण की अपेक्षा नहीं करता है।

व्याकरण—बालिशस्य=वाडिं श्यति छिनत्ति इति, वाडि+शो+ड, डलयोरभेदः, अपने खेत की वाड को भी नष्ट कर देने वाला अर्थात् भूख। स्तम्बकरिता=स्तम्बं स्तोमं करोति, स्तम्ब+कृ+इन्+तल्+टाप्। "स्तम्बशकृतोरिन्", "तस्य भावः त्वतलौ"

कोष—'बालिशश्च शिशौ मूर्खे' इति मेदिनी।
'स्तम्बो गुच्छस्तृणादिनः' इत्यमरः
'अकाण्डे स्तम्ब-गुल्मौ' इत्यप्यमरः।

छन्द—अनुष्टुप् वृत्तम् "पञ्चमं लघु सर्वत्र षष्ठं ज्ञेयं गुरुं सदा" इति लक्षणात्।

अलंकार=अर्थान्तरन्यास अलंकार है। विशेष से सामान्य समर्थन रूप। तथा दृष्टान्तालंकारः "दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनम्। यहाँ सूत्रधार तथा अज्ञकृषक की सधर्मता का प्रतिपादन है।

गुण-रीति—प्रसाद गुणः। वैदर्भी रीतिः।

टिप्पणी—वालिशः=वाडि या वारी, खेत की वाड को कहते हैं जो खेत के चारों ओर रक्षार्थ काँटो की लगाई जाती है, उसे नष्ट कर देने वाला यानी मूर्ख।

तद्यावद् इदानीं गृहं गत्वा गृहिणीमाहूय गृहजनेन सह सङ्गीतकमनुतिष्ठामि। (परिक्रम्यावलोक्य च) इमे नो गृहाः, तद्यावत् प्रविशामि। (नाट्येन प्रविश्यावलोक्य च) अये तत् किमिदमस्मद्गृहेषु महोत्सव इव दृश्यते। स्वस्वकर्मण्यधिकतरमभियुक्तः परिजनः।

संस्कृतार्थ—तत्=तस्मात् कारणात्, यावत्=वाक्यालङ्कारे, इदानीं=सम्प्रति, गृहिणीं=स्वस्त्रियं, आहूय=आकार्य, गृहजनेन सह=परिजनेन सार्धम्, सङ्गीतकं=गानं, अनुतिष्ठामि=विधास्यामि। परिक्रम्य=कियद्दूरं गत्वा अवलोक्य=दृष्ट्वा च। नः=अस्माकं, इमे गृहाः=एतानि-गृहाणि। नाट्येन=अभिनयेन, प्रविश्य=अभ्यन्तरं, गत्वा, अवलोक्य च=दृष्ट्वा च अये=आश्चर्येऽव्ययपदम्, तत्किमिदं=एतत् किं, अस्मद्गृहेषु=अस्माकं सदनेषु, महोत्सवः=हर्षातिशयः, इव=यथा, अवलोक्यते=दृश्यते। स्व स्व कर्मणि=स्वकीयकार्ये, अधिकतरं=अत्यर्थं, अभियुक्तः=संलग्नः, परिजनः=सेवकवर्गः।

भावार्थ—तो अभी घर जाकर गृहिणी को बुला कर उसके साथ गाता हूँ। कुछ दूर जा कर और देख कर, यही मेरा घर है, अन्दर प्रवेश करता हूँ। भङ्गी विशेष द्वारा अन्दर जा कर और देख कर आज बहुत ही आनन्द का विषय है यह क्या उत्सव-सा दीख पड़ता है, सब सेवक वर्ग अपने-अपने कार्य में संलग्न हैं।

व्याकरणम्—यावत् प्रविशामि="यावत्पुरानिपातयोः लट्" इस सूत्र से यावत् के योग में भविष्यदर्थ में लट् का प्रयोग है। परिक्रम्य=परि+क्रम्+क्त्वा (ल्यप्) अभियुक्तः=अभि+युज्+क्त प्रत्ययः। नः="बहुवचनस्य वस्नसौ" इस सूत्र से अस्मद् के स्थान पर नस् आदेशः। स्वस्वकर्मणि=कर्मव्यतिहारे द्विर्भावः। महोत्सवः=महान् चासौ उत्सवः कर्मधारयः।

कोष—गृहाः—"गृहाःपुंसि च भूम्न्येव" गृह शब्द पुंलिङ्ग में सदा बहुवचन होता है ।

"सह-सार्कं-सार्धं-सत्रा-समं" इत्यमरः ।

टिप्पणी—"न गृहं गृहमित्याहुः गृहिणी गृहमुच्यते" घर घर को नहीं कहते बल्कि स्त्री को घर कहते हैं । गृह शब्द नपुंसक लिंग में सभी वचनों में तथा पुंल्लिग में केवल बहुवचन में ही आता है । यावत् शब्द वाक्य-सौन्दर्य के लिये आया है ? सह के साथ सदा तृतीया विभक्ति आती है ।

वहति जलमियं पिनष्टि गन्धानियमुद्ग्रथते स्रजो विचित्राः ।
मुसलमिदमियञ्च पातकाले मुहुरनुयाति कलेन हुंकृतेन ॥४॥

प्रसङ्ग—"इदमस्मद्गृहे महोत्सव इव दृश्यते" इत्युक्तम् । तदुत्सवाभियोग-प्रदर्शनप्रकरणे पद्यमिदमुद्धृतम् ।

अन्वय—इयं जलं वहति, इयं गन्धान् पिनष्टि, इयं विचित्राः स्रजः उद्ग्रथते । इयं च पातकाले मुहुः कलेन हुङ्कृतेन इदं मुसलं अनुयाति ।

संस्कृतार्थ—इयं = एषा, अंगुल्या निर्दिशन्, जलं = वारि, वहति = आनयति, इयं = अपरा स्त्री, गन्धान् = सुगन्धितपदार्थसार्थान्, पिनष्टि = चूर्णयति, इयं = अन्या, विचित्राः = विविधवर्णाः, स्रजः = पुष्पमालाः, उद्ग्रथते = गुम्फति, इयमितरा, पातकाले = धान्योपरि मुसलपातनक्षणे, कलेन = मधुरेण, हुंकृतेन = हुमिति शब्देन, मुहः = असकृत्, मुसलं = अयोऽग्रं, अनुयाति = अनुकरोति ।

भाषार्थ—अंगुली से निर्देश करते हुए, यह स्त्री जल ला रही है । यह दूसरी स्त्री सुगन्धित द्रव्यों को पीस रही है । कोई स्त्री रंग-बिरंगी मालायें गूंथ रही है । तो कोई स्त्री बारम्बार मधुर अव्यक्त हुङ्कार के साथ मुसल का अनुकरण कर रही है ।

व्याकरण—हुंकृतेन = हुम् + कृ + क्त + टा (इन) तृतीयैकवचनम् । विचित्राः = विशेषेण चित्राः, वि + चि + ष्ट्रन् + टाप् + शस् द्वितीयाबहुवचनम् ।

कोष—अयोग्रं मुसलोऽस्त्री, इत्यमरः। माल्यं मालास्रजौ मूर्ध्नि, इत्यमरः। मुहुः पुनः पुनः शश्वत् अभीक्ष्णं असकृत् का बारबार अर्थ है।

छन्द—पुष्पिताग्रावृत्तम्, अयुजि नयुगरेफतो यकारः युजितु नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा।

अलंकार—स्वभावोक्तिः; स्वभावोक्ति दुरूहार्थस्वक्रियारूपवर्णनम्।
उत्सवेषु जलवहनादिविविधकार्यकलापकरणं स्वाभाविकम्।

गुण—प्रसादः,
रीति वैदर्भी।

भवतु कुटुम्बिनीमाहूय पृच्छामि। (नेपथ्याभिमुखमवलोक्य)
गुणवत्युपायनिलये ! स्थितिहेतो ! साधिके ! त्रिवर्गस्य।
मद्भवननीतिविद्ये ! कार्यादार्ये ! द्रुतमुपेहि ॥५॥

भवतु = अस्तु तावत्, कुटुम्बिनीं = गृहिणीं, आहूय = आकार्य, पृच्छामि।

प्रसङ्ग—सूत्रधारः स्वगृहे महोत्सवस्य क्रियाकलापं अक्षिलक्ष्यीकृत्य तत्कारणं ज्ञातुकामः प्रष्टुकामश्च स्वगृहिणीमाह्वयति, इति सूत्रधारकृताह्वान-प्रसंगे पद्यमिदमुद्धृतम्।

अन्वयः—गुणवति, उपायनिलये, स्थिति हेतो, त्रिवर्गस्य साधिके, मद्भवन-नीतिविद्ये, आर्ये, कार्यात् द्रुतम् उपेहि।

संस्कृतार्थः—हे गुणवति = गृहकार्यचातुर्यादिगुणशालिनि !, उपाय-निलये = गृहस्थव्यापाराश्रयभूते, स्थितिहेतो = लोकयात्रासम्पादिके, त्रिवर्ग-साधिते = धर्मार्थकामरूपस्य पुरुषार्थस्य सम्पादिके, मद्भवननीतिविद्ये = मद्गृहस्य नीतिस्वरूपिणि, आर्ये = मान्ये, कार्यात् = कार्यवशात् त्वामाह्वयामि, द्रुतम् = शीघ्रं, उपेहि = आगच्छ।

भाषार्थ—अच्छा अपनी स्त्री को बुला कर पूछता हूँ—

हे गृहकार्य में चतुर, गृहकार्य-सञ्चालन की आधार, लोकयात्रा-सम्पादन करने वाली, धर्म-अर्थ-काम की पूर्ति करने वाली, मेरे घर की नीतिविद्या स्वरूप, देवी जी, जरा जल्दी इधर आओ, कुछ काम है।

द्वितीयोऽर्थः—चाणक्यस्य कूटनीतिपक्षे—गुणवति = सन्धि—विग्रह—यान—आसन—संश्रय—द्वैधीभावेति षड्गुणविशिष्टे, उपायनिलये = साम—दाम—दण्ड—भेदरूपोपायचतुष्टययुक्ते, स्थितिहेतो = राज्यस्थितिकारणभूते, त्रिवर्गस्य = क्षयःस्थानंवृद्धिश्चेति त्रिवर्गः नीतिवेदिनाम्, इत्यमरः तस्य साधिके, मद्भवननीति विद्ये ! = राज्यशासनशास्त्रस्वरूपे, आर्ये = आदरणीये, कार्यात् = प्रयोजनात् शीघ्रमुपेहि ।

भाषार्थ—चाणक्य अपनी कूटनीति के विषय में कहता है ,

सन्धि-विग्रह-यान-आसन-संश्रय और द्वैधीभाव इन छः गुणों वाली साम-दान-दण्ड-भेद इन चार उपायों वाली, राज्य स्थिति के आधारभूत त्रिवर्ग क्षय-स्थान-वृद्धि को सिद्ध करने वाली मेरी श्रेष्ठ नीति विद्या शीघ्र आओ ।

तृतीयोऽर्थ :—शरदागमपक्षे :

गुणवति = वर्षाऽपगमात् स्वच्छजलादिगुणविशिष्टे शरदृतौ जलस्य स्वच्छत्वं प्रसिद्धम्, उपायनिलये = विजयाभिलाषिणां सामादिचतुष्टयोपायस्थाने, स्थितिहेतो = रक्षाकारणभूते, शरदागमे धान्याद्युपचयात् रक्षाहेतुत्वम् । त्रिवर्गस्य = धर्मार्थकामस्य साधिके, विजयकांक्षिणां अवसरवितरणात् त्रिवर्गसाधकत्वम् । मद्भवननीतिविद्ये = समागतायां शरदृतौ विजयं समीहमानाः नृपाः युद्धं कुर्वन्तु इत्युद्बोधनेन विद्यास्वरूपिणि, आर्ये = शरदृतो ! सत्वरं समागच्छ ।

भाषार्थ—वर्षा ऋतु के कारण मलिन नदी-नदों के जल को स्वच्छ कर देने के गुण वाली हे शरद् ऋतु ! विजिगीषु राजाओं के लिये साम-दण्ड-भेद-चार उपायों वाली, धान्यादि के देने या अधिक उत्पन्न के कारण राजस्थिति के हेतुभूत, विजय या चढ़ाई करने का अवसर देने वाली धर्मार्थ की साधक त्रिवर्ग की दात्री, युद्ध की उद्बोधक हे श्रेष्ठ विद्या स्वरूपिणी शरद ऋतु शीघ्र आओ ।

व्याकरण—उपेहि = उप + एहि "ओमाङोश्च" से पररूप ।

गुणवति = गुण + मतुप् + ङीप् मतुपो वतुपादेशः, सम्बोधन में "अम्बार्थ नद्योर्ह्रस्वः" से ईकार को ह्रस्व हो गया ।

स्थितिहेतो = स्थितेः हेतुः तत्पुरुषः, सम्बोधने "ह्रस्वस्य गुणः" से गुण।

साधिके = सिध् + णिच् + ण्वुल् + टाप् + इत्वम्, सम्बोधने "सम्बुद्धौ च" से एत्व, ण्वुल् के स्थान में अक् "युवोरनाकौ" सूत्र से।

कोष :—"भेदो दण्डः साम दानं इत्युपाय चतुष्टयं" इत्यमर :

"उपायाः साम दानं च भेदो दण्डस्तथैव च" याज्ञ०स्मृतिः

गुण : = मौर्व्यां द्रव्याश्रिते सत्त्वशौर्यसन्ध्यादि के गुण। अमरः यानी धनुष की ज्या, रूप रस गन्धादि २४ गुण, सत्त्व रजः तमः प्रकृति के ३ गुण, चातुर्य पाण्डित्यादिलौकिक गुण, सन्धि-विग्रह-यान-आसन-संश्रय-द्वैधीभाव राजनैतिक छः गुण।

त्रिवर्गः = क्षयः स्थानं च वृद्धिश्च त्रिवर्गो नीतिवेदिनाम् इत्यमरः।

धर्मः-अर्थः-कामश्चेति त्रिवर्गः।

आर्ये = वाच्यौ नटीसूत्रधारौ 'आर्य' नाम्ना परस्परम्। अर्थात् नटी और सूत्रधार आपस में आर्य-आर्ये शब्द से सम्बोधित करते हैं।

छन्द—आर्या, मात्रिक छन्द है।

अलंकार—श्लेषः, श्लिष्टैः पदैरनेकार्थाऽभिधानं श्लेष इष्यते।

रीति—पाञ्चाली, समस्त पञ्चष पदोबन्धः पाञ्चालिका मता।

जिस पद्य में पाँच-छः समास युक्त पद हों तथा "वर्णैः शेषैः पुन ईयोः" अर्थात् माधुर्य गुण और ओज गुण के वर्णों से शेष वर्ण जिस में हों। यानी प्रसाद गुण व्यञ्जन शब्द जिसमें हों। प्रसाद गुण में वे वर्ण-समुदाय होते हैं जिन का अर्थ शीघ्र ज्ञात हो जाय "चित्तं व्याप्नोति यः क्षिप्रं सः प्रसादः।

गुणः—प्रसादः "चित्तं व्याप्नोति यः क्षिप्रं शुष्केन्धनमिवानलः।

स प्रसादः समस्तेषु रसेषु रचनासु च।

टिप्पणी—"स्थितिहेतो" इस पद के स्थान पर "स्थितिहेतोः" यह षष्ठ्यन्त पद है, जिसे 'त्रिवर्गस्य" का विशेषण मानकर "स्थिति के कारणभूत त्रिवर्ग की साधिका" ऐसा अर्थ किया जा सकता है। इसी प्रकार "कार्यादार्ये" के स्थान पर "कार्याचार्ये" पाठभेद मिलता है।

वीर मित्रोदय राजप्रकरण में सात उपायों का उल्लेख है यथा—

साम भेदस्तथा दानं दण्डश्च मनुजेश्वर ।
उपेक्षा च तथा माया इन्द्रजालं च पार्थिव ॥
उपायाः कथिताः सप्त तन्मे निगदतः शृणु ।

(प्रविश्य)

नटी—आर्य इयमस्मि । आज्ञानियोगेन मामार्योऽनुगृह्णातु ।

सूत्रधारः—आर्ये, तिष्ठतु तावदाज्ञानियोगः । कथय किमद्य भवत्या भगवतां ब्राह्मणानामुपनिमन्त्रणेन कुटुम्बकमनुगृहीतमभिमता वा भवनमतिथयः प्राप्ता यत एव पाकविशेषारम्भः ।

नटी—आर्य, उपनिमन्त्रिता मया भगवन्तो ब्राह्मणाः ।

संस्कृतार्थ—प्रविश्य । रङ्गस्थानमितिशेषः, आर्यपुत्र ! = सूत्रधारस्य सम्बोधनं, आज्ञानियोगेन = आदेशप्रदानेन, अनुगृह्णातु = कृतार्थतां नयतु,

आर्ये इति—आर्ये = मान्ये, तावत् = वाक्यसौन्दर्ये, आज्ञानियोगः = आदेशप्रदानं, तिष्ठतु = आस्ताम् । कथय किमद्य, भवत्या = त्वया, भगवंतां पूज्यानां, ब्राह्मणानां = विप्राणां, उपनिमंत्रणेन = भोजनार्थमादेशेन, एतत् कुटुम्बकं = एष परिवारः, अनुगृहीतम् = कृतार्थितम्, अथवा = उत, अभिमताः = वाञ्छिताः, अतिथयः = अभ्यागताः, भवनं = गृहं, प्राप्ताः = आगताः, यतः = यस्मात् कारणात्, एषः = साक्षात् अवलोक्यमानः, पाकविशेषः आरब्धः ।

भाषार्थ—नटी—रङ्ग शाला में प्रवेश कर, आर्यपुत्र ! मैं यह हूँ, आज्ञा प्रदान कर मुझे कृतार्थ करें ।

सूत्रधार—हे आदर योग्या ! आज्ञा करना तो तब तक दूर रहे पहले यह तो बताओ कि तुमने क्या आज ब्राह्मणों के निमन्त्रण के कारण इन परिजनों को बुलाया है या अपनी इच्छा से ही ये सब अतिथि मेरे घर आये हैं, जिससे यह विशेष रूप से भोजन की तैयारी हो रही है ।

नटी—आर्य ! आज मैंने ब्राह्मणों को निमन्त्रण दिया है ।

व्याकरण—आर्य = ऋ (गतौ) + ण्यत् । भगवताम् = भज् + घ भग + मतुप् + आम् षष्ठी बहुवचन । उपनिमन्त्रणेन = उप + नि + मन्त्र् + ल्युट् + टा । पाकः = पच् + घञ् । अतिथिः—अतति गच्छति न तिष्ठति इति अत् + इथिन् ।

टिप्पणी—मनु के अनुसार—

एकरात्रं तु निवसन्नतिथिर्ब्राह्मणः स्मृतः ।
अनित्यं हि स्थितो यस्मात् तस्मादतिथिरुच्यते ।

आर्यः— क. वाच्यौ नटी सूत्रधारावार्यनाम्ना परस्परम् ।
ख. वयस्येत्युत्तमः वाच्यः मध्यमैरार्य इति चाग्रजः
ग. स्वेच्छया नामभिः विप्रैः विप्रः आर्यः चेतरैः
घ. वक्तव्योऽमात्यः आर्यः चेतरैः ।

सूत्रधारः—कथय कस्मिन् निमित्ते ?

नटी—उबरज्जदि किल भअबं चन्दोत्ति [उपरज्यति किल भगवान् चन्द्र इति]

सूत्रधारः—क एवमाह ?

नटी—एव्वं क्खु णअरवासी जणो मन्तेदि [एवं खलु नगरवासी जनो मन्त्रयति]

सूत्रधारः—आर्य्ये ! कृतश्रमोऽस्मि चतुःषष्टयङ्गे ज्योतिश्शास्त्रे, तत् प्रवर्त्यतां भगवतो ब्राह्मणानुद्दिश्य पाकः, चन्द्रोपरागं प्रति तु केनापि विप्रलब्धासि । पश्य—

संस्कृतार्थ—कस्मिन् निमित्ते = केन निमित्तेन, शशी उपरज्यति = चन्द्रः राहुणा ग्रस्यते,

सूत्रधारः—आर्ये कृतश्रमोऽस्मि इति—हे आर्ये ! चतुःषष्टयङ्गे = चतुःषष्टिः अङ्गानि = प्रतिपाद्यप्रकारा यस्मिन् तथाभूते, ज्योतिश्शास्त्रे = मौहूर्तिके शास्त्रे, कृताभ्यासः = कृतपरिश्रमः, अस्मि = भवामि, तत् = तस्मात् कारणात्, भगवतः = श्रेष्ठान्, ब्राह्मणान् = विप्रान्, उद्दिश्य पाकः प्रवर्त्यताम् = क्रियताम्, चन्द्रोपरागं = चन्द्रग्रहणं प्रति, केनापि = मिथ्यावादिना, विप्रलब्धासि = वञ्चितासि ।

भाषार्थ—सूत्रधार—कहो किस कारण से ।

नटी—भगवान् चन्द्र राहु से ग्रस्त हो रहे हैं ।

सूत्रधार—किसने यह कहा है।

नटी—नगर में रहने वाले लोग ऐसा कहते हैं।

सूत्रधार—हे प्राणप्रिये ! मैंने चौंसठ अङ्ग वाले ज्योतिष् शास्त्र में परिश्रम किया है (अतः मुझे ज्ञात है कि चन्द्रग्रहण कब लगता है।) ब्राह्मणों के लिये पाक चालू रखो, चन्द्रग्रहण की बात से किसी के द्वारा ठगी गई हो।

व्याकरणम्—कस्मिन् निमित्ते "निमित्तपर्यायप्रयोगे सर्वासां प्रायदर्शनम्" इस वार्तिक से तृतीयार्थे सप्तमी। चतुःषष्टि = चतुरधिका षष्टिः, मध्यमपदलोपी समासः। उपरज्यते = उप + रञ्ज् + यक् + लट् (ते प्रत्ययः) ! विप्रलब्धासि = वि + प्र + लभ् + क्त + टाप्। उपरागम् = उप + रञ्ज् + घञ्।

कोष = उपरागो ग्रहो राहुग्रस्ते त्विन्दौ च पूष्णि च"

टिप्पणी—विप्रलम्भो विसंवादे च। इत्युभयत्रामरः।

क्रूरग्रहः सकेतुश्चन्द्रं संपूर्णमण्डलमिदानीम्।
अभिभवितुमिच्छति बलात्— (इत्यर्धोक्ते नेपथ्ये)

आः क एष मयि स्थिते चन्द्रमभिभवितुमिच्छति।

प्रसङ्ग—क्रूरग्रहः सकेतुश्चेति पद्यं "विप्रलब्धासि" इति विसम्वादं अपनेतुं इदानीं चन्द्रोपरागः असम्भवः इत्यभिवर्णनप्रसंगे उद्धृतम्।

अन्वय—क्रूरग्रहः स केतुः इदानीं (चन्द्रमसम्पूर्णमण्डलं) पूर्णमण्डलं चन्द्रमसम्, असम्पूर्णमण्डलं चन्द्रं, बलात् अभिभवितुं इच्छति, तु बुधयोगः एनं रक्षति।

संस्कृतार्थ—चन्द्रपक्षे—

क्रूरग्रहः = भयङ्करः, सः = प्रसिद्धः, केतुः = पृथ्वीछायात्मकः राहुः, इदानीं = अधुना, पूर्णमण्डलं = परिपूर्णबिम्बं, चन्द्रमसं = शशिनं, बलात् = हठात्, अभिभवितुं = ग्रसितुं, इच्छति = वाञ्छति, तु = परं, बुधयोगः = बुधेन तन्नामकेन ग्रहेण, सह = साकं, योगः = सम्बन्धः, एनं = चन्द्रं, रक्षति = राहुग्रसनात् वारयति।

भाषार्थ—पृथ्वी का छाया-पुत्र क्रूर ग्रह राहु इस समय परिपूर्ण मण्डल बिम्ब वाले चन्द्रमण्डल को बलपूर्वक ग्रसित करना चाहता है। किन्तु बुध ग्रह का योग चन्द्रमा को राहु के ग्रसित करने से बचाता है।

द्वितीयोऽर्थः—चन्द्रगुप्तपक्षे—

क्रूरः = भयङ्करः, ग्रहः = ग्रहणं यस्य सः क्रूरग्रहः = राक्षसः कूटव्यवहारासंगः, सकेतुः = केतुना = मलयकेतुना, सह = सार्द्धं वर्तमानः इति सकेतुः मलयकेतुसहितः, असम्पूर्णमण्डलं = अनायत्तीकृतप्रकृतिमण्डलं, चन्द्रं = चन्द्रगुप्तं, बलात् = मित्रसैन्यात् स्वसामर्थ्यात् च, अभिभवितुं = पराजेतुं, इच्छति = अभिलषति, तु = परं, बुधस्य = विदुषः चाणक्यस्य, योगः = सहयोगः, एनं = चन्द्रगुप्तं, रक्षति = त्रायते।

भाषार्थ—भयङ्कर पकड़ वाला राक्षस मलयकेतु के साथ मिलकर प्रजा को अभी तक वश में न कर सकने वाले चन्द्रगुप्त को बड़ी भारी मलयकेतु की सेना से पराजित करना चाहता है, परन्तु राजनीति-पटु चाणक्य का सहयोग इसकी रक्षा करता है।

व्याकरण—अभिभवितुम् = अभि + भू + इट् + तुमुन्! असम्पूर्णमण्डलम् = असम्पूर्णः मण्डलः यस्य तं बहुव्रीहिसमास। बलात् = "ल्यब्लोपे कर्मण्यधिकरणे च" से पंचमी हुई है।

कोष = बलं = स्थौल्यसामर्थ्यसैन्येषु बलम् इत्यमरः। मण्डलम् = "बिम्बोऽस्त्री मण्डलं त्रिषु" अमरः।

छन्द—आर्या नाम छन्दः।

अलंकार—"क्रूरग्रहः" अभंगश्लेषः, चन्द्रमसम्पूर्णमण्डलं यहाँ सभंगश्लेष अलंकार है। नाट्यशास्त्र-निर्माता ने ऐसे स्थलों पर "श्लेषगण्ड" नामक नाटकालंकार माना है।

द्व्यर्थत्वादत्र वाक्यानां श्लेषेणार्थः प्रतीयते।
शब्दभङ्ग्यानुपात्तोऽपि श्लेषगण्डः स उच्यते॥

रीति—लाटी "लाटी तु रीतिर्वैदर्भीपाञ्चाल्योरन्तरे स्थिता"

गुण—ओजः "ओजश्चित्तस्य विस्ताररूपं दीप्तत्वमुच्यते।

भाषार्थ—(नेपथ्य में) आः यह कौन है जो मुझ चाणक्य के रहते हुए अर्थात् मेरा अनादर करके चन्द्रगुप्त का तिरस्कार करना चाहता है।

टिप्पणी—मण्डल = प्रकृतिमण्डल के निम्नांकित सात अंग होते हैं—स्वामी, अमात्य, सुहृद्, कोष, राष्ट्र, दुर्ग, सैन्य। जब ये अंग शक्तिशाली नहीं होते तब राजा "असम्पूर्णमण्डल" होता है, अभी चन्द्रगुप्त इसी प्रकार का राजा है।

सकेतु—राहु और केतु दो जुड़वाँ ग्रह हैं, जिनका एक ही शरीर है, शिरोभाग राहु कहलाता है, शेष भाग केतु। राहु चन्द्रमा को ग्रसता है और केतु सूर्य को। पूर्णिमा के दिन चन्द्रग्रहण होता है तथा अमावस्या को सूर्य-ग्रहण, जैसा कि कहा है "पूर्णिमा प्रतिपत्सन्धौ ग्रस्यते राहुणा शशी"

ग्रह नौ हैं "सूर्यश्चन्द्रो मंगलश्च, बुधश्चापि बृहस्पतिः।
शुक्रः शनैश्चरो राहुः, केतुश्चेति ग्रहा नव॥

आः—क्रोधसूचक अव्यय पद है।

सूत्रधारः—"—(१) रक्षत्येनं तु बुधयोगः ॥६॥

नटी—अज्ज! को उण एसो धरणिगोअरो भविअ चन्दं ग्गहाभिजोआदो रक्खिदुं इच्छदि? (आर्य! कः पुनरेष धरणिगोचरो भूत्वा चन्द्रं ग्रहाभियोगाद्रक्षितुमिच्छति?)

संस्कृतार्थ—"रक्षत्येनं तु बुधयोगः" अस्य चतुर्थपादस्य व्याख्यानं क्रूरग्रहः इत्यादिपद्येन सहैव द्रष्टव्यम्।

रङ्गस्थले सूत्रधारवाक्यानन्तरं नटी पृच्छति सूत्रधारम्, आर्य! = मान्य! कः = किन्नामधेयः, एष पुनः = अयं, यः धरणिगोचरः = भूमिस्थः, सन् = भवन्, चन्द्रं = इन्दुं, ग्रहाभियोगात् = राहुग्रासात्, रक्षितुं = त्रातुं इच्छति = अभिलषति।

भाषार्थ—नाट्यशाला में सूत्रधार के "रक्षत्येनं तु बुधयोगः" इस वाक्य के बाद नटी पूछती है। हे आर्य! यह कौन पुरुष है जो पृथ्वी पर रहता हुआ चन्द्रमा को राहुग्रहण से बचाना चाहता है।

व्याकरणम्—धरणिगोचरः = धरण्यां पृथिव्यां गोचराः इन्द्रियार्थाः यस्य सः बहुव्रीहिसमासः । धृ + अनि = धरणि + ङीष् = धरणी, गम् + डो, चर् + टः = गोचरः "गमेर्डोः" "चरेष्टः" इन सूत्रों से गो में डो प्रत्यय तथा चरः में टः प्रत्यय हुआ ।

नटी = नट् + अच् = नट + ङीष् = नटी

कोषः—"गोचराः इन्द्रियार्थाश्च" इत्यमरः ।

"स्वर्णेऽपि भूरिचन्द्रौ द्वौ" अर्थात् सोना-चन्द्रमा-सुन्दर-कवीला-पानी ये पाँच अर्थ चन्द्र के होते हैं ।

टिप्पणी—यद्यपि गोचर शब्द "गोरिति पृथिव्याः नामधेयं तत्र चरति" इस विग्रह से गो पृथ्वीवाचक शब्द है उसमें गमन करने वाला अर्थात् गोचर, भूमिस्थ यह अर्थ गोचर का ही है, पुनः "धरणिगोचर" में धरणि शब्द पुनरुक्त सा प्रतीत है । तथापि कर्णकुण्डल-पुष्पमाला-जघन-काञ्ची, आदि शब्दों की तरह उत्कर्षत्वादि बोध के समान धरणि शब्द भी केवल पृथ्वी पर होने वाला इस अर्थ का बोधक है । अतः केवल भूतलवर्ती जन आकाशस्थ चन्द्र की कैसे रक्षा कर सकता है, अर्थात् ऐसा करना असम्भव है !

सूत्रधारः—यत्सत्यं मयापि नोपलक्षितः । भवतु । भूयोऽभियुक्तः स्वरव्यक्तिमुपलप्स्ये । ('क्रूरग्रहः—' इत्यादि पुनस्तदेव पठति । (नेपथ्ये) आः क एष मयि स्थिते चन्द्रगुप्तमभिभवितुमिच्छति ।

सूत्रधारः—(आकर्ण्य) आर्ये, ज्ञातम् । कौटिल्यः ।

संस्कृतार्थ—आर्ये ! यत् धरणिगोचरः जनः चन्द्रं ग्रहाभियोगात् रक्षितुं न समर्थः तत् सत्यमेव, मया = सूत्रधारेण, अपि = कोऽसौ इति न, उपलक्षितः = ज्ञातः । भवतु = अस्तु, भूयः = पुनः, अभियुक्तः = सावधानः, स्वरव्यक्ति = कण्ठस्वरेण, व्यक्ति = स्पष्टतां वक्तारं जनं वा, उपलक्ष्ये = ज्ञास्यामि ।

आः इति—कः एष = किन्नामाभिधेयः असौ, यो मय = चाणक्ये, स्थिते = विद्यमाने सति, चन्द्रगुप्तं = वृषलं, बलात् = बलपूर्वकं, पराभवितुं = तिरस्कर्तुं, इच्छति = अभिलषति ।

आकर्ण्येति—आकर्ण्य = निशम्य श्रुत्वा इत्यर्थः, आं = किञ्चित् स्मृत्वा,

ज्ञातम् = उपलक्षितन्, कौटिल्यः = चाणक्यः, अर्द्धोक्ते नटी भयं = त्रासं; नाटयति = अभिनयति व्यञ्जयति इत्यर्थः ।

भाषार्थ—सूत्रधार—हे देवि ! मैंने भी उसको अच्छी तरह नहीं पहचाना कि वह कौन है । अच्छा, पुनः सावधान होकर स्वर-संयोग से कहने वाले को पहचानता हूँ । क्रूरग्रहः—इत्यादि श्लोक फिर वही व्यक्ति पढ़ता है ।

नेपथ्य में

आः यह कौन पुरुष है, जो मेरे रहते हुए चन्द्रगुप्त का तिरस्कार करना चाहता है ।

सूत्रधार—सुनकर, तथा कुछ स्मरण-सा करके, आर्ये मैंने उसे पहचान लिया, चाणक्य है । (नटी चाणक्य का नाम सुनकर कुछ भयभीत होती है)

व्याकरण—उपलक्षितः = उप + लक्ष् + क्तः । आः = क्रोधसूचक अव्यय ।

आ = एवं स्वीकारार्थक अव्यय । अभियुक्तः = अभि + युज् + क्त ।

कोषः—सत्यं शपथतथ्ययोः इत्यमरः ।

टिप्पणी—यहाँ "अन्तर्जवनिकासंस्थैः सूचनार्थस्य चूलिका" इस साहित्य-दर्पणोक्त लक्षण से नेपथ्य में स्थित चाणक्य द्वारा नाटकीय कथावस्तु की सूचना दी गई है, अतः प्रस्तावना के अन्तर्गत ही चूलिका का प्रयोग है ।

(इत्यर्द्धोक्ते नटी भयं नाटयति) ।

सूत्रधारः—कौटिल्यः कुटिलमतिः स एष येन
क्रोधाग्नौ प्रसभमदाहि नन्दवंशः ।
चन्द्रस्य ग्रहणमिति श्रुतेः सनाम्नो
मौर्य्येन्दोर्द्विषदभियोग इत्यवैति (१) ॥७॥

तदित आवां गच्छावः । (निष्क्रांतौ ।)

इति प्रस्तावना

संस्कृतार्थ—कौटिल्यः कुटिलमतिः इति—

प्रसङ्ग—पद्यमिदं नेपथ्ये स्थितं क्रूरग्रहः सकेतुश्चेति पद्यं पठन्तं चाणक्यं स्वरसंयोगेनाभिज्ञाय भयभीतयोः नटीसूत्रधारयोः रङ्गभूमेः प्रस्थानप्रसङ्गे समुद्धृतम् ।

अन्वय—एषः सः कुटिलमतिः कौटिल्यः, येन क्रोधाग्नौ नन्दवंशः प्रसभम् अदाहि । चन्द्रस्य ग्रहणं इति श्रुतेः सनाम्नः मौर्येन्दोः द्विषदभियोगः इत्यवैति ।

संस्कृतार्थ—एषः = नेपथ्यस्थः, सः = प्रसिद्धः, कुटिलमतिः = क्रूर-स्वभावः, कौटिल्यः = चाणक्यः, अस्तीति शेषः, येन = चाणक्येन, क्रोधाग्नौ = कोपानले, नन्दवंशः = नन्दकुलं, प्रसभं = हठात्, अदाहि = दग्धः, भस्मसात्कृतः । यथोक्तं पुराणे नव नन्दाः भविष्यन्ति चाणक्यो यान् हनिष्यति । चन्द्रस्य ग्रहणं इति श्रुतेः = श्रवणात्, सनाम्नः = तुल्याख्यस्य, मौर्येन्दोः = चन्द्रगुप्तस्य, द्विष-दभियोगः = द्विषता = शत्रुणा, मलयकेतुना राक्षसेन च, अभियोगः = आक्रमणं, इत्यवैति = एवं जानाति ।

भाषार्थ—नेपथ्य के अन्दर यह वह प्रसिद्ध क्रूर बुद्धि वाला कौटिल्य है जिसने अपनी क्रोधाग्नि में नन्दवंश को बलपूर्वक जला दिया । वह चन्द्रग्रहण से समानार्थक नाम वाले चन्द्रगुप्त पर शत्रु के आक्रमण की आशंका करता है ।

तो हम यहाँ से चलें (नटी और सूत्रधार दोनों जाते हैं)

व्याकरण—सनाम्नः = समानं नाम यस्य तस्य बहुव्रीहिसमासः, समान को ज्योतिर्जनपदे आदि सूत्र से 'स' आदेश । मौर्येन्दोः = मुरायाः अपत्यं पुमान् मौर्यः, सः इन्दुरिव तस्य, मुरा + ण्यः ; द्विषता = द्विष् + शतृ + टा "द्विषोऽमित्रे" से शतृ प्रत्ययः । प्रस्तावना = प्रस्तूयते अनयेति प्र + ष्टुञ् + णिच् + युच् (युवोरनाकौ) से यु को अनादेशः । श्रुतेः = श्रु—क्तिन्, हेतौ पंचमी ।

कोष—आकल्पवेशौ नेपथ्यम् । प्रसभम् = प्रसभं बलात्कारो हठः । अभियोगस्त्वभिग्रहः । इति सर्वत्रामरः ।

अलङ्कार—यहाँ "क्रोधाग्नौ" में क्रोध में अग्नि का आरोप होने से, नन्द-वंशः में वंश में बाँस का आरोप होने से, तथा वंश शब्द के श्लिष्ट होने से श्लिष्टपरम्परित रूपक अलंकार है । मौर्यः इन्दुरिव, में उपमा अलंकार है । तथाहिः—

"रूपकं रूपितारोपाद्विषये निरपह्नवे"
तत्परम्परितं साङ्गं निरङ्गमिति च त्रिधा ।।

छन्द—प्रहर्षिणीवृत्तम् "म्नौ ज्रौ गः त्रिदशयतिः प्रहर्षिणीयम् ।" यह

छंद १३ अक्षर का ३—१० पर विराम तथा मगण-नगण-जगण-रगण तथा एक ऽ गुरु अक्षर होता है।

रीति—पाञ्चाली।

गुण—ओजः

टिप्पणी—प्रस्तावना का लक्षण—

नटी विदूषको वापि पारिपार्श्वक एव वा
सूत्रधारेण सहिताः संलापं यत्र कुर्वते
आमुखं तत्तु विज्ञेयं नाम्ना प्रस्तावनाऽपि सा।

यहाँ उद्घात्यक या कथोद्घातरूपा प्रस्तावना है। लक्षणम्—

पदानि त्वगतार्थानि तदर्थगतये नराः।
योजयन्ति पदैरन्यैः स कथोद्घात्यक उच्यते॥

आः क एष इत्यादि उक्ति से चाणक्य का प्रवेश के कारण या 'रक्षत्येनं तु बुधयोगः' इस सूत्रधार की उक्ति से चाणक्य का प्रवेश होने के कारण "कथोद्घात" प्रस्तावना है।

इस पद्य के चतुर्थ पाद में इत्यवैति पद के स्थान में इत्युपैति पाठान्तर भी है जिससे चाणक्य रंगस्थान में आ रहा है ऐसा अर्थ होगा तथा चाणक्य-आगमन के कारण नटी और सूत्रधार का (निष्क्रान्तौ) भाग जाना संगत है।

इति प्रस्तावना

(ततः प्रविशति शिखां परामृशन्सकोपः चाणक्यः)

चाणक्यः—आः क एष मयि स्थिते चन्द्रगुप्तमभिभवितुमिच्छति।

आस्वादितद्विरदशोणितशोणशोभां
संध्यारुणामिव कलां शशलाञ्छनस्य।
जृम्भाविदारितमुखस्य मुखात्स्फुरन्तीं
को हर्तुमिच्छति हरेः परिभूय दंष्ट्राम्॥८॥

ततः प्रविशतीति—मुक्तां = अबद्धां, शिखां = चूडां, परामृशन् = स्पृशन्, चाणक्यः = कौटिल्यः, प्रविशति = समागच्छति रङ्गभूमिम्। चाणक्यः = कथय किन्नामधेयः सः यः मयि = चाणक्ये, स्थिते = जीवति, चन्द्रगुप्तं = मौर्यं,

अभिभवितुं = तिरस्कर्तुं, इच्छति = वाञ्छति, बलात् ।
आस्वादित इति—

प्रसङ्ग—कविविशाखदत्तकृतं पद्यमिदं चाणक्यमुखेन सराक्षसं मलयकेतुकर्तृकं चन्द्रगुप्तातिक्रमणं असम्भवं इति वर्णनप्रसङ्गेऽत्रोद्धृतम् ।

अन्वय—कः जृम्भाविदारितमुखस्य हरेः मुखात् आस्वादितद्विरदशोणितशोणशोभां शशलाञ्छनस्य सन्ध्यारुणां कलामिव स्फुरन्तीं हरेः दंष्ट्रां परिभूय हर्तुं इच्छति ।

संस्कृतार्थ—कः = जनः, जृम्भया = जृम्भणेन, विदारितमुखस्य = प्रसारिताननस्य, हरेः = सिंहस्य, मुखात् = वदनात्, द्विरदस्य = गजस्य, आस्वादितेन = पीतेन, शोणितेन = रुधिरेण, शोणशोभां = रक्ताभां, शशलालाञ्छनस्य = चन्द्रस्य, सन्ध्यारुणां = सन्ध्यारागवत् अरुणां = रक्तवर्णां, कलामिव = षोडशांशमिव, स्फुरन्तीं = प्रकाशमानां, हरेः = सिंहस्य, दष्ट्रां = दशनं, परिभूय = सिंहं पराजित्य, हर्तुं = उत्पाटयितुं, इच्छति = अभिलषति ।

भाषार्थ—कौन मनुष्य जम्भाई लेने के कारण खोले हुए मुख वाले सिंह के मुख से हाथी के पान किये रक्त से रक्तवर्ण सन्ध्याराग की तरह लाल चन्द्रमा की कला की तरह सिंह को जीत कर उसकी दाढ़ को उखाड़ना चाहता है ।

व्याकरण—द्विरदस्य = द्वौ रदौ यस्य सः द्विरदः तस्य बहुव्रीहिसमासः ।

द्विरदशोणितं = द्विरदस्य शोणितं षष्ठीतत्पुरुषसमासः ।

आस्वादितद्विरदशोणितं = आस्वादितं च तत् द्विरदशोणितं कर्मधारयः ।

शशलाञ्छनस्य = शशः लाञ्छनं यस्य सः तस्य बहुव्रीहिसमासः ।

दंष्ट्राम् = दंश् + ष्ट्रन्, "दाम्नीशस्" इत्यादि सूत्र से करण अर्थ में ष्ट्रन् प्रत्यय ।

शोणितशोणशोभाम् = शोणितेन शोणा शोभा यस्याः तां व्यधिकरणबहु० ।

परिभूय = परि + भू + क्त्वा (ल्यप्) ।

कोष—द्विरदः = "द्विरदोऽनेकपो द्विपः" ।

कला = कलातु षोडशो भागः । शोणः = शोणः कोकनदच्छविः ।

हरिः = हर्यक्षः केसरी हरिः, सर्वत्रामरकोषः ।

अलङ्कार—अप्रस्तुतप्रशंसा, "अप्रस्तुतात् प्रस्तुतं चेद्गम्यते साऽप्रस्तुत-प्रशंसा पञ्चधा ततः । यहाँ अप्रस्तुत सिंह वर्णन से प्रस्तुत चाणक्य वर्णन होने के कारण अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार है । "कलामिव" यहाँ उपमा अलंकार है ।

छन्द—वसन्ततिलकं वृत्तम्

"ज्ञेयं वसन्ततिलकं तभजा जगौ गः" इति लक्षणात् ।

गुण = ओजः "ओजश्चित्तस्य विस्ताररूपं दीप्तत्वमुच्यते ।

रीति = गौडी "ओजः प्रकाशकैः वर्णैः बन्ध आडम्बरः पुनः, समास-बहुला गौडी । पाञ्चाली रीतिः "समस्तपञ्चषपदा पांचाली । इत्यन्ये ।

टिप्पणी—यहाँ मुझ सिंह के समान अत्यन्त क्रूर स्वभाव वाले चाणक्य को तिरस्कृत कर चन्द्रगुप्त की लक्ष्मी को राक्षस अपहरण करना चाहता है, ऐसा अर्थ ध्वनित होता है ।

इस पद्य में "शेर के मुख से दाढ निकालना चाहता है का सिंहस्वरूप चाणक्य के मुख से दन्त रूप चन्द्रगुप्त को छीनना कौन चाहता है" गूढ़ार्थ है ।

मुक्तां शिखाम् परामृशन्—चाणक्य को नन्दवंश का नाश कर शिखाबन्धन कर लेना चाहिये था फिर भी शिखा का मुक्त होना किसी अन्य प्रतिज्ञा का स्मारक है चन्द्रगुप्त को स्थिर करना, मलयकेतु को मारना तथा राक्षस को जीवित पकड़ना अभी शेष कार्य हैं ।

अपि च

नन्दकुलकालभुजगीं कोपानलबहुललोलधूमलताम् ।
अद्यापि बध्यमानां वध्यः को नेच्छति शिखां मे ॥९॥

प्रसङ्ग—नन्दवंशक्षयेऽपि बध्यमानां मम चाणकस्य शिखां कोऽन्यः मुमूर्षुः अद्यापि शिखाबन्धनं नेच्छति, इतिवर्णनप्रसंगे पद्यमिदमुद्धृतम् ।

अन्वय—कः वध्यः नन्दकुलकालभुजगीम्, कोपानलवहललोलधूम-लताम्, मे शिखाम्, अद्यापि बध्यमानाम् न इच्छति ।

संस्कृतार्थ—कः = अन्यः, वध्यः = हन्तुं योग्यः, नन्दकुलस्य = नन्द-वंशस्य, कालभुजगीं = कालसर्पिणीम्, कोपः = क्रोधः, एवानलः = वह्निः तस्य कोपानलस्य, बहुलां = अधिकां, लोलां—चञ्चलां, धूमलतां = कृष्णवर्णां, मे =

मम चाणक्यस्य, शिखां = चूड़ां, अद्यापि = नन्दवंशक्षयेऽपि, अपि = प्रश्ने, बध्यमानां = संयम्यमानां, नेच्छति = नाभिलषति ।

भावार्थ—नहि मलयकेतुवधमन्तरा राक्षसनिग्रहमन्तरा 'च' मे शिखाबन्धनं भविष्यतीति भावः ।

भाषार्थ—नन्द-वंश के किये काली नागिन के समान और क्रोधाऽनल-सी चञ्चल घूमलता रूपी मेरी चोटी को कौन मुमूर्षु अब भी बँधी हुई नहीं चाहता है ।

व्याकरणम् —वध्यः = वधं अर्हति इति विग्रहे "अर्हे कृत्यतृचश्चेति यत् हन्तुं योग्यः इत्यर्थे "हनो वा यद्वधश्च वक्तव्यः" इस नियम से, हन (वधादेश) + यत् । बध्यमानाम् = बन्ध् + यक् + शानच् + टाप् + अम् ।

कोष—गर्हासमुच्चयप्रश्नशङ्कासम्भावनास्वपि इत्यमरः । अपि के निन्दा, समुच्चय, प्रश्न, शङ्का, सम्भावना ये ६ अर्थ होते हैं ।

अलंकार—माला रूपक अलंकार है "रूपकं रूपिता रोपात् विषये निरपह्नवे । यहाँ शिखा में कालभुजगीत्व, घूमलतात्व, कोपानलत्व का आरोप है ।

छन्द—आर्या छन्द है ।

गुण—ओजः ।

रीति—गौडी ।

टिप्पणी—"बहुललोल" के स्थान पर "बहुलनील" पाठान्तर भी है ।

"वध्यः कः" पद से मलयकेतु का निर्देश किया गया है ।

अपि च—

उल्लङ्घयन् मम समुज्ज्वलतः प्रतापं कोपस्य नन्दकुलकाननधूमकेतोः ।
सद्यः परात्मपरिणामविवेकमूढः कः शालभेन विधिना लभतां विनाशम् ? ॥१०॥

प्रसङ्ग—नन्दान्वयनाशेऽपि कोऽन्यः जनः भूयः शलभतां लब्धुकामः इति वर्णनप्रसंगे वीररसपूर्णं पद्यमिदमुद्धृतम् ।

अन्वय—नन्दकुलकाननधूमकेतोः समुज्ज्वलतः मम कोपस्य प्रतापं

उल्लङ्घयन् परात्मपरिणामविवेकमूढः कः शालभेन विधिना सद्यः विनाशं लभताम् ।

संस्कृतार्थ—नन्दकुलं = नन्दान्वयः, तदेव काननं = वनं तस्य धूमकेतुः = अग्निः, तस्य समुज्ज्वलतः = जाज्वल्यमानस्य, मम = मदीयस्य कोपस्य = क्रोधस्य, प्रतापं = उग्रत्वं, उल्लङ्घयन् = अतिक्रामन्, परस्य = शत्रोः, आत्मनः = स्वस्य, परिणामे = फले, विवेकमूढः = ज्ञानशून्यः, कः = जनः, शालभेन विधिना = पतङ्गरीत्या—वह्निप्रवेशात्मकेन व्यापारेण, सद्यः = सत्वरं, विनाशं क्षयं, लभताम् = प्राप्नोतु ।

भावार्थ—यः मम शासनं अवमत्य स्वेच्छापूर्वकं कार्यं करिष्यति सः नूनं पतङ्ग इव मम कोपानले विनंक्ष्यतीतिभावः ।

भाषार्थ—नन्दवंशरूपी वन के लिये अग्नि के समान प्रज्वलित मेरे क्रोध के प्रताप का उल्लंघन करता हुआ, पराये और अपने की अन्तिम दशा के विचार से शून्य कौन-सा पुरुष पतंगे के समान मरना चाहता है ।

व्याकरण—नन्दस्य कुलं तदेव काननं तस्य धूमकेतुः तस्य षष्ठी तत्पुरुष समासः । समुज्ज्वलतः = सम् + उत् + ज्वल् + शतृ + ङस् षष्ठी एकवचन । शालभेन + शलभस्यायं शालभः तेन + शलभ् + अण् ।

कोष—धूमकेतुः अग्न्युत्पातौ धूमकेतू इत्यमरः । समौ पतंगशलभौ इति-चामरः ।

अलंकार—यहाँ नन्द कुल पर कानन का आरोप तथा कोप पर वह्नि का आरोप होने से परम्परितरूपकालङ्कार है ।

गुण—ओजः, रीतिश्चात्र गौडी, वसन्ततिलकावृत्तम् ।

टिप्पणी—धूमकेतुः—भविष्य में होने वाले उत्पात का सूचक तारा विशेष ।

चाणक्य—शार्ङ्गरव शार्ङ्गरव !

(प्रविश्य)

शिष्यः—उपाध्याय ! आज्ञापयतु ।

चाणक्यः—वत्स! उपवेष्टुमिच्छामि ।

शिष्यः—उपाध्याय ! नन्वियं सन्निहितवेत्रासनैव द्वारप्रकोष्ठशाला । तदस्यामुपवेष्टुमर्हत्युपाध्यायः ।

चाणक्यः—वत्स ! कार्याभिनियोग एवास्मान् व्याकुलयति, न पुनरुपाध्यायसहभूः शिष्यजने दुःशीलता । (नाट्येनोपविश्यात्मगतम्) कथं प्रकाशतां गतोऽयमर्थः पौरेषु, यथा किल नन्दकुलविनाशजनितरोषो राक्षसः पितृवधामर्षितेन सकलनन्दराज्यपरिपणनप्रोत्साहितेन पर्वतकपुत्रेण मलयकेतुना सह सन्धाय तदुपगृहीतेन च महता म्लेच्छराजबलेन परिवृतो वृषलमभियोक्तुमुद्यत इति (विचिन्त्य) अथवा येन मया नन्दवंशवधं सर्वलोकप्रकाशं प्रतिज्ञाय निस्तीर्णा दुस्तरा प्रतिज्ञासरित् सोऽहमिदानीं प्रकाशीभवन्तमप्येनमर्थं न समर्थः किं प्रशमयितुम् ?

शारंगरव ! शारंगरव !

शिष्य—रङ्ग स्थान में प्रवेश करके, उपाध्याय आज्ञा दीजिये ।

चाणक्य—वत्स ! मैं बैठने की इच्छा करता हूँ ।

शिष्य—उपाध्याय ! यह द्वारप्रदेश में आसन रखा है, उस पर बैठिये ।

चाणक्य—वत्स कार्याभिनियोग इति :—

कार्ये = शत्रुसङ्ग्रहणे, अभियोगः = अभिनिवेशः, आसक्तिः इत्यर्थः, अस्मान् = नः, आकुलयति = व्याकुलं करोति । न पुनः = न तु भूयः, उपाध्यायसहभूः = उपाध्यायानां अध्यापकानां, सहभूः = सहजा स्वाभाविकी वा, शिष्यजने = अन्तेवासिनि, दुश्शीलता = क्रूराचारः न आकुलयति । (नाट्येन = अभिनयेन, उपविश्य = स्थित्वा, आत्मगतम् = स्वमनसि) ।

कथं = केन प्रकारेण, अयमर्थः = अयं सम्वादः, पौरेषु = पुरवासिषु जनेषु प्रकाशतां = ख्यातिं, गतः = प्राप्तः ।

यथा किल = नन्दानां, कुलस्य = वंशस्य, विनाशेन = क्षयेण, जनितः = उत्पन्नः, रोषः = क्रोधः, यस्य तादृशः, राक्षसः = तदाख्यः प्रधानमन्त्री, पितुः = जनकस्य पर्वतकस्य इत्यर्थः, वधेन = हननेन, अमर्षितेन = क्रुद्धेन, सकलं = सम्पूर्णं, नन्दराज्यं, तदेव परिपणनं = मूलधनं, तेन प्रोत्साहितेन = जनितोत्साहेन, पर्वतकपुत्रेण, मलयकेतुना, सह = साकं, सन्धाय = सन्धिं कृत्वा,

तदुपगृहीतेन = सम्भृतेन, म्लेच्छराजसैन्येन, परिवृतः = परिवेष्टितः, वृषलं = चन्द्रगुप्तं, अभियोक्तुं = आक्रमितुं, उद्यतः = कृतोद्योगः अस्तीति शेषः ।

भाषार्थ—चाणक्य—वत्स ! कार्य की अधिकता ही मुझे व्याकुल करती है न कि शिष्यों पर होने वाली उपाध्याय की स्वाभाविक क्रूरता । (विचित्र व्यापार से बैठ कर मन ही मन) यह समाचार नगर-निवासियों में किस तरह फैल गया कि सम्पूर्ण नन्द-कुल के नाश से क्रुद्ध राक्षस, पिता के वध से क्रुद्ध तथा सम्पूर्ण नन्दराज्य के लोभ से उत्साहित पर्वतराज के पुत्र मलयकेतु से सन्धि कर उससे एकत्रित सेना से परिवेष्टित चन्द्रगुप्त पर चढ़ाई करने के लिये उद्यत है ।

संस्कृतार्थ—(विचिन्त्य) अथवा येन मया = चाणक्येन, सर्वलोकप्रकाशं = सकलजनविदितं, नन्दवंशवधं = नन्दकुलनाशं, प्रतिज्ञाय = प्रतिश्रुत्य, दुस्तरा = दुःखेन ततुँ योग्या, प्रतिज्ञा = प्रतिश्रुत्, एव सरित् = नदी, निस्तीर्णा = समुत्तीर्णा—पारंगता, सोऽहं = चाणक्यः, इदानीं = सम्प्रति, प्रकाशीभवन्तं = अप्रकाशं प्रकाशं सम्पद्यमानं, एनमर्थं = आक्रमणरूपार्थं, प्रशमयितुं = शान्तयितुं, किं न समर्थः = किं न क्षमः, इति ।

भाषार्थ—विचार कर, अथवा जैसे मैंने सब लोगों के सामने नन्द-वंश के नाश की प्रतिज्ञारूपी नदी को पार कर लिया, वैसे मैं क्या इस प्रचलित किंवदन्ती को व्यर्थ करने के लिये समर्थ नहीं हूँ ।

व्याकरण—सह भवति उत्पद्यते इति सहभूः, सह + भू + क्विप् ।

उपाध्याय—उपेत्य अधीते अस्मात्, उप + अधि + इङ् + घञ् ।

परिपणनम्—परि + पण् + ल्युट् । "युवोरनाकौ" सूत्र से यु को अनादेश ।

वृषलम्—वृषं धर्मं लाति आदत्ते इति वृषलः तं, अथवा वृषं लाति नाशयति इति वृषलः शूद्रः, मुरा नाम की दासी से उत्पन्न होने के कारण चन्द्रगुप्त को वृषल कहा गया है ।

प्रकाशीभवन्तम्—अप्रकाशं प्रकाशं सम्पद्यमानं इति, प्रकाश + च्वि + भू + शतृ + अम् । म्लेच्छराजः—म्लेच्छानां राजा, तत्पुरुषः, राजन् + टच् ।

कोष—"नीवी परिपणो मूलधनं" इत्यमरः ।

"उपाध्यायोऽध्यापकोऽथ" अमरः

एकदेशं तु वेदस्य वेदाङ्गान्यपि वा पुनः ।
योध्यापयति वृत्त्यर्थमुपाध्यायः स उच्यते ॥ मनुः

आत्मगतम् यत्तु श्राव्यं न सर्वस्य स्वगतं तदिहोच्यते ।

"वार्तासम्भाव्योः किल" किल के वार्ता—सम्भावना के योग्य—हेतु—झूठा—अरुचि पाँच अर्थ होते हैं।

कुतः । यस्य मम—

श्यामीकृत्याननेन्दूनरियुवतिदिशां सन्ततैः शोकधूमैः
कामं मन्त्रिद्रुमेभ्यो नयपवनहृतं मोहभस्म प्रकीर्य ।
दग्ध्वा सम्भ्रान्तपौरद्विजगणरहितान् नन्दवंशप्ररोहान्
दाह्याभावान्न खेदाज्ज्वलन इव वने शाम्यति क्रोधवह्निः ॥१॥

प्रसङ्ग—श्यामीकृत्येति पद्यं परमविदुषः चाणकस्य पराक्रमवर्णनप्रसङ्गेऽत्रोद्धृतम् ।

अन्वयः—(यस्य मम) अरि युवतिदिशां आननेन्दून् संततैः शोकधूमैः श्यामीकृत्य मन्त्रिद्रुमेभ्यः नयपवनहृतं कामं मोहभस्म प्रकीर्य सम्भ्रान्तपौरद्विजगणरहितान् नन्दवंशप्ररोहान् दग्ध्वा वने ज्वलन इव क्रोधवह्निः दाह्याऽभावात् शाम्यति खेदात् न ।

संस्कृतार्थ—यस्य मम = चाणक्यस्य, क्रोधवह्निः = कोपानलः, अरीणां = शत्रूणां, युवतयः = स्त्रियः, ताः एव दिशः = आशाः, तासां आननानि = मुखानि, एव इन्दवः = शशिनः, तान् संततैः = अविच्छिन्नैः, शोकैः = खेदैः, एव धूमैः = धूम्रैः, श्यामीकृत्य = मलिनीकृत्य, मन्त्रिणः = सचिवाः, एव द्रुमाः = वृक्षाः, तेभ्यः नयः = नीतिरेव, पवनः = वायुः, तेन हृतं = आनीतं, कामं पर्याप्तं, मोहः = अज्ञानं, एव भस्म, तत् प्रकीर्य = प्रक्षिप्य, सम्भ्रान्ताः = मान्याः, ये पौराः = नगरनिवासिनः, द्विजगणाः = ब्राह्मणक्षत्रियविशसमूहाः, तैः रहितान् = शून्यान्, नन्दवंशस्य = नन्दान्वयस्य, प्ररोहान् = अंकुरान्, तद्वंश्यान् आबालवृद्धान्, दग्ध्वा = भस्मसात् कृत्वा, अथवा सम्भ्रान्तः

=उद्विग्नाः, ये द्विजगणाः = पक्षिसमूहाः, तैः रहितान् = व्यतिरिक्तान्, नन्द-वंशः एव वंशः = वेणुः तत्प्ररोहान् = अंकुरान्, दग्ध्वा, वने अरण्ये, ज्वलन इव = दावानल इव, क्रोधवह्निः = कोपानलः, दाह्यस्य = दग्धुं योग्यस्य वस्तुनः, अभावात् = अविद्यमानत्वात्, शाम्यति = विरमति, खेदात् = परिश्रमात्, न विरमति ।

भावार्थ—यथा वने दावानलः द्विजगणान् विहगवृन्दान् विहाय वंशादि-वृक्षव्यूहान् दग्ध्वा दिगाननं धूमैः संच्छाद्य स्वयं शाम्यति, तथैव चाणक्यस्यापि कोपानलः नन्दवंश्यान् आबालवृद्धान् आमूलचूलं विनाश्य शाम्यति इति भावः ।

भाषार्थ—जिस मुझ चाणक्य के—शत्रुओं की स्त्री रूपी दिशाओं के मुख चन्द्र को निरन्तर शोक रूप धुँओं से मलिन बनाकर, मन्त्री रूपी वृक्षों के लिये नीति रूपी वायु से फेंकी गई पर्याप्त मोहरूपी भस्म को फैलाकर अर्थात् अपनी नीति से राक्षसादि मन्त्रियों को प्रतीकार करने मे असमर्थ बनाकर मान्य नागरिकों को छोड़ नन्दवंश के आबालवृद्धों को नाश कर जिस प्रकार बन में दावानल बाँस के पौदों को जलाकर शान्त हो जाती है उसी प्रकार मेरी क्रोधाग्नि अब दाह्य वस्तु न रहने के कारण शान्त हो रही है, थक जाने के कारण नहीं । ॥११॥

व्याकरण—सन्ततैः = सम् + तनु + क्त + भिस् तृतीयाबहुवचनम् । श्यामीकृत्य = अश्यामान् श्यामान् कृत्वा इति विग्रहे, अभूततद्भावे च्विः" श्यामी कृत्वा इति "अनजः समासे क्त्वोः ल्यप् ।

प्रकीर्य = प्र + कृ (विक्षपे) + क्त्वा (ल्यप्) । मन्त्रिद्रुमेभ्यः "क्रियया यमभिप्रैति सोऽपि सम्प्रदानम्" से चतुर्थी विभक्तिः ।

ज्वलनः = ज्वल्...ल्युट् "युवोरनाकौ" से अनादेशः ।

कोषः—दिशस्तु ककुभः काष्ठा आशाश्च हरितश्च ताः । इत्यमरः ।

"दन्तविप्राण्डजा द्विजाः" अर्थात् द्विज शब्द दाँत-ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य, तथा अण्डज यानी पक्षी आदि का वाचक होता है ।

"वंशः कुलमस्करौ" वंश शब्द कुल—बाँस—संघ तथा रीढ़ इन चार अर्थों में प्रयुक्त होता है ।

अलंकार—यहाँ क्रोध पर वह्नित्व-आरोप तथा शोक पर धूमत्वारोप, मन्त्री पर द्रुमत्वारोप, नय पर पवनत्वारोप, मोह पर भस्मत्वारोप तथा नन्दान्वय पर वंशत्व आरोप होने के कारण समस्तवस्तुविषयक साङ्गरूपक अलंकार है। लक्षणं यथा—अंगिनो यदि साङ्गस्य रूपणं साङ्गमेव तत्।

छन्दः—स्रग्धरावृत्तम्, म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा-कीर्तितेयम्।

गुण-रीति—ओजः गुणः, गौडी च रीतिः।

टिप्पणी—सम्भ्रान्तद्विजगणाः—मान्य द्विजगण-ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य, तथा सम्भ्रान्त = उद्विग्न, द्विजगण—पक्षीसमुदाय को छोड़ कर भस्म कर दिया, खेदात् शब्द से पुनः वध्य मलयकेतु के मिल जाने से कोपानल पुनः प्रज्ज्वलित होगा यह ध्वनि निकलती है। ज्वलन इव में उपमालंकार तथा न खेदात् में परिसंख्यालंकार भी द्योतित है।

अपि च—

शोचन्तोऽवनतैर्नराधिपभयाद् धिक्शब्दगर्भैर्मुखै-
र्मामग्रासनतोऽवकृष्टमवशं ये दृष्टवन्तः पुरा।
ते पश्यन्ति तथैव सम्प्रति जना नन्दं मया सान्वयं
सिंहेनेव गजेन्द्रमद्रिशिखरात् सिंहासनात् पातितम् ॥१२॥

प्रसंग—ये पुरुषाः पुरा मां चाणक्यं नन्देन निरादृतमपश्यन्, ते एव नराः अधुना मया राजसिंहासनात् प्रच्युतं नन्दमक्षिलक्षीकुर्वन्तु इति वर्ण्यविषये पद्यमिदमुद्धृतम्।

अन्वय—पुरा ये नराधिपभयात् अवनतैः धिक्शब्दगर्भैः मुखैः शोचन्तः जनाः मां अग्रासनतः अवकृष्टं अवशं दृष्टवन्तः। सम्प्रति ते जनाः सिंहेन अद्रि-शिखरात् पातितं गजेन्द्रमिव मया सान्वयं नन्दं सिंहासनात् तथैव पातितं पश्यन्ति।

संस्कृतार्थ—पुरा = पूर्वं, ये = जनाः, नराधिपभयात् = राजभयात्, अवनतैः = नम्रीभूतैः, धिक्शब्दगर्भैः = धिक् नृपतिं इति शब्दः गर्भे = अभ्यन्तरे येषां तादृशैः, मुखैः = आननैः, शोचन्तः = शोकं विदधतः, जनाः = मनुष्याः,

मां = चाणक्यं, अग्रासनतः = श्राद्धीयासनात्, अवकृष्टं = प्रमृष्टं, अवशं = निराकर्तुमसमर्थम्, दृष्टवन्तः = अवलोकयामासुः, ते जनाः, सम्प्रति = इदानीं, सिंहेन = मृगेन्द्रेण, अद्रिशिखरात् = पर्वतशृङ्गात्, पातितं = प्रच्यावितं, गजेन्द्रं = वारणेन्द्रं, इव = यथा, मया = चाणक्येन, सान्वयं = सपुत्रकलत्रं, नन्दं, सिंहासनात् = राजासनात्, पातितं = प्रभ्रंशितम्, पश्यन्ति = अक्षिलक्ष्यीकुर्वन्ति ।

भावार्थः—श्राद्धकाले यथा नन्दः मां श्राद्धीयासनात् अवकृष्टवान्, तथैवाद्याहं सपुत्रकलत्रं नन्दं राजसिंहासनात् पातयामि इति जनाः पश्यन्तु, नन्देन यथाहमवमानितः तथैव मयाप्यसौ तिरस्कृतः इति भावः ।

भाषार्थ—पहले जिन लोगों ने राजा के भय से नीचे किये हुए धिक् शब्द वाले मुखों से सोचते हुए मुझ चाणक्य को अग्रासन से हटाया गया देखा था वे सब अब सिंह से पर्वत-शिखर से गिराये गये हाथी के समान मुझसे सपरिवार नन्द को राजसिंहासन से गिराया हुआ देखें ।

व्याकरण—धिक्शब्दगर्भैः मुखैः = धिक् राजानं इति शब्दः गर्भे येषां तथोक्तैः मुखैः बहुव्रीहिसमासः, मुखैः यहाँ "इत्थंभूतलक्षणे" से तृतीया है । अग्रासनतः = अग्रासन + तसिल् पञ्चम्याः तसिल् । अवकृष्टम् = अव + कृष् + क्तः । नराधिपभयात् = नराणां, अधिपः नराधिपः षष्ठी तत्पुरुषः । नराधिपात् भयमिति तस्मात् पञ्चमी भयेनेति समासः । अद्रिशिखरात् = अद्रेः शिखरात् पञ्चमी तत्पुरुष समासः । अद्रिः = अद् + क्रिन् । शिखरः = शिखा अस्त्यस्य, शिखा + अरच् आत्वलोपः । तथा = तद् + थाल् प्रकारवचने थाल् इस सूत्र से ।

कोषः = अन्वयः = कुलान्यभिजनान्वयौ इत्यमरः ।

चिरातीते निकटागामिके पुरा । पुरा शब्द निरन्तर—पहले—आनेवाला निकट समय इन तीन अर्थों में प्रयुक्त होता है । यथा "पुराधीयते" निरन्तर पढ़ा । पुराऽपि न नवं पुराणम् । गच्छ देवो पुरा वर्षति = अभी वर्षा होने वाली है ।

अलङ्कार—श्रौती पूर्णोपमाऽलंकारः—

श्रौती यथा इव वा शब्दाः इवार्थो वा वतिर्यदि ।

छन्द—शार्दूलविक्रीडितम् ।

सूर्याश्वैर्मसजास्ततः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम् ।

रस-गुण-रीति—ओजो गुणः - गौडी च रीतिः । वीरो रसः ।

टिप्पणी—तथैव = तथा + एव, तथा शब्द सादृश्य — समानता का वाचक है, एव शब्दः—(i) विशेष्यसंगतः एवकारः (अन्ययोगव्यवच्छेदकार्थकः) यथा पार्थ एव धनुर्धरः (नान्यः कर्णादि) ।

(ii) विशेषणसंगतः एवकारः (अयोगव्यवच्छेदकः भवति)

"पार्थः धनुर्धरः एव, अर्थात् पार्थ धनुषधारी ही है । तलवारादि चलाना भी नहीं जानता,

(iii) क्रियासंगतः एवकारः (अत्यन्तायोगव्यवच्छेदकः)

नीलं कमलं भवत्येव अर्थात् अवश्य नीला कमल होता है । श्लोक ११ तथा १२ में चाणक्य ने अपने पराक्रम का दिग्दर्शन कराया है अतएव वीर रस है । प्रतिशोध की भावना व्यक्त की गई है ।

सोऽहमिदानीमवसितप्रतिज्ञाभरोऽपि वृषलापेक्षया शस्त्रं धारयामि । येन मया—

समुत्खाता नन्दा नव हृदयरोगा इव भुवः
कृता मौर्ये लक्ष्मीः सरसि नलिनीव स्थिरपदा ।
द्वयोः सारं तुल्यं द्वितयमभियुक्तेन मनसा
फलं कोपप्रीत्योर्द्विषति च विभक्तं सुहृदि च ॥१३॥

सोऽहमिति—सोऽहं = चाणक्यः, इदानीं = साम्प्रतं, अवसितः = समाप्तः, प्रतिज्ञायाः = प्रतिश्रुतेः, भरः = भारः यस्य तथाभूतः अस्मि, समुत्तीर्णप्रतिज्ञोऽपि वृषलापेक्षया = चन्द्रगुप्तानुरोधेन, शस्त्रं धारयामि ।

प्रसङ्ग—मया चाणक्येन नवनन्दाः आमूलचूलं हताः, चन्द्रगुप्ते च राजलक्ष्मीः समारोपिता, इत्थं कोपप्रीतिप्रभवे द्वे फले अमित्रमित्रयोः विभक्ते । इति वर्णनप्रसङ्गे पद्यमिदमुद्धृतम् ।

अन्वय—भुवः हृदयरोगा इव नवनन्दाः समुत्खाताः, सरसि नलिनीव मौर्ये लक्ष्मीः स्थिरपदा कृता । कोपप्रीत्योः द्वयोः सारं द्वितयं फलं अभियुक्तेन मनसा द्विषति च सुहृदि च तुल्यं विभक्तम् ॥१३॥

संस्कृतार्थ—भुवः = भूमेः, हृदयस्य = स्वान्तस्य, रोगाः = व्याधयः, इव = यथा, नवनन्दाः = सर्वार्थसिद्धेः नवसुताः, समुत्खाताः = समूलमुन्मूलिताः, सरसि = तडागे, नलिनीव = कमलिनीव, मौर्ये = चन्द्रगुप्ते, लक्ष्मीः = राजश्रीः, स्थिरपदा = दृढस्थितिः, कृता = विहिता, कोपप्रीत्योः = अवज्ञाजनितस्य क्रोधस्य, प्रीतेश्च = स्नेहस्य च, द्वयोः = उभयोः, सारं = न्याय्यं, द्वितयं = उभयविधं, फलं = परिणामं, अभियुक्तेन = विनिविष्टेन, चेतसा = मनसा, मनोयोगेन इत्यर्थः, द्विषति = अरौ, सुहृदि = मित्रे च, तुल्यं = समानं निग्रहाऽनुग्रहरूपं फलं, विभक्तम्, = विभज्य स्थापितम् ।

भावार्थ—अधुना मया चाणक्येन रिपूणां नवनन्दानां निग्रहं चन्द्रगुप्तस्य च दृढं स्थिरपदं राज्यं सम्पाद्य उभयोः अमित्रमित्रयोः अहितहितं विधाय प्रतिज्ञाभरः निस्तीर्णः इति भावः ।

भाषार्थ—मैं चाणक्य इस समय प्रतिज्ञा के बोझ को उतार कर भी चन्द्र गुप्त के लिये शस्त्र धारण कर रहा हूँ जिस मैंने—पृथ्वी के हृदय-रोग के समान नवनन्दों का समूलोन्मूलन कर दिया, तालाब में कमलिनी के तुल्य चन्द्रगुप्त में राजलक्ष्मी को स्थिर कर दिया। इस प्रकार क्रोध और प्रसन्नता दोनों दो प्रकार के न्यायोचित फल निग्रह और अवग्रह को पूरे मनोयोग से शत्रु और मित्र यानी नन्द और चन्द्रगुप्त में बाँट दिया है ।

व्याकरण—समुत्खाताः = सम् + उत् + खा + क्त + जस् प्रथमा बहुवचन । हृदयरोगाः षष्ठी तत्पुरुष समासः । द्वितयम् = द्वौ अवयवौ अस्य इति द्वि—तयप् । द्विषति = द्विष् + शतृ + ङि, सप्तम्येकवचन । कोपप्रीत्योः = कोपश्च प्रीतिश्चेति द्वन्द्वसमासः तयोः । सारम् = सृ + घञ्

कोष—सारो बले स्थिरांशे च न्याय्ये क्लीवं वरे त्रिषु इत्यमरः, अर्थात् सारः पुंलिङ्ग के बल और स्थिरांश दो अर्थ, सारम् नपुं० का न्याययुक्त एक अर्थ, सार = उत्तम त्रिषु लिङ्गेषु ।

अलङ्कार = हृदयरोगा इव में वाच्या गुणोत्प्रेक्षा अलंकार है ।

नलिनीव में श्रौती पूर्णोपमा अलंकार है ।

कोपप्रीत्योः द्विषति सुहृदि च में यथासंख्य अलंकार है "यथासंख्यमनु-

द्देशः उद्दिष्टानां क्रमेण यत् । सम्भूय इन सब अलंकारों की संसृष्टि अलंकार है।

छन्द—शिखरिणी "रसैः रुद्रैश्छिन्ना यमनसभलागः शिखरिणी"

गुण-रीति – ओजोगुणः, वैदर्भी रीतिः ।

टिप्पणी—"नवनन्दाः भविष्यन्ति चाणक्यो यान् हनिष्यति, विष्णुपुराण । विभज्य स्थापितम् इस उक्ति से यहाँ परिभावना नामक मुख सन्धि का वर्णन है । लक्षण यथा—कुतूहलोत्तरावाचः प्रोक्ता तु परिभावना । वृषलापेक्षया शस्त्रं धारयामि यहाँ पर उपक्षेप नामक मुख सन्धि के अंग का वर्णन किया गया है । "काव्यार्थस्य समुत्पत्तिरुपक्षेपः इति स्मृतः" ।

अथवा, अगृहीते राक्षसे किमुत्खातं नन्दवंशस्य, किं वा स्थैर्यमुत्पादितं चन्द्रगुप्तलक्ष्म्याः । (विचिन्त्य) अहो ! राक्षसस्य नन्दवंशे निरतिशयो भक्तिगुणः । स खलु कस्मिंश्चिदपि जीवति नन्दान्वयावयवे वृषलस्य साचिव्यं ग्राहयितुं न शक्यते । तदभियोगं प्रति निरुद्योगः शक्यः अवस्थापयितुमस्माभिः इति अनयैव बुद्ध्या तपोवनं गतोऽपि घातितस्तपस्वी नन्दवंशीयः सर्वार्थसिद्धिः । यावदसौ मलयकेतुमङ्गीकृत्य अस्मदुच्छेदाय विपुलतरं प्रयत्नम् उपदर्शयत्येव । (प्रत्यक्षवदाकाशे लक्ष्यं बद्ध्वा) साधु, अमात्य राक्षस ! साधु ! साधु, श्रोत्रिय ! साधु । साधु, मन्त्रिबृहस्पते ! साधु ! कुतः—

प्रसङ्ग—हतेष्वपि नवनन्देषु, परमनायत्तीकृते राक्षसे मया चाणक्येन चन्द्रगुप्तस्य राज्यलक्ष्मीः स्थिरीकृतेति भ्रान्तिमात्रमिति प्रसङ्गे एष गद्यभागः समुद्धृतः

संस्कृतार्थ—अथवेति, राक्षसे = महामन्त्रिणि नन्दामात्ये, अगृहीते = अनायत्तीकृते, नन्दवंशस्य = नन्दकुलस्य, किमुत्खातं = किमुन्मूलितं, न किञ्चिदपीत्यर्थः । अथवा, चन्द्रगुप्तलक्ष्म्याः = चन्द्रगुप्तराज्यश्रियः, किं स्थैर्यं = दार्ढ्यं, उत्पादितं, न किमपीत्यर्थः । विचिन्त्य = विचार्य, अहो = आश्चर्यं, राक्षसस्य, नन्दवंशे = नन्दान्वये, निरतिशयः = अतिमहान्, भक्तिगुणः = भक्तिरूपो गुणः अस्तीति । सः = राक्षसः, खलु = निश्चितं, कस्मिंश्चिदपि = स्वल्पेऽपि, नन्दान्वयस्य = नन्दवंशस्य, अवयवे = वंशे, जीवति = प्राणान् धारयति सति, वृषलस्य = चन्द्रगुप्तस्य, साचिव्यम् = मन्त्रित्वं, ग्राहयितुं = विधातुं, न शक्यते

=न पार्यते । तदभियोगं प्रति=नन्दवंशस्यान्वयस्य, अभियोगं प्रति=राज्यारोहणं प्रति, निरुद्योगः=उद्यमहीन; अवस्थापयितुं=आसयितुं, अस्माभिः=चाणक्येन शक्यः, इति । अनयैव=अनेनैव, बुद्ध्या=विचारेण, नन्दवंशीयः नन्दकुलोत्पन्नः, तपस्वी=वराकः, सर्वार्थसिद्धिः, तपोवनं=अरण्यं, गतोऽपि=यातोऽपि, घातितः=नाशितः, यावत्, असौ=राक्षसः, मलयकेतुं=पर्वतकस्य पुत्रं, अङ्गीकृत्य=आश्रित्य, अस्मदुच्छेदाय=अस्मानुन्मूलयितुं विपुलतरं=अत्यधिकं, प्रयत्नं=उद्योगं, उपदर्शयत्येव=प्रकटयत्येव । प्रत्यक्षवत्=सम्मुखे पदार्थे इव, आकाशे=वियति, लक्ष्यं—दृष्टिं, बद्ध्वा=संयोज्य, साधु अमात्य राक्षस !, साधुश्रोत्रिय=सधु विप्रवर, साधु=प्रशंसनीयं एतत् ते कार्यम्, साधु मन्त्रिबृहस्पते=सचिवेषु देवगुरो, साधु=शोभनम् ।

भावार्थः—महामन्त्रिणः राक्षस्य वशीकरणमेव चाणक्यस्य लक्ष्यभूतम्, एतदेव चास्य नाटकस्य मुख्योद्देश्यम्, एतदभावे चाणक्यस्य सर्वः कार्यकलापः व्यर्थः एवेति ।

भाषार्थ—राक्षस को अपने अधीन किये बिना नन्दवंश का विनाश करने से ही क्या लाभ और चन्द्रगुप्त की राज्यश्री की स्थिरता भी कैसी (विचार कर) अहो नन्द वंश में राक्षस की अनन्य भक्ति है । वह किसी एक भी नन्दवंशीय मनुष्य के जीवित रहते चन्द्रगुप्त का मन्त्री नहीं बनाया जा सकता, इसलिये उसके प्रति उद्यमहीन बनाने के विचार से ही हमने नन्दवंशीय सर्वार्थसिद्धि को तपोवन में चले जाने पर भी मरवा डाला । तब भी वह राक्षस मलयकेतु का सहारा लेकर हमें नाश करने के लिये अधिक से अधिक प्रयत्नशील है ही । (प्रत्यक्ष के समान आकाश में लक्ष्य बाँध कर) धन्य हो अमात्य राक्षस तुम धन्य हो । धन्य हो सुब्राह्मण, बृहस्पति तुल्य मन्त्री धन्य हो ।

व्याकरणम्—अमात्यः=अमा समीपे वर्तते राज्ञः यः सः, अमा=त्य "अव्ययात्त्यप्" । बृहस्पते !=बृहतां वाचां पतिः तत्सम्बोधने, बृहत्+सुट्+पतिः, "तद्बृहतोः करपत्योश्चेति सुट्, तकारलोपः । प्रत्यक्षवत्=प्रत्यक्षे इव इति विग्रहः प्रत्यक्ष=वतुप् "तत्र तस्येव" इस सूत्र से वतुप् । अथवा प्रत्यक्षेण तुल्यं प्रत्यक्षवत् "तेन तुल्यं क्रिया चेति वतुप्" ।

टिप्पणी—यहाँ पर दूसरा विग्रह "प्रत्यक्षेण तुल्यं" संगत है क्योंकि दूरस्थ राक्षस को सम्बोधन करना सम्भव नहीं। सम्बोधन का लक्षण भर्तृहरि ने ऐसा किया है।

"स्थितस्याभिमुखीभावमात्रं सम्बोधनं विदुः ।,,

श्रोत्रिय का लक्षण—

जन्मना ब्राह्मणो ज्ञेयः संस्कारैः द्विज उच्यते ।
विद्यया याति विप्रत्वं त्रिभिः श्रोत्रिय उच्यते ।!

यावत् शब्द कार्त्स्न्य अवधारण पक्षान्तर आदि अर्थों में प्रयुक्त होता है और इसके योग में भविष्यत् अर्थ में लट् लकार यानी वर्तमान काल का प्रयोग होता है। अङ्गीकृत्य में च्वि प्रत्यय है। इसका विग्रह "अनङ्गं अङ्गं कृत्वा" यहाँ अभूततद्भाव में च्वि प्रत्यय हुआ।

ऐश्वर्यादनपेतमीश्वरमयं लोकोऽर्थतः सेवते
तं गच्छन्त्यनु ये विपत्तिषु पुनस्ते तत्प्रतिष्ठाशया ।
भर्तुर्ये प्रलयेऽपि पूर्वसुकृतासङ्गेन निःसङ्गया
भक्त्या कार्यधुरां वहन्ति बहवस्ते दुर्लभास्त्वादृशाः ॥१४॥

प्रसङ्ग—पद्यमिदं चाणक्यमुखेन निस्स्वार्थभावेन मृतस्यापि राज्ञः सेवायां तत्परस्य महामन्त्रिणः राक्षसस्य प्रशंसायां कविनाऽत्रोपनिबद्धम्।

अन्वय—अयं लोकः ऐश्वर्यात् अनपेतं ईश्वरं अर्थतः सेवते। ये विपत्तिषु तं अनुगच्छन्ति ते पुनः तत्प्रतिष्ठाशया। ये भर्तुः प्रलयेऽपि पूर्वसुकृतासङ्गेन निःसङ्गया भक्त्या कार्यधुरं वहन्ति ते त्वादृशाः बहवः दुर्लभाः।

संस्कृतार्थ—अयं लोकः=एष संसारः, ऐश्वर्यात्=धनसम्पदः, अनपेतं=संयुक्तं, ईश्वरं=स्वामिनं, अर्थतः=धनप्राप्तिहेतोः, सेवते=भजते। ये=(जनाः), विपत्तिषु=आपत्कालेषु, तम्=स्वामिनं, अनुगच्छन्ति=अनुयान्ति, ते पुनः, तत्=तस्य स्वामिनः, प्रतिष्ठाशया=राज्यप्राप्त्यपेक्षया तं सेवन्ते। ये जनाः, भर्तुः=स्वामिनः, प्रलेयऽपि=पञ्चत्वं गतेऽपि, पूर्वसुकृतस्य=प्राक्कृतोपकारस्य, आसङ्गेन=सम्बन्धेन, अविस्मरणेनेत्यर्थः, निःसङ्गया=फलाप्तिरहितया, भक्त्या=सेवया, कार्यधुरं=कार्यभारं, वहन्ति=

धारयन्ति, ते त्वादृशाः = भवादृशाः = राक्षसतुल्याः इत्यर्थः, बहवः = अधिकाः, दुर्लभाः = दुष्प्रापाः ।

भावार्थ—एतज्जगन्निवासिनः जनाः स्वस्वार्थाय स्वामिनं सेवन्ते एव, अन्ये पुनः विपद्यपि निःस्वं स्वामिनं पुनरभ्युदयाशयाऽपि भजन्ते, परं मरणोपरान्तेऽपि तद्गुणगणान् गणयन्तः तदुपकारान् स्मरन्तः तस्य कार्यकलापं कुर्वन्तः स्वामिनं सेवन्ते ते खलु राक्षसतुल्याः धन्याः दुर्लभाश्च भवंति तेषां त्वमेकोऽस्माभिः तादृशः दृष्टः इति भावः ।

भाषार्थ—यह संसार स्वार्थसाधना की लालसा से सम्पन्न स्वामी की सेवा करता है । कुछ विपत्काल में भी पुनरभ्युदय की आशा से निर्धन स्वामी की सेवा करते हैं । परन्तु पूर्वकृत उपकारों का स्मरण कर स्वामी के मरणोपरान्त भी जो कार्य भार वहन करते हैं वे सेवक धन्य तथा कोई एक राक्षस जैसा ही होता है । ऐसे सेवक दुर्लभ होते हैं ।

व्याकरण—अनपेतम् = न अपेतम्, न + अप + इण् + क्त नञ् तत्पुरुष समासः । तत्प्रतिष्ठाशया = प्रति + स्था + अङ् = प्रतिष्ठा, तस्य प्रतिष्ठा = तत्प्रतिष्ठा तस्यां आशया "सुप्सुपा" इति समासः । आसङ्गः = आ + सञ्ज् + घञ् । निःसङ्गया = निर्गतः सङ्गः अस्यां सा तया बहुव्रीहिः । भक्त्या = भज् + क्तिन् + टा । कार्यधुरा = कार्यस्य धूः तत्पुरुषः, कार्य + धूः + अप् (समासान्ते) + टाप् ।

कोष—स्वामीत्वीश्वरः पतिरीशिता । "आशातृष्णापि चायता" आशा

शब्द—तृष्णा यानी (चाह, उम्मीद) पूर्वादि दिशा इन दो अर्थों में आता है । अमरः ।

अलङ्कार—व्यतिरेकः, राक्षस का अन्य की अपेक्षा उत्कर्षाधिक्य-वर्णन के कारण, लक्षणं यथा "आधिक्यमुपमेयस्योपमानान्न्यूनताऽथवा" व्यतिरेकः ।

छन्द = शार्दूलविक्रीडितम् ।

गुण = माधुर्यः, रीतिश्च वैदर्भी, शान्तो रसः ।

अतएवास्माकं त्वत्संग्रहे प्रयत्नः कथमसौ वृषलस्य साचिव्यग्रहणेन सानुग्रहः स्यादिति । कुतः—

अप्राज्ञेन च कातरेण च गुणः स्याद्भक्तियुक्तेन कः
प्रज्ञाविक्रमशालिनोऽपि हि भवेत् किं भक्तिहीनात् फलम् ।
प्रज्ञाविक्रमभक्तयः समुदिता येषां गुणा भूतये
ते भृत्या नृपतेः कलत्रमितरे सम्पत्सु चापत्सु च ॥१५॥

संस्कृतार्थ—अतएव = एतदर्थमेव, अस्माकं = नः, त्वत्संग्रहे = त्वद्वशीकरणे प्रयत्नः = उद्योगः, यत् कथं = केन प्रकारेण, असौ = राक्षसः, वृषलस्य = चन्द्रगुप्तस्य, साचिव्यग्रहणेन = मन्त्रित्वाङ्गीकारेण, सानुग्रहः = सदयः, स्यात् । अप्राज्ञेन च कातरेणेति—

प्रसङ्ग—पद्यमिदं कविना बुद्धि-भक्ति-पराक्रमशालिभिः त्रिगुणगणविशिष्टैरेव सेवकैः नृपस्य प्रयोजनं सिद्ध्यति इत्यभिप्रायेणात्रोद्धृतम् ।

अन्वय—अप्राज्ञेन च कातरेण च (केवलं) भक्तियुक्तेन कः गुणः स्यात् । प्रज्ञाविक्रमशालिनः अपि भक्तिहीनात् किं हि फलं भवेत् । येषां प्रज्ञाविक्रमभक्तयः समुदिताः गुणाः ते भृत्याः नृपतेः सम्पत्सु आपत्सु च भूतये (भवन्ति) इतरे कलत्रम् ।

संस्कृतार्थः—अप्राज्ञेन = बुद्धिविहीनेन, कातरेण = विक्रमशून्येन, केवलं, भक्तियुक्तेन = सानुरागेण, भृत्येन, कः गुणः स्यात् = किं प्रयोजनं, न किमपि-फलमित्यर्थः । प्रज्ञाविक्रमशालिनः = बुद्धिमतः बलशालिनश्चापि, भक्तिहीनात् = अनुरागरहितात्, किं हि फलं भवेत् = कः लाभः स्यात् । येषां = भृत्यानां, प्रज्ञा-विक्रम-भक्तयः = बुद्धि-बलानुरागाः, समुदिताः = मिलिताः, गुणाः = शौर्यादयः सन्ति, ते भृत्याः = सेवकाः, नृपतेः = राज्ञः, सम्पत्सु = ऐश्वर्ये, आपत्सु = विपदि च, भूतये = कल्याणाय, भवन्ति । इतरे = अन्ये, केवलं भक्तिभन्तः कलत्रम् = भार्या इव पोष्यमात्रम् ।

भावार्थ—बुद्धि-भक्ति-पराक्रमशालिभिः समुदितैः गुणवद्भिरेव भृत्यैः नृपस्य प्रयोजनं सिध्यति, न केवलं भक्तिहीनैः पराक्रमशालिभिः, न च केवल भक्तिमद्भिरेवेति भावः ।

भाषार्थ—इसलिये हमारा तुम्हें वश में करने के लिये प्रयत्न है। जिससे कि तुम चन्द्रगुप्त का मन्त्रित्व स्वीकार कर हमें अनुगृहीत करोगे।

बुद्धिहीन तथा निर्बल स्वामिभक्त भृत्य से क्या प्रयोजन? बुद्धिमान् एवं सबल पर भक्तिहीन भृत्य से भी क्या प्रयोजन? बुद्धि-पराक्रम और भक्ति ये गुण-समुदाय जिन भृत्यों में हैं वे भृत्य स्वामी के सुख-दुःख में कल्याणकारी होते हैं। इनसे भिन्न गुण वाले भृत्य केवल कुटुम्ब की तरह पालनीयमात्र हैं।

व्याकरण—अप्राज्ञेन = न प्राज्ञेन नञ् तत्पुरुषसमासः, प्र + ज्ञा + क = प्रज्ञः + अण्। प्रज्ञाविक्रमशालिनः = प्रज्ञा च विक्रमश्चेति प्रज्ञाविक्रमौ द्वन्द्व समासः, ताभ्यां शालते, शाल् + णिनि = शालिन् तस्मात्। भृत्यः = भृ + क्यप्। कलत्रम् = गड् + अत्रन्, गकारस्य ककारः, डलयोरभेदः (आप्टे)। त्वत्संग्रहः = तव संग्रहः षष्ठीतत्पुरुषः। सम् + ग्रह् + अप्।

कोष—गुण "मौर्व्यां द्रव्याश्रिते सत्त्वशौर्यसन्ध्यादिके गुणः" इत्यमरः।

धनुष की ताँत, रूप-रसादि २४ गुण, सत्त्व-रजस्-तमस् ३ गुण, वीरतादि गुण, सन्धि-विग्रह-यान-आसन-संश्रय-द्वैधीभाव ६ गुण, इन्द्रिय ये छ अर्थ हैं।

अलंकारः—व्यतिरेकः। यहाँ उपमेयभूत अनुरक्त बुद्धिविहीन विक्रम-शून्य भृत्य की अपेक्षा उपमानभूत सकलगुणवद्भृत्य का आधिक्य वर्णन से। लक्षणं यथा—"आधिक्यमुपमेयस्योपमानात् न्यूनताऽथवा" यहाँ उपमेय की न्यूनता दर्शित की गई है।

T59.4542
सिं६४९मु

छन्दः—शार्दूलविक्रीडितम्।

वैदर्भी रीतिः, प्रसादश्च गुणः।

टिप्पणी—भृत्यलक्षणं यथा—

यस्मिन् कृत्यं समावेश्य निर्विशङ्केन चेतसा।
आस्यते सेवकः स स्यात् कलत्रमिव चापरम्॥ विष्णुशर्मा

कलत्र शब्द पत्नी अर्थ में तथा नितम्ब अर्थ में प्रयुक्त होता है।

"यद्भर्तुरेव हितमिच्छति तत्कलत्रम्" भर्तृहरिः।

"वसुमत्या हि नृपाः कलत्रिणः" रघुवंश।

"विलासगृहीतगुरुकलत्राम्" नितम्ब अर्थ

काठमाडौं नेपाल

तन्मयाप्यस्मिन् वस्तुनि न शयानेन स्थीयते, यथाशक्ति क्रियते तद्ग्रहणं प्रति यत्नः । कथमिव ? अत्र तावद् वृषलपर्वतकयोरन्यतरविनाशेनापि चाणक्यस्यापकृतं भवतीति विषकन्यया राक्षसेनास्माकमत्यन्तोपकारि मित्रं घातितस्तपस्वी पर्वतक इति सञ्चारितो जगति जनापवादः । लोकप्रत्ययार्थमस्यैवार्थस्याभिव्यक्तये 'पिता ते चाणक्येन घातित'

व्याख्या = तत् = तस्मात्, मयापि = चाणक्येनापि, अस्मिन् वस्तुनि = राक्षसायत्तीकरणे, शयानेन = उदासीनेन, न स्थीयते = न विद्यते, तद्ग्रहणं प्रति = चाणक्यस्य,तस्य = ग्रहणं प्रति = स्वायत्तीकरणं प्रति, यथाशक्ति = स्वशक्त्यनुरूपं, यत्नः = उद्योगः, क्रियते = विधीयते । कथमिति ? = कथं कृत्वेत्यर्थः, अत्र तावत् = अस्मिन् कार्ये, वृषलपर्वतकयोः = चन्द्रगुप्तपर्वतकयोः अन्यतरस्य = एकस्य, विनाशेन = वधेन, अपि = समुच्चयार्थकः, चाणक्यस्य = तदाख्यचन्द्रगुप्तसचिवस्य, अपकृतम् = अपकारः, भवति = भविष्यति, इति कृत्वा, राक्षसेन नन्दामात्येन = विषकन्यया = सम्भोग काले एव मृत्युदायिन्या, अस्माकं = नः, अत्यन्तोपकारि = परमहितैषि, मित्रं = सुहृत्, तपस्वी = वराकः, पर्वतकः = तदाख्यः नृपः, घातितः = विनाशितः, इति = एवंविधः, जनापवादः = लोकप्रवादः, जगति = संसारे, सञ्चारितः = प्रचारितः । लोकप्रत्ययार्थम् = लोकानां विश्वासार्थं, अस्यैव अर्थस्य = पर्वतकवधरूपस्य, अभिव्यक्तये = प्रख्यापयितुं, पिता ते = तवं जनकः पर्वतकः, चाणक्येन = कौटिल्येन, घातितः = लोकान्तरं गमितः ।

भाषार्थ—अतः मैं भी सतर्क रहता हूँ और उसे अपने वश में करने के लिये यत्न भी कर रहा हूँ, चन्द्रगुप्त और पर्वतक इन दोनों में से किसी एक का भी नाश होने पर चाणक्य का अपकार होता है इसलिये राक्षस ने विषकन्या द्वारा मेरे मित्र तपस्वी पर्वतेश्वर को मारा है, यह बात संसार में फैली हुई है । लोगों के विश्वास के लिये तुम्हारे पिता को चाणक्य ने मारा है ।

व्याकरण—अभिव्यक्तये = अभि + वि + अञ्ज् + क्तिन् = अभिव्यक्तिः, तस्यै ।

घातितः = हन् + णिच् + क्तः । यथाशक्ति = शक्तिमनतिक्रम्येति अव्ययीभावसमासः । पर्वतकः = पर्वतः एव पर्वतकः स्वार्थे कन् प्रत्ययः ।

सञ्चारितः = सम् + चर् + णिच् + क्तः । विषकन्या = विषेण दिग्धा या कन्या मध्यमपदलोपी समासः।

टिप्पणी—विषकन्या—

लावण्यभूषणां कान्तां, योषितं क्रमशः विषैः ।
युवतीं योजयेत् कामिरिपुभूपविघातने ॥

किसी सुन्दरी रूपलावण्यमयी कन्या को ओषधि-प्रयोग से धीरे धीरे इतना जहरीला बना दिया जाता है कि उसके साथ सम्भोग करने वाले की मृत्यु हो जाती है ।

इति रहसि त्रासयित्वा भागुरायणेनापवाहितः पर्वतकपुत्रो मलयकेतुः । शक्यः खलु एष राक्षसमतिपरिगृहीतोऽपि व्युत्तिष्ठमानः प्रज्ञया निग्रहीतुम् । न पुनरस्य निग्रहात् पर्वतकवधोत्पन्नं राक्षसस्यायशः प्रकाशीभवत् प्रमार्ष्टुमिच्छामि ।

व्याख्या—इति = इत्थं, रहसि = एकान्ते, त्रासयित्वा = भयमुत्पाद्य, भागुरायणेन = एतन्नामकचाणक्यप्रणिधिना, पर्वतकपुत्रः = मलयकेतुः, अपवाहितः = अपसारितः । एषः = मलयकेतुः, खलु = निश्चयेन, राक्षसस्य = नन्दाऽमात्यस्य, मत्या = बुद्धया, परिगृहीतोऽपि = स्वायत्तीकृतोऽपि, व्युत्तिष्ठमानः = युद्धाय प्रयतमानः, बुद्धया = मत्या, निवारयितुं = अपवारणाय, शक्यः = सुसाध्यः । पुनः = भूयः, अस्य = मलयकेतोः, निग्रहात् = दण्डदानात्, पर्वतकवधात् = तदाख्यनृपतिविनाशात्, उत्पन्नं = प्रादुर्भूतं, अपयशः = अपकीर्तिः, प्रकाशीभवत् = प्रख्यापितं, प्रमार्ष्टुम् = प्रक्षालयितुं, नालम् = न शक्यमिति ।

भाषार्थः—इस प्रकार एकान्त में डराकर भागुरायण ने जो चाणक्य का गुप्तचर है, पर्वतक के पुत्र मलयकेतु को भगा दिया । यह मलयकेतु निश्चय से

राक्षस के चक्कर में पड़ा हुआ युद्ध के लिए तैयार भी मेरे बुद्धि-बल से पकड़ा जा सकता है। पर इसके पकड़ने से फैला हुआ पर्वतक के वध का अपयश दूर नहीं हो सकता है।

व्याकरणम्—प्रणिधिना = प्र + नि + धा + कि प्रत्ययः तृतीयैकवचनम्। व्युत्तिष्ठमानः = वि—उत् + स्था + शानच् "उदोऽनूर्ध्वकर्मणि" इत्यनेनाऽऽत्मनेपदम्। प्रमार्ष्टुम् = प्र + मृज् + तुमुन् "मृजेर्वृद्धिः" इति वृद्धिः पक्षे प्रमार्जितुम् इति रूपम्।

टिप्पणी—भागुरायण = प्रधान सेनापति का छोटा भाई।

मलयकेतु = पर्वतीय राजकुमार, इसके पिता का नाम पर्वतक है जिसकी मृत्यु विषकन्या के उपभोग से हुई थी,

विषकन्या =

आजन्मविषसंयोगात् कन्या विषमयी कृता।
स्पर्शोच्छ्वासादिभिर्हन्ति तस्यास्त्वेतत् परीक्षणम्॥
तन्मस्तकस्य संस्पर्शात् म्लायेते पुष्पपल्लवौ।
विषकन्योपयोगाद्वा क्षणाज्जह्यादसून् नरः॥

इसे योग नारी भी कहते हैं।

अन्यच्च—प्रयुक्ताश्च स्वपक्षपरपक्षयोरनुरक्तापरक्तजनजिज्ञासया बहुविधदेशवेषभाषाचारसञ्चारवेदिनो नानाव्यञ्जनाः प्रणिधयः। अन्विष्यते च कुसुमपुरवासिनां नन्दामात्यसुहृदां निपुणं प्रचारगतम्। तत्तत्कारणमुत्पाद्य कृतकृत्यतामापादिता-

व्याख्या—अन्यच्च = अपिच, मया = चाणक्येन, स्वपक्षस्य = आत्मनः, परपक्षस्य = शत्रुपक्षस्य च विषये, अनुरक्ताः = अनुरागिणः, परक्ताः = विरागिणः, ये जनाः तेषां जिज्ञासया = ज्ञानेच्छया, बहुविधानां = नैकप्रकाराणां, देशानां = विषयाणां, यो वेषः = परिच्छदः, या च भाषा, यश्चाचारः = व्यवहारः, यश्च सञ्चारः = गमनागमनं, तेषां वेदिनां = ज्ञातारः, ये नाना व्यञ्जनाः = विविधरूपधारिणः, प्रणिधयः = गूढपुरुषाः गुप्तचराः इति यावत्, ते नियुक्ताः = प्रयुक्ताः स्थापिताः विविधकार्येषु इत्यर्थः। कुसुमपुरनिवासिनां = पाटलि-

पुत्रमधिवसतां, नन्दामात्यस्य = राक्षसस्य, सुहृदां = मित्राणां, प्रचारगतयः = कार्यप्रवृत्तयः, निपुणं = सूक्ष्मवीक्षया, अन्विष्यन्ते = निरीक्ष्यन्ते ।

भाषार्थः—और भी मैंने अपने पक्ष तथा शत्रु पक्ष में अनुरक्त तथा विरक्त जनों को जानने की इच्छा से अनेक प्रकार के देशों की भाषा, वेश, आचार-सञ्चार को जानने वाले अनेक वेश-भूषा वाले गुप्तचर नियुक्त कर दिये हैं। जो कुसुमपुर में रहने वाले नन्द के मन्त्री राक्षस के मित्रों की कार्य-प्रवृत्ति तथा दशा को भली भाँति देख रहे हैं।

व्याकरणम्—अनुरक्त = अनु + रञ्ज् + क्त । जिज्ञासया = ज्ञा + सन् (द्वित्वं) + अ हेत्वर्थे तृतीया ।

समास—नाना व्यञ्जनानि येषां ते बहुव्रीहिः । प्रणिधयः = प्र + नि + धा + कि ।

कोष—प्रणिधिः अपसर्पः चरः स्पशः इत्यमरः ।

प्रणिधिः प्रार्थने चरे, याचना करना और दूत अर्थ में भी प्रयुक्त होता है ।

श्चन्द्रगुप्तसहोत्थायिनो भद्रभटप्रभृतयः प्रधानपुरुषाः शत्रुप्रयुक्तानां च तीक्ष्णरसदायिनां प्रतिविधानं प्रत्यप्रमादिनः परीक्षितभक्तयः क्षितिपति-प्रत्यासन्नाः नियोजितास्तत्राप्तपुरुषाः ।

व्याख्या—चन्द्रगुप्तसहोत्थायिनः = चन्द्रगुप्तेन सह, उत्थायिनः = अभ्युदयवन्तः, भद्रभटप्रभृतयः = भद्रभट—पुरुषदत्त—हिंगुरात—भागुरायणादि-प्रधानपुरुषाः = मुख्यकर्मचारिणः, तत्तत्कारणं = विश्वासोत्पादकहेतुतां उत्पाद्य = घटयित्वा, कृतकृत्यता = मृकृतार्थतां, आपादिताः = लम्भिताः, प्रापिताः इत्यर्थः ।

शत्रुप्रयुक्तानां च = शत्रुभिः = अरिभिः, प्रयुक्तानां = नियुक्तानां, तीक्ष्ण-रसदायिनां = तीव्रविषदायिनां, प्रतिविधानं = प्रतीकारं, प्रति, अप्रमादिनः = दत्तावधानाः, परीक्षितभक्तयः = प्रमाणितानुरागाः, क्षितिपतेः = नृपस्य चन्द्र-गुप्तस्य इत्यर्थः, प्रत्यासन्नाः = समीपवर्तिनः, आप्तपुरुषाः = विश्वस्ताः, नियो-जिताः = नियुक्ताः—व्यापारिताः ।

भाषार्थ—चन्द्रगुप्त के साथ रहने वाले भद्रभट—भागुरायणादि प्रधान

पुरुषों ने मलयकेतु को विश्वस्त कर अपने-अपने अभीष्ट को प्राप्त कर लिया है। शत्रु (राक्षस) से भेजे गये तीव्र विष देने वालों का प्रतिरोध करने के लिये दृढ़ भक्ति वाले और राजा चन्द्रगुप्त के पास रहने वाले, अप्रमादी, विश्वस्त पुरुष वहाँ रखे गये हैं।

व्याकरण—कृतकृत्यतां = कृतं कृत्यं यैः तेषां भावः कृतकृत्यता तां भावे तल् प्रत्ययः। चन्द्रगुप्तेन सह उत्थातुं शीलं येषां' ते, ताच्छील्ये णिनिः। उत्पाद्य = उत् + पद् + णिच् + क्त्वा (ल्यप्)। यथार्थवक्ता तु आप्तः, "आप्त-प्रत्ययितौ समौ" इत्यमरः। रसः = "शृङ्गारादौ—विषे—वीर्ये—गुणे—रागे—द्रवे रसः" रस शब्द शृंगारादि नवरस, विष, बल, षट् रस, पिघलना, आदि अर्थों में प्रयुक्त होता है।

टिप्पणी—तीक्ष्णाः—ये जनपदे शूराः त्यक्तात्मनः हस्तिनं व्यालं वा द्रव्य-हेतोः ये प्रतियोधयेयुस्ते तीक्ष्णाः। रसदाः—

ये बन्धुषु निःस्नेहाः क्रूराः चालसाः च ते रसदाः। उभयत्र कौटिल्यार्थ-शास्त्रम्।

अस्ति चास्माकं सहाध्यायि मित्रमिन्दुशर्मा नाम ब्राह्मणः। स चौशनस्यां दण्डनीत्यां चतुःषष्ट्यङ्गे ज्योतिःशास्त्रे च परं प्रावीण्य-मुपगतः। स मया क्षपणकलिङ्गधारी नन्दवंशवधप्रतिज्ञानन्तरमेव कुसुमपुरमुपनीय सर्वनन्दामात्यैः सह सख्यं ग्राहितो विशेषतश्च तस्मिन्राक्षसः समुत्पन्नविश्रम्भः। तेनेदानीं महत्प्रयोजनमनुष्ठेयं भविष्यति।

व्याख्या—अस्माकं, सहाध्यायि = सहपाठि, मित्रं = सुहृत्, इन्दुशर्मा नाम = इन्दुशर्माख्यः, ब्राह्मणः = द्विजः, अस्ति = विद्यते। स च = इन्दुशर्मा, औशनस्यां = शुक्राचार्यरचितायां, दण्डनीत्यां = नीतिशास्त्रे, चतुःषष्ट्यङ्गे = चतुःषष्टिशाखायुक्ते, ज्योतिःशास्त्रे च = दैवज्ञविद्यायां च, परं = अत्यन्तं, प्रावीण्यं = चातुर्यं, उपगतः = प्राप्तः। नन्दवंशस्य, वधस्य = विनाशस्य, प्रति-ज्ञायाः = प्रतिश्रुतस्य, अनन्तरं = पश्चादेव, क्षपणकलिङ्गधारी = बौद्धसंन्या-सिनः वेषभृत्, सः = इन्दुशर्मा, मया = चाणक्येन, कुसुमपुरं = पाटलिपुत्रं,

उपनीय = आनीय, सर्वैः = सम्पूर्णैः, नन्दामात्यैः = नन्दमन्त्रिभिः, सह = साकं, सख्यं = सौहार्दं, ग्राहितः = कारितः, च = पुनः राक्षसः, तस्मिन् = इन्दुशर्मणि, विशेषतः = आधिक्येन, समुत्पन्नविश्रम्भः = जातविश्वासः, इदानीं = सम्प्रति, तेन = इन्दुशर्मणा, महत् = बृहत्, प्रयोजनं = कार्यं, अनुष्ठेयं = सम्पादनीयं, भविष्यति ।

भाषार्थ—मेरा सहपाठी मित्र इन्दुशर्मा नाम का ब्राह्मण है। यह शुक्राचार्य की बनाई हुई दण्डनीति और चौंसठ अंगों वाले ज्योतिष् शास्त्र में प्रवीण है। नन्दवंश-विनाश की प्रतिज्ञा के पश्चात् ही मैंने उसे बौद्ध संन्यासी के वेष में पाटलिपुत्र लाकर नन्द के सभी मन्त्रियों से मित्रता करा दी और वह विशेष रूप से राक्षस का विश्वासपात्र बन गया है। उससे इस समय बहुत बड़ा काम निकाला जा सकेगा।

व्याकरणम्—सहाध्यायि सह अधीते इति सह + अधि इङ् + णिनि; मित्र का विशेषण होने से नपुंसकलिङ्ग है। औशनस्याम् = उशनसः इयं इति उशनस् = अण् + ङीप् सप्तमी एकवचनम् । प्रावीण्यम् = प्रवीण + ष्यञ्, प्रकृष्टः वीणायाम्, दक्षरूपार्थे लक्षणा। क्षपणकलिंगधारी = क्षपणकस्य लिङ्गं धरतीति, क्षपणक = धृ + णिनि ।

तदेवमस्मत्तो न किञ्चित् परिहास्यते। वृषल एव केवलं प्रधान-प्रकृतिरस्मास्वारोपितराज्यतन्त्रभारः सततमुदास्ते। अथवा यत्स्वय-मभियोगदुःखैरसाधारणैरपाकृतं तदेव राज्यं सुखयति। कुतः—

व्याख्या—तत् = तस्मात् कारणात्, एवं = अनेन प्रकारेण, अस्मत्तः = मत्तः, न किञ्चित् परिहास्यते = नकिमपि न्यूनं भविष्यति। केवलं प्रधानप्रकृतिः = मुख्यप्रकृतिः वृषल; एव = चन्द्रगुप्तः एव, अस्मासु = मयि, आरोपितः = न्यस्तः, राज्यस्य = स्वराष्ट्रस्य, यः तन्त्रः = शासनं, तस्य भारः = भरः येन तथाविधः। सततं = निरन्तरं, उदास्ते = उदासीनः सन् तिष्ठति। अथवा यत् = राज्यं, स्वयं = साक्षात्, असाधारणैः = असामान्यैः, विशेषैरित्यर्थः, अभियोगदुःखैः = कार्याऽभिनिवेशजनितखेदैः, अपाकृतं = वर्जितं, तदेव राज्यं, सुखयति = सुखं करोति, कुतः = कस्मात्, इति चेत् शृणु—

भाषार्थ—इसलिये ऐसा उपाय करने पर कुछ भी कमी न रह जायगी। केवल मुख्य प्रकृति चन्द्रगुप्त ही अपने राज्य का भार हम लोगों पर छोड़ कर सदा उदासीन या तटस्थ रहता है। अथवा कार्य-विषयक आग्रह से उत्पन्न खेदों से रहित राज्य ही सुखदायक होता है।

व्याकरणम्—अस्मत्तः अस्माभिः, अस्मद्+तसि, तृतीयायाः तसि।

परिहास्यते=परि+हा+लृट्। प्रधानप्रकृतिः=राज्याङ्गानि प्रकृतिशब्देन उच्यन्ते। तानि च सप्ताङ्गानि, तद्यथा—

स्वामी—अमात्य—सुहृत्—कोष—राष्ट्र—दुर्ग—बलानि।

तन्त्रम्=तन्त्र+णिच्+घञ्। उदास्ते=उत्+आस्+लट् आत्मनेपदे रूपम्।

कोष—स्वमण्डलपालनाभियोगः तन्त्रम्।

स्वयमाहृत्य भुञ्जाना बलिनोऽपि स्वभावतः।
गजेन्द्राश्च नरेन्द्राश्च प्रायः सीदन्ति दुःखिताः ॥१६॥

प्रसंगः—निश्चितरूपेण स्वोद्योगसाफल्यं अनुभवन् चाणक्यः निरस्तराज्यचिन्ताभारं चन्द्रगुप्तं, तद्राज्यकार्यजागरूकं चात्मानं ध्यायं ध्यायं आह पद्यमिदम्।

अन्वयः=स्वयं आहृत्य भुञ्जानाः नरेन्द्राः गजेन्द्राश्च स्वभावतः बलिनोऽपि प्रायः दुःखिताः सीदन्ति।

व्याख्या—स्वयं=आत्मना, आहृत्य=संगृह्य, भुञ्जानाः=उपभोगं कुर्वाणाः, नरेन्द्राः=नृपाः, गजेन्द्राश्च=हस्तिनः, स्वभावतः=प्रकृत्या, बलिनोऽपि=शक्तिमन्तोऽपि, प्रायः=बाहुल्येन, दुःखिताः=तुदन्तः, सीदन्ति=क्लिश्यन्ति।

भावार्थ—यद्यपि संसारे राजानः राज्यतन्त्रादिसम्भारं स्वयं संगृह्य उपभोगं कुर्वाणाः तत्तदर्थजातस्य संग्रहचिन्तया प्रायः क्लिश्यन्ति, परं चन्द्रगुप्तः न तथा क्लिश्यति, एतदेव मम महते सन्तोषायास्ति, एतेनैव मत्समीहितं सेत्स्यतीति भावः।

भाषार्थ—स्वभाव से बलवान् भी गजराज तथा राजा ये दोनों स्वयं

उपभोग सामग्री को संग्रह कर उपभोग करते हुए प्रायः दुःखित होते हैं, क्योंकि तत्तत् वस्तु जात के उपार्जन जन्य चिन्ता से चिन्तित रहते हैं।

व्याकरणम्—भुञ्जानाः = भुज् + लट् "ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु चानश्" इससे चानश्। स्वभावतः = स्वभावेन इत्यर्थः यहाँ प्रकृत्यादिभ्यः उपसंख्यानम्" से तृतीया। आहृत्य = आ + हृ + क्त्वा (ल्यप्) "ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्" से तुक् का आगम। बलिनः = बल + णिनि, प्रथमा बहुवचनम्।

कोष—"प्रायो भूम्न्यन्तगमने" इत्यमरः। प्रायः के अधिकतर, तथा अनागमन ये दो अर्थ होते हैं। इसी प्रकार "नरेन्द्र" के नृपः और सँपेरा ये दो अर्थ हैं, इसी प्रकार "बलिनः" के शक्तिशाली तथा सिकुड़े चमड़े वाला। "बलिनो बलिभः समौ" इति सर्वत्रामरः।

अलंकार—दीपक "अप्रस्तुतप्रस्तुतयोः दीपकन्तु निगद्यते"

छन्द—अनुष्टुप्, माधुर्यं गुणः, कारुण्यं रसः।

(ततः प्रविशति यमपटेन चरः।)

चरः—

पणमह जमस्स चलणे किं कज्जं देवएहिं अणेहिं।
एसो खु अण्णभत्ताणं हरइ जीअं चडपडन्तम् ॥१७॥
(प्रणमत यमस्य चरणौ किं कार्यं दैवतैरन्यैः।
एष खल्वन्यभक्तानां हरति जीवं परिस्फुरन्तम् ॥

प्रसंग—चाणक्यनियुक्तश्चरः स्वस्य तापसव्यञ्जनत्वप्रकृतिचित्तवेदनादि च चाणक्यस्य सूचयन् यमगाथां गायन्नाह।

अन्वय—यमस्य चरणौ प्रणमत, अन्यैः दैवतैः किं कार्यम्। एष खलु अन्यभक्तानां परिस्फुरन्तं जीवं हरति।

संस्कृतार्थ—यमस्य = कृतान्तस्य, चरणौ = पादौ, प्रणमत = वन्दत यूयं इति शेषः। अन्यैः = अपरैः, दैवतैः = देवैः, किं कार्यम् = किं प्रयोजनम् न किञ्चिदपीत्यर्थः।

एष खलु = धर्मराज एव, अन्यभक्तानां = अपरेषां सुराणां भक्तानां = उपासकानां, परिस्फुरन्तं = स्पन्दमानं, जीवं = जीवनं, हरति = नाशयति ।

भावार्थ—लोकाः ! न कोऽपि देवः यमराजहस्तात् मृतस्य स्वभक्तस्य प्राणपरित्राणं कर्तुं शक्तः । अतः सकलदेवापेक्षया यमस्य प्राधान्यात् अस्यैव सेवा समुचितेति भावः ।

भाषार्थ—(तत्पश्चात् यमपट के साथ गुप्तचर आता है)

गुप्तचर—लोगों ! यमराज के चरणों को प्रणाम करो । दूसरे देवताओं से क्या प्रयोजन । धर्मराज दूसरे देवताओं के भक्तों के छटपटाते प्राणों को हर लेता है ।

व्याकरणम्—प्रणमत = प्र + नम् + लोट् + मध्यमपुरुष बहुवचनम् । अन्यैः देवैः यहाँ किं प्रयोजनं, किं कार्यं के योग में तृतीया है । परिस्फुरन्तं = परि + स्फुर् + शतृ द्वितीयैकवचनम् ।

कोष—"कृतान्तो यमुनाभ्राता शमनो यमराट् यमः" इत्यमरः ।

अलंकार—अप्रस्तुतप्रशंसा । अप्रतुस्त यमराज के वृत्तान्त से प्रस्तुत चाणक्य का वर्णन गम्य होने से अप्रस्तुतप्रशंसा अलंकार है ।

अप्रस्तुतात्प्रस्तुतं चेद् गम्यते पञ्चधा ततः—अप्रस्तुतप्रशंसा....।

छन्द—आर्यावृत्तम्, शान्तो रसः, माधुर्यं गुणः, रीतिश्चात्र वैदर्भी।

टिप्पणी—इस श्लोक का गूढार्थ यह है कि यमराज की तरह चाणक्य अपने भक्तों की रक्षा करता है तथा राक्षस के भक्तों को मारता है । अतः चाणक्य की ही आज्ञा का पालन करो ।

अवि अ

पुरिसस्स जीविदव्वं विसमादोहोइ भत्तिजहिआदो ।
मारेइ सव्वलोअं जोतेण जमेण जीआमो ॥१८॥

(अपि च

पुरुषस्य जीवितव्यं विषमाद्भवति भक्तिगृहीतात् ।
मारयति सर्वलोकं यस्तेन यमेन जीवामः ॥

प्रसङ्ग—चाणक्यस्य गुप्तचरः सकलसुरापेक्षया यमराजात्मके इष्टदेवस्य प्राधान्यवर्णनात् चाणक्यवृत्तान्तं वर्णयति ।

अन्वयः—भक्तिगृहीतात् विषमात् पुरुषस्य जीवितव्यं भवति । यः सर्वलोकं मारयति तेन यमेन जीवामः ।

संस्कृतार्थ—भक्त्या = प्रचुरानुरागेण, गृहीतात् = वशीकृतात् प्रभूतस्नेहेन सन्तोषितात्, विषमात् = क्रूरादपि यमात्, पुरुषस्य = नरस्य, प्राणिमात्रस्येतिभावः, जीवितव्यं = जीवनं, भवति = सिध्यति, यः = यमः, सर्वलोकं = समस्तं जगत्, जनान् वा मारयति = नाशयति, तेन यमेन = तेन धर्मराजेन, तं यमराजमुपसेव्येत्यर्थः, जीवामः=प्राणान् धारयामः ।

भावार्थ—यथा यमविरुद्धस्य प्राणिनः जीवनं न सम्भवति तथा चाणक्यविरोधिनोऽपि, अतः न केनापि चाणक्यविरोधिना वर्तितव्यमिति भावः ।

भाषार्थ—भक्ति द्वारा वश में किये गये यमराज की कृपा से प्राणिमात्र का जीवन चलता है । जिस यमराज से सब जीवों का नाश होता है उन्हीं की कृपा से हम सब जीवित रहते हैं ।

व्याकरणम्—भक्त्या = भज् (सेवायाम्) + क्तिन् तृतीयैकवचनम् । जीवितव्यम् = जीव् (प्राणने) + तव्यत् भावे । विषमात् = विभिन्नः समेभ्यः इति विषमः तस्मात् तत्पुरुषसमासः । सर्वलोकम् = सर्वश्चासौ लोकः तं कर्मधारयसमास ।

कोष—लोकः "लोकस्तु भुवने जने" लोकशब्द के संसार और मनुष्य दो अर्थ होते हैं ।

अलंकार—अप्रस्तुतप्रशंसा । प्रस्तुतात् यमवृत्तान्तात् अप्रस्तुतस्य चाणक्यस्य वृत्तान्तवर्णनात् अप्रस्तुतप्रशंसा नामालंकारः ।

छन्द—आर्या वृत्तम् ।

टिप्पणी—इन दोनों १७ १८वें आर्या छन्दों से क्रूरतासे यमसदृश चाणक्य का स्वपक्ष और परपक्ष विषयक अनुकम्पा और दण्ड-सामर्थ्य का द्योतन किया गया है ।

जावएदं गेहं पवित्तअ जमपडं दंसअन्तो गीआइं गाआमि ।
(तस्मादिदं गृहं प्रविश्य यमपटं दर्शयन् गायामि ।)
शिष्यः—(विलोक्य) भद्र ! न प्रवेष्टव्यम् ।

चरः—(विहस्य) हंहो बह्मण, कस्स एदं गेहम् ? (अहो ब्राह्मण, कस्येदं गृहम् ?)

शिष्यः—अस्माकमुपाध्यायस्य सुगृहीतनाम्न आर्यचाणक्यस्य।

चरः—(विहस्य) हंहो बह्मण, अत्तकेरकस्स जेव्व मह धम्मभादुणो घरं होदि। ता देहि मे पवेसं जाव दे उवज्झाअस्स जमपडं पसारिअ धम्मं उवदिसामि। (अहो ब्राह्मण, आत्मीयस्यैव मम धर्म भ्रातुर्गृहं भवति। तस्माद्देहि मे प्रवेशं यावत्तवोपाध्यायस्य यमपटं प्रसार्य धर्म-मुपदिशामि।)

शिष्यः—(सकोधम्) धिङ् मूर्ख, किं भवानस्मदुपाध्यायादपि धर्म-वित्तरः ?

चरः—हंहो बह्मण, मा कुप्प। णहि सव्वो सव्वं जाणादि। ता किंवि ते उवज्झाओ जाणादि, किंवि अम्हारिसा जाणादि। (अहो ब्राह्मण, मा कुप्य। नहि सर्वः सर्वं जानाति। तत् किमपि ते उपाध्यायो जानाति, किमप्यस्मादृशा जानन्ति।)

शिष्यः—मूर्ख, सर्वज्ञतामुपाध्यायस्य चोरयितुमिच्छसि ?

चरः—हंहो बह्मण, जइ तव उवज्झाओ सव्वं जाणादि ता जाणादु दाव कस्स चन्दो अणिभिप्पेदो त्ति। (अहो ब्राह्मण, यदि तवोपाध्यायः सर्वं जानाति तर्हि जानातु तावत्कस्य चन्द्रोऽनभिप्रेत इति)।

शिष्यः—मूर्ख, किमनेन ज्ञातेनाज्ञातेन वा ?

चरः—तव उवज्झाओ एव्व जाणिस्सदि जं इमिणा जाणिदेण होदि। तुमं दाव एत्तिअं जाणासि कमलाणं चन्दो अणभिप्पेदो त्ति। णं पेक्ख—

(तवोपाध्याय एव ज्ञास्यति यदेतेन ज्ञातेन भवति। त्वं तावदेतावद् जानासि कमलानां चन्द्रोऽनभिप्रेत इति। ननु पश्य—)

भाषार्थ—तो इस घर में प्रवेश करके यमपट दिखा कर गीत गाता हूँ।

शिष्य—देखकर, सौम्य ! अन्दर न आओ।

गुप्तचर—ब्राह्मण ! यह किस का घर है ?

शिष्य—हमारे आचार्य प्रातः स्मरणीय आचार्य चाणक्य का।

गुप्तचर—(हँसकर) ब्राह्मण ! तब तो मेरे अपने ही धर्म भाई का घर है। अतः मुझे अन्दर आने दो। जिससे कि यमपट फैला कर तुम्हारे आचार्य को धर्म का उपदेश करूँ।

शिष्य—(क्रोध के साथ) धिक् मूर्ख ! क्या आप मेरे आचार्य से भी बढ़ कर धर्म जानने वाले हैं।

गुप्तचर—विप्रवर ! क्रोध में न आओ। सब लोग सब कुछ नहीं जाना करते। अतः कुछ तो तुम्हारे आचार्य जानते हैं, और कुछ हमारे जैसे लोग जानते हैं।

शिष्य—मूर्ख ! तुम हमारे आचार्य की सर्वज्ञता को चुराना चाहते हो।

गुप्तचर—ब्राह्मण देवता ! यदि तुम्हारे आचार्य सब कुछ जानते हैं तो बतावें कि चन्द्र को कौन नहीं चाहता।

शिष्य—मूर्ख ! इसके जानने या न जानने से क्या होता है ?

गुप्तचर—तुम्हारे आचार्य ही समझेंगे जो इसके जानने से होता है। तुम तो इतना ही जानते हो कि कमलों को चन्द्र पसन्द नहीं है। अच्छा देखो—

व्याकरणम्—सुगृहीतनाम्नः = सु = सुष्ठु, गृहीतं सुगृहीतं नाम यस्य सः सुगृहीतनामा तस्य बहुव्रीहिसमासः।

धर्मभ्रातुः = धर्मेण भ्राता, तस्य राज्ञः चन्द्रगुप्तस्य सेवकत्वात् अहं चाणक्यश्च परस्परं भ्रातरौ। धर्मवित्तरः = धर्मं वेत्ति इति धर्म + विद् + क्विप्; अतिशयेन धर्मवित् + तरप् "अतिशायने तरप्तमपौ" अस्मादृशाः = वयमिव पश्यन्ति इति अस्मद् + दृश् + कञ् "त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ्च" इत्यनेन कञ् प्रत्ययः।

अनभिप्रेतः = न अभिप्रेतः, अभि—प्र + इ + क्त नञ् तत्पुरुषः।

कमलाणां मणहराणां वि रूआहिन्तो विसंवदइ शीलम्।
संपुण्णमण्डलम्मि वि जाइं चन्दे विरुद्धाइं ॥१९॥
(कमलानां मनोहराणामपि रुपाद्विसंवदति शीलम्।
सम्पूर्णमण्डलेऽपि यानि चन्द्रे विरुद्धानि ॥१९॥)

प्रसंग—गुप्तचरः चाणक्यशिष्यं प्रत्यप्रस्तुतानां कमलानां चन्द्रापरागादि वर्णयन् प्रस्तुतानां राक्षसपक्षपातिनां चन्द्रगुप्ताऽपरागादि सुनिपुणमुद्भावयन्नाह'

अन्वयः—मनोहराणामपि कमलानां रूपात् शीलं विसंवदति, यानि सम्पूर्णमण्डलेऽपि चन्द्रे विरुद्धानि ।

संस्कृतार्थ—मनोहराणामपि = अधिकसौन्दर्यवतामपि, कमलानां = पङ्कजानां, रूपात् = आकारात्, शीलं = स्वभावः, विसंवदति = असदृशं भवति, यानि = कमलानि, सम्पूर्णमण्डलेऽपि = षोडशकलासमन्वितेऽपि, चन्द्रे = विधौ, विरुद्धानि = विपरीतानि विरुद्धाचरणवन्ति भवन्ति, चन्द्रोदये कमलानां संकोचनं तत्कान्तिअसहनञ्चातिशयानुचितमिति भावः ।

भावार्थ—प्रशस्तगुणशालिनोऽपि राक्षसपक्षपातिनः सम्पूर्णमण्डले मौर्ये विरुद्धमाचरन्ति तदयुक्तमितिगूढाभिप्रायः ।

भाषार्थ—मनोहर भी कमलों का स्वभाव उनकी आकृति से भिन्न होता है । क्योंकि वे कमल पूर्ण विम्ब वाले चन्द्रमा के विरुद्ध आचरण करते हैं । अर्थात् चन्द्र को देखकर भी नहीं खिलते हैं ।

व्याकरणम्—रूपात् = रूपमवेक्ष्य, यहाँ "ल्यब्लोपे कर्मण्यधिकरणे च" से पञ्चमीविभक्ति हुई । विसंवदति = वि – सम् + वद + लट् प्रथमपुरुषैकवचने रूपम्। सम्पूर्णमण्डलेऽपि = षोषडकलासमन्वितेऽपि, सम् + पूर् + क्त, मडि + कलच् प्रत्ययः, इदित्वात् नुम् ।

चन्द्र = चदि (आह्लादे) + णिच् + रक् प्रत्यः, इदित्वात् नुम् ।

कोष—कमलं "सहस्रपत्रं कमलं शतपत्रं कुशेशयम्" इत्यमरः वैसे कमल शब्द के "कमलपुष्प, पानी, ताँबा, आकाश, औषध" ये पाँच अर्थ होते हैं । कमलः पुंलिग का मृग विशेष यह अर्थ है ।

अलंकार—अप्रस्तुतप्रशंसा । अप्रस्तुत चन्द्रमण्डल से प्रस्तुत चन्द्रगुप्त के राज्यमण्डल का वर्णन होने से । विभावना और विशेषोक्ति अलंकार भी सम्भव हैं ।

छन्द—आर्या वृत्तम् ।

चाणक्यः—(आकर्ण्यात्मगतम्) अये, चन्द्रगुप्तादपरक्तान् पुरुषान् जानामीत्युपक्षिप्तमनेन ।

शिष्यः—मूर्ख, किमिदमसम्बद्धमभिधीयते ?

चरः—हंहो बह्मण, सुसंबद्धं जेव्व एवं भवे। (अहो ब्राह्मण, सुसम्बद्धमेवैतद्भवेत् ।)

शिष्यः—यदि किं स्यात् ।

चरः—यदि सुणिदुं जाणन्तं। (यदि श्रोतुं जानन्तं लभे ।)

चाणक्यः—भद्र, विश्रब्धं प्रविश। लप्स्यसे श्रोतारं ज्ञातारं च।

चरः—एसो पविसामि। (एष प्रविशामि)। प्रविश्योपसृत्य च) जेदु अजो। (जयत्वार्यः ।)

चाणक्यः—(विलोक्यात्मगतम्) कथमयं प्रकृतिचित्तपरिज्ञाने नियुक्तो निपुणकः। (प्रकाशम्) भद्र ! स्वागतम्। उपविश।

चरः—जं अज्जो आणवेदि। (भूमावुपविष्टः ।) यदार्य आज्ञापयति ।)

भाषार्थः—

चाणक्य—(सुनकर मन ही मन) अरे ! चन्द्रगुप्त के विरोधीजनों को जानता हूँ, ऐसा इसने संकेत किया है।

शिष्य—मूर्ख ! क्या यह असङ्गत बातें कह रहे हो ?

गुप्तचर—ब्राह्मण महाराज ! यह सुसंगत ही होतीं।

शिष्य—यदि क्या होता ?

गुप्तचर—यदि सुनने के लिए जानकार व्यक्ति को पाता।

चाणक्य—भद्र ! विश्वास पूर्वक अन्दर आओ, सुनने और समझने वाले को पा जाओगे।

गुप्तचर—यह आया (प्रवेश करके और समीप जाकर) आर्य की जय हो।

चाणक्य—(देखकर मन में) यह तो प्रजा की मनोवृत्ति जानने के लिए नियुक्त किया हुआ निपुणक है। (प्रकट) भद्र ! तुम्हारा स्वागत हो बैठो।

गुप्तचर—आर्य की जैसी आज्ञा (भूमि पर बैठ जाता है)

चाणक्यः—भद्र, वर्णयेदानीं स्वनियोगवृत्तान्तम्। अपि वृषलमनुरक्ताः प्रकृतयः ?

चरः—अह इं ? अज्जेण क्खु तेसु तेसु विराअकारणेसु परिहरिअंतेसु सुगहीदणामहेए देवे चन्दउत्ते दिढं अनुरत्ताओ पकिदिओ। किंदु

उण संति एत्थ णअरे अमच्चरक्खसेण सह पढमं समुप्पण्णसिणेहबहुमाणा तिण्णि पुरिसा, जे देवस्स चन्दसिरिणो सिरिं ण सहन्दि। (अथ किम् ? आर्येण खलु तेषु तेषु विरागकारणेषु परिह्रियमाणेषु सुगृहीतनामधेये देवे चन्द्रगुप्ते दृढमनुरक्ताः प्रकृतयः। किन्तु पुनः सन्त्यत्र नगरे अमात्यराक्षसेन सह प्रथमं समुत्पन्नस्नेहबहुमानास्त्रयः पुरुषाः ये देवस्य चन्द्रश्रियः श्रियं न सहन्ते।)

चाणक्यः—(सक्रोधम्) ननु वक्तव्यं स्वजीवितं न सहन्ते इति। भद्र, अपि ज्ञायन्ते नामधेयतः ?

चाणक्य—भद्र ! अब बताओ अपने कार्य का समाचार। क्या प्रजायें चन्द्रगुप्त में अनुरक्त हैं ?

गुप्तचर—और क्या, आप के द्वारा विरक्ति के उन उन कारणों के दूर कर दिये जाने पर प्रातःस्मरणीय महाराज चन्द्रगुप्त में प्रजायें अत्यन्त अनुरक्त हैं। फिर भी इस नगर में पहले से ही अमात्य राक्षस के साथ स्नेह तथा सम्मान का व्यवहार करने वाले ऐसे तीन व्यक्ति हैं, जो चन्द्रतुल्य शोभा वाले महाराज की राज्यश्री का सहन नहीं करते हैं।

चाणक्य—(क्रोध से) तब तो यह कहो कि वे अपने जीवन को सहन नहीं करते हैं। भद्र ! क्या उन्हें नामतः जानते हो ?

व्याकरणम्—चन्द्रश्रियः = चन्द्रस्य श्रीः इव श्रीः अस्य बहुव्रीहिसमासः। नामधेयतः = नाम + धेय + तसिल् तृतीयार्थे।

वृषलं अनुरक्तः = कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया, अनु + रञ्ज् + क्त।

आर्यस्य = शेषेषष्ठी से षष्ठी। अपि ज्ञायन्ते = वाक्यारम्भेऽपि प्रश्नार्थकः।

कोषः—"गर्हासमुच्चयप्रश्नशङ्कासम्भावनास्वपि" इत्यमरः।

चरः—कहं अजाणिअणामहेआ अज्जस्स णिवेदिअन्ति ? (कथमज्ञातनामधेया आर्यस्य निवेद्यन्ते ?)

चाणक्यः—तेन हि श्रोतुमिच्छामि।

चरः—सुणादु अज्जो। पढमं दाव अज्जस्स रिपुपक्खे बद्धपक्खवादो खवणओ जीवसिद्धी। (शृणोत्वार्यः। प्रथमं तावदार्यस्य रिपुपक्षे बद्धपक्षपातः क्षपणको जीवसिद्धिः।)

चाणक्यः—(सहर्षमात्मगतम्) अस्मद्रिपुपक्षे बद्धपक्षपातः क्षपणकः! (प्रकाशम्) किं नामधेयो हि सः।

चरः—जीवसिद्धी णाम सो जेण सा अमच्चरक्खसप्पउत्ता विसकण्णा देवे पव्वदीसरे समावेसिदा। (जीवसिद्धिर्नाम स येन सा अमात्यराक्षसप्रयुक्ता विषकन्या देवे पर्वतेश्वरे समावेशिता।)

चाणक्यः—(स्वगतम्) जीवसिद्धिरेष तावदस्मत्प्रणिधिः। (प्रकाशम्) भद्र, अथापरः कः?

चरः—अज्ज, अवरो वि अमच्चरक्खसस्स पिअबअस्सो काअत्थो सअडदासो णाम। (आर्य, अपरोऽपि अमात्यराक्षसस्य प्रियवयस्यः कायस्थः शकटदासो नाम।)

चाणक्यः—(विहस्यात्मगतम्) कायस्थ इति लघ्वी मात्रा। तथापि न युक्तं प्राकृतमपि रिपुमवज्ञातुम्। तस्मिन्मया सुहृच्छद्मना सिद्धार्थको विनिक्षिप्तः। (प्रकाशम्) भद्र, तृतीयं श्रोतुमिच्छामि।

चरः—तिदीओ वि अमच्चरक्खसस्स दुदीअं विअ हिअअं पुप्फउरणिवासी मणिआरसेट्ठी चन्दणदासो णाम। जस्स गेहे कलत्तं ण्णासीकदुअ अमच्चरक्खसो णअरादो अवक्कन्तो। (तृतीयोऽपि अमात्यरासक्षस्य द्वितीयमिव हृदयं पुष्पपुरनिवासी मणिकारश्रेष्ठी चन्दनदासो नाम। यस्य गेहे कलत्रं न्यासीकृत्य अमात्यराक्षसो नगरादपक्रान्तः।)

चर—भला बिना नाम जाने निवेदन ही कैसे करता।

चाणक्य—तो सुनना चाहता हूँ।

चर—आर्य! सुनें। पहला तो आपके शत्रु पक्ष का बहुत बड़ा पक्षपाती क्षपणक जीवसिद्धि है।

चाणक्य—(हर्ष के साथ मन में) हमारे शत्रु पक्ष का पक्षपाती क्षपणक।

चर—जीवसिद्धि नाम का वह व्यक्ति है, जिसने अमात्य राक्षस द्वारा भेजी गई विषकन्या को महाराज पर्वतेश्वर के लिये नियुक्त किया था।

चाणक्य—(मन में) यह जीवसिद्धि तो हमारा गुप्तचर है। (प्रकट) भद्र! और दूसरा कौन है?

गुप्तचर—आर्य दूसरा भी अमात्य राक्षस का प्रिय मित्र कायस्थ शकटदास नामक व्यक्ति है।

चाणक्य—(हँस कर मन में) कायस्थ यह छोटी मात्रा है, (अर्थात् कायस्थ की क्या हस्ती है) तो भी छोटे शत्रु की भी उपेक्षा करना ठीक नहीं है। उसके लिये तो मैंने मित्र के बहाने सिद्धार्थक को नियुक्त कर रखा है। (प्रकट) भद्र ! तीसरे व्यक्ति को सुनना चाहता हूँ।

चर—तीसरा भी अमात्य राक्षस का अभिन्न हृदय पाटलिपुत्र का रहने वाला सेठ जौहरी चन्दनदास नाम का व्यक्ति है जिसके घर में अपनी पत्नी को धरोहर रूप में रख कर अमात्य राक्षस नगर से बाहर निकला हुआ है।

व्याकरण—बद्धपक्षपातः = बद्धः पक्षपातः अनेनेति, बहुव्रीहिसमासः पक्षे पातः "सुप्सुपा समासः, बन्ध् + क्त।

समावेशिता = सम् + आ + विश् + णिच् + क्त + टाप्, नियुक्ता।

प्रणिधिः—प्रणिधीयन्ते अस्मिन् इति प्र + नि + धा + कि नेर्गदनदपतपद से णत्व। लघ्वी मात्रा = क्षुद्र अंश। विहस्य = वि + हस् + क्त्वा (ल्यप्)। न्यासीकृत्य = नि + अस् + घञ् = न्यासः, अन्यासं न्यासं कृत्वा इति न्यास + च्वि, कृ + ल्यप्।

टिप्पणी—आचार्य क्षेमेन्द्र ने कायस्थ के गुणों के सम्बन्ध में लिखा है—

काकाल्लौल्यं यमात्क्रौर्यं स्थपतेः दृढघातिता।
आद्यक्षराणि संगृह्य कायस्थो केन निर्मितः।
क्षत्रियात् शूद्रायां जातः कायस्थः।

चाणक्यः—(आत्मगतम्) नूनं सुहृत्तमः। न अनात्मसदृशेषु राक्षसः कलत्रं न्यासीकरिष्यति। प्रकाशम्, भद्र, चन्दनदासस्य गृहे राक्षसेन कलत्रं न्यासीकृतमिति कथमवगम्यते ?

चरः—अज्ज, इअं अङ्गुलिमुद्दा अज्जं अवगदत्थं करिस्सदि। आर्य, इयमङ्गुलिमुद्रा आर्यमवगतार्थं करिष्यति।) (इत्यर्पयति।)

चाणक्यः—(मुद्रामवलोक्य गृहीत्वा राक्षसस्य नाम वाचयति)। (सहर्षं स्वगतम्।) ननु वक्तव्यं राक्षस एवास्मदङ्गुलिप्रणयी संवृत्त इति।

(प्रकाशम्) भद्र, अङ्गुलिमुद्राधिगमं विस्तरेण श्रोतुमिच्छामि।

चरः—सुणादु अज्जो। अत्थि दाव अहं अज्जेण पौरजणचरिद-अण्णेसणे णिउत्तो परघरप्पवेसे परस्स अणासंकणिज्जेण इमिणा जमपडेण हिण्डन्तो मणिआरसेट्ठिचन्दणदासस्स गेहं पविट्ठोम्हि। तहिं जमपडं पसारिअ पडत्तोम्हि गीदाइं गाइदुद्। (शृणोत्वार्यः। अस्ति तावदहमार्येण पौरजनचरितान्वेषणे नियुक्तः परगृहप्रवेशे परस्यानाशङ्कनीयेन अनेन यमपटेन आहिण्डमानो मणिकारश्रेष्ठिचन्दनदासस्य गृहं प्रविष्टोऽस्मि। तत्र यमपटं प्रसार्य प्रवृत्तोऽस्मि गीतानि गातुम्।)

चाणक्यः—ततः किम् ?

चाणक्य—(स्वगत) अवश्य ही यह राक्षस का परम मित्र होगा। क्योंकि अपने से भिन्न जनों के पास राक्षस अपनी स्त्री को नहीं रखेगा। (प्रकट) भद्र ! चन्दनदास के घर में राक्षस ने अपनी भार्या को रखा है यह तुम कैसे जानते हो ?

चर—आर्य ! यह अँगूठी आप को सब कुछ बता देगी।

(अँगूठी देता है)

चाणक्य—(अँगूठी देखकर, लेकर, राक्षस का नाम बाँचकर बड़े हर्ष के साथ स्वगत) निश्चय से राक्षस ही हमारी मुट्ठी में आ गया। (प्रकट) भद्र ! अँगूठी की प्राप्ति के बारे में मैं विस्तार से सुनना चाहता हूँ।

चर—सुनिये महाराज ! नागरिकों के चरित्र का पता लगाने के लिये आपके द्वारा नियुक्त किया हुआ मैं दूसरे के घर में प्रवेश करने पर किसी के सन्देह न करने योग्य इस यमपट के साथ घूमता हुआ सेठ जौहरी चन्दनदास के घर में प्रविष्ट हुआ। वहाँ यमपट को फैला कर गीत गाने लगा।

चाणक्य—उसके बाद क्या हुआ ?

व्याकरणम्—सुहृत्तमः = अतिशयेन सुहृत् इति "अतिशायने तरप्-तमपौ" इससे तमप् प्रत्यय हुआ। सुहृत् + तमप्। अवगतार्थम् = अवगतः अर्थः येन तम् बहुव्रीहि समासः। अव + गम् + क्त। ऋ + थन्।

अस्मदंगुलिप्रणयी = हस्तगत, अस्माकं अंगुलयः, अस्मदगुंलयः षष्ठी तत्पुरुषः, तासु प्रणयी, प्र + नी + अच् = प्रणय + णिनि = प्रणयी। विस्तरेण = वि + स्तृञ् + अप्, तेन "शब्दस्य विस्तरः, पटस्य विस्तारः भवति"।

विस्तारः यहाँ वि + स्तृञ् + घञ् । आर्येण = ऋ + ण्यत् तेन ।

चरः—तदो एक्कादो अववरकादो पञ्चवरिसदेसीओ पिअदंसणी-असरीराकिदी कुमारओ बालत्तणसुलहकोदूहलोप्फुल्लणअणोणिक्कमिदु पउत्तो । तदो हा णिरगदो हा णिरगदो त्ति संकापरिग्गहणिवेदइत्तिओ तस्स एव्व अववरकस्स अब्भन्तरे इत्थिआजणस्स उट्ठिदो महन्तो कल-अलो । तदो ईसि दारदेशदाविदमुहीए एक्काए इत्थिआए सो कुमारओ णिक्कमन्तो एव्व णिब्भच्छिअ अवलम्बिदो कोमलाए बाहुलदाए । तस्साए कुमारसंरोधसंभमप्पचलिदङ्गुलिदो करादो पुरिसअङ्गुलिपरिणा-हप्पमाणघडिआ विअलिआ इअं अङ्गुलिमुद्दिआ देहलीबन्धम्मि पडिआ उट्ठिदा ताए अणवबुद्धा एव्व मम चलणपासं समागच्छिअ पणामणि हुआ कुलबहु विअ णिच्चला संबुता । मए वि अमच्चरक्खसस्स णामंकि-देत्ति अज्जस्स पादमूलं पाविदा । ता एसो इमाए आअमो । (ततश्च एकस्मादपवरकात्पञ्चवर्षदेशीयः प्रियदर्शनीयशरीराकृतिः कुमारको बालत्वसुलभकौतूहलोत्फुल्लनयनो निष्क्रमितुं प्रवृत्तः । ततो हा निर्गतो हा निर्गत इति शङ्कापरिग्रहनिवेदयिता तस्यैवापवरकस्याभ्यन्तरे स्त्री-जनस्योत्थितो महान्कलकलः । तत ईषद्द्वारदेशदापितमुख्या एकया स्त्रिया स कुमारको निष्कामन्नेव निभर्त्स्यावलम्बितः कोमलया बाहुलतया । तस्याः कुमारसंरोधसंभ्रमप्रचलिताङ्गुलेः करात्पुरुषाङ्गु-लिपरिणाहप्रमाणघटिता विगलितेयमङ्गुलिमुद्रिका देहलीबन्धे पतिता उत्थिता तया अनवबुद्धैव मम चरणपार्श्वं समागत्य प्रणामनिभृता कुलवधूरिव निश्चला संवृत्ता । मयापि अमात्यराक्षसस्य नामाङ्कितेति आर्यस्य पादमूलं प्रापिता तस्मादेषोऽस्या आगमः ।

भाषार्थ—चर—तत्पश्चात् एक प्रिय और दर्शनीय शरीर की आकृति वाला लगभग पाँच वर्ष का बालक, जिसकी आखें बालसुलभ कौतूहल से खिल गई थीं, एक कमरे से निकलने लगा । तदनन्तर उसी कक्ष में स्त्रियों का "हाय निकल गया, हाय निकल गया' का सन्देहसूचक कोलाहल मच गया । स्त्री ने दरवाजे से मुँह निकाल कर झाँका और निकलते हुए उस बालक को

डाँट कर अपनी कोमल बाहों से पकड़ लिया। बालक को रोकने की व्याकुलता के कारण काँपती हुई अंगुलियों वाले हाथ से निकली हुई यह अँगूठी जिसकी गढ़न पुरुष की अँगुली की मोटाई के अनुसार है चौखट पर गिर पड़ी और उछल कर उस स्त्री के बिना जाने ही मेरे पैर के पास प्रणाम करने में संलग्न कुलवधू के समान निश्चल हो गई। मैंने भी अमात्य राक्षस के नाम से चिह्नित देखकर उसे आपके चरणों के निकट ला उपस्थित किया है। यह इसकी प्राप्ति का समाचार है।

संस्कृतार्थ—गीतगानानन्तरं सहसा प्रकोष्ठात् असमाप्तपञ्चवर्षः मनोहरभव्याकारः बालकः शैशवस्य स्वभावजेन कौतुकेन विकसितनेत्रः प्रकोष्ठात् निर्गन्तुं उद्युक्तः। ततः कष्टं अपयातः वत्सः इतिसन्देहसूचकः कक्षमध्ये नारीणां अव्यक्तध्वनिः समुत्पन्नः। पश्चाच्चाल्योद्घाटितद्वारप्रदेशनिहिताननाकाचित् ललना बहिर्निर्गच्छन्तं बालकं तिरस्कृत्य मृदुभुजशाखयाऽगृह्णात्। अस्मिन्नेव व्यापारे तस्याः ललनायाः प्रकम्पिनः करात् एषा राक्षसनामाकिता पुरः दृश्यमाना अंगुलिमुद्रिका पतिता मया च लब्धा भवतः पादमूलं चानीता।

व्याकरणम्—अपवरकात् = अपव्रियते अनेन अस्मिन् वा अप् + वृ + अप् + कन्, अपादाने पञ्चमी, केचित्तु अपवरको गवाक्षः "खिड़की" यह अर्थ मानते हैं। पञ्चवर्षदेशीयः = पंचवर्ष + देशीयर् "ईसदसमाप्तौ कल्पप्देशीयरौ"। परिग्रहः उत्पत्तिः = परि + ग्रह् + अप्। उत्फुल्लः विकसितः, उत् + फल् + क्त "ति च" इत्युत्वम्।

चाणक्यः—भद्र ! श्रुतम्, अपसर। नचिरादस्य परिश्रमस्यानुरूपं फलमधिगमिष्यसि।

चरः—जं अज्जो आणवेदि। (यदार्य आज्ञापयति।) (इति निष्क्रान्तः।)

चाणक्यः—शार्ङ्गरव। शार्ङ्गरव।

(प्रविश्य)

शिष्यः—उपाध्याय ! आज्ञापय।

चाणक्यः—वत्स ! मसीभाजनं पत्रञ्चोपानय।

शिष्यः—यदाज्ञापयत्युपाध्यायः (इति निष्क्रम्य पुनः प्रविश्य) उपाध्याय ! इदं मसीभाजनं पत्रञ्च ।

चाणक्यः—(पत्रं गृहीत्वा स्वगतम्) किमत्र लिखामि ? अनेन खलु लेखेन राक्षसो जेतव्यः ।

(प्रविश्य)

प्रतीहारी—जेदु अज्जो (जयत्वार्यः) ।

चाणक्यः—(सहर्षमात्मगतम्) गृहीतो जयशब्दः । (प्रकाशम्) शोणोत्तरे ! किमागमनप्रयोजनम् ?

भाषार्थ—चाणक्य—भद्र ! सुन लिया, जाओ, शीघ्र ही इस परिश्रम के अनुरूप फल पाओगे ।

चर—जो आज्ञा श्रीमन्, (बाहर चला जाता है)

चाणक्य—शार्ङ्गरव, शार्ङ्गरव ।

शिष्य—(प्रवेश कर) आचार्य आज्ञा दीजिये ।

चाणक्य—वत्स ! दवात और कागज लाओ ।

शिष्य—आचार्य की जो आज्ञा (बाहर जाकर फिर प्रवेशकर) आचार्य ! यह दवात-कागज है ।

चाणक्य—(लेकर मन में) इस पर क्या लिखूँ । इसी लेख से तो राक्षस को जीतना है ।

प्रतिहारी—(प्रवेश करके) आर्य की जय हो ।

चाणक्य—(प्रसन्न होकर स्वगत) पर जय शब्द तो ग्रहण कर लिया । (प्रकट) हे शोणोत्तरे ! कैसे आना हुआ ?

व्याकरणम्—नचिरात् = शीघ्रमेव, न और चिरात् दोनों अव्यय पद हैं । न चिरात् यहाँ सुप्सुपा समास है, अव्ययत्वात् सुलोपः । न नञ् से भिन्न अव्यय होने से अचिरात् ऐसा प्रयोग नहीं ।

उपाध्याय = उप—अधि + इ + घञ् ।

टिप्पणी—प्रतीहारी—स्त्री द्वारपाल, सन्धिविग्रहादि कार्य निवेदन करने वाली ।

"सन्धिविग्रहसम्बद्धं नानाकार्यसमुत्थितम् ।
निवेदयन्ति याः कार्यं प्रतीहार्यस्तु ताः स्मृताः ॥

गृहीतो ऽयं जयशब्दः—यह नाटक का प्रथम पताका स्थान है ।

यत्रार्थे चिन्तितेऽन्यस्मिन् तल्लिङ्गेऽन्यः प्रयुज्यते ।
आगन्तुकेन भावेन पताकास्थानकं तु तत् ॥

राक्षसो जेतव्यः—इस प्रकरण में प्रतीहारी का "जयत्वार्यः" यह वचन सुनकर चाणक्य की यह उक्ति "गृहीतो जयशब्दः" नाटक की परिभाषा में 'गण्ड' कहलाता है ।

"गण्डं प्रस्तुतसम्बन्धिभिन्नार्थं सहसोदितम्"

प्रतीहारी—अज्ज ! देवो चन्दसिरी सीसे कमलमुउलाआरमञ्जलिं निवेसिअ अज्जं विणवेदि । इच्छामि अज्जेण अब्भणुण्णादो देवस्स पब्बदेसरस्स पारलोइअं कारेदुम् । तेण अ धारिदपुब्बाइं आहरणाइं बह्माणाणं पडिवादेमि त्ति । (आर्य ! देवश्चन्द्रश्रीः शीर्षे कमलमुकुलाकारमञ्जलिं निवेश्य आर्यं विज्ञापयति—'इच्छाम्यार्येणाभ्यनुज्ञातः देवश्य पर्वतेश्वरस्य पारलौकिकं कर्तुम् । तेन च धारितपूर्वाण्याभरणानि ब्राह्मणानां प्रतिपादयामीति ।)

चाणक्यः—(सहर्षमात्मगतम्) साधु वृषल ! ममैव हृदयेन सह संमन्त्र्य सन्दिष्टवानसि । (प्रकाशम्) शोणोत्तरे ! उच्यतामस्मद्वचनाद्वृषलः—'साधु वत्स ! अभिज्ञः खल्वसि लोकव्यवहाराणां, तदनुष्ठीयतामात्मनोऽभिप्रायः । किन्तु पर्वतेश्वरधृतपूर्वाणि गुणवन्ति भूषणानि गुणवद्भ्य एव ब्राह्मणेभ्यः प्रतिपादनीयानि । तदहं स्वयमेव परीक्षितगुणा न ब्राह्मणान् प्रेषयामि ।

भाषार्थ—प्रतिहारी—आर्य ! चन्द्र कान्ति तुल्य देव चन्द्रगुप्त कमलकलिका की तरह प्रणामाञ्जलि को सिर से लगाकर आपसे निवेदन करते हैं कि आपकी अनुमति हो तो मैं पर्वतेश्वर का श्राद्ध करना चाहता हूँ तथा उनसे पहले धारण किये गये आभूषणों को योग्य ब्राह्मणों को देना चाहता हूँ ।

चाणक्य—(हर्षपूर्वक स्वागत) साधु वृषल ! साधु मेरे ही हृदय के साथ

सलाह कर तुमने यह सम्वाद भेजा है। (प्रकट) हे शोणोत्तरे ! हमारे कथनानुसार चन्द्रगुप्त से कहो वत्स ! तुम लोक व्यवहार के ज्ञाता हो अतः अपने विवेक से कार्य करो। परन्तु पर्वतेश्वर से धारण किये गये बहुमूल्य आभूषण गुणवान् ब्राह्मणों को देना चाहिये, अतः मैं अपने परीक्षित गुणी ब्राह्मणों को भेजता हूँ।

संस्कृतार्थः—प्रतिहारी—चाणक्य सम्बोध्य, हे आर्य ! इन्दुकान्तिः चन्द्रगुप्तः प्रणामाञ्जलिं शिरसि निधाय भवन्तं निवेदयति। भवताऽऽज्ञप्तोऽहं राज्ञः पर्वतेश्वरस्य श्राद्धादिकं कर्म कर्तुं वाञ्छामि अभिलषामि च पर्वतेश्वरेण धारितपूर्वाणि भूषणानि गुणवद्भ्यः ब्राह्मणेभ्यः दातुम्।

चाणक्यः—(स्वगतम्) भोः चन्द्रगुप्त ! एतत्तु मम वाञ्छितमेव सन्दिष्टं त्वया, (प्रकाशं) शोणोत्तरे ! मम वचनात् ब्रूहि चन्द्रगुप्तम्, लोकाचारविषयकं परं नैपुण्यं अधिगतं भवता, तस्मात् स्वसमीहितं विधेहि, परं राज्ञा धृतपूर्वाणि भूषणानि गुणवद्भ्यः ब्राह्मणेभ्यः एव दातव्यानि, तस्मात् सुपरीक्षितान् गुणिनो द्विजान् अहं भवत्सन्निधौ प्रेषयामि।

व्याकरणम्—चन्द्रश्रीः=चन्द्रस्य श्रीरिव श्रीः यस्य सः बहुव्रीहिः। कमलमुकुलाकारं=कमलस्य मुकुलः कमलमुकुलः तस्य आकारः इव आकारः यस्य तादृशं बहुव्रीहिसमासः। पारलौकिकम्—परलोक+अण् परलोकसिद्ध्यर्थं कृतं कर्म, श्राद्धादिकम्। आभूषणानि=समन्तात् भूष्यतेऽलंक्रियते एभिः तानि आ+भूष्+ल्युट् अनादेशः)।

प्रतीहारी—जं अज्जो आणवेदि (यदार्य आज्ञापयति) (इति निष्क्रान्ता।)

चाणक्यः—शार्ङ्गरव ! उच्यन्तामस्मद्वचवचनाद्विश्वावसुप्रभृतयः त्रयो भ्रातरः—'वृषलात्प्रतिगृह्याभरणानि भवद्भिरहं द्रष्टव्य' इति।

शिष्यः—यदाज्ञापयत्युपाध्यायः। (इति निष्क्रान्तः।)

चाणक्यः—उत्तरोऽयं लेखार्थः, पूर्वः कथमस्तु ? (विचिन्त्य) आः, ज्ञातम्। उपलब्धवानस्मि प्रणिधिभ्यो यथा तस्य म्लेच्छराजबलस्य मध्यात् प्रधानतमाः पञ्च राजानः परया सुहृत्तया राक्षसमनुवर्तन्ते। ते यथा—

भाषार्थ—प्रतिहारी—जैसी आपकी आज्ञा (बाहर निकल जाती है।)

चाणक्य—शार्ङ्गरव ! मेरी ओर से विश्वावसु अदि तीनों भाइयों से कहो कि चन्द्रगुप्त से आभूषण लेकर वे मुझसे मिलें।

शिष्य—आचार्य की जैसी आज्ञा (बाहर चला जाता है)

चाणक्य—(मन ही मन) यह आभूषणों का समाचार पत्र का अन्तिम विषय होगा। प्रारम्भ का विषय क्या हो ? (सोचकर) अच्छा समझ गया। जैसा कि गुप्तचरों से पता चला है कि म्लेच्छराज की सेना में से पाँच प्रमुख राजा अत्यन्त मित्र भाव से राक्षस का अनुसरण कर रहे हैं। वे ये हैं।

कौलूतश्चित्रवर्मा मलयनरपतिः सिंहनादो नृसिंहः
काश्मीरः पुष्कराक्ष : क्षतरिपुमहिमा सैन्धवः सिन्धुषेणः।
मेघाख्यः पञ्चमोऽस्मिन् पृथुतुरगबलः पारसीकाधिराजो
नामान्येषां लिखामि ध्रुवमहमधुना चित्रगुप्तः प्रमार्ष्टु ॥२०॥

प्रसङ्गः—नन्दमन्त्रिणः राक्षसस्य विजयाय प्रयोक्ष्यमाणस्य कूटलेखस्यार्थस्वरूपं निपुणं निरूपयन् चाणक्यः स्वस्य सुनिश्चितभाविकार्यक्रममाह।

अन्वयः—कौलूतः चित्रवर्मा, नृसिंहो मलयनरपतिः सिंहनादः, काश्मीरः पुष्कराक्षः, क्षतरिपुमहिमा सैन्धवः सिन्धुषेणः, पृथुतुरगबलः पारसीकाधिराजः मेघाख्यः पञ्चमः, अस्मिन् अहं ध्रुवं अधुना एषां नामानि लिखामि, चित्रगुप्तः प्रमार्ष्टु।

संस्कृतार्थः—कौलूतः=कुलूविषय वास्तव्यः, चित्रवर्मा, तदाख्यः नृपः। नृसिंहः=नृणां नृषु वा सिंहः=श्रेष्ठः, मलयनरपतिः=मलयाचलसमीपवर्तिदेशाधिपः, सिंहनादो नाम नृपः। काश्मीरः=कश्मीरदेशाधिपः, पुष्कराक्षोनाम भूपः। क्षतरिपुमहिमा=क्षतः==हतः, रिपूणां=अरीणां, महिमा=प्रभावः येनासौ तादृशः, सैन्धवः—सिन्धुदेशाधिपः, शत्रुन्दमः इत्यर्थः सिन्धुषेणोनाम। पृथु=महत्, तुरगाणां=अश्वानां, बलं=सैन्यं यस्यासौ पारसीकानां=वनायुदेशोद्भवानां, अधिराजः=अधिपतिः, मेघाख्यः। एते पञ्च राजानः अस्मिन्=पत्रे, अहं=चाणक्यः,ध्रुवं=निश्चितं, अधुना=साम्प्रतं,

एषां नामानि लिखामि, चित्रगुप्तः = यमराजामात्यः, प्रमार्ष्टु = क्षालयतु, निज-लेखपत्रात्, तानहमेव हनिष्यामि इति भावः ।

भावार्थः—चाणक्यः एतत्पत्रे मदीयलेखेनैव सह एषां चित्रवर्मणः सिंहनादस्य पुष्कराक्षस्य सिन्धुषेणस्य मेघाक्षस्य च मृत्युः भविष्यति । अतः चित्रगुप्तः स्वजीवितजनानां सूचीपत्रादेषां पञ्चानां नृपाणां नामानि—उत्सारयतु ।

भाषार्थ—कुलूत (कुल्लू) देश का राजा चित्रवर्मा, मनुष्यों में श्रेष्ठ सिंह के समान मलय देश का राजा सिंहनाद, काश्मीर देश का राजा पुष्कराक्ष, सिन्धु (सिन्धवर्तमान) देश का राजा सिन्धुषेण, घुड़सवार सेना वाला पारस (परसिया) देश का राजापाँचवा मेघाक्ष या मेघाख्य है । मैं अभी इन सब का नाम लिखता हूँ, चित्रगुप्त इनके नामों को अपने यहाँ जीवित जनों की सूची में से मिटा दे ।

व्याकरणम्—कौलूतः = कुलूतानां राजा, कुलूत + अञ् "तद्धितेष्वचामादेः" से आदि अच् को वृद्धिः । नृसिंह = नराणां नरेषु वा सिंहः "निर्धारणे-षष्ठी" ना सिंह इव इत्युपमितसमासः । सिन्धुषेणः = सिन्धु सेना अस्येति बहुव्रीहिः । प्रमार्ष्टु = प्र + मृज् + लोट् तिप् "एरुः" से उकारादेशः । "मृजे-र्वृद्धिः" से आर् वृद्धिः ।

कोषः—"ध्रुवो भभेदे क्लीवं तु निश्चिते शाश्वते त्रिषु" ध्रुवः पुंल्लिग ध्रुवतारा का वाचक है । ध्रुवं नपुंसकलिंग निश्चित अर्थ का वाचक है । निरन्तर का वाचक ध्रुव शब्द तीनों लिंगों में प्रयुक्त होता है ।

अलङ्कार = अर्थापत्तिः "दण्डापूपिकयाऽन्यार्थागमोऽर्थापत्तिरिष्यते"

छन्द = स्रग्धरा "म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम् । २१ में अक्षर प्रत्येक पाद में हों तथा ७-७-७ पर विराम हो तथा मगण—रगण—भगण—नगण—तीन यगण हों ।

पाञ्चाली रीतिः, ओजोगुणः, वीरोरसः ।

(विचिन्त्य) अथवा न लिखामि, पूर्वमनभिव्यक्तमेवास्ताम् । (नाट्येन लिखित्वा) शार्ङ्गरव !

(प्रविश्य)

शिष्यः—उपाध्याय ! आज्ञापय ।

चाणक्यः—वत्स ! श्रोत्रियाक्षराणि प्रयत्नलिखितान्यपि नियतमस्फुटानि भवन्ति । तदुच्यतामस्मद्वचनात्सिद्धार्थकः । (कर्णे एवमिव) एभिरक्षरैः केनापि कस्यापि स्वयं वाच्यमिति अदत्तबाह्यनामानं लेखं शकटदासेन लेखयित्वा मामुपतिष्ठस्व न चाख्येयमस्मै चाणक्यो लेखयतीति ।

शिष्यः—तथा । (इति निष्क्रान्तः ।)

चाणक्यः—(स्वगतम्) हन्त जितो मलयकेतुः ।

(प्रविश्य लेखहस्तः)

सिद्धार्थकः—जेदु अज्जो ! अज्ज ! अअं सो सअडदासेण लिहिदो लेहः । (जयत्वार्यः । आर्य ! अयं स शकटदासेन लिखितो लेखः ।)

चाणक्यः—(गृहीत्वा) अहो दर्शनीयान्यक्षराणि । (अनुवाच्य) भद्र ! अनया मुद्रया मुद्रयैनम् ।

(सोचकर) अथवा नाम नहीं लिखता हूँ, पत्र का पूर्वार्द्ध भाग अस्पष्ट ही रहे (प्रकट) शार्ङ्गरव ! शार्ङ्गरव !

शिष्य—(प्रवेश करके) आचार्य ! आज्ञा कीजिये ।

भाषार्थ—चाणक्य—वत्स ! बहुत यत्न से भी लिखे गये श्रोत्रिय ब्राह्मणों के अक्षर स्पष्ट नहीं होते हैं । इसलिये मेरे कथनानुसार सिद्धार्थक से कहो (कान में सब कुछ समझा कर) इन अक्षरों के द्वारा किसी को किसी से स्वयं कहना है, इसलिये बिना बाहर नाम लिखे अर्थात् जिसको पत्र लिखा जा रहा है उसका नाम बाहर लिखे बिना एक पत्र शकटदास से लिखवा कर मेरे पास आओ और उस शकटदास से यह मत कहना कि यह पत्र चाणक्य लिखवा रहा हैं ।

शिष्य—ऐसा ही होगा (बाहर जाता है)

चाणक्य—(अपने मन में) अब क्या ! मलयकेतु को तो जीत लिया ।

सिद्धार्थक—(हाथ में लेख लिये प्रवेश करके) आर्य की जय हो। आर्य! यह शकटदास का अपने हाथ से लिखा हुआ वह पत्र है।

चाणक्य—(पत्र लेकर और देखकर) कितने सुन्दर अक्षर हैं। (बाँच कर) भद्र! इस मुद्रा से इसे मुद्रित कर दो।

व्याकरणम्—अनभिव्यक्तम् = अस्पष्टम्, न अभिव्यक्तं नञ्तत्पुरुषसमासः, न + अभि—वि + अञ्ज् + क्त। प्रयत्नः + प्रयासः, प्र + यत् + नङ् प्रत्ययः। प्र + यत् + ल्युट् + प्रयतनम्। श्रोत्रियः = वेदपाठी, छन्दः वेदमधीते वेत्ति वा छन्दस् = घ, श्रोत्रादेशः, घस्य इयः। न क्षरति इति अक्षरं, श्रोत्रियाणां अक्षराणि तत्पुरुषः।

टिप्पणी—पुरा मौखिकमध्ययनं अध्यापनं च भवतिरत्र, तस्मात् वेदविदोऽपि ब्राह्मणस्य प्रयत्नेनापि लिखितानि अक्षराणि स्पष्टानि भवन्ति। उपतिष्ठस्व = उप + स्था + लोट् मध्यमपुरुषैकवचनम्। यहाँ सङ्गतिकरण अर्थ में आत्मनेपद हुआ। हन्त अव्यय यहाँ हर्षसूचक है। यह अव्यय पद हर्ष—अनुकम्पा—वाक्यारम्भ तथा विषाद अर्थ में आता है। अहो अव्यय पद आश्चर्य विस्मय अर्थ में आता है। स्वगतम् = सर्वैरश्रोतव्यं श्रोतव्यं स्वात्मना" स्वगतमित्युच्यते।

सिद्धार्थकः—(तथा कृत्वा) अज्ज! अअं मुद्दिदो लेहः। किं अवरं अणुचिट्ठीअदु? (आर्य! अयं मुद्रितो लेखः। किमपरमनुष्ठीयताम्?)

चाणक्यः—भद्र! कस्मिंश्चिदाप्तजनानुष्ठेये कर्मणि त्वां व्यापारयितुमिच्छामि।

सिद्धार्थकः—(सहर्षम्) अज्ज! अणुग्गिहीदोम्हि। आणवेदु अज्जो किं इमिणा दासजणेण अज्जस्स अणुचिट्ठिदव्वम्। (आर्य! अनुगृहीतोऽस्मि, तदाज्ञापयत्वार्यः किमनेन दासजनेन आर्यस्यानुष्ठातव्यम्?

चाणक्यः—प्रथमं तावत् वध्यस्थानं गत्वा घातकः सरोषदक्षिणाक्षिसंकोचसंज्ञां ग्राहयितव्याः। ततस्तेषु गृहीतसंज्ञेषु भयापदेशादितस्ततः प्रद्रुतेषु शकटदासो वध्यस्थानादपनीय राक्षसं प्रापयितव्यः। तस्माच्च सुहृत्प्राणपरिरक्षणपरितुष्टात् पारितोषिकं ग्राह्यम्। राक्षस

एव कञ्चित् कालं सेवितव्यः। ततः प्रत्यासन्नेषु परेषु प्रयोजनमिदमनुष्ठेयम्। (कर्णे एवमिव।)

भाषार्थः—सिद्धार्थक—जैसी आज्ञा (मुहर लगाकर) आर्य यह है वह मुद्रित लेख, आज्ञा दीजिये श्रीमान्, और क्या करना है।

चाणक्य—भद्र! मैं अपने करने योग्य किसी कार्य में तुम्हें लगाना चाहता हूँ।

सिद्धार्थक—(प्रसन्नता से) आर्य! मैं आपका कृपापात्र हूँ। अतः आप आज्ञा कीजिये, कि यह दास कौन सा कार्य करे।

चाणक्य—भद्र! पहले तो वध्यस्थान में जाकर वहाँ के घातकों को क्रोध से दाहिना नेत्र दबाने का संकेत करो, उन सबके इशारा समझ जाने पर और भय से इधर-उधर भाग जाने पर शकटदास को वध्यस्थान से लेकर राक्षस के पास पहुँचाओ, उससे मित्र की प्राण-रक्षा से प्रसन्न राक्षस से पारितोषिक लो। तत्पश्चात् कुछ दिन तक राक्षस के ही पास रहो। शत्रु के समीप रहने पर यह कार्य करना (कान में कहता है।)

संस्कृतार्थः—चाणक्यः सिद्धार्थकं सम्बोध्य कथयति, भद्र! पूर्वं तावत् वध्यभूमिं गच्छ, तत्र सकोपं घातकपुरुषान् सव्यनेत्रसंकेतसंज्ञां देहि, ततः संकेतग्रहणानन्तरं पलायतेषु वधिकेषु शकटदासं राक्षसमित्रं वध्यस्थानादपनीय राक्षसमुद्गच्छ, तस्माच्च पारितोषिकं लब्ध्वा तत्रैव तिष्ठ, उपतिष्ठमानश्च तत्रैतत्कार्यं कुरु। कर्णे कथयति।

व्याकरणम्ः—तावत् इति वाक्यालंकारे प्रयुज्यते। घातकाः = हन् = ण्वुल्—अकादेशे "हनस्त च" इससे हन् के नकार को तकार हो गया। घ्नन्तीति घातकाः। रोषेण सह वर्तमानमिति सरोषं "तेन सह इति बहुव्रीहिः समासः। दक्षिणं तत् अक्षि दक्षिणाक्षि कर्मधारयसमासः। ग्राहयितव्याः = ग्रह् = णिच् = तव्यत्। भयापदेशात् = भयव्यपदेशमाश्रित्य, यहाँ ल्यब्लोपे पञ्चमी" से पञ्चमी है। पारितोषिकं = परितोषः प्रयोजनं अस्येति विग्रहे परितोष = ठञ्, ठस्येकादेशः।

सिद्धार्थकः—जं अज्जो आणवेदि । (यदार्य आज्ञापयति ।)

चाणक्यः—शार्ङ्गरव ! शार्ङ्गरव ! !

(प्रविश्य)

शिष्यः—उपाध्याय, आज्ञापय ।

चाणक्यः—उच्यतामस्मद्वचनात्कालपाशिको दण्डपाशिकश्च यथा वृषलः समाज्ञापयति—'य एष क्षपणको जीवसिद्धिर्नाम राक्षसप्रयुक्तो विषकन्यया पर्वतकं घातितवान् स एनमेव दोषं प्रख्याप्य सनिकारं नगरान्निर्वास्यताम्' इति ।

शिष्यः—तथा । (इति परिक्रामति ।)

चाणक्यः—वत्स ! तिष्ठ तिष्ठ—'योऽयमपरः कायस्थः शकटदासो नाम राक्षसप्रयुक्तो नित्यमस्मच्छरीरमभिद्रोग्धुमिह प्रयतते स चाप्येनं दोषं प्रख्याप्य शूलमारोप्यताम् गृहजनश्चास्य बन्धनागारं प्रवेश्यताम्' इति ।

शिष्यः—तथा । इति (निष्क्रान्तः ।)

सिद्धार्थक—आर्य ! जो आज्ञा ।

चाणक्य—शार्ङ्गरव ! शार्ङ्गरव !

शिष्य—(प्रवेश करके) आचार्य ! क्या आज्ञा है ?

चाणक्य—मेरी ओर से कालपाशिक और दण्डपाशिक से कहो कि चन्द्रगुप्त की आज्ञा है कि जीवसिद्धि नामक जिस क्षपणक ने राक्षस की प्रेरणा से विष कन्या के द्वारा पर्वतक की हत्या करवाई है । उसे इसी अपराध की घोषणा करके अपमान के साथ नगर से निकाल दिया जाय ।

शिष्य—जो आज्ञा (चलने लगता है ।)

चाणक्य—वत्स ! ठहरो ठहरो । और जो यह दूसरा शकटदास नाम का कायस्थ राक्षस की प्रेरणा से हमारे हम से (चन्द्रगुप्त से) द्रोह करने के लिये यहाँ (पाटलिपुत्र में) सतत प्रयत्न करता रहता है उसको भी इस अपराध की घोषणा करके शूली पर चढ़ा दिया जाय और उसके परिवार को जेल में डाल दिया जाय ।

शिष्य—ऐसा ही होगा। (बाहर निकल जाता है।)

संस्कृतार्थः—चाणक्यः शार्ङ्गरवमुद्दिश्याज्ञापयति कालपाशिकं दण्डपाशिकं च निर्देष्टुम् यत् बौद्धसंन्यासी जीवसिद्धिः यः विषकन्या राक्षसप्रेरणया पर्वतेश्वरं घातितवान् सः अस्माद्धेतोः नगरात् सडिण्डिमं बहिष्क्रियताम्।

अपरञ्चैष शकटदासः कायस्थः सोऽपि "चन्द्रगुप्तं हन्तुमिच्छति" इत्यस्मद्धेतोः शूलमारोप्यताम्

व्याकरणम्—प्रख्याप्य = प्र + ख्या + णिच्, पुक् + क्त्वा (ल्यप्)। सनिकारम् = निकारेण सह इति विग्रहे नि + कृ + घञ्। अभिद्रोग्धुम् = अभि + द्रुह् + तुमुन् विनाशयितुमित्यर्थः।

कालपाशिकः = कालपाशः प्रहरणं यस्येति विग्रहे कालपाश + ठञ् ठस्येकादेशः।

चाणक्यः—(चिन्तां नाटयित्वा आत्मगतम्) अपि नाम दुरात्मा राक्षसो गृह्येत ?

सिद्धार्थकः—अज्ज ! गहीदो। (आर्य ! गृहीतः।)

चाणक्यः—(सहर्षमात्मगतम्) हन्त ! गृहीतो राक्षसः। (प्रकाशम्) भद्र ! कोऽयं गृहीतः ?

सिद्धार्थकः—गहीदो मए अज्जस्स सन्देसो, ता गमिस्सं अहं कज्जसिद्धीए। (गृहीतो मया आर्यस्य सन्देशः। तद्गमिष्याम्यहं कार्यसिद्ध्यै।)

चाणक्यः—(साङ्गुलिमुद्रं लेखमर्पयित्वा) गम्यताम्। अस्तु ते कार्यसिद्धिः।

सिद्धार्थकः—तह। (तथा।) (इति निष्क्रान्तः।)

(प्रविश्य)

शिष्यः—उपाध्याय ! कालपाशिको दण्डपाशिकश्च उपाध्यायं विज्ञापयतः—'इदमनुष्ठीयते देवस्य चन्द्रगुप्तस्य शासनम्' इति।

चाणक्यः—शोभनम्। वत्स ! मणिकारश्रेष्ठिनं चन्दनदासमिदानीं द्रष्टुमिच्छामि।

शिष्य—तथा। (इति निष्क्रम्य चन्दनदासेन सह पुनः प्रविश्य) इत इतः श्रेष्ठिन् !

चाणक्य—(चिन्ता का अभिनय करके स्वगत) क्या दुष्ट राक्षस पकड़ा जायगा ?

सिद्धार्थक—आर्य ! पकड़ लिया।

चाणक्य—(प्रसन्नता के साथ स्वगत) बस अब राक्षस पकड़ा गया (प्रकट) भद्र ! यह कौन पकड़ा गया ?

सिद्धार्थक—मैंने आपका सन्देश ग्रहण कर लिया, अब मैं कार्यसिद्धि के लिये जाता हूँ।

चाणक्य—(अँगूठी के साथ यानी मुहरबन्द पत्र सौंप कर) जाओ सिद्धार्थक ! जाओ, तुम्हें कार्य में सफलता मिले।

सिद्धार्थक—आर्य ! जो आज्ञा (प्रणाम कर चला जाता है।)

शिष्य—(प्रवेश करके) आचार्य ! कालपाशिक और दण्डपाशिक का निवेदन है कि महाराज चन्द्रगुप्त की आज्ञा का पालन किया जा रहा है।

चाणक्य—बहुत ठीक वत्स ! अब मैं सेठ चन्दनदास को देखना चाहता हूँ !

शिष्य—आचार्य की जैसी आज्ञा (बाहर जाकर चन्दनदास के साथ पुनः प्रवेश करके) सेठ जी इधर, इधर आइये।

व्याकरण—सहर्षम् = हर्षेण सह वर्तते इति हृष् + घञ्, क्रिया-विशेषणम्। हन्त = हर्षसूचक अव्यय है, "हन्त हर्षेऽनुकम्पायां वाक्यारम्भविषादयोः" हन्त इन चार अर्थों में प्रयुक्त होता है।

साङ्गुलिमुद्रम् = अङ्गुलिमुद्रया सह वर्तमानः साङ्गुलिमुद्रः "तेन सह" इति बहुव्रीहिः समासः। शासनम्—शास् + ल्युट् (अनादेशः)।

उपाध्याय—उप समीपे आगत्य अधीते यस्य सः, उप + ईङ् अध्ययने + घञ्।

चन्दनदासः—(स्वगतम्)

चाणक्कम्मि अअरुणे सहसा सद्दाविदस्स लोअस्स ।
णिद्दोसस्स वि सङ्का किं उण मह जाददोसस्स ॥२१॥
(चाणक्येऽस्मिन्नकरुणे सहसा शब्दायितस्य लोकस्य ।
निर्दोषस्यापि शङ्का किं पुनर्मम जातदोषस्य ॥

चन्दनदास— (स्वगत)

प्रसङ्गः—अस्मिन् पद्ये चन्दनदासः चाणक्यमुपगच्छन् स्वमनसि स्वविषयकं किञ्चिदनिष्टं चिन्तयति ।

अन्वयः—अकरुणे अस्मिन् चाणक्ये सहसा शब्दायितस्य निर्दोषस्य अपि लोकस्य शङ्का (जायते) जातदोषस्य मम पुनः किम् ?

संस्कृतार्थः—अकरुणे = दयारहिते, अस्मिन् = अमुष्मिन्, चाणक्ये = कौटिल्ये, (विद्यमाने सति) तेन सहसा = अकस्मात्, शब्दायितस्य = आहूतस्य, निर्दोषस्य = निरपराधस्य, अपि = सम्भावनायां, लोकस्य = जनस्य, शङ्का = सन्देहः, भयं वा जायते इति शेषः, जातदोषस्य = सापराधस्य, मम–मे चन्दनदासस्य, पुनः = भूयः, किं = का कथा ।

भावार्थः—चाणक्येनाहूतस्य निरागसोऽपि जनस्य मनसि शङ्कातङ्को जायते । किं पुनः राक्षसकलत्ररक्षणेन सापराधस्य मम का कथा । ममत्वनिष्टं अवश्यं भावि ।

भाषार्थः—इस निर्दयी चाणक्य से बुलाये जाने पर निरपराध मनुष्य को भी भय लगता है । फिर अपराधी पुरुष की तो बात ही क्या है ।

व्याकरणम्—अकरुणे = अविद्यमाना करुणा यस्य सः अकरुणः तस्मिन् नञ् बहुव्रीहि समासः । शब्दायितस्य = शब्दं करोति इति विग्रहे "शब्दवैरकलह" आदि सूत्र से क्यङ् + णिच् + क्तः शब्दायितः तस्य विशेषणपदं लोकस्य । लोक्स्य = लोक्यते असौ लोकः लोक् + घञ् = लोकः तस्य, "लोकस्तु भुवने जने" लोक शब्द संसार तथा जन का वाचक है ।

कोषः—"लोकस्तु भुवने जने" इत्यमरः

अलंकार—अर्थापत्तिः । "दण्डापूपिकयाऽन्यार्थाऽऽगमः अर्थापत्तिः"

छन्द—आर्या, "यस्याः पादे प्रथमे द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि ।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या ।।

ता भणिदा मए धणसेणप्पमुहा णिअणिवेससंठिआ—कदावि चाणक्कहदओ गेहं विचिण्णावेदि । ता अवहिदा णिव्वहध भट्टिणो अमच्चरक्खसस्स घरअणम् । मह दाव जं होदि तं होदु त्ति । (तस्माद्भणिता मया धनसेनप्रमुखा निजनिवेशसंस्थिताः—कदापि चाणक्यहतको गेहं विचिनोति । तस्मादवहिता निर्वहत भर्तुरमात्य-राक्षसस्य गृहजनम् । मम तावत् यद्भवति तद्भवतु इति ।)

शिष्यः—भोः श्रेष्ठिन् ! इत इतः ।

चन्दनदासः—अअं आअच्छामि । (अयमागच्छामि ।)

(उभौ परिक्रामतः)

शिष्यः—(उपसृत्य) उपाध्याय, अयं श्रेष्ठी चन्दनदासः ।

चन्दनदासः—जेदु अज्जो । (जयत्वार्यः) ।

चाणक्यः—(नाट्येनावलोक्य) श्रेष्ठिन् ! स्वागतम् ! इदमासन-मास्यताम् ।

चन्दनदासः—(प्रणम्य) किं ण जाणादि अज्जो जहा अणुचिदो उव-आरो हिअअस्स परिहवादोवि दुःखमुप्पादेदि । ता इह ज्जेव उचिदाए भूमीए उवविसामि । (किं न जानात्यार्यः यथानुचित उपचारो हृदयस्य परिभवादपि दुःखमुत्पादयति । तस्मादिहैवोचितायां भूमावुपविशामि ।)

भाषार्थ—चन्दनदास—मैंने अपने घर में रहने वाले धनसेन आदि को कह दिया है कि दुष्ट चाणक्य कभी भी घर की तलाशी ले सकता है । इसलिये सावधान होकर स्वामी अमात्य राक्षस के परिवार को हटा देना । मेरा तो जो होना हो सो हो ।

शिष्य—सेठ जी, इधर आइये ।

चन्दनदास—लो यह आया (दोनों चलते हैं)

शिष्य—उपाध्याय ! सेठ चन्दनदास आये हैं ।

चन्दनदास—(पास में जाकर) जय हो आर्य की ।

चाणक्य—(विचित्र ढंग से देखकर) सेठ जी आपका स्वागत है। आइये इस आसन पर बैठिये।

चन्दनदास—(प्रणाम करके) क्या आप नहीं जानते हैं कि अनुचित सत्कार तिरस्कार से भी अधिक हृदय में दुःख उत्पन्न करता है। अतः मैं यहीं उपयुक्त भूमि पर बैठ जाता हूँ।

संस्कृतार्थः—तस्मात् कारणात् मया चन्दनदासेन एवं शासने संस्थिताः धनसेनादयः त्रयः वाणिज्यव्यापारिणः आदिष्टाः यत्कस्मिंश्चिदपि काले चाणक्यहतकःमम गेहं मार्गयितुं शक्तः तस्मात् कारणादमात्यराक्षसस्य कलत्रादिकं सावधानाः सन्तः निष्कास्य मदन्तःपुरात् अन्यत्स्थानं नयत, मम पुनः यद्भावि तद्भवतु।

चन्दनदासः—चाणक्यमभिवाद्यावेदयति, आर्य चाणक्य! किं न ज्ञायते भवद्भिः यदयुक्तोऽभ्यर्थनादिरूपसत्कारः तिरष्कारादपि बहुतरं क्लेशं जनयति। अतोऽहमत्रैव स्वयोग्यायां भूमौ उपतिष्ठे।

व्याकरणं—स्वागतम्—सुष्ठु आगमनं ते, आ + गम् + ल्युट् (अनादेशः) धनसेनः प्रमुखः येषां ते धनसेनप्रमुखाः बहुव्रीहिः। चाणक्यो हतकः चाणक्य-हतकः "कुत्सितानि कुत्सनैरिति समासः। उपसृत्य = उप + सृ + क्त्वा (ल्यप्)। नाट्येन = नृत्यं गीतं वाद्यं नाट्यमिदं त्रयम्" नट् + ष्यञ्।

चाणक्यः—भोः श्रेष्ठिन्! मा मैवम्। उचितमेवैतत् अस्मद्विधैः भवतः। तदुपविश्यतामासन एव।

चन्दनदासः—(स्वगतम्) उपलक्खिदमणेण दुट्ठेन किंवि। (उप-लक्षितमनेन दुष्टेन किमपि।) (प्रकाशम्) जं अज्जो आणवेदि त्ति। (यदार्य आज्ञापयति।) (उपविष्टः।)

चाणक्यः—भोः श्रेष्ठिन् चन्दनदास! अपि प्रचीयन्ते संव्यवहाराणां वृद्धिलाभाः।

चन्दनदासः—(स्वगतम्) अच्चादरो संकणीओ। (अत्यादरः शङ्कनीयः)। (प्रकाशम्) अह इं। अज्जस्स प्पसाएण अखण्डिदा मे वणिज्जा। (अथ किम्। आर्यस्य प्रसादेन अखण्डिता मे वणिज्या।)

चाणक्यः—न खलु चन्द्रगुप्तदोषा अतिक्रान्तपार्थिवगुणानधुना स्मारयन्ति प्रकृतीः ?

चन्दनदासः—(कर्णौ पिधाय) सन्तं पावम् । सारअणिसासमुग्गएण विअ पुण्णिमाचंदेन चन्दसिरिणा अहिअं णन्दन्ति पकिदिओ । (शान्तं पापम् । शारदनिशासमुद्गतेनेव पूर्णिमाचन्द्रेण चन्द्रश्रियाधिकं नन्दन्ति प्रकृतयः ।)

चाणक्य—सेठजी ! ऐसा मत करो, हम लोगों के साथ आप का यह बर्ताव उचित ही है, अतः आसन पर ही बैठो ।

चन्दनदास—(मन ही मन) ज्ञात होता है मेरे अपराध को जान लिया है । (प्रकट) जैसी आपकी आज्ञा (बैठ जाता है) ।

चाणक्य—कहिये सेठ चन्दनदास ! आपका कारोबार तो उन्नति मार्ग पर है न ?

चन्दनदास—(मन ही मन) इस प्रकार अधिक सत्कार अनिष्टसूचक है । (प्रकट) आर्य ! और क्या आपकी कृपा से व्यवसाय तो ठीक-ठीक ही चल रहा है ।

चाणक्य—क्यों सेठजी ! क्या कभी-कभी प्रजाओं के चन्द्रगुप्त की त्रुटियाँ दिवंगत महाराज नन्द के गुणों का स्मरण नहीं करवाया करतीं ?

चन्दनदास—(कानों पर हाथ रखकर) नहीं नहीं ऐसा न कहें श्रीमान् जी, शरत्कालीन पूर्णिमा के चन्द्रमा की तरह चन्द्रगुप्त से प्रजा बहुत प्रसन्न है ।

संस्कृतार्थः—चन्दनदासः = स्वगतम् सर्वैरश्राव्यंपथा तथा वदति । प्रकाशम् = सर्वैःश्राव्यम् । वणिज्या = वणिजां कर्म वाणिज्यं । न खण्डितः अखण्डितः, निष्प्रत्यूहः नञ् समासः । चन्द्रगुप्तस्य दोषाः चन्द्रगुप्तदोषाः तत्पुरुष समासः । अतिक्रान्ताः पार्थिवानां गुणाः तान् अतिक्रान्तपार्थिवगुणान् । उपचारः = आदरः ।

टिप्पणी—उपचर्यतेऽनेन इति उप + चर् + घञ् । संव्यवहाराः = सम्-वि-अव + हृ + घञ्, क्रयविक्रयात्मक व्यापार । वणिज्या = वणिजः भावो, वणिज् + यत् + टाप् । पिधाय = अपि + धा + क्त्वा (ल्यप्) । यहाँ अपि के अकार का लोप हो गया है । वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः, इस नियम से ।

शान्तं पादम्—नाटक के अश्राव्य बात के श्रवण होने पर प्रयोग किया जाता है, शान्तं पापमनिर्देश्ये । शारदनिशा—(चाँद के) समान । शारदी निशा शारदनिशा (कर्मधारय) तत्र समुद्गतः सरद् + अण् + ङीप् स्त्रियाम् शारदी ।

चाणक्यः—भोः श्रेष्ठिन् ! यद्येवं प्रीताभ्यः प्रकृतिभ्यः प्रियमिच्छन्ति राजानः ।

चन्दनदासः—आणवेदु अज्जो किं कित्तिअं इमादो जणादो इच्छीअदि त्ति । (आज्ञापयतु आर्यः किं कियदस्माज्जनादिष्यत इति ।)

चाणक्यः—भो : श्रेष्ठिन् ! चन्द्रगुप्तराज्यमिदं, न नन्दराज्यं, यतो नन्दस्यैवार्थरुचेरर्थसम्बन्धः प्रीतिमुत्पादयति, चन्द्रगुप्तस्य तु भवताम-परिक्लेश एव ।

चन्दनदासः—(सहर्षम्) अज्ज ! अणग्गहीदोह्मि । (आर्य ! अनु-गृहीतोऽस्मि ।)

चाणक्यः—भोः श्रेष्ठिन् ! स चापरिक्लेशः कथमाविर्भवतीति ननु भवता प्रष्टव्याः स्मः ।

चन्दनदासः—आणवेदु अज्जो । (आज्ञापयतु आर्यः ।)

चाणक्य—सेठ जी ! यदि ऐसी बात है तो राजा लोग अपनी प्रसन्न प्रजा से किसी प्रिय वस्तु की इच्छा करते हैं ।

चन्दनदास—आप आशा कीजिये, महाराज क्या वस्तु और कितना धन हम से चाहते हैं ।

चाणक्य—हे सेठ जी ! यह चन्द्रगुप्त का राज्य है, नन्द का नहीं । क्योंकि धन के लोभी नन्द ही को प्रजा से धन लेना भाता था । चन्द्रगुप्त को तो आप लोगों को क्लेश न होना ही प्रसन्न करता है ।

चन्दनदास—(प्रसन्नता के साथ) आर्य ! मैं अनुगृहीत हूँ ।

चाणक्य—सेठ जी ! प्रजा को क्लेश न हो, यह किस प्रकार हो सकता है । यह बात आपको हमसे क्या नहीं पूछनी चाहिये ।

चन्दनदास—आर्य ही आज्ञा दें ।

संस्कृतार्थः—भोः श्रेष्ठिन्निति—भोः चन्दनदास ! इदं राज्यं मौर्यस्य नतु नन्दस्य, धनाभिलाषिणः नन्दस्यैव धनसम्पर्कः हर्षमुत्पादयतिस्म, मौर्यस्य तु प्रजानां सुखमेव सुखं नतु धनग्रहणं प्रीतिजनकम् ।

व्याकरणम्ः—कियत् = किं परिमाणमस्य इति किम् + वतुप्, वस्य घः, घस्येयादेशः । अर्थरुचेः = अर्थे रुचिः यस्य तादृशस्य, क्लेशस्य अभावः = अपरिक्लेशः, नञ् छः अर्थों में प्रयुक्त होता है "तथा हि" ।

तत्सादृश्यमभावश्च तदन्यत्वं तदल्पता ।
अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञर्थाःषट् प्रकीर्तिताः ।

प्रष्टव्याः = प्रच्छ् + तव्यत् । आर्यः = "आर्यस्तु मारिषः" अपने से श्रेष्ठ तथा सूत्रधार के पार्श्ववर्ती के दो नाम हैं । ऋ + ण्यत् = आर्यः । स्मः = अस् + लट् उत्तमपुरुष बहुवचने मस् प्रत्ययः ।

चाणक्यः—संक्षेपतो राजनि अविरुद्धाभिर्वृत्तिभिर्वर्तितव्यम् ।

चन्दनदासः—अज्ज ! को उण अधण्णो रण्णा विरूद्धो त्ति अज्जेण अवगच्छीअदि । (आर्य ! कः पुनरधन्यः राज्ञा विरुद्ध इति आर्येण अवगम्यते ।)

चाणक्यः—भवानेव तावत्प्रथमम् ।

चन्दनदासः—(कर्णौ पिधाय) सन्तं पावं, सन्तं पावम् । कीदिसो तिणाणं अग्गिणा सह विरोहो ? (शान्तं पापं, शान्तं पापम् । कीदृशः तृणानाम् अग्निना सह विरोधः ?)

चाणक्यः—अयमीदृशो विरोधः यत् त्वमद्यापि राजापथ्यकारिणः अमात्यराक्षसस्य गृहजनं स्वगृहमभिनीय रक्षसि ।

चन्दनदासः—अज्ज ! अलीअं एदं । केणावि अणभिण्णेण अज्जस्स णिवेदिदम् । (आर्य ! अलीकमेतत् केनाप्यनभिज्ञेन आर्यस्य निवेदितम् ।)

चाणक्यः—भोः श्रेष्ठिन् ! अलमाशङ्कया । भीताः पूर्वराजपुरुषाः पौराणामनिच्छतामपि गृहेषु गृहजनं निक्षिप्य देशान्तरं व्रजन्ति । ततस्तत्प्रच्छादनं दोषमुत्पादयति ।

चाणक्य—संक्षेप में प्रजा को राजा के विरुद्ध व्यवहार नहीं करना चाहिये।

चन्दनदास—आर्य ! फिर आप किस अभागे को राजा के विरुद्ध समझते हैं।

चाणक्य—पहले तो आप ही हैं।

चन्दनदास—(कानों को ढाँप कर) ऐसा न कहिये। तृण का अग्नि के साथ कैसे विरोध हो सकता है ?

चाणक्य—ऐसा विरोध है कि तुम अभी तक राजा के विरोध करने वाले मन्त्री राक्षस के कुटुम्बियों को अपने घर में छिपाये हो।

चन्दनदास—आर्य यह बात झूठी है, किसी दुष्ट ने आपको मिथ्या कहा है।

चाणक्य—सेठ चन्दनदास जी ! सन्देह मत करो। डरे हुए पहले के सेवक न चाहते भी नागरिकों के घरों में अपने परिवारों को रख कर दूसरे देशों में चले जाते हैं। अतः उनको छिपाना अपराध है।

संस्कृतार्थः—कर्णौ पिधायेति—चन्दनदासः चाणक्यं सम्बोध्य निवेदयति, आर्य चाणक्य ! अहमेव तावत् प्रथमः राजविरुद्धः एतत् सर्वथाऽलीकम्, केनापि मिथ्या निवेदितम्, भवानेव विचारयतु तृणानां अग्निना सह कीदृशः विरोधः, क्वाहं क्व च मौर्यः।

भोः श्रेष्ठिन् ! इति—चाणक्यः पुनः चन्दनदासं प्रतिबोधयति, हे श्रेष्ठिन् ! आशंकयाऽलम्। पूर्वं राजभृत्याः त्रस्ताः सन्तः अनभिलषतामपि पुरवासिनां गृहेषु स्वकलत्रादिकं निधाय देशान्तरं गच्छन्ति। अतः तेषां गृहजनानां गोपनमेवानिष्टमुत्पादयति, अयमीदृशः विरोधः यस्त्वमपि राक्षसस्य परिजनं स्वगृहे निक्षिप्य रक्षसि।

व्याकरणम्—अलमाशंकया = यहाँ पर गम्यमानापि क्रिया कारकविभक्तौ प्रयोजिका' इस नियम से तृतीया है। राजापथ्यकारिणः = न पथ्यं अपथ्यं नञ् तत्पुरुषः, राज्ञां अपथ्यं राजापथ्य + कृ + णिनि षष्ठी तत्पुरुष समासः षष्ठ्येकवचने रूपम्। अभिनीय = अभि + नी + क्त्वा (ल्यप्)। प्रच्छादनम् = प्र + छद्

+णिच्+ल्युट् अनादेशः। अनिच्छतां विशेषण से यह बताया गया है कि छिपाने में पुरवासियों का कोई दोष नहीं।

चन्दनदासः—एवं ण्णेदम्। तस्मिं समए आसि अह्मघरे अमच्चरक्खसस्स घरअणो त्ति। (एवं नु इदम्। तस्मिन् समये आसीदस्मद्गृहे अमात्यराक्षसस्य गृहजन इति।)

चाणक्यः—पूर्वमनृतमिदानीमासीदिति परस्परविरोधिनी वचने।

चन्दनदासः—एत्तिअं ज्जेव अत्थि मे वाआच्छलम्। (एतावदेवास्ति मे वाक्छलम्।)

चाणक्यः—भो श्रेष्ठिन्! चन्द्रगुप्ते राजनि अपरिग्रहश्छलानाम्। तत् समर्पय राक्षसस्य गृहजनम्। अच्छलं भवतु भवतः।

चन्दनदासः—अज्ज! णं विण्णवेमि तस्मिं समए आसि अह्मघरे अमच्चरक्खसस्स घरअणो त्ति। (आर्य! ननु विज्ञापयामि तस्मिन् समये आसीदस्मद्गृहे अमात्यराक्षसस्य गृहजन इति।)

चाणक्यः—अथेदानीं क्व गतः?

चन्दनदासः—ण जाणामि। (न जानामि।)

चाणक्यः—(स्मितं कृत्वा) कथं न ज्ञायते नाम? भोः श्रेष्ठिन्! शिरसि भयमतिदूरे तत्प्रतीकारः।

चन्दनदासः—(स्वगतम्)

चन्दनदास—ठीक है महाराज! पहले तो मेरे घर में अमात्य राक्षस का परिवार अवश्य छिपा था।

चाणक्य—चन्दनदास! पहले तुम झूठ बोले "नहीं' छिपा 'था' अब कहते हो 'छिपा था' ऐसी परस्पर विरुद्ध बातों का क्या अर्थ?

चन्दनदास—महाराज! कहने में भूल हो गई।

चाणक्य—चन्दनदास! ध्यान रखो, चन्द्रगुप्त के राजा रहते हुए छल-छद्म से काम नहीं चलेगा। यह भूल-चूक तभी दूर होगी, जब हमें राक्षस का परिवार सौंप दोगे।

चन्दनदास—महाराज ! मैंने पहले कह दिया है कि पहले कभी अमात्य राक्षस का परिवार मेरे घर में रह चुका है ।

चाणक्य—अब कहाँ गया ?

चन्दनदास—नहीं जानता ।

चाणक्य—(हँस कर) क्यों नहीं जानते ? सेठ जी सिर पर भय और उससे बचने का उपाय अत्यन्त दूर है । और चाणक्य के नन्द को.....आधी बात कहकर लज्जा का अनुभव करता है ।

चन्दनदास—(मन ही मन) ।

संस्कृतार्थः—प्रथममिति पूर्वं राक्षसकलत्रस्यानिष्टोत्पत्तिभयात् स्वगृहे तत्सद्भावाभावः प्रतिपादितः इदानीं पुनः तत्प्रच्छादनमनिष्टोत्पादकमिति विभाव्य "तस्मिन् समये आसीत्" इत्युक्तया प्राक् स्थितिः सम्प्रति पुनः नास्ति इति परस्परं तव विरुद्धं वचनमसङ्गतमिति भावः ।

स्थितं कृत्वेति—भोः श्रेष्ठिन् ! अधुना राक्षसकलत्रं कुत्रऽस्ति इति कथं न ज्ञायते ? न जानासि परिणामं, चन्द्रगुप्तविरुद्धेन राक्षसेन सह मैत्री करणात् तत्कलत्ररक्षणात् वा अस्यापराधः राजदण्ड उपस्थितः । तत्प्रतीकारः मलयकेतुसाहाय्येन राक्षसः चन्द्रगुप्तं हनिष्यतीति विप्रकृष्टतरः ।

व्याकरणम्—वाक् छलम् = वाचि छलं सुप्सुपा समासः । अस्य लक्षणं तावत् न्यायदर्शने "अविशेषाऽभिहितेऽत्र वक्तुरभिप्रायादर्थानामकल्पनं वाक्छलम्" अच्छलम् = छलस्याभावः अव्ययं विभक्ति इत्यादिना अव्ययीभावसमासः । परस्परम् = "कर्मव्यतिहारे सर्वनाम्नो द्वे वाच्ये" इत्यनेन परशब्दस्य द्वित्वं, पूर्वपर शब्दस्य विभक्तेः सकरादेशश्च ।

उवरि घणं घणरडिअं दूरे दइदा किमेददावडिअम् ।
हिमवदि दिव्वोसहिओ सीसे सप्पो समाविट्ठो ॥२२॥
(उपरि घनं घनरटितं दूरे दयिता किमेतदापतितम् ।
हिमवति दिव्यौषधयः शीर्षे सर्पः समाविष्टः ॥)

प्रसङ्गः—सर्पमिव शिरसि कौटिल्यं पतन्तं तत्प्रतीकारं चाऽपश्यतः चन्दनदासस्य मनोभाववर्णनमिति ।

अन्वयः—एतत्किं आपतितं ? उपरि घनं घनरटितं दूरे च दयिता, हिमवति दिव्यौषधयः शीर्षे सर्पः समाविष्टः ।

संस्कृतार्थः—एतत् = इदं राक्षसकलत्रप्रच्छादनात् राजदण्डस्वरूपं भयं, आपतितं = प्राप्तम्, उपरि = शिरसि, घनं = सघनं, गभीरमित्यर्थः, घनरटितम् = मेघगर्जनम्, दूरे = विप्रकृष्टे च, दयिता = प्रिया, घनगर्जनस्य कामोद्दीपकत्वात् विरहिजनाऽसह्यत्वम्, यद्वा हिमवति = हिमालये, दिव्यौषधयः = उत्तमभेषजानि, शीर्षे = शिरसि, सर्पः = अहिः, समाविष्टः = दंशनार्थमुपागतः। इति यथा तथैव ममापि भयं समुपस्थितं तदुपायश्च कश्चन नास्ति ।

भावार्थः—राक्षसकलत्रस्य प्रदानं पापाधिक्यं, गोपने च राजदण्डप्राप्तिः इत्युभयथा विपत्प्राप्तौ किं विधेयमिति चन्दनदासस्य चिन्ताविषयः ।

भाषार्थः—आकाश में मेघ का घोर गर्जन हो रहा है, स्त्री दूर है, दिव्य औषधियाँ हिमालय पर हैं और सर्प सिर पर सवार है, यह क्या हुआ ।

व्याकरणम्—आपतितम् = आङ् + पत् + क्त । घनरटितम् = घनस्य रटितं शब्दः षष्ठी तत्पुरुषः। दयिता = दय् + क्त + टाप् । दिव्यौषधयः = दिव्याः च ताः औषधयः कर्मधारयसमासः ।

कोष—"ओषधयः फलपाकान्ताः" फलकर पकने के बाद नष्ट हो जाने वाले उद्भिद् ।

अलंकारः—अप्रस्तुतप्रशंसा । अप्रस्तुतात्प्रस्तुतंचेद्गम्यते, दृष्टान्तश्च "दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनम् ।

छन्दः—आर्या वृत्तम् !

चाणक्यः—अन्यच्च नन्दमिव विष्णगुप्तः इ ;यर्धोक्ते लज्जां नाटयित्वा) चन्द्रगुप्तममात्यराक्षसः समुच्छेत्स्यतीति मैवं मंस्थाः ।

पश्य—

विक्रान्तैर्नयशालिभिः सुसचिवैः श्रीर्वक्रणासादिभिः
नन्दे जीवति या तदा न गमिता स्थैर्यं चलन्ती मुहुः ।
तामेकत्वमुपागतां द्युतिमिव प्रह्लादयन्तीं जगत्
कश्चन्द्रादिव चन्द्रगुप्तनृपतेः कर्तुं व्यवस्येत् पृथक् ॥२३॥

अपि च। ('आस्वादितद्विरदशोणितशोणशोभाम्'—इति पूर्वोक्तं पठति।)

चाणक्य—नन्द को चाणक्य की तरह (ऐसा आधा कहने पर लज्जा का अभिनय करके) चन्द्रगुप्त को अमात्य राक्षस नष्ट कर देगा, भूल कर भी मत सोचना सेठजी। देखो—

प्रसङ्गः—चाणक्यः चन्दनदासं साधिक्षेपमनेन पद्येन तर्जयति।

अन्वयः—तदा नन्दे जीवति मुहुः चलन्ती या श्रीः विक्रान्तैः नयशालिभिः वक्रणासादिभिः सुसचिवैः स्थैर्यं न गमिता, द्युतिमिव एकत्वं उपागतां जगत् प्रह्लादयन्तीं तां चन्द्रादिव चन्द्रगुप्तनृपतेः पृथक् कर्तुं कः व्यवस्येत्।

संस्कृतार्थः—तदा = तत्समये, नन्दे = तदाख्यनृपतौ, जीवति = विद्यमाने सति, मुहुः = भूयोभूयः, चलन्ती = अस्थिरा, या श्रीः = या नन्दस्य राजलक्ष्मीः, विक्रान्तैः = वीरैः, नयशालिभिः = नीतिकुशलैः, वक्रणासादिभिः = तदाख्यप्रधान-पुरुषैः, सुसचिवैः = अमात्यैः, स्थैर्यं = नैश्चल्यं, न गमिता = न लम्भिता, स्थिरतां न प्रापितेत्यर्थः, द्युतिमिव = कान्तिमिव, एकत्वं = अभिन्नतां, उपागतां = प्राप्तां, जगत् = संसारं, प्रह्लादयन्तीं = मोदयन्तीं, तां = लक्ष्मीं, चन्द्रादिव = शशिनः इव, चन्द्रगुप्तनृपतेः = राज्ञः वृषलात्, पृथक् कर्तुम् = वियुक्तां विधातुं, कः व्यवस्येत् = कः शक्नुयात् अर्थात् न कोऽपि शक्तः।

भावार्थः—ये वक्रणासादयः नन्दसद्भावे यस्याः श्रियः स्थैर्यं न सम्पादितवन्तः, तस्याः राजश्रियः मयि चाणक्ये विद्यमाने चन्द्रगुप्तात् को जनः पृथक्कर्तुं समर्थः न कोऽपीति भावः।

भाषार्थः—नन्द राजा के जीवित रहते पराक्रमी नीति निपुण वक्रनासादि प्रधान पुरुष जिस चलायमान लक्ष्मी को स्थिर न कर सके, तब इस समय जब कि चाणक्य विद्यमान है, संसार को प्रकाशित करती हुई चन्द्रिका की तरह स्थिर राजश्री को चन्द्र तुल्य चन्द्रगुप्त से कौन पृथक् कर सकता है? जैसे चन्द्र से चान्दनी पृथक् नहीं हो सकती है वैसे ही चन्द्रगुप्त से राजलक्ष्मी जुदा नहीं हो सकती है।

व्याकरणम्—नन्दे जीवति यहाँ "जातावेकवचनं" से एकवचन है वैसे अर्थ नवनन्दों के जीते हुये यही है।

नयशालिनः = नयेन शालन्ते शोभन्ते इति, नय + शाल् + णिनि "सुप्यजताविति णिनिः" ।

विक्रान्तैः = वि + क्रमु + क्त तृतीयाबहुवचने रूपम् ।

वक्रणासः = वक्रा नासा यस्य सः बहुव्रीहिसमासः ।

चन्द्रगुप्तनृपतेः = चन्द्रगुप्तः चासौ नृपतिः तस्मात् कर्मधारयः, यहाँ "पृथग्विना" इत्यादि सूत्र से पृथक् के योग में चन्द्रगुप्त नृपतेः में पंचमी हुई। प्रह्लादयन्तीं = प्र + ह्लाद् +

कोषः—शूरो वीरश्च विक्रान्तः" इत्यमरः ।

अलंकारः = श्रौती पूर्णोपमा ।

सा पूर्णा यदि सामान्यधर्म औपम्यवा... ।
उपमेयं चोपमानञ्च भवेद्वाच्यमिदं पुन ।

श्रौती यथा-इव-वा शब्दा.....।

छन्द—शार्दूलविक्रीडितम् । लाटी रीतिः, ओजोगुणः । वीरो रसः ।

अपिचेत्यादि—कान खोलकर सुनलो "कौन है जो सोकर उठे हुये, जम्भाई लेते हुए सिंह के मुँह से उसकी दाढों,को इत्यादि आठवें श्लोक को दुहराता है।

चन्दनदास—(स्वगत) इसका दम्भ तो नन्द-विनाश रूप फल के अनुरूप ही शोभित होता है ।

(नेपथ्य में कोलाहल मचता है)

चाणक्यः—शार्ङ्गरव ! ज्ञायतां किमेतत् ।

शिष्यः—तथा (इति निष्क्रम्य, पुनः प्रविश्य) उपाध्याय ! एष राज्ञश्चन्द्रगुप्तस्य आज्ञया राजापथ्यकारी क्षपणको जीवसिद्धिः सनिकारं नगरान्निर्वास्यते ।

चाणक्यः—क्षपणकः, अहह !! अथवा अनुभवतु राजापथ्यकारित्वस्य फलम् । भोः श्रेष्ठिन् चन्दनदास ! एवमयं राजापथ्यकारिषु तीक्ष्णदण्डो राजा । तत् क्रियतां पथ्यं सुहृद्वचः । समर्प्यतां राक्षसगृहजनः । अनुभूयतां चिरं विचित्रो राजप्रसादः ।

चन्दनदासः—णत्थि मे गेहे अमच्चघरअणो (नास्ति मे गेहे अमात्यगृहजनः ।)

(नेपथ्ये पुनः कलकलः ।)

चाणक्यः—शार्ङ्गरव ! ज्ञायतां किमेतत् ।

चाणक्य—शार्ङ्गरव ! देखो तो यह कोलाहल कैसा है ?

शिष्य—जो आदेश (बाहर जाकर और पुनः प्रवेशकर) राजा के विरुद्ध कार्य करने वाला जीवसिद्धि नामक क्षपणक राजा चन्द्रगुप्त की आज्ञा से तिरस्कारपूर्वक नगर से निकाला जा रहा है ।

चाणक्य—अरे क्षपणक को ? अथवा राजा के विरुद्ध कार्य करने का फल भोगे । हे सेठ चन्दनदास ! यह राजा चन्द्रगुप्त राजविरोधियों को कठिन दण्ड देता है, इस कारण मेरे वचन को मानो तथा राक्षस के परिवार को समर्पित कर दो और बहुत दिन तक अनेक प्रकार के राजा के अनुग्रहों का फल भोगो ।

चन्दनदास—हमारे घर में मन्त्री राक्षस के कुटुम्बी जन नहीं हैं ।

(नेपथ्य में पुनः पूर्ववत् लोगों का कोलाहल सुनाई पड़ता है)

चाणक्य—शार्ङ्गरव ! देखो फिर यह क्या है ।

संस्कृतार्थ—शिष्यः यदाज्ञापयतीतिः—

गुरो ! महाराजमौर्यस्य निदेशेन राजापथ्यकारी राजद्रोही जीवसिद्धिर्नाम बौद्धसंन्यासी तिरस्कारपूर्वकं कुसुपुरनगरात् निष्कास्यते । संन्यासिनामपि ब्राह्मणवद्दण्डः भवति यथोक्तं "वपनं द्रविणादानं स्थानान्निष्क्रामणं तथा । एष हि ब्रह्मबन्धूनां वधः नान्योऽस्ति दैहिकः ।"

चाणक्यः—बौद्धसंन्यासी न हन्तुं योग्यः इति चाणक्यसम्मतमिति अहह शब्देन बोध्यते । अथवा राजद्रोहस्य युक्तं फलं राज्यात् निष्क्रमणरूपं फलं भुनक्तु । अयं राजा चन्द्रगुप्तः राजविद्रोहिषु उग्रशासनः वर्तते । तस्माद्धे तोः सखे चन्दनदास ! मित्रस्य मम वचनमङ्गीकृत्य राक्षसस्य कलत्रं समर्पय, चिर कालं च बहुविधान्नृपानुग्रहान् अनुभव ।

व्याकरणम्—सनिकारं = निकारेण सह इति नि + कृ + घञ् । द्रोह : अस्यास्ति द्रुह् + घञ् + इन्, राज्यस्य द्रोही = राज्यद्रोही राज्ञः द्रोही

राजद्रोहीति वा। तीक्ष्णदण्डः = तीक्ष्णः तीव्रः दण्डः शासनं यस्य तादृशः बहुव्रीहिसमासः। "स्यात्प्रसादोऽनुरागेऽनुग्रहे च" इति कोषः।

शिष्यः—तथा। (इति निष्क्रम्य, पुनः प्रविश्य) उपाध्याय! अयमपि राजापथ्यकारी एव कायस्थः शंकटदासः शूलमारोपयितुं नीयते।

चाणक्यः—स्वकर्मफलमनुभवतु! भोः श्रेष्ठिन्! एवमयं राजा अपथ्यकारिषु तीक्ष्णदण्डो न मर्षयिष्यति राक्षसकलत्रप्रच्छादनं भवतः। तद्रक्ष परकलत्रेण आत्मनः कलत्रं जीवितञ्च।

चन्दनदासः—अज्ज! किं मे भअं दंसेसि? सन्तं वि गेहे अमच्च-रक्खसस्स घरअणं ण समप्पेमि, किं उण असन्तम्। (आर्य! किं मे भयं दर्शयसि? सन्तमपि गेहे अमात्यराक्षसस्य गृहजनं न समर्पयामि, किं पुनरसन्तम्।)

चाणक्यः—चन्दनदास एष ते निश्चयः?

चन्दनदासः—बाढं एसो धीरो मे निच्चओ। (बाढम् एष धीरो मे निश्चयः)।

चाणक्यः—(स्वगतम्) साधु चन्दनदास साधु।

शिष्य—जो आज्ञा आचार्य! (यह कहकर बाहर जाकर तथा पुनः प्रवेश कर) राजा के विरुद्ध कार्य करने वाला शकटदास नामक कायस्थ राजा की आज्ञा से शूली पर चढ़ाने के लिये ले जाया जा रहा है।

चाणक्य—अपना कर्मफल भोगे। चन्दनदास! इसी तरह यह राजा विरुद्ध कार्य करने वालों को कठोर दण्ड देता है। वह राक्षस के परिवार को छिपाकर रखने का अपराध सहन नहीं करेगा। अतः दूसरे के परिवार को देकर अपने परिवार और उनके जीवन की रक्षा कर।

चन्दनदास—आर्य! मुझे क्या डर दिखाते हैं? यदि हमारे घर में राक्षस के कुटुम्बी हों तो भी मैं नहीं दे सकता।

चाणक्य—चन्दनदास! फिर सोच लो, क्या कह रहे हो।

चन्दनदास—जो सोचना था सोच लिया। यह मेरा दृढ़ निश्चय है।

चाणक्य—(स्वगत) धन्य हो चन्दनदास ! तुम धन्य हो ।

संस्कृतार्थ—स्वस्य आत्मनः कर्मफलं भजतीति स्वकर्मफलभाक् भवतु स शकटदासः कायस्थः । इत्थं एष नृपश्चन्द्रगुप्तः राजद्रोहिषु उग्रशासनोऽस्ति । भोः चन्दनदास ! तव राक्षसपरिवारजनगोपनं न मर्षयिष्यति न सहिष्यते । अतः राक्षसगृहजनार्पणेन स्वस्य गृहजनजीवितं च रक्ष, नोचेत् तदसमर्पणे भवत्कलत्रजीवितयोः विनाशोऽवश्यं स्यात् ।

व्याकरणम्—राजाऽपथ्यकारी = पथः अनपेतं पथ्यम्, पथिन् + यत् न पथ्यं अपथ्यम् नञ् समासः, राज्ञः अपथ्यम् राजाऽपथ्यम्, षष्ठीतत्पुरुषः । राजा + अपथ्य + कृ + णिनि प्रथमैकवचनम् । निर्वास्यते = निर् + वस् + यक् + लट् कर्मवाच्ये प्रयोगः, राजाज्ञयेति कर्तृपदम् । समर्पयामि = अत्र भविष्यदर्थे लट् लकारः ।

प्रसादः = अनुग्रहः तथा च कोषः "प्रसादोऽनुग्रहे काव्यगुणस्वास्थ्याविपत्तिषु" इति मेदिनी ।

प्रसाद शब्द अनुग्रह, प्रसाद गुण, स्वास्थ्य तथा अविपत्ति इन चार अर्थों में प्रयुक्त होता है।

सुलभेष्वर्थलाभेषु परसंवेदने जनः ।
क इदं दुष्करं कुर्यादिदानीं शिविना विना ॥२४॥

प्रसङ्ग—चन्दनदासः मित्रराक्षसस्य कृते स्वसकलसम्पत्तिं परित्यज्य स्वमरणमङ्गीकुर्वन् दृढप्रतिज्ञः इत्यवधार्य चाणक्यः चेतसा तं प्रशंसति ।

अन्वयः—इदानीं शिविना विना कः जनः परसंवेदने सुलभेषु अर्थलाभेषु इदं दुष्करं कुर्यात् ।

संस्कृतार्थः—इदानीं = सम्प्रति, शिविना = उशीनरदेशाधिपेन, विना = अन्तरा, को जनः = लोकः, परस्य = अन्यस्य, अर्थस्य = प्रयोजनस्य, संवेदने = समर्पणे कृते सति, सुलभेषु = सुकरेषु, अर्थलाभेषु = राजप्रसादादि रूपेषु, इदं = परकलत्रप्रच्छादनरूपं, दुष्करं = कठिनं कर्म, कुर्यात् = विदध्यात् अर्थात् न कोऽपि कर्तुं समर्थः ।

भावार्थः—भो चन्दनदासः त्वं राक्षसकलत्रं रक्षन् धन्यः, शिविस्तु सत्ययुगे शरणागतकपोतरक्षार्थं स्वमांसं दत्तवान् परं त्वं कलियुगे, ततोऽतिप्रशस्तकीर्तिशालीति भावः।

भाषार्थ = मनुष्य धन के लोभ में पड़कर कठिन से कठिन कार्य कर लेता है। पर इस कलियुग में बिना किसी लालच के शिवि राजा के बिना तुम्हारे जैसा कौन दूसरा पुरुष ऐसा कठिन कार्य कर सकता है। अर्थात् कोई नहीं।

व्याकरणम्—शिविना = यहाँ 'पृथक्विनानाना' इत्यादि सूत्र से तृतीया। अर्थलाभेषु = अर्थानां लाभः अर्थलाभः तेषु। सुलभेषु = सुखेन लब्धुं शक्येषु, दुष्करं—दुःखेन कर्तुं शक्यं दुष्करम् = दुर् + कृ + अच्।

कोष—"कर्कशं कठिनं क्रूरं दुष्करं निष्ठुरं दृढम्" इति कोष :

अलंकार—"व्यतिरेक" यहाँ उपमानभूत शिवि की अपेक्षा उपमेयभूत चन्दनदास का अधिक उत्कर्ष वर्णन करने से उदात्त अलंकार भी है।

छन्द—अनुष्टुप् वृत्तम्, प्रसादः गुणः, वैदर्भी रीतिः।

यहाँ परसंवेदन शब्द का पदार्थ समर्पण रूप अर्थ कष्टगम्य होने से कष्टत्व दोष भी है।

(प्रकाशम्) चन्दनदास ! एष ते निश्चयः ?

चन्दनदासः—बाढम्।

चाणक्यः—(सक्रोधम्) दुरात्मन् ! तिष्ठ दुष्टवणिक् ! अनुभूयतां तर्हि नरपतिक्रोधः।

चन्दनदासः—(बाहू प्रसार्य) सज्जोह्मि। अणुचिट्ठदु अज्जो अत्तणो अहिआरसरिसम्। (सज्जोऽस्मि। अनुतिष्ठतु आर्यः आत्मनोऽधिकारसदृशम्।)

चाणक्यः—(सक्रोधम्) शार्ङ्गरव ! उच्यतामस्मद्वचनात् कालपाशिको दण्डपाशिकश्च—शीघ्रमयं दुष्टवणिक् निगृह्यताम्। अथवा तिष्ठतु, उच्यतां दुर्गपालो विजयपालश्च—गृहीतगृहसारमेनं

ज्ञपुत्रकलत्रं संयम्य तावद्रक्ष यावन्मया वृषलाय कथ्यते। वृषल एवास्य प्राणहरं दण्डमाज्ञापयिष्यति।

चाणक्य—(प्रकट) चन्दनदास ! तुम्हारा यही निश्चय है ?

चन्दनदास—जी हाँ।

चाणक्य—(क्रोध से) अरे नीच बनिया ! तो राजकीय का फल भोग।

चन्दनदास—(दोनों भुजा फैलाकर) मैं तैयार हूँ। आप अपने अधिकार के अनुरूप कार्य करें।

चाणक्य—(क्रोध के साथ) शार्ङ्गरव ! हमारे कथनानुसार कालपाशिक और दण्डपाशिक से कहो कि "इस दुष्ट बनिये चन्दनदास को शीघ्र गिरफ्तार कर लें। अथवा ठहरो, दुर्गपाल और विजयपाल से कहो कि पहले इसका धन जब्त करके स्त्री-पुत्र सहित इसको बाँधकर तब तक जेल में बन्द रखें जब तक मैं चन्द्रगुप्त से कहूँ कि वही इस चन्दनदास को प्राणदण्ड की आज्ञा दे।"

संस्कृतार्थ—चाणक्यः (सकोपं) वत्स शार्ङ्गरव ! मत्कथनानुसारेण कालपाशिकं दण्डपाशिकं च ब्रूहि, यदेष दुष्टवणिक् चन्दनदासः निगृह्य दण्ड्यताम्। आहोस्वित् दुर्गपालं विजयपालं चोभौ ब्रूहि "यदस्य वणिजः चन्दनदासस्य सर्वं धनं आदाय सपुत्रकलत्रमेनं बद्ध्वा तावत्कालपर्यन्तं कारागारे स्थापयतम् यावदहं चन्द्रगुप्ताय निवेदयामि यत्स एवास्मै चन्दनदासाय प्राणहरं दण्डं आज्ञापयतु।

व्याकरणम्—गृहीतसारम् = गृहीतः गृहसारः यस्य तं बहुव्रीहिः। सपुत्रकलत्रं = पुत्राः च कलत्रं चेति अनयोः इतरेतरद्वन्द्वः पुत्रकलत्राणि तैः सह वर्तते यः तं बहुव्रीहिः। संयम्य = सम् + यम् + क्त्वा (ल्यप्)। प्राणहरं = प्राणान् हरतीति प्राण + हृ + अच् तं दण्डस्य विशेषणम्।

"सारो बले स्थिरांशे चेति" मेदिनी, स्थिरांश = मूलधनम्।

शिष्यः—यदाज्ञापयत्युपाध्यायः। श्रेष्ठिन् ! इत इतः।

चन्दनदासः—अज्ज ! अअमाअच्छामि (स्वगतम्) दिट्ठिआ मित्तकज्जेण मे विणासो ण पुरिसदोसेण। (आर्य ! अयमागच्छामि। दिष्ट्या

मित्रकार्येण मे विनाशो न पुरुषदोषेण ।) (परिक्रम्य शिष्येण सह निष्क्रान्तः ।)

चाणक्यः—(सहर्षम्) हन्त, लब्ध इदानीं राक्षसः । कुतः

त्यजत्यप्रियवत्प्राणान्यथा तस्यायमापदि ।
तथैवास्यापदि प्राणा नूनं तस्यापि न प्रियाः ॥२५॥

(नेपथ्ये कलकलः ।)

शिष्य—आचार्य की जैसी आज्ञा । सेठ चन्दनदास ! इधर इधर ।

चन्दनदास—उठकर, आर्य यह मैं आता हूँ । (मन ही मन) यह हर्ष की बात है कि मित्र के कार्य से मेरा विनाश हुआ, न कि अपने चारित्र्य-दोष के कारण । (शिष्य के साथ बाहर चला जाता है)

चाणक्य—(प्रसन्नता के साथ) हर्ष की बात है कि अब राक्षस मिल गया ।

प्रसङ्ग—चाणक्य : चन्दनदासं हस्तगतं पश्यन् राक्षसमपि हस्तगतमेव विमृशन्नाह—

अन्वय—यथा तस्य आपदि अयं प्राणान् अप्रियवत् त्यजति तथैव अस्य आपदि तस्यापि प्राणाः नूनं प्रियाः न ।

संस्कृतार्थ—यथा = येन प्रकारेण, तस्य = राक्षसस्य, आपदि = विपदि, अयं = चन्दनदासः, प्राणान् = असून्, अप्रियवत् = अनभीप्सितं इव, त्यजति = जहाति, तथैव = तेन प्रकारेणैव, अस्य = चन्दनदासस्य, आपदि = विपत्तौ, तस्यापि = राक्षसस्यापि, प्राणाः = असवः, नूनं = निश्चितं, प्रियाः = अभीप्सिताः, न भविष्यन्ति ।

भावार्थ—यथा चन्दनदासः राक्षसकलत्रत्राणार्थं स्वप्राणान् त्यजति, तथा चन्दनदाससमुद्धरणाय राक्षसोऽप्यात्मानमर्पयिष्यति ।

भाषार्थ—जिस प्रकार चन्दनदास राक्षस की विपत्ति में अपने प्राणों को नगण्य समझता है, उसी प्रकार चन्दनदास की आपत्ति में राक्षस को भी अपने प्राण प्रिय न होंगे ।

व्याकरणम्—अप्रियवत् = अप्रियैः तुल्यमिति अप्रिय + वति 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' इति नियमात् । मित्रकार्येण = यहाँ "हेतौ" सूत्र से तृतीया हुई । पुरुषदोषेण + अत्र करणे तृतीया ।

कोष—"अभीष्टेऽभीप्सितं हृद्यं दयितं वल्लभं प्रियम्" इत्यमरः ।

अलंकार—उत्प्रेक्षा । मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायः नूनमित्येवमादयः । उत्प्रेक्षा वाचक शब्दाः इवा शब्दोऽपि तादृशः ।

छन्द = अनुष्टुप् वृत्तम् । प्रसादः गुणः, वैदर्भी च रीतिः ।

चाणक्यः—शार्ङ्ग रव शार्ङ्ग रव !

(प्रविश्य)

शिष्यः—उपाध्याय ! आज्ञापयतु ।

चाणक्यः—ज्ञायतां किमेतत् ।

शिष्यः—(निष्क्रम्य विभाव्य पुनः प्रविश्य सम्भ्रान्तः) उपाध्याय ! एष खलु शकटदासं वध्यमानं वध्यभूमेरादाय समपक्रान्तः सिद्धार्थकः ।

चाणक्यः—(स्वगतम्) साधु सिद्धार्थक ! साधु, कृतः कार्यारम्भः । (प्रकाशम्) प्रसह्य किमपक्रान्तः ? (सक्रोधम्) वत्स ! उच्यतां भागुरायणो यथा त्वरितं सम्भावयेति ।

(निष्क्रम्य प्रविश्य च)

शिष्यः—(सविषादम्) उपाध्याय ! हा धिक् कष्टम् । अपक्रान्तो भागुरायणोऽपि ।

चाणक्यः—(स्वगतम्) व्रजतु कार्यसिद्धये । (प्रकाशम् । सक्रोधमिव ।) वत्स ! उच्यन्तामस्मद्वचनाद्भद्रभटपुरुषदत्तहिङ्गुरातबलगुप्तराजसेनरोहिताक्षविजयवर्माणः शीघ्रमनुसृत्य गृह्यतां दुरात्मा भागुरायणः ।

शिष्यः—तथा । (इति निष्क्रम्य पुनः प्रविश्य सविषादम्) हा धिक्

कष्टम् । सर्वमेव तन्त्रमाकुलीभूतम् । तेऽपि खलु भद्रभटप्रभृतयः प्रथमतरमुषस्येवापक्रान्ताः ।

चाणक्य—शार्ङ्गरव !

शिष्य—(अन्दर प्रवेश करते हुए) उपाध्याय क्या आज्ञा है ?

चाणक्य—पता लगाओं यह कोलाहल क्यों हो रहा है ?

शिष्य—(बाहर जाकर और मालूम कर पुनः प्रवेश कर आश्चर्य के साथ कहता है) उपाध्याय ! सिद्धार्थक वध्य स्थान से वध किये जाते शकटदास को लेकर भाग गया ।

चाणक्य—(मन ही मन) वाह सिद्धार्थक ! वाह तुमने कार्य प्रारम्भ कर दिया ! (प्रकट) क्या बलात् लेकर भाग गया ? (क्रोध कर) वत्स ! भागुरायण से कहो कि सिद्धार्थक को तुरन्त पकड़ कर लाये ।

शिष्य—(फिर वैसा ही करके प्रवेशकर दुःख के साथ) उपाध्याय ! खेद की बात है कि भागुरायण भी भाग गया ।

चाणक्य—(मन ही मन) कार्यसिद्धि के लिये जाये । (प्रकट कुछ क्रोध के साथ) वत्स ! हमारे कथनानुसार भद्रभट, पुरुषदत्त, हिंगुरात, बलगुप्त, राजसेन, रोहिताक्ष और विजयवर्मा आदि से कहो कि शीघ्र जाकर दुष्ट भागुरायण को पकड़ लें ।

शिष्य—जैसी आप की आज्ञा (यह कहता हुआ बाहर जाकर फिर लौटकर) उपाध्याय ! अत्यन्त खेद की बात है कि सब प्रजामण्डल व्याकुल है, वे भद्रभटप्रभृति भी प्रातःकाल ही भाग गये हैं ।

संस्कृतार्थ—"व्रजतु कार्यसिद्धये" साधु सिद्धार्थक ! कृतः कार्यारम्भः कौटिल्यस्यार्थशास्त्रे कार्यसिद्धये पञ्चाङ्गो मन्त्रः आख्यातः तत्र प्रथमो मन्त्रः "कर्मणामारम्भोपायः" इत्युक्तम् तच्चात्र सिद्धार्थकस्य वध्यभूमितः शकटदासमादायापसरणात्मककृत्यस्य आरम्भः विहितः ।

पञ्चाङ्गो मन्त्रः—कर्मणामारम्भोपायः, पुरुद्रव्यसम्पत्, देशकाल-विभागः, विनिपातप्रतीकारः, कार्यसिद्धिरिति पञ्चाङ्गो मन्त्रः ।

व्याकरणम्—विभाव्य = विचिन्त्य, वि + भा + क्त्वा (ल्यप्)।
समपक्रान्तः = पलायितः, सम्—अप् + क्रम् पादविक्षेपे + क्त।
प्रसह्य = बलात्, प्र + सह् + क्त्वा (ल्यप्)
आदाय = गृहीत्वा, आङ् + दा + क्त्वा (ल्यप्)
वध्यभूमेः = मृत्युदण्डस्थानात्, अत्र 'अपादाने पञ्चमी'।

चाणक्यः—(स्वगतम्) सर्वेषामेव शिवाः पन्थानः सन्तु। (प्रकाशम्) वत्स ! अलं विषादेन। पश्य—

ये याताः किमपि प्रधार्य हृदये पूर्वं गता एव ते
ये तिष्ठन्ति भवन्तु तेऽपि गमने कामं प्रकामोद्यमाः।
एका केवलमर्थसाधनविधौ सेनाशतेभ्योऽधिका
नन्दोन्मूलनदृष्टवीर्यमहिमा बुद्धिस्तु मा गान्मम ॥२६॥

चाणक्य—(मन ही मन) सबका जाना सफल हो ! (प्रकट) वत्स शार्ङ्गरव चिन्ता न करो। देखो—

ये याताः किमपीति—

प्रसङ्ग—कौटिल्यः परमं प्रसादं स्वमनस्यनुभवन् कमपि व्याजकोपं प्रदर्शयन् स्वशिष्यव्यञ्जनं प्रणिधिप्रधानं शार्ङ्गरवं ब्रवीति।

अन्वय—ये हृदये किमपि प्रधार्य्य याताः ते पूर्वमेव गताः। ये तिष्ठन्ति तेऽपि कामं गमने प्रकामोद्यमाः भवन्तु। अर्थसाधनविधौ एका सेनाशतेभ्यः अधिका नन्दोन्मूलनदृष्टवीर्यमहिमा मम बुद्धिः तु केवलं मा गात्।

संस्कृतार्थ—ये = भागुरायणभद्रभटप्रभृतयः, किमपि = मदिष्टमनिष्टं वा, हृदये = मनसि, प्रधार्य = निधाय, याताः = मलयकेतुसमीपं गताः, ते = भागुरायणादयः, पूर्वमेव = प्रागेव, गताः = प्रयाताः। ये = तदतिरिक्ताः जनाः, तिष्ठन्ति = अत्र वर्तन्ते, तेऽपि कामं = तेऽपि स्वेच्छया, गमने = इतः प्रयाणे, प्रकामोद्यमाः = सप्रयत्नाः, भवन्तु = सन्तु। अर्थसाधनविधौ = अर्थस्य = प्रयोजनस्य, साधनं = निष्पादनं, तस्य विधिः = विधानं तस्मिन्, प्रयोजनसिद्धौ इत्यर्थः। एका = अद्वितीया, सेनाशतेभ्यः = बहुसेनाभ्यः, अधिका = बहुला, नन्दानां =

नवनन्दानां, उन्मूलने = उत्सादने, दृष्टः = अक्षिलक्ष्यीकृतः, वीर्यस्य = समर्थ्यस्य, महिमा = प्रभावः यस्याः तादृशी, मम = मे चाणक्यस्य, बुद्धिः शेमुषी, केवलं मा गात् = न गच्छतु ।

भावार्थ—राज्यतन्त्रस्य सम्पादनकर्मणि पट्वी मम बुद्धिः मन्नीतिमार्गात् मां विहाय शत्रून् न भजताम् कामं भद्रभट-प्रभृतयः सर्वे मां परित्यज्य यान्तु, तदापि न काप्यनुपपत्तिरितिभावः ।

भाषार्थ—जो भद्रभटादि गुप्तचर अपने हृदय में मेरा इष्ट या अनिष्ट रख कर चले गये और जो हैं वे भी चले जायँ, परन्तु नन्द का विनाश करने में अपना वैभव दिखाने वाला तथा सैकड़ों सेनाओं से अधिक बलवती केवल मेरी एक मात्र बुद्धि न जाय ।

व्याकरणम्—सेनाशतेभ्यः = सेनानां शतानि तेभ्यः, अत्राधिकयोगे पञ्चमी । दृष्टवीर्यमहिमा = दृष्टः वीर्यस्य महिमा प्रभावः यस्याः तादृशी, बुद्धे-र्विशेषणम्, तस्मात् स्त्रीत्वात् महिमा इत्यत्र "डाबुभाभ्यामन्यतरस्याम्" इत्यनेन डाप् प्रत्ययः । विशेषणाभावे तु महिमन् महिमा—प्रथमविभक्तौ पुंस्त्वमेव । मा गात् = अत्र न माङ्योगे, अनेन सूत्रेण अडागमनिषेधः ।

कोष—"स्वान्तं हृन्मानसं मनः" इत्यरः "अकामानुमतौ कामम्" इति हैमः ।

अलंकार—काव्यलिङ्गव्यतिरेकयोः संसृष्टिः । सकलार्थसम्पादने हेतु-भूतायाः बुद्धेः वाक्यार्थत्वेन काव्यलिङ्गम् । उपमानात् सेनाशतात् बुद्धे-राधिक्यवर्णनात् व्यतिरेकः ।

छन्द—शार्दूलविक्रीडितम्, ओजोगुणः, लाटीरीतिः ।

(उत्थाय प्रत्यक्षवदाकाशे लक्ष्यं बद्ध्वा) एष खलु दुरात्मनो भद्र-भटप्रभृतीनाहरामि । (आत्मगतम्) दुरात्मन् राक्षस ! क्वेदानीं यास्यसि ? एषोऽहमचिरात् भवन्तं,—

स्वच्छन्दमेकचरमुज्ज्वलदानशक्ति-
मुत्सेकिना मदबलेन विगाहमानम् ।
बुद्ध्या निगृह्य वृषलस्य कृते क्रियाया-
मारण्यकं गजमिव प्रगुणीकरोमि ॥३७॥
(इति निष्क्रान्ताः सर्वे ।)
॥ इति मुद्रालाभो नाम प्रथमोऽङ्कः ॥

(उठकर प्रत्यक्ष की तरह आकाश में लक्ष्य बाँध कर) यह मैं भद्रभट आदि दुष्टों को पकड़ता हूँ। (मन ही मन) दुष्ट राक्षस अब कहाँ जाओगे। यह मैं शीघ्र ही तुझे—

स्वच्छमेकचरमिति—

प्रसङ्ग—चाणक्यः प्रतीकारभावनाप्रागल्भ्यात् राक्षसं साक्षात् पुरः इव स्थितं पश्यन् बद्धुं निरुद्धस्वाच्छन्द्यं च कर्तुं आह।

अन्वय—उज्ज्वलदानशक्तिं एकचरं उत्सेकिना मदबलेन स्वच्छन्दं विगाहमानं आरण्यकं गजमिव बुद्ध्या निगृह्य वृषलस्य कृते क्रियायां प्रगुणीकरोमि।

संस्कृतार्थ—भोः राक्षस! त्वां, उज्ज्वलदानशक्तिं = उज्वला = प्रभूता, दानशक्तिः = मदक्षरण सामर्थ्यं यस्य तादृशं गजं, एकचरं = यूथहीनं, उत्सेकिना = भृशमुद्रिक्तेन, मदबलेन = दानवारिप्रभावेण, स्वच्छन्दं = निरंकुशं, विगाहमानं = भ्रमन्तं, आरण्यकं = बन्यं, गजमिव = हस्तिनमिव, त्वां = राक्षसं, उज्वलदानशक्तिं = प्रशस्तदानं, एकचरं = सहायहीनं, उत्सेकिना = प्रवर्द्धमानेन, मदबलेन = सैन्याभिमानेन, स्वच्छन्दं = निरंकुशं, विगाहमानं = भ्रमन्तं, आरण्यकं = नगरं विहाय वने वसन्तं, बुद्धया = धिया, निगृह्य = स्वायत्तीकृत्य, वृषलस्य = चन्द्रगुप्तस्य, कृते = अर्थं, क्रियायां = अमात्यकर्मणि, प्रगुणीकरोमि = नियोजयामि, यथा बुद्धिबलेन गजं भारवाहवादिकर्मणि नियुज्यते तथैव त्वां राक्षसमपि।

भावार्थ—यथा बुद्धिप्रभावेण वन्यः, यूथभ्रष्टः मदान्धः निरंकुशः गजः वशीक्रियते जनैः तथा त्वां राक्षसमपि अहं चाणक्यः स्वाधीनं करोमि।

भाषार्थ—अपनी इच्छा से अकेले रहने वाले, बहुत दान-शक्ति युक्त बड़े सेना के मद से मेरा अनिष्ट करने के लिए तत्पर हे राक्षस ! तुमको यूथ से पृथक् निरंकुश मदमस्त जलाशय का विलोडन करने वाले जंगली हाथी की तरह अपनी बुद्धि से अपने वश में करके चन्द्रगुप्त के मन्त्रि रूप में इष्ट साधन कार्य में नियुक्त करता हूँ ।

व्याकरणम्—एकचरम् = एकः चरति इति एक + चर् + अच् द्वितीयैकवचनम् । विगाहमानम् = वि + गाह् + शानच्, मुमागमश्च, द्वितीयैकवचनम् ।

आरण्यक—अरण्ये भवः इति अरण्य + वुञ् (वुञः अक आदेशः) ।

कोष—"दानं गजमदे त्यागे पालनच्छेदशुद्धिषु" इति मेदनी ।

अलंकार—उपमा, श्लेषेणानुप्राणिता ।

छन्द—वसन्ततिलक वृत्तम्, वैदर्भी रीतिः, ओजोगुणः ।

(सब चले जाते हैं)

मुद्रालाभ नामक पहला अंक समाप्त ।

द्वितीयोऽङ्कः

(ततः प्रविशत्याहितुण्डिक :)

प्रसङ्ग—

ततः इति—प्रथमाङ्कवर्तिनां चाणक्यादिनिखिलपात्राणां निष्क्रमणानन्तरं प्रथमाङ्कसमाप्त्यनन्तरं आहितुण्डिकः सर्पक्रीडोपजीवी विराधगुप्ताख्यः महामन्त्रिणः राक्षसस्य गुप्तचरः रङ्गस्थलं प्रविशति ।

आहितुण्डिकस्य शब्दार्थस्तु "अहिः=सर्प" तस्य तुण्डं=मुखं, अहितुण्डं तेन दीव्यतीति आहितुण्डिकः । "तेन दीव्यति खनति जयति जितम्" इत्यनेन सूत्रेण ठक् प्रत्ययः "ठस्येकादेशः" ।

अत्र महामन्त्रिणः नन्दामात्यस्य राक्षसस्योपायप्रवृत्तिमभिधातुं प्राप्त्याशापताकासम्बन्धात्मकः गर्भसन्धिः द्वितीयाङ्केनाभिधीयते । "गर्भस्तु दृष्टद्रव्यस्य बीजस्यान्वेषणंमुहुः" इत्युक्तलक्षणात् प्रथमाङ्के दृष्टस्यात्र द्वितीयाङ्के राक्षसाहितुण्डिकयोः संवादेन नष्टस्य चाणक्यनयात्मकबीजस्याग्रे मुहुरन्वेषणादयं गर्भसन्धिः ।

प्रविशति—राक्षसस्य भाव्यनिष्टसूचनार्थमाहितुण्डिकस्य प्रवेशः इत्यवधेयम् ।

भाषार्थ—राक्षस की भावी अनिष्ट-सूचना के लिये प्रथमाङ्क की समाप्ति के पश्चात् आहितुण्डिक जिसकी जीविका सर्प के द्वारा होती है अर्थात् जीर्णविष नामक सँपेरा जिसका वास्तविक नाम विराधगुप्त है, जो राक्षस महामन्त्री का गुप्तचर है रङ्गभूमि में प्रविष्ट होता है ।

आहितुण्डिक शब्द का अर्थ है अहितुण्ड यानी साँप का मुख उससे जो खेलता है उसे आहितुण्डिक कहते हैं अर्थात् सँपेरा ।

द्वितीय-तृतीय-चतुर्थ अंक में गर्भ सन्धि है। जिसका लक्षण—"गर्भस्तु दृष्टद्रव्यस्य वीजस्यान्वेषणं मुहुः।

आहितुण्डिकः—

जाणन्ति तन्तजुत्तिं जहठ्ठिअं मण्डलं अहिलिहन्ति
जे मन्तरवखणपरा ते सप्पणराहिवे उवअरन्ति ॥१॥
(जानन्ति तन्त्रयुक्तिं यथास्थितं मण्डलमभिलिखन्ति।
ये मन्त्ररक्षणपरास्ते सर्पनराधिपावुपचरन्ति ॥)

अन्वय—ये तन्त्रयुक्तिं यथास्थितिं जानन्ति मण्डलं अभिलिखन्ति (ये च) मन्त्ररक्षणपराः ते सर्पनराधिपौ उपचरन्ति।

संस्कृतार्थ—सर्पपक्षे ये = जनाः, तन्त्रयुक्तिं = सर्पौषधप्रयोगं, यथास्थितिं = यथावत्, जानन्ति = विदन्ति, मण्डलं = माहेन्द्रादि देवतायन्त्रं, अभिलिखन्ति = रेखारूपेण अङ्कयन्ति, ये च = जनाः, मन्त्ररक्षणपराः = गारुड़ादिमन्त्रैः, रक्षणे = स्वगोपने, पराः = संसक्ताः अप्रमत्ताः इत्यर्थः, ते = जनाः, सर्पं = अहिं, उपचरन्ति = सेवन्ते, नान्ये इत्यर्थः।

नृपपक्षे, ये = जनाः, तन्त्रयुक्तिं = तन्त्रं = स्वराष्ट्रचिन्तनं तस्मिन् युक्तिं = प्रकारं, यथास्थितिं = यथायथं, जानन्ति = विदन्ति, मण्डलं = राष्ट्रं, अभिलिखन्ति = चिन्तयन्ति, ये च, मन्त्ररक्षणपराः = मन्त्रणाकार्याणां, रक्षणे = गोपने, पराः = आसक्ताः, ते = नराः, अधिपं = राजानं, उपचरन्ति = व्यवहरन्ति।

भावार्थ—सर्पाणां नृपाणां च सेवनं महद्दुष्करं कार्यम्, तौ ते एव सेवितुं शक्ताः ये तन्त्रयुक्तिं मन्त्ररक्षणं च सम्यक् विदन्ति, नान्ये।

भाषार्थ—सर्प पक्ष में—जो मनुष्य विष-ओषधि के प्रयोग को यथावत् जानते हैं, माहेन्द्रादिदेवतायन्त्र को तथा गारुडादि मन्त्रों को जानते हैं तथा मणिमन्त्रौषधि से अपनी रक्षा कर सकते हैं वे ही मनुष्य सर्पों से खेल सकते हैं दूसरे नहीं।

राज पक्ष में—जो मनुष्य स्वराष्ट्र-चिन्तन, तथा गुप्त राज्य मन्त्रणाओं

को भलीभाँति गुप्त रख सकते हैं वे ही मनुष्य राजाओं की सेवा कर सकते हैं, भेद खोल देने वाले नहीं।

टिप्पणी

व्याकरण–युक्ति = युज् + क्तिन् "स्त्रियां क्तिन्"। मण्डलं अभिलिखन्ति = यहाँ "अभिरभागे इस सूत्र से अभि के योग में मण्डलं में द्वितीया विभक्ति हुई। सर्पनराधिपौ = सर्पश्च नराधिपश्चेति चार्थे द्वन्द्वः। कोष—तन्त्र—"तन्त्रं प्रधाने सिद्धान्ते सूत्रवाये परिच्छदे" इत्यमरः। मन्त्र—'वेदभेदे गुप्तवादे मन्त्रः" इत्यप्यमरः। अलंकारः–अत्र श्लेषालंकारः "श्लिष्टैः पदैरनेकार्थाभिधानं श्लेषः" अत्र तन्त्रमन्त्रादीनामनेकार्थत्वात्। छन्द—आर्यावृत्तम् "यस्य प्रथमे पादे द्वादशमात्राः तृतीयेऽपि तथा। अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश सार्या॥" वैदर्भी रीतिः, प्रसादो गुणः। मण्डल—मन्त्रों से अभिषिक्त घेरा, तथा बारह प्रकारका राजमण्डल तथाहि। गर्भसन्धि—इसके बारह अंग होते हैं। अभूताहरणं, मार्गो रूपोदाहरणे क्रमः। संग्रहश्चानुमानञ्च तोटकाधिबले तथा। उद्वेगसम्भ्रमाक्षेपा द्वादशांगान्यनुक्रमात्।

(आकाशे) अज्ज! किं तुमं भणसि—'को तुमं' त्ति। अज्ज! अहं क्खु आहितुण्डिओ जिण्णविसो णाम। (पुनराकाशे) किं भणासि—'अहं वि अहिणा खेलिदुं इच्छामि' त्ति। अह कदरं उण अज्जो विंत्ति उवजीवदि? (पुनराकाशे) किं भणासि—'राअउलसेवकोह्मि' त्ति। णं खेलदि एव्व अज्जो अहिणा। कहं विअ? अमन्तोसहिकुसलो वालग्गाही मत्तमतङ्गआरोहि लद्धाहिआरो जिदकासी राअसेवओ त्ति एदे तिण्णि वि अवस्सं विणासमणुहोन्ति। कहं दिट्ठमेत्तो अदिक्कन्तो एसो। (पुनराकाशे) अज्ज! किं तुमं भणासि—'किं एदेसु पेडालसमुग्गएसु' त्ति। अज्ज! जीविआए संपादआ सप्पा। (पुनराकाशे) किं भणासि—'पेक्खिदुमिच्छामि' त्ति। पसीददु अज्जो। अट्ठाणं खु एदम्। ता जइ कोदूहलं, एहि एदस्सिं आवासे दंसेमि। किं भणासि—'एदं खु भट्टिणो अमच्चरक्खसस्स गेहम्। णत्थि

अम्हारिसाणं इह पवेसो' त्ति। तेण हि गच्छदु अज्जो। मम उण जीविआए पसादेण अत्थि एत्थ पवेसो। कधं एसो वि अदिक्कन्तो ? (आर्य ? किं त्वं भणसि—'कस्त्वम्' इति। आर्य ! अहं खलु आहितुण्डिको जीर्णविषो नाम। किं भणसि—'अहमपि अहिना खेलितुमिच्छामि' इति। अथ कतरां पुनरार्यो वृत्तिमुपजीवति ? किं भणसि—'राजकुलसेवकोऽस्मि' इति। ननु खेलति एव आर्योऽहिना। कथमिव ? अमन्त्रौषधिकुशलो व्यालग्राही मत्तमतङ्गजारोही लब्धाधिकारो जितकाशी राजसेवक इत्येते त्रयोऽप्यवश्यं विनाशमनुभवन्ति ! कथं दृष्टमात्रोऽतिक्रान्त एषः। आर्य ! किं त्वं भणसि—'किमेतेषु पेटकसमुद्गकेषु' इति। आर्य ! जीविकायाः सम्पादकाः सर्पाः। किं भणसि—प्रेक्षितुमिच्छामि इति प्रसीदत्वार्यः। अस्थानं खलु एतत् ! तद्यदि कौतूहलम्, एहि एतस्मिन्नावासे दर्शयामि। किं भणसि—'इदं खलु भर्तुरमात्यराक्षसस्य गृहम्। नास्त्यस्मादृशानामिह प्रवेशः। तेन हि गच्छत्वार्यः। मम पुनर्जीविकायाः प्रसादेन अस्तीह प्रवेशः। कथमेषोऽप्यतिक्रान्तः ?)

संस्कृतार्थ—आकाशे इति—गगने श्रीमन् ! किं कथयसि, किन्नामधेयोऽस्मि। अहं जीर्णविषनामधेयः सर्पग्राही, पुनराकाशे—किं कथयसि, त्वमपि सर्पेण क्रीडितुं वाञ्छसि, अथ ब्रूहि कां जीविकां त्वमवलम्बसे ? पुनराकाशे—नृपाश्रितोऽसि तर्हि अवश्यं सर्पेण खेलसि। गारुडादिमन्त्राऽकुशलः, सर्पविषापहारकौषधिष्वपण्डितः, आहितुण्डिकः एकः, अंकुशरहितः मत्तगजारोही द्वितीयः, प्राप्ताधिकारः जयोद्धतश्च राजपरिचारकः तृतीयः एते त्रयोऽप्यवश्यं नश्यन्ति। कथमेष नेत्रान्तर्गतः एवान्तर्हितः। पुनराकाशे—आर्य ! किं पृच्छसि ? मञ्जूषायां किमस्ति ? अस्यां वृत्तेः साधकाः सर्पाः सन्ति, किं द्रष्टुकामोऽसि ? अत्रायुक्तमेतत् सर्पाणां दर्शनम्। यदि कौतुकं तदेहि गृहेऽस्मिन् दर्शयामि, पुनराकाशे—किं कथयसि महामात्यराक्षसस्यैतद्भवनम्, अत्रास्मदादीनां प्रवेशः निषिद्धः, तर्हि त्वं साधय, ममास्त्यत्र जीविकाबलेन प्रवेशः, कथमयमप्यन्तर्हितः।

भाषार्थ—(आकाश में) आर्य ! क्या कहते हो कि मैं कौन हूँ। श्रीमन् ! मैं जीर्णविष नाम का सँपेरा हूँ। (फिर आकाश में) क्या कहते हो कि मैं भी साँप से खेलना चाहता हूँ, जरा बताओ तो तुम्हारी वृत्ति क्या है ? (फिर आकाश में) यदि राजाश्रित सेवक है तो अवश्य साँप से खेलते हो। मणि, मन्त्र, औषधि न जानने वाला सँपेरा, अंकुशरहित पीलवान तथा प्राप्ताधिकार जयोन्मत्त राजसेवक ये तीनों अवश्य नाश को प्राप्त होते हैं। अरे यह क्या देखते ही यह चला गया। फिर आकाश में—आर्य क्या कहते हो कि इन पिटारियों में क्या है, आजीविका चलाने वाले साँप हैं। क्या कहते हो तुम देखना चाहते हो, कृपा करो यह उपयुक्त स्थान नहीं है। यदि बहुत ही कौतुक है तो यहाँ इस घर में आओ दिखाता हूँ। फिर आकाश में—क्या कहते हो यह अमात्य राक्षस का घर है हम जैसों का यहाँ प्रवेश नहीं। तो आप जाइये। जीविका की कृपा से मेरा प्रवेश यहाँ है। क्या यह भी अन्तर्हित हो गया।

टिप्पणी

व्याकरणम्—व्यालग्राही = व्यालस्य ग्राही व्यालग्राही षष्ठी तत्पुरुषः ग्रह् + णिनि, नतु व्यालं गृह्णाति, तदात्वे "कर्मण्यण्" इत्यनेन अणि व्यालग्रहः इति प्रयोगः। जितकाशी = जि + क्त + काश् + णिनि। विजय से उद्धत। आकाशे = आकाशभाषितम्, तल्लक्षणं यथाः—किं ब्रवीषि इति यन्नाट्ये विनापात्रं प्रयुज्यते। श्रुत्वैवानुक्तमप्यर्थं तत्स्यादाकाशभाषितम् ॥ अथवा—अप्रविष्टैः सहालापो भवेदाकाशभाषितम्। समुद्गकेषु = सम् + उत् + गम् + ड + कन् = स मुद्गकः। पेटकाश्च समुद्गकाश्चेति पेटकसमुद्गकाः तेषु, द्वन्द्व समासः। मत्तमतङ्गजारोही = मत्तश्चासौ मतङ्गजः कर्मधारय समासः, तं आरोहतीति, आ + रुह् + णिनि।

(स्वगतम्। संस्कृतमाश्रित्य) अहो ! आश्चर्यम्। चाणक्यमतिपरिगृहीतं चन्द्रगुप्तमवलोक्य विफलमिव राक्षसप्रयत्नमवगच्छामि। राक्षसमतिपरिगृहीतं मलयकेतुमवलोक्य चलितमिवाधिराज्याच्चन्द्रगुप्तमवगच्छामि। कुतः—

संस्कृतार्थ—अहो महच्चित्रम्। कौटिल्यस्य बुद्ध्या परिचालितं चद्रगुप्तं

दृष्ट्वा महामन्त्रिणः राक्षसस्य प्रयासं व्यर्थमिव जानामि। अपरत्र च राक्षसस्य मनीषया परिगृहीतं पर्वतकपुत्रं मलयकेतुं विलोक्य राज्यात्परिभ्रष्टमिव चन्द्रगुप्तं मन्ये।

भाषार्थ—कैसा आश्चर्य है एक ओर चाणक्य की कूट-नीति का अनुसरण करते हुए चन्द्रगुप्त को देखता हूँ तो ऐसा प्रतीत होता है मानो महामन्त्री राक्षस के सब प्रयत्न व्यर्थ हो रहे हैं। दूसरी ओर राक्षस की नीति का अनुगमन करते हुए पर्वतक पुत्र मलयकेतु को देखता हूँ तो ऐसा ज्ञात होता है कि चन्द्रगुप्त राज्य से च्युत हो चला है।

टिप्पणी

व्याकरणम्—अवलोक्य = अव + लोक् + क्त्वा (ल्यप्) देखकर। आश्रित्य = आ + क्त्वा (ल्यप्) सहारा लेकर। अधिराज्यात् = अधिष्ठितः राजा अधिराजः अधि + राजन् + टच् + ष्यञ् पञ्चमी विभक्ति एकवचन। अवगच्छामि = अव + गम् + मिप् उत्तम पुरुष एकवचन लट्लकार, जानता हूँ "उपसर्गबलात् धात्वर्थोऽन्यः प्रतीयते" जानामि इत्यर्थः। परिगृहीतम् = परि + ग्रह् + क्त द्वितीयैकवचनम्।

कौटिल्यधीरज्जुनिबद्धमूर्तिं मन्ये स्थिरां मौर्यनृपस्य लक्ष्मीम्।
उपायहस्तैरपि राक्षसेन निकृष्यमाणामिव लक्षयामि ॥२॥

२. कौटिल्य धी इति—

प्रसङ्ग—विराधगुप्तः स्वपक्ष-परपक्षयोः प्राबल्यं दौर्बल्यं च चिन्तयन्नाह :—

अन्वय—मौर्यकुलस्य लक्ष्मीं कौटिल्यधीरज्जुनिबद्धमूर्तिं स्थिरां मन्ये। राक्षसेन उपायहस्तैः निकृष्यमाणां इव अपि लक्षयामि।

संस्कृतार्थ—मौर्यकुलस्य = मौर्यवंशस्य राज्ञः चन्द्रगुप्तस्य इत्यर्थः, लक्ष्मीं = राज्यश्रियं, कौटिल्यधीरज्जुनिबद्धमूर्तिं = कौटिल्यस्य = कुटिलनयमूर्तेः चाणक्यस्य, धीः = बुद्धिः राजनीतिः, एव रज्जुः = दाम, तया निबद्धा = दृढं नियन्त्रिता, मूर्तिः = आकृतिः यस्याः तां, स्थिरां = निश्चलां, मन्ये = तर्कयामि। अपरत्र स्थिरामपि मौर्यश्रियं, राक्षसेन = नन्दमहामात्येन,

उपायहस्तैः=उपायैः साम-दाम-दण्ड-भेदैः एव हस्तैः = करैः, निकृष्यमाणां = विकृष्यमाणां, इव = उत्प्रेक्षायां, अपि = सम्भावनायां, लक्षयामि = तर्कयामि इत्यर्थः ।

भावार्थ—चाणक्येन रक्षितां चन्द्रगुप्तस्य राज्यलक्ष्मीं स्थिरां पश्यामि परं स्थिरामपि चन्द्रगुप्तस्य राज्यश्रियं राक्षसेन विकृष्यमाणामिव तर्कयामि । इति विराधगुप्तस्याभिप्रायः ।

भाषार्थ—चन्द्रगुप्त की राजलक्ष्मी को चाणक्य की बुद्धि रूपी रस्सी से बँधे हुए शरीर वाली को अचल मानता हूँ । परन्तु महामन्त्री राक्षस के उपाय साम-दान-दण्ड-भेद रूपी हाथों से खींची जाती हुई भी देखता हूँ ।

टिप्पणी

व्याकरणम्—उपायहस्तैः = उपायाः एव हस्ताः तैः मयूरव्यंसकादित्वात् समासः, मौर्यकुलस्य = मुरायाः गोत्रापत्यं पुमान् मौर्यः मुरा + अण्, तस्य यत्कुलं तस्य, लक्ष्मीं = लक्ष् + मुट् + ङीप् द्वितीयैकवचनम् । कौटिल्यधीरज्जुनिबद्धमूर्तिं = कौटिल्यस्य धी एव रज्जुः तया निबद्धा मूर्तिः यस्याः तां बहुव्रीहिः । निकृष्यमाणां = नि + कृष् + शानच् + टाप् द्वितीयैकवचनम् । कोष—"भेदो दण्डः साम दानमित्युपायचतुष्टयम्" इत्यमरः । "लक्ष्मीः पद्मालया पद्मा कमला श्रीः हरिप्रिया" इत्यमरः । वृत्तम्—उपजाति वृत्तम् । इन्द्रवज्रा + उपेन्द्रवज्रा=उपजातिः । "स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौगः" । "उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ" इतिलक्षणानि । अलंकार—कौटिल्यधीरज्जु यहाँ पर निरङ्ग रूपक अलंकार है तथा निकृष्यमाणामिव इस अंश में वाच्योत्प्रेक्षा अलंकार है । वैदर्भी रीति तथा प्रसाद गुण है ।

मौर्यकुलस्य के स्थान पर मौर्यनृपस्य यह पाठान्तर है । गर्हा-समुच्चय-प्रश्न-शङ्का-सम्भावनास्वपि" अपि शब्द के उक्त पाँच अर्थ होते हैं । यहाँ अपि शब्द सम्भावना अर्थ में प्रयुक्त है ।

तदेवमनयोर्बुद्धिशालिनोः सुसचिवयोर्विरोधे संशयितेव नन्दकुललक्ष्मीः ।

विरुद्धयोर्भूशमिह मन्त्रिमुख्ययोर्महावने वनगजयोरिवान्तरे ।
अनिश्चयाद्गजवशयेव भीतया गतागतैर्ध्रुवमिह खिद्यते श्रिया ॥३॥

३. विरुद्धयोरिति :—

प्रसङ्ग—मन्त्रिमुख्ययोः चाणक्यराक्षसयोः नीतियुद्धं वर्णयन् विराधगुप्तस्योक्तिरियम्—

अन्वय—इह महावने वनगजयोः इव भृशं विरुद्धयोः मन्त्रिमुख्ययोः अन्तरे अनिश्चयात् भीतया गजवशया इव श्रिया गतागतैः ध्रुवं खिद्यते इव ।

संस्कृतार्थ—इह = अस्मिन्, महावने = महारण्ये, वनगजयोः इव = वन्यहस्तिनोः इव, भृशं = अत्यन्तं, विरुद्धयोः = परस्परं वैरं आचरतोः, मन्त्रिमुख्ययोः = प्रधानामात्योः अन्तरे = मध्ये, अनिश्चयात् = निश्चयाऽभावात् जयपराजयोरिति शेषः, भीतया = त्रस्तया, गजवशया = करिण्या, इव = यथा, श्रिया = लक्ष्म्या, गतागतैः = यातायातैः, कदाचित् मलयकेतोः मौर्यं प्रति कदाचिच्च मौर्यात् मलयकेतुं प्रति गमनागमनैः इत्यर्थः, ध्रुवं = निश्चितं, खिद्यते = क्लिश्यते, इव = उत्प्रेक्षायां ।

भावार्थ—राक्षसचाणक्ययोः मध्येऽस्मिन् युद्धे जयपराजयोः अनिर्णीतत्वात् राजलक्ष्मीः कमाश्रयेदित्यात्मानं तुदतीव लक्ष्यते ।

भाषार्थ—इन दोनों महामन्त्रियों के आपसी विरोध के कारण नन्दवंश की राजलक्ष्मी सन्देह में पड़ गई है क्योंकि—

बड़े वन में अत्यन्त विरोधी जंगली हाथियों के चक्कर में पड़ी हुई हथिनी के समान इस महायुद्ध में परस्पर विरोधी दो महामन्त्रियों के बीच में जय पराजय के अनिर्णीत होने के कारण भयभीत राजलक्ष्मी दुःखित-सी हो रही है।

टिप्पणी

व्याकरणम्—महावने = महच्च तद्वनं तस्मिन्, कर्मधारयसमासः आन्महतः समानाधिकरणे इत्यात्वम् । विरुद्धयोः = वि + रुध् + क्त + ओस् षष्ठी द्विवचनम् । मन्त्रिमुख्योः = मन्त्रिणां मन्त्रिषु वा मुख्ययोः "यतश्च निर्धारणम्" इत्यनेन सूत्रेण षष्ठीसप्तम्यौ । अनिश्चयात् = न निश्चयादिति नञ् तत्पुरुषः, निस् + चि + अच् = निश्चयः तस्मात् । कोष—वशा "वशा स्त्री करिणी च" इत्यमरः । "वशा नार्यां वन्ध्यगव्यां हस्तिन्यां दुहितर्यपि" इति हैमः । भृशं =

अत्यन्तं "अतिवेलं भृशात्यर्थं" इत्यमरः। अलंकार—वनगजयोरिव उपमा, खिद्यते इव उत्प्रेक्षालंकार। वृत्तम्—रुचिरा छन्द है "जभौ सजौ गिति रुचिरा चतुर्ग्रहैः" वैदर्भी रीतिः, प्रसादश्च गुणः।

राजलक्ष्मी के निवास के निश्चयाऽभाव से दोनों मन्त्रियों की बुद्धि का प्रखर पाण्डित्य द्योतित किया गया है।

इस पद्य में इह शब्द महावने का भी विशेषण हो सकता है तथा इह अस्मिन् जयपराजयरूपव्यापारे, युद्धे वा इस अर्थ का द्योतक भी है।

तद्यावदमात्यराक्षसं पश्यामि। (इति परिक्रम्य स्थितः)
[ततः प्रविशत्यासनस्थः पुरुषेणानुगम्यमानः सचिन्तो राक्षसः]

भाषार्थ—अच्छा, तब तक अमात्य राक्षस से मिलता हूँ, घूमकर खड़ा हो जाता है।

[तदनन्तर आसन पर बैठा हुआ चिन्तामग्न राक्षस एक पुरुष के साथ प्रवेश करता है] राक्षस—(आँसू के साथ) ओह बड़ा कष्ट है।

राक्षसः—(सवाष्पम्) कष्टं भोः! कष्टम्।

वृष्णीनामिव नीतिविक्रमगुणव्यापारशान्तद्विषां
नन्दानां विपुले कुलेऽकरुणया नीते नियत्या क्षयम्।
चिन्तावेशसमाकुलेन मनसा रात्रिन्दिवं जाग्रतः
सैवेयं मम चित्रकर्मरचना भित्तिं विना वर्तते ॥४॥

(४) वृष्णीनामिव इति—

प्रसङ्ग—राक्षसः भृशं प्रयतमानोऽपि फलाफलचिन्तादोलाऽऽन्दोलित-मानसः स्वहृदयेन संलपन् ब्रवीति—

अन्वय—वृष्णीनामिव, नीतिविक्रमगुणव्यापारशान्तद्विषां नन्दानां विपुले कुले अकरुणया नियत्या क्षयं नीते चिन्तावेशसमाकुलेन मनसा रात्रि-न्दिवं जाग्रतः मम सा एव इयं चित्रकर्मरचना भित्तिं विना वर्तते।

संस्कृतार्थ—वृष्णीनाम् = यादवानाम्, इव = यथा, नीतिः = नयः, विक्रमः = शौर्यम्, गुणाः = सन्धिविग्रहयानआसनसंश्रयद्वैधीभावाः षड्-

गुणाः, तेषां व्यापारेण = प्रयोगेण, शान्ताः = हताः, द्विषः = अरयः, यैः तथा भूतानां, नन्दानां = नवनन्दानां, विपुले = विशाले, कुले = वंशे, अकरुणया = दयाहीनया, नियत्या = दैवेन, क्षयं = विनाशं, नीते = प्रापिते, चिन्तायाः = शोकस्य, आवेशेन = आधिक्येन, समाकुलं = व्याकुलं उद्विग्नमिति यावत् यन्मनः तादृशेन मनसा = स्वान्तेन, रात्रिन्दिवं = अहोरात्रं, जाग्रतः = जागरूकस्य, मम = राक्षसस्य, सैवेयं = स्वयमनुभूता नन्दस्य जीवनकाले एव, चित्रकर्मणः = आलेखनस्य, रचना = योजना, भित्तिं विना = कुड्यं विना आलम्बनं विना च, वर्तते = तिष्ठति ।

भावार्थ—मम राक्षसस्य आश्चर्यकारिणां कर्मणां संविधानप्रतिभा पुरा जीवत्सु नवनन्देषु किं तत् यन्न कृतवती किन्तु भाग्यवशेन विनष्टेषु तेषु साम्प्रतं आधारं विना किमपि कर्तुमक्षमा सती हृदये एवावसीदतीति भावः ।

भाषार्थ—यदुवंशियों की तरह दण्डनीति और पराक्रम रूपी गुणों के प्रयोग से शत्रुओं को नष्ट करने वाले नवनन्दों के विशाल वंश के निष्ठुर भाग्य द्वारा विनष्ट हो जाने पर चिन्ताओं के आधिक्य से उद्विग्न मन से रात-दिन जागने से वह मेरी आश्चर्यजनक कार्यकारिणी बुद्धि आधार के बिना जैसे भित्ति के विना चित्र वैसे ही दुःखित हो रही है ।

टिप्पणी

व्याकरणम्—रात्रिंदिवं = रात्रौ च दिवा च यह निपातन से सिद्ध होता है । "विप्रतिषिद्धं चानधिकरणवाचि" सूत्र से अद्रव्यवाची परस्पर विरुद्धार्थक शब्दों का द्वन्द्व समास होकर "सनपुंसकं" से नपुंसक लिंग तथा "ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य" से ह्रस्व होकर रात्रिंदिवं प्रयोग बना । जाग्रतः = जागृ निद्राक्षये + शतृ, षष्ठी एकवचन । कोषः = नियति = भाग्य, 'दैवं दिष्टं भागधेयं, भाग्यं स्त्री नियतिः विधिः' । अलंकार = वृष्णीनामिव यहाँ उपमा अलंकार है । छन्द = शार्दूलविक्रीडितम् "सूर्याश्वैर्यदि मः सजौ सततगाः शार्दूलविक्रीडितम् ।" प्रसाद गुण तथा पाञ्चाली रीति ।

नन्दनाम्—यहाँ पिता और आठ पुत्रों की नवनन्द संज्ञा है । वृष्णीनाम् = वृष्णि शब्द लक्षणा से तन्नामक राजा तथा तज्जातीय के लिये प्रयुक्त है । अथवा—

नेदं विस्मृतभक्तिना न विषयव्यासङ्गमूढात्मना
प्राणप्रच्युतिभीरुणा न च मया नात्मप्रतिष्ठार्थिना।
अत्यर्थं परदास्यमेत्य निपुणं नीतौ मनो दीयते
देवः स्वर्गगतोऽपि शात्रववधेनाराधितः स्यादिति ॥५॥

प्रसङ्ग—पद्यमिदं राक्षसः स्वस्य राजनीतौ अभिनिवेशः किं सेवाभावेनास्ति आहोस्वित् स्वार्थभावनयेति मनसि विकल्पमाधायाह।

अन्वय—मया परदास्यमेत्य अत्यर्थं निपुणं नीतौ मनः दीयते, इदं विस्मृतभक्तिना न, विषयव्यासङ्गमूढात्मना न, प्राणप्रच्युतिभीरुणा न, अत्मप्रतिष्ठार्थिना न, स्वर्गगतः अपि देवः शात्रववधेन आराधितः स्यात् इति।

संस्कृतार्थ—मया = नन्दामात्येन राक्षसेन, परस्य = अन्यस्य मलयकेतोरित्यर्थः, दास्यं = कैङ्कर्यं, एत्य = प्राप्य, अत्यर्थं = अत्यधिकं, निपुणं = यत्नेन, नीतौ = राजनीतिप्रयोगे, मनः = चित्तं, दीयते = व्याप्रियते, इदं = एतत् राजनीतौ मनोदानं, विस्मृतभक्तिना = अन्तर्गतनन्दानुरागेण, न = नहि न विषयेषु = भोगेषु, व्यासङ्गः = आसक्तिः, तेन मूढः = अज्ञः आत्मा = अन्तःकरणं यस्य तादृशेन मया, न = नहि, प्राणच्युतिः = प्राणनाशः, तेन भीरुणा = कातरेण, न = नहि, आत्मनः = स्वस्य, प्रतिष्ठार्थिना = यशोऽभिलाषुकेन, न = नहि, परं स्वर्गगतः = दिवंगतः, अपि = सम्भावनायां, देवः = महाराजो नन्दः, शात्रववधेन = शत्रुविनाशेन, आराधितः = सेवितः, स्यात् = भवतु। इत्याशयेन नीतौ मनः दीयते।

भावार्थ—मया राक्षसेन मलयकेतोः दास्यभावेन, नन्दे विस्मृतानुरागेण वा, भोगासक्तेन वा, प्राणनाशभयेन वा, यशः कामुकेन वा राजनीतौ मनः न दीयते परं शत्रूणां वधेन नन्दः परितुष्यतु इति भावेन नीतौ मनः दीयते।

भाषार्थ = मैं मयलकेतु की दासता स्वीकार कर राजनीति में मन लगा रहा हूँ सो स्वामिभक्ति को भुलाकर नहीं, विषय-भोग की लालसा से नहीं, मृत्यु के डर से नहीं, यश कामना से नहीं, प्रत्युत शत्रु-विनाश से दिवंगत महाराज नन्द प्रसन्न हों, तदर्थ मैं राजनीति में मन लगा रहा हूँ।

टिप्पणी

व्याकरणम् = विस्मृतभक्तिना = विस्मृतं भक्तिः येन बहुव्रीहिसमासः। विस्मृता भक्तिः येन इति विग्रहे तु विस्मृताभक्तिना इति प्रयोगः स्यात्। विषयाणां ये व्यासङ्गाः तैः मूढः आत्मा यस्य तेन, बहुव्रीहिः। प्राणानां च्युतिः प्राणच्युतिः। प्राणशब्दः नित्यं बहुवचनान्तः। दास्यम् = दास + ष्यत्। दासस्य भावः दास्यमितिविग्रहः। प्रतिष्ठा = प्रति + स्था + अङ् + टाप्, प्रति तिष्ठति अनयेतिविग्रहः। कोष = "प्रतिष्ठा गौरवे स्थितौ" इति हेमचन्द्रः। नियोज्य किङ्करप्रैष्य भुजिष्य परिचारकाः इत्यमरः। अलंकार = परिसंख्या। प्रसाद गुण, पाञ्चाली रीति। छन्द = शार्दूलविक्रीडितम्।

यहाँ पं० श्री ढुंढिराज जी ने गर्भ सन्धि का अंग मार्ग रूप अवान्तर भेद माना है। 'तत्त्वार्थशंसनं मार्गस्य लक्षणमित्युक्तेः।

(आकाशमवलोकयन् सास्रम्) भगवति कमलालये! भृशमगुणज्ञासि। कुतः—

आनन्दहेतुमपि देवमपास्य नन्दं
सक्तासि किं कथय वैरिणि मौर्यपुत्रे।
दानाम्बुराजिरिव गन्धगजस्य नाशे
तत्रैव किं न चपले प्रलयं गतासि ॥६॥

आकाश की ओर देखते हुए आँखों में आँसू भर कर वाह री राजलक्ष्मी! तू भी कितनी ज्ञानशून्य है :—क्योंकि

प्रसङ्ग—राक्षसः सकलस्वप्रयत्नस्य निष्फलतायाः प्रधानं निदानं अगुणज्ञां राज्यलक्ष्मीमेव मन्यमानः अतएव तामधिक्षिपन्नाहः—

अन्वय—चपले! कथय आनन्दहेतुमपि देवं नन्दम् अपास्य वैरिणि मौर्यपुत्रे किं सक्तासि, गन्धगजस्य नाशे दानाम्बु राजिरिव तत्रैव किं न प्रलयं गतासि।

संस्कृतार्थ—चपले = अस्थिरे! कथय = ब्रूहि, आनन्दहेतुमपि = सुखनिदानमपि, देवं = महाराजं, नन्दं = तदाख्यनृपं, अपास्य = परित्यज्य,

वैरिणि = शत्रौ, मौर्यपुत्रे = चन्द्रगुप्ते किं = कस्मात् कारणात्, सक्तासि = अनुरक्तासि, गन्धगजस्य = गन्धहस्तिनः, नाशे = पञ्चत्वं गते, दानाम्बुराजिः = मदधारा, इव = यथा, तत्रैव = महाराजे मृते नन्दे एव, किं न प्रलयं गतासि = कथं न मृतासि ।

भावार्थ—सर्वथा संज्ञाशून्याऽपि मदधारा स्वाश्रये गन्धहस्तिनि समुत्सन्ने समुत्सीदति सुतरां पुनः संज्ञानवत्या लक्ष्म्या भर्तरिनन्दे मृते मर्तव्यमेव परं सा न मृता अतः पापायाः नास्ति निस्तारमार्गः कोऽपि ।

भाषार्थ—हे चञ्चल, आनन्द के कारण महाराज नन्द को त्याग कर शत्रु मुरा के पुत्र चन्द्रगुप्त में क्यों कर आसक्त हो गई, यह कहो । गन्धगज के मर जाने पर उसकी मदधारा के समान वहीं राजानन्द में ही क्यों न विलीन हो गई ।

टिप्पणी

व्याकरण—मौर्यपुत्रे = मुरायाः अपत्यं मौर्यः सचासौ पुत्रः तस्मिन् कर्मधारयसमासः । मुरा + अपत्ये । गन्धगजः = गन्धप्रधानः गजः मध्यमपदलोपी समासः । प्र + ली + अच् = प्रलयः । सञ्ज् + क्त + टाप् = सक्ता + असि । कोष—राजिः—पंक्ति "श्रेणी लेखास्तु राजयः" इत्यमरः । अलंकार—दानाम्बुराजिरिव यहाँ उपमा अलंकार है । परिकरालंकारश्च "साभिप्रायैः विशेषणैः परिकरो मतः" । प्रसादः गुणः, वैदर्भी च रीतिः । छन्द—वसन्ततिलकाछन्दः "उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौगः" । गन्धगजः "यस्य गन्धं समाघ्राय न तिष्ठन्ति प्रतिद्विपाः । स वै गन्धगजो नाम नृपतेर्विजयावहः ॥

अपि च अनभिजाते !
पृथिव्यां किं दग्धाः प्रथितकुलजा भूमिपतयः
पतिं पापे मौर्यं यदसि कुलहीनं वृतवती ।
प्रकृत्या वा काशप्रभवकुसुमप्रान्तचपला
पुरन्ध्रीणां प्रज्ञा पुरुषगुणविज्ञानविमुखी ॥७॥

प्रसङ्ग—"अपिचानभिजाते" इत्युक्त्वा लक्ष्मीं विनिन्द्य अधिक्षिप्य चापि

मनसः स्वास्थ्यं अलभमानः पुनरपि लक्ष्मीमेव निन्दन् महामात्यो राक्षसः पद्यमिदं व्याचष्टे।

अन्वय—पापे ! पृथिव्यां प्रथितकुलजाः भूमिपतयः दग्धाः किं यत्त्वं कुलहीनमौर्यं पतिं वृतवती असि। वा काशप्रभवकुसुमप्रान्तचपला पुरन्ध्रीणां प्रज्ञा प्रकृत्या पुरुषगुणविज्ञानविमुखी भवतीति शेषः।

संस्कृतार्थ—पापे = कुलटे। पृथिव्यां = भूम्यां, प्रथितकुलजाः = विख्यातवंशजाः, भूमिपतयः = भूपतयः, दग्धाः = भस्मसाद्भूताः, किं = इति प्रश्ने, यत्त्वं, कुलहीनं = हीनकुलं, नीचकुलोत्पन्नमित्यर्थः, मौर्यं = वृषलं, चन्द्रगुप्तमित्यर्थः, पतिं = स्वामिनं, वृतवती असि = अवृणोः, वा = अथवा काशप्रभवं = काशतृणजातं, कुसुमप्रान्तः = पुष्पाग्रभागः, इव = यथा, चपला = चञ्चला, पुरन्ध्रीणां = सीमन्तिनीनां, प्रज्ञा = बुद्धिः, प्रकृत्या = स्वभावेन, पुरुषाणां = मनुष्याणां, = गुणानां = सद्वंशत्वादीनां, विज्ञाने = विवेचने, विमुखी = पराङ्मुखी भवति।

भावार्थ—अस्मिन् पद्येऽर्थान्तरन्यासालंकारेण स्त्रीणां मनीषायाः पुरुषाणां गुणाऽवगुणानां परिचये निरपेक्षता प्रदर्शिता लक्ष्म्याश्च रमणीत्वेन तस्याः अपि नन्दस्य परित्यागे हानकुलस्य मौर्यस्य वरणे पुरुषगुणविज्ञानेऽज्ञानं प्रदर्शितम्।

भाषार्थ—और भी अकुलीने पापिनि ! पृथ्वी पर विख्यात वंशी राजा लोग जल मरे हैं जो तुमने हीनवंश मौर्य का वरण किया है। स्त्रियों की बुद्धि ही ऐसी होती है जो काश कुसुम के अग्र भाग के तुल्य चञ्चल एवं पुरुषों के गुणों-अवगुणों की पहचान से रहित होती है।

टिप्पणी

व्याकरणम्—पुरन्ध्रीणाम् = पुरं धारयतीति विग्रहे पुर + धृ + णिच् + खच् + ङीष्। प्रभवति अस्मात् इति विग्रहे प्र + भू + अप्। काशकुसुमप्रान्तात् प्रभवः उत्पत्तिः यस्याः बहुव्रीहिसमासः, अपादाने पञ्चमी। कोष—कुटुम्बिनी पुरन्ध्री स्यादित्यमरः। अलंकार—अर्थान्तरन्यासः, वैदर्भी रीतिः, प्रसाद गुणः। छन्द—शिखरिणी वृत्तम् "रसै-रुद्रैः छिन्ना यमनसभलागः

शिखरिणी"। इस छन्द में १७ वर्ण तथा छठे एवं ग्याहरवें वर्ण पर यति होती है।

न अभिजातः अनभिजातः नञ् तत्पुरुषः। "अभिजातस्तु कुलजे बुधे" अभिजात शब्द तीन अर्थों में प्रयुक्त होता है, खान्दानी, विद्वान् तथा न्याय युक्त अर्थ में। लक्ष्मी का अनभिजात सम्बोधन वास्तविक नहीं परं वक्ता के आक्रोश को प्रकट करता है।

अपि च, अविनीते! तदहमाश्रयोन्मूलनेनैव त्वामकामां करोमि। (विचिन्त्य) मया तावत्सुहृत्तमस्य चन्दनदासस्य गृहजनं निक्षिप्य नगरान्निर्गच्छता न्याय्यमनुष्ठितम्। कुतः? कुसुमपुराभियोगं प्रति अनुदासीनो राक्षस इति तत्रस्थानामस्माभिः सहैककार्याणां देवपादोपजीविनां नोद्यमः शिथिलीभविष्यति। चन्द्रगुप्तशरीरमभिद्रोग्धुमस्मत्प्रयुक्तानां तीक्ष्णरसदायिनामुपसंग्रहार्थं परकृत्योपजापार्थञ्च महता कोशसञ्चयेन स्थापितः शकटदासः। प्रतिक्षणमरातिवृत्तान्तोपलब्धये तत्संहतिभेदनाय च व्यापारिताः सुहृदो जीवसिद्धिप्रभृतयः। तत् किमत्र बहुना?

संस्कृतार्थ—अविनीते = विनयरहिते, तत् = तस्माद्धेतोः, अहं = राक्षसः, आश्रयस्य = त्वदाधारस्य, उन्मूलनेन = नाशेन, एव = अवधारणे, त्वां = लक्ष्मीं, अकामां = निष्फलमनोरथां, करोमि = सम्पादयामि, विचिन्त्य = विमृश्य, सुहृत्तमस्य = मित्रवर्यस्य, चन्दनदासस्य तदाख्यश्रेष्ठिनः, गृहे = गेहे, गृहजनं = परिवारप्राणिनः, निक्षिप्य = न्यासीकृत्य, नगरात् = पुरात् पाटलीपुत्रात्, निर्गच्छता = निस्सरता, मया = राक्षसेन, न्याय्यं = उचितं, अनुष्ठितं = कृतम्, कुसुमपुरस्य = पाटलीपुत्रस्य, अभियोगं = आक्रमणं, प्रति, राक्षसः, अनुदासीनः = नोद्यमरहितः, इति ज्ञात्वा, तत्रस्थानां = पाटलीपुत्रे वसतां, अस्माभिः सह, एककार्याणां = समानप्रयोजनानां, देवपादोपजीविनां = नन्दसेवकानां, उद्यमः = यत्नः, न शिथिलीभविष्यति = न मन्दीभविष्यति, चन्द्रगुप्तशरीरं = वृषलदेहं, अभिद्रोग्धुं = हन्तुम्, अस्मत्प्रयुक्तानां = अस्माभिः नियोजितानां, तीक्ष्णरसदायिनां = तीव्रविषदायिनां, उपसंग्रहार्थं = सञ्चयार्थं, परकृत्यानां = शत्रुकार्याणां, उपजापार्थं = भेदनार्थं, महता = अधिकेन, कोशसञ्चयेन = धनराशिना,

शकटदासः=राक्षसस्य मित्रं सचिवश्चेति, स्थापितः=नियुक्तः, तथा प्रतिक्षणं=निरन्तरं, अरातेः=शत्रोः वृत्तान्तस्य=समाचारस्य, उपलब्धये=प्राप्त्यर्थं, तेषां शत्रूणां संहतेः=समूहस्य, भेदनाय=भङ्गाय, जीवसिद्धिप्रभृतयः=तदाख्य-प्रमुखाः, सुहृदः=मित्राणि, व्यापारिताः=नियोजिताः।

भाषार्थ—ओ विनयविहीन लक्ष्मी! यदि मैंने तुम्हारे सहारे को सर्वनाश न कर दिया और तुम्हारे मनोरथों को विफल न कर दिया (कुछ विचार कर) ऐसा प्रतीत होता है कि पटना से निकलते समय मैंने मित्रवर चन्दनदास के घर में अपने परिवार को रख कर उचित ही किया है। इस प्रकार हमारे साथी "राक्षस पटना पर आक्रमण करने में उदासीन नहीं है" ऐसा विचार कर हमारे साथ कार्य करने वाले महाराज नन्द के सेवक प्रयत्न में ढीले नहीं पड़ेंगे। चन्द्रगुप्त के शरीर को नष्ट करने के लिये हमारे भेजे हुए विष देने वालों को एकत्र करने तथा शत्रु के कार्यों का भेदन करने के लिये महान् धनराशि के साथ शकटदास को नियुक्त कर दिया है। तथा प्रत्येक क्षण में शत्रुओं के समाचार जानने तथा उनके गुट को छिन्न-भिन्न करने के लिये जीवसिद्धि आदि मित्रों को नियुक्त कर दिया है। तो यहाँ बहुत कहने से क्या लाभ?

टिप्पणी

व्याकरण—आश्रयस्य उन्मूलनेन षष्ठीतत्पुरुषः, आ+श्रि+अच्=आश्रयः। सुहृत्तमस्य=सु हृदयं अस्य इति सुहृत् अतिशायने तमप्, हृदयस्य हृत् आदेशः। अनुदासीनः न उदासीनः नञ् समासः, उत्+आस्+शानच्, ईकारादेशः। उपजीविनाम्=उप+जीव्+णिनि षष्ठी बहुवचनं। प्रतिक्षणम्=क्षणे क्षणे इति प्रतिक्षणम् वीप्सायां अव्ययीभावसमासः। संहतिः=सम्+हन्+क्तिन्। भेदनाय-अत्र तादर्थ्ये चतुर्थी। अभिद्रोग्धुम्=अभि+द्रुह्+तुमुन्।

इष्टात्मनः सपदि सान्वय एव देवः
शार्दूलपोतमिव यं परिपोष्य नष्टः।
तस्यैव बुद्धिविशिखेन भिनद्मि मर्म
वर्मीभवेद्यदि न दैवमदृश्यमानम् ॥८॥

प्रसङ्गः—प्रतिनायकः राक्षसः स्वनीतिप्रयोगं मनसि चिन्तयन् इष्टात्मजः सपदीति पद्यमाचष्टे ।

अन्वयः—इष्टात्मजः देवः शार्दूलपोतमिव यं परिपोष्य सान्वयः एव सपदि नष्टः तस्य एव मर्म बुद्धिविशिखेन भिनद्मि यदि अदृश्यमानं दैवं न वर्मीभवेत् ।

संस्कृतार्थः—इष्टात्मजः— = प्रियपुत्रः, देवः=नन्दः, शार्दूलपोतमिव= सिंहशावकमिव, यं=वृषलं, चन्द्रगुप्तमिति यावत्, परिपोष्य=पालयित्वा, सान्वयः=वंशेन सहितः, एव, सपदि=शीघ्रमेव, नष्टः=पञ्चत्वं प्राप्तः, तस्यैव=चन्द्रगुप्तस्यैव, मर्म=मर्मस्थलं, बुद्धिविशिखेन=मतिबाणेन, कठोरकूटनीतिव्यापारेण, भिनद्मि=विदारयामि, यदि=चेत् अदृश्यमानं=परोक्षं द्रष्टुं अशक्यं, दैवं=भाग्यं, मम तस्य वा न वर्मीभवेत्=रक्षकं न भवेत् ।

भावार्थः—राक्षसः स्वनीतिप्रयोगं विचारयन्नाह, अहं राक्षसः चन्द्रगुप्तं चाणक्यं च स्वकूटनीतिप्रयोगेण अवश्यं हनिष्यामि, यदि तस्य मम वा भाग्यमेव तं न रक्षेत् ।

भाषार्थः—पुत्रप्रेमी महाराज नन्द सिंह-शावक के समान जिस चन्द्रगुप्त का पालन-पोषण कर स्वयं वंश सहित शीघ्र ही मर गये । उन्हीं चन्द्रगुप्त के मर्म स्थल को मैं अपने बुद्धि के बाणों से अर्थात् कूटनीति द्वारा अवश्य भेदन कर दूँगा अगर मेरी श्रीवृद्धि को न सह सकने वाला मेरा या उसका परोक्ष भाग्य ही कवच बन कर उसकी रक्षा न करे ।

टिप्पणी

व्याकरण—इष्टात्मजः=इष्टा आत्मजाः यस्य सः बहुव्रीहिसमासः । बुद्धिविशिखेन- बुद्धिरेव विशिखः बाणः तेन । इष्टः=इष् +क्तः ष्टुत्वं च । आत्मजः=आत्मनः जायते इति, अत् +मनिण्, जन् +डः तत्पुरुषः ।

परिपोष्य = परि + पुष् + क्त्वा (ल्यप्)। वर्मीभवेत् = अवर्म वर्म सम्पद्यमानं भवेत् इति अभूततद्भावे च्विः। कोषः = "यानपात्रे शिशौ पोतः" पोत शब्द जहाज और बालक इन अर्थों में प्रयुक्त होता है। "पोतः पाकोऽर्भको डिम्भः" इत्यमरः। अलंकारः = शार्दूलपोतमिव इस अंश में उपमाऽलंकार है। बुद्धि-विशिखेन यहाँ पर "परिणाम" अलंकार है। "विषयात्मतयारोप्ये प्रकृतार्थोपयोगिनि परिणामः" इति लक्षणात्। छन्द—वसन्ततिलका वृत्तम्। पाञ्चाली रीतिः। ओजोगुणः।

"तस्यैव मर्मस्थलं" से चन्द्रगुप्त के मर्मस्थल यानी चाणक्य से अभिप्राय है। शार्दूलपोतमिव" शेर अपने पुत्र का लालन-पालन कर अपने पुत्र से ही खाया हुआ नष्ट हो जाता है उसी प्रकार नन्द भी स्वपालित चन्द्रगुप्त से नष्ट हो गया।

(ततः प्रविशति कंचुकी)

कञ्चुकी—

कामं नन्दमिव प्रमथ्य जरया चाणक्यनीत्या यथा
धर्मो मौर्य इव क्रमेण नगरे नीतः प्रतिष्ठां मयि।
तं सम्प्रत्युपचीयमानमनु मे लब्धान्तरः सेवया
लोभो राक्षसवज्जयाय यतते जेतुं न शक्नोति च ॥६॥

प्रसङ्गः—चाणक्यराक्षससंघर्षमिव स्वहृदये प्रवर्तमानं धर्म-लोभयोः द्वन्द्वं जाजलिनामधेयः मलयकेतोः कञ्चुकी चिन्तयन् उद्विग्नमनाः कामं नन्दमिवादि पद्यमाह।

अन्वयः—चाणक्यनीत्या यथा जरया नन्दमिव कामं प्रमथ्य नगरे मौर्ये इव मयि धर्मः क्रमेण प्रतिष्ठां नीतः सम्प्रति सेवया लब्धान्तरो मे लोभः राक्षसवत् उपचीयमानं तं अनुजयाय यतते जेतुं च न शक्नोति।

संस्कृतार्थः—चाणक्यनीत्या = कौटिल्यनयेन, यथा = इव, जरया = वार्द्धक्येन, नन्दमिव = तन्नामकनृपमिव, कामं = भोगेच्छां, प्रमथ्य = सम्मर्द्य, नगरे = कुसुमपुरे, मौर्ये = चन्द्रगुप्ते, इव, धर्मः = सुकृतं, क्रमेण = आनुपूर्व्येण, प्रतिष्ठां = संस्थां, नीतः = प्रापितः, सम्प्रति = इदानीं, सेवया = मलयकेतोः

शुश्रूषया, लब्धान्तरः = प्राप्तावसरः मे = मम जाजलेः, लोभः = विषयाभिलाषः राक्षसवत् उपचीयमानं = एधमानं, तं = धर्मं, अनुजयाय = विजयाय, यतते, परं जेतुं, न शक्नोति = न समर्थो भवति ।

भावार्थः—लोभः यथा विषयाभिलाषशून्ये हृदये प्रतिष्ठितं धर्मं जेतुं न शक्नोति तथैव राक्षसः नन्दे नष्टेऽपि नगरे प्रतिष्ठितं चन्द्रगुप्तं जेतुमिच्छन्नपि विजेतुं न शक्नोति । अत्र लोभः राक्षसः, कामः नन्दवंशः, धर्मश्च चन्द्रगुप्तोऽभिप्रेतः ।

भाषार्थः—मेरा यह राज-सेवा से बढ़ता हुआ लोभ बुढ़ापे के कारण विषयाभिलाष के नष्ट हो जाने पर हृदय में स्थित धर्म भाव को उसी प्रकार नहीं दबा सकता जिस प्रकार नन्द के नष्ट हो जाने पर भी पाटलीपुत्र नगर में प्रतिष्ठित चन्द्रगुप्त को जीतना चाहते हुये भी राक्षस चन्द्रगुप्त को नहीं दबा पाता ।

टिप्पणी

व्याकरण—प्रमथ्य = प्र + मन्थ् + क्त्वा (ल्यप्) । प्रतिष्ठां = प्रति + स्था + अङ् द्वितीयैकवचने रूपम् । उपचीयमानं = उप + चि + शानच् मुगागमः । लोभः = लुभ् + घञ् । धर्मः = ध्रियते लोकोऽनेन, धरति लोकं वा, धृ + मन् । कोषः - धर्मश्रेयसी सुकृतं वृषः इत्यमरः । अलंकारः—नन्दमिव यहाँ उपमाऽलंकार है । समासोक्ति अलंकारश्च तथाहि "समासोक्तिः समैर्यत्र कार्यलिङ्गविशेषणैः व्यवहारसमारोपः" इति लक्षणात् । छन्द—"शार्दूलविक्रीडितम्" । वैदर्भी रीतिः । प्रसादो नाम गुणः । कञ्चुकिलक्षणं यथा—

अन्तःपुरचरो वृद्धो विप्रो गुणगणान्वितः ।
सर्वकार्यार्थकुशलः कञ्चुकीत्यभिधीयते ॥

कञ्चुकी अन्तःपुर के द्वार का रक्षक पुरुष । यहाँ इसका नाम जाजलि है ।

(दृष्ट्वा) अयममात्यराक्षसः । (परिक्रम्योपसृत्य च) इदममात्यराक्षसस्य गृहम् । प्रविशामि । (प्रविश्यावलोक्य च) अमात्य ! स्वस्ति भवते ।

राक्षसः—आर्य जाजले ! अभिवादये । प्रियंवदक ! आसनम् अत्रभवत उपनय ।

पुरुषः—एदं आसणम्। उपविसदु अज्जो। (इदमासनम्। उपविशत्वार्यः।)

कञ्चुकी—(उपविश्य) अमात्य ! कुमारो मलयकेतुरमात्यं विज्ञापयति—'चिरात्प्रभृत्यार्यः परित्यक्तोचितशरीर-संस्कार इति पीड्यते मे हृदयम्। यद्यपि सहसा स्वामिगुणाः न शक्यन्ते विस्मर्तुं तथापि मद्विज्ञापनां मानयितुमर्हत्यार्यः (इत्याभरणानि प्रदर्श्य) अमात्य ! इमान्याभरणानि कुमारेण स्वशरीरादवतार्य प्रेषितानि, धारयितुमर्हत्यार्यः।

राक्षसः—आर्य जाजले ! विज्ञाप्यतां मद्वचनात् कुमारः। विस्मृता मया स्वामिगुणा भवद्गुणपक्षपातेन। किन्तु—

(देखकर) ओह ! महामन्त्री राक्षस (घूमते हुए पास जाकर) यह है अमात्य राक्षस का घर, अच्छा प्रवेश करता हूँ, (प्रवेश कर तथा देखकर), अमात्य आपका कल्याण हो।

राक्षस—आर्य जाजलि ! मैं नमस्कार करता हूँ। हे प्रियंवदक ! आर्य जाजलि के लिये आसन लाओ।

पुरुष—यह आसन है, श्रीमान् जी बैठिये।

कञ्चुकी—अभिनय पूर्वक बैठते हुए, मन्त्री जी ! कुमार मलयकेतु मन्त्री जी 'को निवेदन करते हैं कि आपने बहुत दिनों से शरीरोचित वेश-भूषा का परित्याग कर दिया है इसका मुझे दुःख है। यद्यपि महाराज नन्द के गुण एकदम भुलाये नहीं जा सकते, तो भी यह मेरी प्रार्थना अवश्य स्वीकार कीजिये, (आभरणों को दिखाकर) अमात्य ये वे आभूषण हैं जिन्हें कुमार ने अपने शरीर से उतार कर आपके लिये भेजे हैं। क्या इन्हें आप स्वीकार करेंगे ?

राक्षस—आर्य जाजलि ! मेरी ओर से कुमार को निवेदन करना, कि उनके गुणों के प्रति मेरे अनुराग ने महाराज नन्द के गुणों को भुला-सा दिया हैं। किन्तु—

न तावन्निर्वीर्यैः परपरिभवाक्रान्तिकृपणै-
र्वहाम्यङ्गैरेभिः प्रतनुमपि संस्काररचनाम् ।
न यावन्निःशेषक्षपितरिपुचक्रस्य निहितं
सुगाङ्गे हेमाङ्कं नृवर तव सिंहासनमिदम् ।।१०।।

प्रसङ्ग—राक्षसः मलयकेतुकृतं सत्कारं शत्रुविनाशात्पूर्वं प्रतिग्रहीतुं असमर्थः इति प्रतिजानाति न तावत् निर्वीर्यैः इत्यादि पद्येन ।

अन्वयः—नृवर ! यावत् निःशेषक्षपितरिपुचक्रस्य तव हेमांकं इदं सिंहासनं सुगाङ्गे न निहितं तावत् परपरिभवाक्रान्तिकृपणैः निर्वीर्यैः एभिः अङ्गैः प्रतनुमपि संस्काररचनां न वहामि ।

संस्कृतार्थः—नृवर = नरश्रेष्ठ ! यावत् = यावत्कालपर्यन्तं, निःशेषं—समग्रं, क्षपितं = विनाशितं, रिपुचक्रं = शत्रुमण्डलं, यस्य तथाभूतस्य, तव = ते मलयकेतोः, हेमाङ्कं = स्वर्णाचिह्नितं, इदं = एतत्, सिंहासनम्—राजासनं, सुगाङ्गे = एतन्नामकराजप्रासादे, न निहितं = न स्थापितं, तावत् = तदवधि, परेभ्यः = शत्रुभ्यः, यः परिभवः = यः तिरस्कारः, तस्य आक्रान्त्या = आरोपेण, कृपणैः = कातरैः, अत एव निर्वीर्यैः = निर्बलैः, एभिः = मदीयैः, अङ्गैः = शरीरावयवैः, प्रतनुमपि = अल्पमात्रमपि, संस्काररचनां = अलङ्कारविन्यासं, न वहामि—न धारयामि ।

भावार्थः—यावत्कालं अहं राक्षसः शत्रून् विनाश्य तव राजसिंहासनं पुनः पाटलिपुत्रे न स्थापयामि तावत् अहं स्वल्पमपि आभूषणविन्यासं न धारयिष्यामि । अरीन् क्षयं नीत्वैव स्वशरीरमलङ्करिष्यामीति भावः ।

भाषार्थः—हे नरश्रेष्ठ मलयकेतु ! जब तक समस्त शत्रु-मण्डल का विनाश कर आपका यह स्वर्ण-सिंहासन सुगाङ्ग नामक महल में स्थापित नहीं कर दिया जाता तब तक अपने इस निर्बल तथा शत्रुकृत अपमानों से दीन-हीन शरीर पर किसी प्रकार की अलंकार जन्य सज-धज किञ्चिन्मात्र भी नहीं धारण करूँगा ।

टिप्पणी

व्याकरण—निर्वीर्यैः = निर्गतं वीर्यं येभ्यः तैः अङ्गैः बहुव्रीहि समास ।

रिपूणां चक्रं इति षष्ठीतत्पुरुषः। निहितं = नि + धा + क्त। प्रतनुम् = विशेषणम्, प्रकृष्टः तनुः सूक्ष्मभावः इति प्रादिसमासः। नृवर = नृणां नृषु वा वरः श्रेष्ठः तत्सम्बोधने नृवर। कोष—"कदर्ये कृपणक्षुद्रकिम्पचानमितम्पचाः" इत्यमरः। अलंकार—"परिकर" अलंकार है, "उक्तिः विशेषणैः साभिप्रायैः परिकरो मतः" यहां पर परिभवाक्रान्तिकृपणैः, निर्वीर्यैः आदि पद साभिप्राय हैं। छन्द—शिखरिणीवृत्तं "रसैः रुद्रैः छिन्ना यमनसभलागः शिखरिणी। इस छन्द में छह तथा ग्यारहवें अक्षर पर यति होती है ओज गुण तथा पाञ्चाली रीति है।

सुगाङ्ग नामक राजमहल से गंगा का दृश्य सुन्दर दीखता है।

कञ्चुकी—अमात्य ! त्वयि नेतरि सुलभमेतत् कुमारस्य। तत् प्रतिमान्यतां कुमारस्य प्रथमः प्रणयः।

राक्षसः—आर्य ! कुमार इवानतिक्रमणीयवचनो भवानपि। तदनुष्ठीयते कुमारस्याज्ञा।

कचुञ्की—(नाट्येन भूषणानि परिधाप्य) स्वस्ति भवते। साधयाम्यहम्।

राक्षसः—आर्य ! अभिवादये। (कञ्चुकी निष्क्रान्तः।) प्रियंवदक ! ज्ञायतां कोऽयमस्मद्दर्शनार्थी द्वारि तिष्ठति।

प्रियंवदकः—जं अज्जो आणवेदि त्ति। (परिक्रम्याहितुण्डिकं दृष्ट्वा) णं अज्ज ! को तुमं ? (यदार्य आज्ञापयतीति। ननु आर्य ! कस्त्वम्) ?

आहितुण्डिकः—भद्द ! अहं क्ख आहितुण्डिओ जिण्णविसो णाम। इच्छामि अमच्चरक्खसस्स पुरदो सप्पेहिं खेलिदुं। (भद्र ! अहं खल्वाहितुण्डिको जीर्णविषो नाम। इच्छाम्यमात्यराक्षसस्य परतः सर्पैः खेलितुम्।)

प्रियंवदकः—चिट्ठ, जाव अमच्चस्स णिवेदेमि। (राक्षसमुपसृत्य) अज्ज ! एसो क्खु सप्पोवजीवी इच्छदि सप्पेहिं अमच्चस्स

पुरदो खेलिदुं। (तिष्ठ, यावदमात्यस्य निवेदयामि। आर्य ! एष खलु सर्पोपजीवी इच्छति सर्पैरमात्यस्य पुरतः खेलितुम्।)

भाषार्थ :—कञ्चुकी—अमात्य ! आपके नेतृत्व में कुमार मलयकेतु के लिये यह आसान है। अतः कुमार का यह पहला स्नेहोपहार स्वीकार कीजिये।

राक्षस—आर्य ! कुमार के समान आप की भी आज्ञा टालने योग्य नहीं हैं। अतः कुमार की आज्ञा स्वीकार कर लेता हूँ।

कञ्चुकी—(अभिनय के साथ अलंकारों को पहनाकर) आपका कल्याण हो। मैं जाता हूँ।

राक्षस—आर्यः ! मैं ! प्रणाम करता हूँ। (कञ्चुकी जाता है) प्रियंवदक ! मालूम करो यह कौन मुझसे मिलने के लिये द्वार पर खड़ा है।

प्रियंवदक—जो आपका आदेश (घूमकर और सँपेरे को देखकर) आर्य ! आप कौन हैं ?

आहितुण्डिक—भद्र ! मैं जीर्णविष नाम का सँपेरा हूँ। अमात्य राक्षस के आगे साँपों से खेलना चाहता हूँ।

प्रियंवदक—ठहरो, जब तक मैं अमात्य से निवेदन करता हूँ। (राक्षस के समीप जाकर) आर्य ! यह सँपेरा अमात्य के सम्मुख सर्पों से खेलना चाहता है।

टिप्पणी

व्याकरण—प्रणय = प्र + नी + अच्। परिधाय = परि + धा + णिच् + क्त्वा (ल्यप्)। सर्पोपजीवी, सर्पैः उपजीवति, सर्प + उप + जीव् + णिनि प्रथमैकवचने रूपम्। अनतिक्रमणीयवचनः = न अतिक्रमणीयं वचनं यस्य तादृशः, नञ् गर्भित बहुव्रीहि समासः। जीर्णविषः = जीर्णं विषं यस्मिन् सः, सँपेरे का नाम है, जिस पर विष का कोई प्रभाव नही होता है। आहितुण्डिकः = अहेः = सर्पस्य, तुण्डेन = मुखेन, दीव्यतीति "तेन दीव्यति खनति जयति जितम्" इत्यनेन ठक् प्रत्ययः, ठस्येकादेशः। सँपेरा, यह राक्षस मंत्री का गुप्तचर

विराधगुप्त है। जाजले ! जाजलस्य गोत्रापत्यं पुमान् "अत इञ्" जाजल+ इञ् जाजलिः। तत्सम्बोधने हे जाजले।

राक्षसः—(वामाक्षिस्पन्दनं सूचयित्वा आत्मगतम्) कथं प्रथममेव सर्पदर्शनम्। (प्रकाशम्) प्रियंवदक ! न नः कुतूहलमस्ति सर्पदर्शने। तत् परितोष्य विसर्जयैनम्।

प्रियंवदकः—जं अज्जो आणवेदि। (परिक्रम्याहितुण्डिकमुपसृत्य) भद्द ! एसो क्खु द अमच्चो अदंसणेण प्पसादं करेदि। ण उण दंसणेण। (यदार्य आज्ञापयति। भद्र ! एष खलु ते अमात्योऽदर्शनेन प्रसादं करोति न पुनर्दर्शनेन)

आहितुण्डिकः—भद्द ! विण्णवेहि मम वअणेण अमच्चं—'ण केवलं अहं सप्पोवजीवी, पाउअकवी क्खु अहं, ता जइ मे दंसणेण अमच्चो प्पसादं ण करेदि, ता एदं पि पत्तअं वाचेदुं प्पसीददु' त्ति। (पत्रमर्पयति।) (भद्र ! विज्ञापय मम वचनेनामात्यं—'न केवलमहं सर्पोपजीवी, प्राकृतकविः खल्वहं, तस्माद् यदि मे दर्शनेनामात्यः प्रसादं न करोति, तदा एतदपि पत्रकं वाचयितुं प्रसीदतु' इति।)

प्रियंवदकः—(पत्रं गृहीत्वा राक्षसमुपसृत्य) अमच्च ! एसो क्खु आहितुण्डिओ विण्णवेदि—'णं केवलं अहं सप्पोवजीवी, पाउअकवी क्खु अहं,, ता जइ मे दंसणेण अमच्चो प्पसादं ण करेदि, ता एदं पि तअं वाचेदुं प्पसीददु' त्ति। (अमात्य ! एष खलु आहितुण्डिको विज्ञापयति—'न केवलमहं सर्पोपजीवी, प्राकृतकविः खल्वहं, तस्माद् यदि मे दर्शनेनामात्यः प्रसादं न करोति, तदा एतदपि पत्रकं वाचयितुं प्रसीदतु' इति।)

(राक्षसः पत्रं गृहीत्वा वाचयति।)

राक्षस—(बाईं आँख का फड़कना सूचितकर मन में) ओह पहले ही पहले सर्प-दर्शन हुआ (प्रकट) मुझे साँप के खेल देखने की इच्छा नहीं, जाओ, जाओ, इसे सन्तुष्टकर विदा कर दो।

प्रियंवदक—जैसा आदेश महाराज ! (घूमकर आहितुण्डिक के समीप जाकर) अरे भद्र ! तुमसे बिना मिले ही अमात्य तुम पर प्रसन्न हैं।

आहितुण्डिक—भद्र ! मेरी तरफ से मन्त्री जी को निवेदन कर दो कि मैं केवल सँपेरा ही नहीं हूँ, प्राकृत भाषा का कवि भी हूँ। इसलिये अगर अमात्य मुझे दर्शन देकर कृतार्थ नहीं करते हैं तो कम से कम इस पत्र को ही पढ़ने की कृपा करें।

प्रियंवदक—(पत्र लेकर राक्षस के पास पहुँचकर) महाराज ! आहितुण्डिक सँपेरा निवेदन करता है कि मैं केवल सँपेरा ही नही हूँ। प्राकृत भाषा का कवि भी हूँ। यदि महाराज दर्शन देना नहीं चाहते हैं तो इस कविता को हो पढ़ने की कृपा करें।

(राक्षस पत्र लेकर वाँचता है)

पाऊण णिरवसेसं कुसुमरसं अत्तणो कुसलदाए।
जं उग्गिरेइ भमरो तं अण्णाणं कुणइ कज्जं ॥११॥
(पीत्वा निरवशेषं कुसुमरसमात्मनः कुशलतया।
यदुद्गिरति भ्रमरस्तदन्येषां करोति कार्यम् ॥)

प्रसङ्गः = विराधगुप्तलिखितं पत्रमादाय राक्षसः वाचयतीति प्रसङ्गे पद्यमिदमुद्धृतम्।

अन्वय—आत्मनः कुशलतया निरवशेषं कुसुमरसं पीत्वा भ्रमरः यद् उद्गिरति तदन्येषां कार्यं करोति।

संस्कृतार्थः = आत्मनः = स्वस्य, कुशलतया = चातुर्येण निरवशेषं = सम्पूर्णं क्रियाविशेषणमेतत् निरवशेषं पदम्। कुसुमस्य = पुष्पस्य, रसं = मधु, पीत्वा = आचम्य, भ्रमरः = मधुकरः, यत् = मधु, उद्गिरति = वमति, बहिर्निःसारयतीत्यर्थः, तन्मधु, अन्येषां = अपरेषां जनानां, कार्यं = दैवकृत्यं पैतृकं कृत्यं च, करोति = सम्पादयति।

पक्षान्तरे = भ्रमरः = भ्रमर इव आचरति, ततः पचाद्यचि-भ्रमरः = भ्रमर सदृशाचरणकर्ता दूतः, आत्मनः = स्वस्य, कुशलतया = दूतोचितचातुर्येण निरवशेषं = समग्रं, कुसुमस्य = कुसुमपुरस्य, रसं = तत्त्वं, वृत्तान्तं, गुप्तरहस्यं

वा, पीत्वा = ज्ञात्वा यदुद्गिरति = कथयति, तत् = कथ्यमानं दूतवचनं, अन्येषां = दूतप्रेषकाणां, कार्यं = सन्धिविग्रहादिकृत्यं, करोति = साधयति ।

भावार्थ :—सारग्राही भ्रमरसदृशः आहितुण्डिकवेषधारी विराधगुप्तः भवद्गुप्तचरः निजचातुर्यप्रभावात् सकलकुसुमपुरस्य वृत्तान्तज्ञोऽस्मि, तदाकर्णनेन तव राक्षसस्य सर्वं ईप्सितकार्यं सेत्स्यतीति भावः ।

भाषार्थ :—भ्रमर अपनी चतुरता से पुष्प रस को पीकर जो मधु बाहर निकालता है वह मधु दूसरे देव-पितृ-कार्य का साधन होता है ।

दूसरा अर्थ :—भ्रमर के समान मैं आपका दूत विराधगुप्त अपनी चतुरता के कारण समस्त कुसुमपुर के वृत्तान्त को जानकर आपके सम्मुख कहता हूँ, वह कहा हुआ मेरा वचन आपके सन्धि विग्रहादि कार्य का साधन होगा ।

टिप्पणी

व्याकरण—निरवशेषम्—निःनास्ति अवशेषः यत्र तत् क्रियाविशेषणम् । पीत्वा = पा + क्त्वा पूर्वकालिक कृदन्त । कार्यम् = कृ + ण्यत् । कुशलस्यभावः कुशलता तया, भावे तल् प्रत्ययः टाप् च । भ्रमरः = भ्रम् + करन् । वृत्तान्तज्ञः = वृत्तान्तं जानाति वृत्तान्त + ज्ञा + कः आतोऽनुपसर्गे कः । कोषः—द्विरेफपुष्पलिड्भृङ्गषट्पदभ्रमरालयः" इत्यमरः । अलंकारः—अप्रतुस्तप्रशंसाऽलंकारः । अप्रस्तुतप्रशंसा या सा 'प्रस्तुताश्रया इति काव्यप्रकाशकारः । अप्राकरणिक भ्रमरकर्तृक मधूद्गिरण वृत्तान्त से प्राकरणिक कुसुमपुर वृत्तान्त की प्रतीति होने से । छन्दः—आर्यावृत्तम्, वैदर्भी रीतिः, प्रसादो गुणः ।

भ्रमर तथा दूत की समानता का कारण उन दोनों का इतस्ततः चक्कर लगाना ही है ।

(विचिन्त्य आत्मगतम्) अये, कुसुमपुरवृत्तान्तज्ञो भवत्प्रणिधिरिति गाथार्थः । कार्यव्यग्रत्वान्मनसः प्रभूतत्वाच्च प्रणिधीनां विस्मृतम् । इदानीं स्मृतिरुपलब्धा ।

व्यक्तम् आहितुण्डिकच्छद्मना कुसुमपुरादागतेन विराधगुप्तेनानेन भवितव्यम् (प्रकाशम्) प्रियंवदक ! प्रवेशय एनम्, सुकविः एषः, श्रोतव्यमस्मात् सुभाषितम् ।

प्रियंवदकः—जं अज्जो आणवेदित्ति (आहितुण्डिकमुपसृत्य) उपसप्पदु अज्जो (यदार्य आज्ञापयतीति । उपसर्पत्वार्यः ।)

आहितुण्डिकः—(नाट्येनोपसृत्यावलोक्य च संस्कृतमाश्रित्य स्वगतम्) अये ! अयममात्यराक्षसस्तिष्ठति । स एषः—

राक्षस—(स्वगत) अरे ! "कुसुमपुर के वृत्तान्त को जानने वाला मैं आपका गुप्तचर हूँ" यह इस गाथा का अभिप्राय है । कार्य में मन लगे रहने से तथा दूतों की अधिकता के कारण मैं भूल गया था, अब याद आया, मालूम होता है कि सँपेरे के वेश में कुसुमपुर से आया हुआ यह विराधगुप्त है । जोर से प्रियंवदक ! उसको यहाँ ले आओ, सुकवि है, इससे सुभाषित सुनना चाहिये ।

प्रियंवदक—आपकी जो आज्ञा (सँपेरे के पास जाकर)
आप श्रीमान् जी आइये ।

आहितुण्डिक—(विचित्र ढंग से पास जाकर तथा देखकर संस्कृत भाषा में मन ही मन) अये ! यह महामन्त्री राक्षस बैठे हैं । ये ही वे हैं :—

वामां बाहुलतां निवेश्य शिथिलं कण्ठे निवृत्तानना
स्कन्धे दक्षिणया बलान्निहितयाप्यङ्के पतन्त्या मुहुः ।
गाढालिङ्गनसङ्गपीडितमुखं यस्योपमाशङ्किनी
मौर्यस्योरसि नाधुनाऽपि कुरुते वामेतरं श्रीः स्तनम् ।।१२।।

प्रसङ्ग—पद्यमिदं विराधगुप्तो गुप्तचरः सचिन्तस्य राक्षसस्य चाणक्य-विजयाय प्रयत्नपरत्वं अनुमिमानः ब्रवीति ।

अन्वय—यस्य उद्यमाशङ्किनी श्रीः वामां बाहुलतां कण्ठे शिथिलं निवेश्य निवृत्तानना बलात् स्कन्धे निहितया अपि मुहुः अंके पतन्त्या दक्षिणया गाढा-लिंगनसङ्गपीडितमुखं वामेतरं स्तनं अधुनाऽपि मौर्यस्य उरसि न कुरुते ।

संस्कृतार्थः—यस्य = महामन्त्रिणः राक्षसस्य, उद्यमाशङ्किनी = उद्योग-त्रस्ता, श्रीः = लक्ष्मीः, वामां = दक्षिणेतरां सुन्दरीं वा, बाहुलतां = भुजवल्लीं, कण्ठे = गले, शिथिलं = मन्दं, निवेश्य = संस्थाप्य, चन्द्रगुप्तस्येति शेषः । निवृत्ता-

नना = व्यावृत्तमुखी, बलात् = हठात्, स्कन्धे = अंसप्रदेशे, निहितया = अर्पितया अपि, मुहुः = असकृत्, अङ्के = क्रोडे, पतन्त्या = स्खलन्त्या, दक्षिणया = सव्यया बाहुलतया, गाढाऽऽलिङ्गनस्य = हठाऽऽश्लेषस्य, सङ्गेन = आसक्तया, पीडितं = निष्पीडितं, मुखं = चूचुकाग्रं यस्य तादृशं, वामेतरं = दक्षिणं, स्तनं = कुचं, अधुनाऽपि = साम्प्रतमपि, मौर्यस्य = चन्द्रगुप्तस्य, उरसि = वक्षसि, न कुरुते = स्थापयति ।

भावार्थ :—लक्ष्मीः राक्षसकर्तृकाऽऽकर्षणभयात् चन्द्रगुप्तं भुजद्वयेन गाढमालिङ्ग्य इदानीमपि न शेते । यथा भयविह्वलाऽकामा वा कामिनी पतिं नालिङ्गति तथैव श्रीः मौर्यं नाऽऽश्लिषति राक्षसभयात् ।

भाषार्थ—जिस राक्षस मन्त्री के पराक्रम से राजलक्ष्मी इतनी आतङ्कित है कि उसकी बायीं बाँह चन्द्रगुप्त के गले में शिथिल रूप से डाली गई भी लक्ष्मी का मुख चन्द्रगुप्त की ओर से फिरा हुआ ही रहता है । लक्ष्मी की दाहिनी भुजा बलात्कारपूर्वक चन्द्रगुप्त के द्वारा अपने कन्धे पर रखी जाने पर भी बारम्बार नीचे की ओर गिर जाती है, और उसका दक्षिण स्तन अभी भी चन्द्रगुप्त के वक्षःस्थल के गाढालिंगन तथा तज्जन्य आनन्दोपलब्धि की आशा नहीं कर सकता है ।

टिप्पणी

व्याकरणम्—निवेश्य = नि + विश् + क्त्वा (ल्यप्) निहितया = नि + धा + क्त + टाप् तृतीयैकवचने रूपम् । निवृत्तानना = निवृत्तं आननं यस्याः सा बहुव्रीहिसमासः । गाढाऽऽलिङ्गनं = गाह् + क्त = गाढ, आ + लिङ्ग् + ल्युट् = आलिङ्गन ल्युटोऽनादेशः । पतन्त्या = पत् + शतृ + ङीप् तृतीयैकवचने रूपम् । कोष—"वामौ वल्गुप्रतीपौ" इत्यमरः । वामशब्द सुन्दर तथा उलट अर्थ में आता है । "सम्पत्तिः श्रीश्च लक्ष्मीश्च" इत्यमरः । अलंकार—पदार्थहेतुक काव्यलिङ्गालङ्कारः, समासोक्तिश्च । तल्लक्षणं यथा—परोक्तिभेदकैः श्लिष्टैः समासोक्तिः । छन्द—"शार्दूलविक्रीडितं" इसमें १२ और ७वें वर्णों पर यति होती है । पाञ्चाली रीतिः, प्रसादो गुणः । बाहुलता = लता का वेष्टन धर्म

भुजा में पाया जाता है अतएव भुजा में लता का आरोप किया जाता है।

वामा—का अर्थ दक्षिणेतर तथा सुन्दर दोनों है।

(प्रकाशम्) जअदु जअदु, अमच्चो ! (जयतु जयत्वमात्यः।)

राक्षसः—(विलोक्य), अये विराध ! (इत्यर्धोक्ते) ननु विरूढश्मश्रुः। प्रियंवदक ! भुजंगैरिदानीं विनोदयितव्यम्। तद्विश्रम्यतामितः परिजनेन। त्वमपि स्वाधिकारमशून्यं कुरु।

प्रियंवदकः—जं अमच्चो आणवेदि त्ति। (यदमात्य आज्ञापयतीति।) (सपरिवारो निष्क्रान्तः।)

राक्षसः—सखे विराधगुप्त ! इदमासनमास्यताम्।

विराधगुप्तः—यदाज्ञापयत्यमात्य इति। (नाट्येनोपविष्टः।)

राक्षसः—(सखेदं निर्वर्ण्य) अहो ! देवपादपद्मोपजीविनो जनस्येयमवस्था। (इति रोदिति।)

विराधगुप्तः—अमात्य ! अलं शोकेन। नातिचिरादमात्योऽस्मान् नूनं पुरातनीमवस्थामारोपयिष्यति।

राक्षसः—सखे विराधगुप्त ! वर्णय इदानीं कुसुमपुर-वृत्तान्तम्।

विराधगुप्तः—अमात्य ! विस्तीर्णः कुसुमपुरवृत्तान्तः। तदाज्ञापय कुतः प्रभृति कथयामि।

राक्षसः—सखे ! चन्द्रगुप्तस्य तावत् नगरप्रवेशात्प्रभृति अस्मत्प्रयुक्तैस्तीक्ष्णरसदायिभिः किमनुष्ठितमित्यादितः श्रोतुमिच्छामि।

विराधगुप्तः—एष कथयामि। अस्ति तावच्छकयवनकिरातकाम्बोजपारसीकबाह्लीकप्रभृतिभिश्चाणक्यमतिपरिगृहीतैश्चन्द्रगुप्तपर्वतेश्वरबलैरुदधिभिरिव प्रलयोच्चलितसलिलैः समन्तादुपरुद्धं कुसुमपुरम्।

राक्षसः—(शस्त्रमाकृष्य ससंभ्रमम्।) अयि, मयि स्थिते कः कुसुमपुरमुपरोत्स्यति। प्रवीरक प्रवीरक, क्षिप्रमिदानीम्—

भाषार्थः—(प्रकट) जय हो अमात्य जय हो।

राक्षस—(देखकर) अये! विराध! (इतना आधा कहने पर याद आ जाने पर) प्रियंवदक! अब हमें साँपों से कुछ मन बहलाना है। सब लोग विश्राम करें, तुम भी अपने काम पर तत्पर हो जाओ।

प्रियवदक—जैसी आज्ञा मन्त्रिन्!

(परिजनों के साथ बाहर निकल जाता है)

राक्षस—मित्र विराधगुप्त! यहाँ आओ, इस आसन पर बैठ जाओ।

विराधगुप्त—जो आज्ञा मन्त्रिन्! (बैठने का अभिनय करते हुये)

राक्षस—(देखकर, खेद के साथ) अहा! महराज नन्द के चरणकमलों के सेवक जनों की ऐसी दुरवस्था (रोने लगता है)।

विराधगुप्त—मन्त्रिन्! शोक से बस, शीघ्र ही आप हमको निश्चित रूप से पूर्व अवस्था को प्राप्त करा देंगे।

राक्षस—मित्र विराधगुप्त! अब कुसुमपुर का वृत्तान्त सुनाओ!

विराधगुप्त—मन्त्रिन्! कुसुमपुर का वृत्तान्त बहुत लम्बा है, आज्ञा दीजिये कहाँ से सुनाऊँ।

राक्षस—मित्र! चन्द्रगुप्त के नगर-प्रवेश से लेकर हमारे द्वारा नियोजित तीक्ष्ण रस-पुरुषों ने क्या किया यह मैं आदि से सुनना चाहता हूँ।

विराधगुप्त—यह कहता हूँ, उस समय जबकि चाणक्य की बुद्धि से परिगृहीत चन्द्रगुप्त और पर्वत की शक-यवन-किरात-काम्बोज और पारसीक वाह्लीक की मिली-जुली सेनायें कुसुमपुर को चारों ओर से प्रलयकालीन समुद्र की विक्षुब्ध लहरों की भाँति घेरने लगी।

राक्षस—(हथियार निकालकर सम्भ्रम के साथ) कौन है जो मेरे रहते कुसुमपुर को घेर सकता है। प्रवीरक! अब जल्दी ही—

प्राकारं परितः शरासनधरैः क्षिप्रं परिक्रम्यतां
द्वारेषु द्विरदैः प्रतिद्विपघटाभेदक्षमैः स्थीयताम्।
त्यक्त्वा मृत्युभयं प्रहर्तुमनसः शत्रोर्बले दुर्बले
ते निर्यान्तु मया सहैकमनसो येषामभीष्टं यशः ॥१३॥

प्रसङ्गः—राक्षसः पाटलीपुत्रनगरस्योपरोधः इति श्रवणमात्रेण संक्षुब्धः प्रवीरकादीन् वीरपुरुषान् सम्बोधयन्नाह प्राकारं परितः इत्यादि पद्यपादम् ।

अन्वयः—शरासनधरैः प्राकारं परित क्षिप्रं परिक्रम्यताम् । प्रतिद्विपघटा-भेदक्षमैः द्विरदैः द्वारेषु स्थीयताम् । येषां यशः अभीष्टं ते मृत्युभयं त्यक्त्वा दुर्बले शत्रोः बले एकमनसः प्रहर्तुमनसः सन्तः मया सह निर्यान्तु ।

संस्कृतार्थः—शरासनधरैः = धनुर्धारिभिः, प्राकारं = प्राचीरं, परितः = अभितः, क्षिप्रं = शीघ्रं, परिक्रम्यताम् = परिभ्रम्यताम् । प्रतिद्विपानां = प्रति-पक्षिणां गजानां, घटायाः = समूहस्य, भेदे = विघटने, क्षमैः = शक्तैः, द्विरदैः = गजैः, द्वारेषु = तोरणेषु, स्थीयताम् = सन्नह्यताम् । येषां = अस्मद्भटानां, यशः = कीर्तिः, अभीष्टं = वाञ्छितं, ते = प्रवीरपुरुषाः, मृत्युभयं = मरणभीतिं, त्यक्त्वा = परित्यज्य, दुर्बले = निर्बले, शत्रोः = रिपोः, बले = सैन्ये, एकमनसः = एक-चित्ताः अभिन्नहृदयाः (संभूय) प्रहर्तुमनसः = हन्तुकामाः सन्तः, मया = राक्ष-सेन, सह = सार्द्धं, निर्यान्तु = निर्गच्छन्तु नगरादिति क्षपः ।

भावार्थः—ये वीरपुरुषाः कीर्तिकांक्षिणः ते नगरद्वारसंरक्षणार्थं सुभटान् प्रबलान् गजांश्च यथास्थानं यथायथं संस्थाप्य अमरमात्मानं मन्यमानाः अरिबल-दलानि नगराद्बहिर्निर्यान्तु इति भावः ।

भाषार्थः—धनुषधारी योद्धा लोग प्राकार के चारों ओर खड़े हो जायँ, शत्रुओं के हाथियों को पराजित करने वाले अपने हाथी सब दरवाजों पर खड़े कर दिये जायँ, जिन वीरों को यश अभीष्ट है शत्रु की दुर्बल सेना पर प्रहार करने की इच्छा वाले एक मन होकर मृत्यु का भय छोड़ कर वे वीर मेरे साथ नगर के बाहर लड़ने को चलें ।

टिप्पणी

व्याकरणम्—शरासनधरैः = शराः अस्यन्ते यैः तानि शरासनानि धनूंषि शर + अस् + ल्युट्, धराः = धृ + अच्, शरासनानां धराः तैः । प्राकार = प्र + आ + कृ + घञ् । अभीष्टम् = अभि + इष् + क्त । प्राकारं परितः = अभिव्यः समया निकषेत्यादिना परितः योगे द्वितीया । प्रहर्तुमनसः = प्रहर्तुं मनः येषां ताद्दशाः, "तुंकाममनसोरपि" इति मकारलोपः । येषां यहाँ "क्तस्य च वर्तमाने"

सूत्र से षष्ठी। कोष—"करिणां घटना घटा" इत्यमरः। समूहः। प्राकारः "प्राकारो वरणः सालः प्राचीरं प्रान्ततो वृतिः" घेरा। अलंकारः—इस पद्य में स्वभावोक्ति तथा काव्यलिंग अलंकार तिलतण्डुल न्याय से पृथक् २ स्थित होने से संसृष्टि अलंकार है। छन्दः—शार्दूलविक्रीडितं, वीरो रसः, गौडी रीतिः, ओजोगुणः। द्विरदाः—द्वौ रदौ दन्तौ येषां ते, गजाः। द्विपाः—द्वाभ्यां मुखशुण्डाभ्यां पिबन्ति ये ते हस्तिनः।

अपने सैनिकों का मनोबल बढ़ाने के लिये दुर्बले शत्रुबले कहा गया है, वस्तुतः शत्रु-सेना को कभी निर्बल नहीं समझना चाहिये।

विराधगुप्तः—अमात्य! अलमावेगेन। वृत्तमिदं वर्ण्यते।

राक्षसः—(निःश्वस्य) कष्टं वृत्तमिदम्। मया पुनर्ज्ञातं स एव कालो वर्तते इति। (शस्त्रमुत्सृज्य सास्रम्) हा देवनन्द! स्मरामि ते राक्षसम्प्रति प्रसादातिशयम्। यस्तु एवंविधकाले—

विराधगुप्त :—अमात्य! आवेग से बस, यह तो समाचार है।

राक्षस—(आह भरकर) क्या यह सब हो चुका? मैंने तो समझा यह सब अभी हो रहा है। (तलवार फेंककर आँखों में आँसू भर कर)। हा देव नन्द! अभी भी आपका स्नेह मुझे याद है। इस प्रकार की स्थिति में—

यत्रैषा मेघनीला चरति गजघटा राक्षसस्तत्र याया-
देतत् पारिप्लवाम्भःप्लुति तुरगबलं वार्यतां राक्षसेन।
पत्तीनां राक्षसोऽन्तं नयतु बलमिति प्रेषयन्मह्यमाज्ञा-
मज्ञासीः स्नेहयोगात् स्थितमिव नगरे राक्षसानां सहस्रम्॥१४॥

प्रसङ्ग :—विस्मृतातीतवर्तमानभेदः अश्रुपूर्णनेत्रः राक्षसः सावेगं सशोकं च परामृशन्नाह पद्यमिदं यत्रैषेति।

अन्वय :—यत्र एषा मेघनीला चरति गजघटा चरति, तत्र राक्षसः यायात् पारिप्लवाम्भः प्लुति एतत् तुरगबलं राक्षसेन वार्यताम्, पत्तीनां बलं राक्षसः अन्तं नयतु इति मह्यं आज्ञां प्रेषयन् स्नेहयोगात् नगरे राक्षसानां सहस्रं इव स्थितं अज्ञासीः।

संस्कृतार्थ :—यत्र = यस्मिन् युद्धे, एषा = बुद्धिस्था, मेघनीला = मेघवत् श्यामवर्णा, गजानां = द्विरदानां, घटा = समूहः, चरति = चलति, समराय गच्छति, तत्र = तस्मिन् रणप्रदेशे, राक्षसः = नन्दामात्यः, यायात् = तत्प्रतीकाराय गच्छेत्, नहि राक्षसः गजघटादर्शनाद्बिभेति इति ध्वन्यर्थः ।

पारिप्लवं = चञ्चलं, यदम्भः = जलं, तस्य प्लुतिः = उत्प्लवनं, यस्य तादृशं, एतत् = पुरःदृश्यमानं, तुरगबलं = विपक्षपक्षीयअश्वसैन्यं, राक्षसेन = तदाख्येन सचिवेन, वार्यताम् = निवर्त्यताम्, नहि तुरगबलात् राक्षसस्य त्रासः इति ध्वनिः ।

पत्तीनां = पदातीनां, बलं = सैन्यं, राक्षसः, अन्तं = नाशं, नयतु = प्रापयतु, इति = इत्थं, मह्यं = राक्षसाय, आज्ञां = आदेशं, प्रेषयन् = प्रेरयन्, स्नेहयोगात् = प्रेमसम्पर्कात्, नगरे = पाटलीपुत्रे, राक्षसानां सहस्रं इव स्थितं = वर्तमानं, अज्ञासीः = अजानाः ।

भावार्थ :—महाराजो नन्दः राक्षसं विना नान्यः गजसैन्यं, अश्वसैन्यं पदातीनां सैन्यं वा पराजेतुं समर्थः इत्येवं प्रत्येकं कार्यं सम्पादनसमर्थत्वात् राक्षससहस्रमिव कुसुमपुरे स्थितं मां अजानात् ।

भषार्थः—युद्ध स्थल में मेघ तुल्य नील वर्ण वाली गज सैन्य को नष्ट करने के लिये राक्षस जावे, तेजी से बहते हुए जल की गति के समान गति वाली अश्व सेना को राक्षस रोके, पैदल सेना को राक्षस विनष्ट करे, इस प्रकार मुझे आदेश देते हुये प्रीति के कारण नगर में हजारों के समान स्थित मुझे मानते थे ।

टिप्पणी

व्याकरणम्—मेघनीला = मेघवत् नीला" उपमानानि सामान्यवचनैः इत्युपमित समासः । पत्तीनाम् = पद्यन्ते इति पत्तयः तेषां, पद + क्तिच् । उत्प्लवनमिव प्लुतिः यस्य तादृशम् बहुव्रीहिसमासः तुरगबलस्य विशेषणम् । तुरगाणां बलं तत्पुरुष समासः । मह्यम् = क्रियया यमभिप्रैतीति चतुर्थी । सास्रम् = अस्रेण सहितं यथा स्यात्तथा क्रियाविशेषणम् । कोषः—"पदातिपत्तिपदगेत्यमरः । "चंचलं तरलं चैव पारिप्लवपरिप्लवे" इति अमरः । अलंकारः—राक्षसानां

सहस्रमिव यहाँ वाच्या उत्प्रेक्षालंकार है। पारिप्लवाम्भःप्लुति यहाँ पर लुप्तोपमा अलंकार है। दोनों अलंकारों की तिलतण्डुल न्याय से पृथक् स्थिति होने से संसृष्टि अलंकार है। छन्दः—स्रग्धरा वृत्तम् "म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्" इति लक्षणात्, इस छन्द में सात-सातवर्णोंपर यति होती है। ओजो गुणः, लाटी रीति है। लाटी तु रीतिर्वैदर्भीपाञ्चाल्योरन्तरा स्थिता। ओजः—ओजश्चित्तस्य विस्ताररूपं दीप्तत्वमुच्यते।

अस्मिन् पद्ये वीरकरुणरसयोः एकाश्रये परस्परं विरुद्धयोरपि वृत्तवर्तमानदशाभेदेन भिन्नप्रक्रमतयाऽवस्थितयोः अविरोधः सुधीभिः विज्ञेयः।

ततस्ततः ?

विराधगुप्तः—ततः समन्तादुपरुद्धं पुष्पपुरमवलोक्य, बहुदिवसप्रभृति महदुपरोधवैशसमुपरि पौराणां परिवर्तमानमसहमाने, तस्यामप्यवस्थायां पौरजनापेक्षया सुरङ्गामेत्यापक्रान्ते तपोवनाय देवे सर्वार्थसिद्धौ, स्वामिविरहात् सुशिथिलीकृतप्रयत्नेषु युष्मद्वलेषु जयघोषणाव्याघातादिसाहसानुमितान्तर्नगरवासिषु, पुनरपि नन्दराज्यप्रत्यानयनाय सुरङ्गया बहिरपगतेषु युष्मासु, चन्द्रगुप्तनिधनाय युष्मत्प्रयुक्तया विषकन्यया घातिते तपस्विनि पर्वतेश्वरे—

राक्षसः—सखे ! पश्याश्चर्यम्—

तब उसके पश्चात् क्या हुआ ?

विराधगुप्त—और जब कि चारों ओर से पाटलिपुत्र पर घेरा पड़ गया, महाराज सर्वार्थसिद्धि नन्द वंश का अन्तिम प्ररोह बहुत दिनों तक चलने वाले इस घेरे से अपनी प्रजाओं पर पड़ने वाली दारुण विपत्ति को न सह सके। प्रजाहित की दृष्टि से इसी दुर्दशा में उन्हें सुरङ्ग के रास्ते तपोवन में भागना पड़ा, राजा की अनुपस्थिति में सैनिक भी किंकर्त्तव्य-विमूढ़ से होने लगे, आप को भी नागरिकों की मनःस्थिति का उनके द्वारा चन्द्रगुप्त की विजय घोषणा में की गई नाना प्रकार की विघ्न बाधाओं से पता चल जाने पर नन्द साम्राज्य की पुनः स्थापना के लिये सुरंग से ही नगर के बाहर तुम्हें निकल जाना पड़ा

और जबकि चन्द्रगुप्त की हत्या के लिये आपके द्वारा प्रयुक्त विषकन्या से बेचारे पर्वतक की जान ले ली गई·····

राक्षस—मित्र ! आश्चर्य तो देखो ।

कर्णेनेव विषाङ्गनैकपुरुषव्यापादिनी रक्षिता
हन्तुं शक्तिरिवार्जुनं बलवती या चन्द्रगुप्तं मया
सा विष्णोरिव विष्णुगुप्तहतकस्यात्यन्तिकश्रेयसे
हैडिम्बेयमिवेत्य पर्वतनृपं तद्वध्यमेवावधीत् ।।१५।।

प्रसङ्गः—राक्षसः स्वाऽनिष्टे स्वदुर्भाग्यविलसितमेव कारणं मन्यमानः सविस्मयं चिन्तयन् पद्यमिदमाह ।

अन्वयः—कर्णेन इव मया अर्जुनं इव चन्द्रगुप्तं हन्तुं बलवती एकपुरुष-व्यापादिनी शक्तिः इव या विषाङ्गना रक्षिता सा विष्णोः इव विष्णुगुप्त-हतकस्य आत्यन्तिकश्रेयसे तद्वध्यं हैडिम्बेयमिव पर्वतनृपं एव एत्य अवधीत् ।

संस्कृतार्थः—कर्णेन इव = अङ्गराजेन इव, मया = राक्षसेन, अर्जुन-मिव = गाण्डीवनमिव, चन्द्रगुप्तं = वृषलं, हन्तुं = मारयितुं, बलवती = प्रबला, एकपुरुषव्यापादिनी = एकं एव पुरुषं = जनं, व्यापादयति = हन्ति यः तादृशी, शक्तिः = अस्त्रविशेषः तदिव या विषाङ्गना = विषकन्या, रक्षिता = स्थापिता, सा विष्णोः इव = हरिरिव, विष्णुगुप्तहतकस्य = नीचचाणक्यस्य, आत्यन्तिक-श्रेयसे = अत्यधिककल्याणाय, तद्वध्यं = तस्य चाणक्यस्य, वध्यं = घात्यं हैडिम्बेयं इव = घटोत्कचमिव, पर्वतकनृपं एव एत्य = प्राप्य, अवधीत् = जघान ।

भावार्थः—यथा कर्णः अर्जुनं हन्तुमेकघ्नीं शक्तिं अरक्षत् परं सा घटोत्कचं जघान तथैवाहं चन्द्रगुप्तं हन्तुं एकां विषकन्यां अरक्षम्, परं सा वराकं पर्वतकं जघान ।

भावार्थः—कर्ण के समान मैंने अर्जुन के समान चन्द्रगुप्त को मारने के लिये प्रबल तथा एक व्यक्ति को मारने वाली शक्ति के समान जिस विषकन्या को रखा था, उसने विष्णु के समान चाणक्य के अत्यन्त कल्याण के लिये घटोत्कच के समान राजा पर्वतक को ही प्राप्त कर के मार दिया ।

टिप्पणी

व्याकरणम्—एकपुरुषव्यापादिनी=एकश्चासौ पुरुषः एकपुरुषः तं व्यापादयति इति कर्मधारयसमासः; एकपुरुषः+वि+आ+पद्+णिच्+णिनि। आत्यन्तिकश्रेयसे=अत्यन्ते भवं आत्यान्तिकं, अत्यन्त+ठञ् "ठस्येकादेशः" आत्यन्तिकं च तत् श्रेयः तस्मै कर्मधारयसमासः। हैडिम्बेयम्—हिडम्बायाः अपत्यं पुमान्, हिडिम्बा+ढक्, ढस्य एयादेशः तं। कोषः—"पुण्यश्रेयसी सुकृतं वृषः" इत्यमरः। अलंकारः—पूर्णोपमाऽलंकारः।

छन्दः—शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् लक्षणमुक्तं प्राक्।

वैदर्भी रीतिः, "माधुर्यव्यञ्जकैः वर्णैः रचना ललितात्मिका।
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भीरीतिरिष्यते॥

माधुर्यं गुणः "चित्तद्रवीभावमयो ह्लादो माधुर्यमुच्यते"।

कुसुमपुर के घेरा डालने में पर्वतक ने चन्द्रगुप्त की सहायता थी, उस सहायता के बदले में पर्वतक को चन्द्रगुप्त के राज्य का अर्द्ध भाग मिलना था अतः वह चाणक्य का वध्य "हन्तुं योग्यः" था, घटोत्कच राक्षस होने के कारण श्री विष्णु भगवान् का वध्य था।

विराधगुप्तः—अमात्य! दैवस्यात्र कामचार., किमत्र क्रियते?

राक्षसः—ततस्ततः?

विराधगुप्तः—ततः पितृवधपरित्रासादपक्रान्ते कुसुमपुरात् कुमारे मलयकेतौ, विश्वासिते च पर्वतकभ्रातरि वैरोचके, प्रकाशिते च चन्द्रगुप्तस्य नन्दभवनप्रवेशे, चाणक्यहतकेनाहूयाभिहितः कुसुमपुरनिवासिनः सर्वे एव सूत्रधाराः यथा—'सांवत्सरिकवचनादद्यैवार्धरात्रसमये एवाभिमतः चन्द्रगुप्तस्य नन्दभवनप्रवेशो भविष्यतीति, ततः प्रथमद्वारात्प्रभृति संस्क्रियतां राजभवनम्' इति। ततः सूत्रधारैरभिहितम्—'आर्य! प्रथममेव देवस्य चन्द्रगुप्तस्य नन्दभवनप्रवेशमुपलभ्य सूत्रधारेण दारुवर्मणा कनकतोरणन्यासादिभिः संस्कारविशेषैः संस्कृतं प्रथमराजद्वारम्। इदानीमस्माभिरभ्यन्तरे संस्कारो विधेयः' इति। ततश्चाणक्यवटुना, अनादिष्टेनैव दारुवर्मणा संस्कृतं राजभवनद्वार-

मिति परितुष्टेनेव, दारुवर्मणः सुचिरं दाक्ष्यमभिनन्द्याभिहितम्—'अचिरादस्य दाक्ष्यस्यानुरूपं फलमधिगमिष्यसि दारुवर्मन् !'

विराधगुप्तः—यह तो भाग्य की विडम्बना है, इसमें क्या किया जा सकता है।

राक्षस—तत्पश्चात् क्या हुआ ?

विराधगुप्त—तब अपने पिता की हत्या से घबराकर कुमार मलयकेतु के पाटलिपुत्र से भाग जाने पर, पर्वतक के भाई वैरोचक को विश्वास दिला दिये जाने पर, चन्द्रगुप्त के नन्द भवन में प्रवेश की घोषणा कर देने पर, दुष्ट चाणक्य ने पाटलिपुत्र के निवासियों को बुलाकर कहा कि ज्योतिषियों के कथनानुसार आज ही अर्द्ध रात्रि के समय चन्द्रगुप्त का नन्द भवन में प्रवेश होगा। अतः प्रथम द्वार से लेकर राजभवन को सुसज्जित कर दो, तब सूत्रधारों ने कहा—आर्य ! पहले ही सम्राट् चन्द्रगुप्त के नन्द भवन में प्रवेश को जान कर कारीगर दारुवर्मा ने सोने की तोरण रचना आदि सजावट से प्रथम द्वार को सुसज्जित कर दिया है। अब हमें अन्दर की सजावट करनी है। तदनन्तर बिना आदेश के ही दारुवर्मा ने राजभवन का द्वार सजा दिया, इससे मानों सन्तुष्ट होकर चाणक्य ने बड़ी देर तक दारुवर्मा के कौशल की प्रशंसा करके कहा—दारुवर्मा ! इस कौशल के अनुरूप फल शीघ्र प्राप्त करोगे।

संस्कृतार्थः——स्वजनकवधभयाद्भीते मलयकेतौ पलायिते च पाटलिपुत्रात्, आश्वासिते तद्भ्रातरि वैरोचके, प्रकाशिते मौर्यस्य नन्दभवनप्रवेशे चाणक्येनाहूय सर्वे सूत्रधाराः आज्ञप्ताः यत् दैवज्ञादेशानुरूपमद्यैवार्द्धरात्रे चन्द्रगुप्तस्य नन्दभवन-प्रवेशोऽभीष्टः। तस्मादा प्रथमद्वारं संस्क्रियतां राजभवनमिति।

ततः सूत्रधारैरभिहितम्, अमात्यवर्य ! दारुवर्मणा पूर्वमेव संस्कृतं यथा-दिष्टम्। ततोऽनादिष्टमेवं संस्कृतमिति परितुष्टः चाणक्यः दारुवर्मणः दाक्ष्य-मभिनन्द्योवाच, दारुवर्मन् ! लप्स्यसे सत्वरमेवास्य नैपुण्यस्य फलम्।

टिप्पणी

व्याकरणम्:—सांवत्सरिक = संवत्सर + ठञ्, इक आदेशः, पूर्ववृद्धिश्च

अर्द्धरात्रसमये = अर्धं रात्रेः, अच् प्रत्यय, "रात्राह्नाहाः" अनेन पुंस्त्वं, प्रथम द्वारात् प्रभृति—यहाँ प्रभृति के योग में पञ्चमी है। विधेय = वि + धा + यत्। अभिनन्द्य = अभि + टुनदि + क्त्वा (ल्यप्) "इदितो नुम् धातोः" से नुमागमः। संस्कारः = सम् + कृ + घञ् सुडागमश्च। सूत्रधारः = सूत्रं धारयति इति विग्रहे सूत्र + अच्, धृ + णिच् + अच्। इस गद्यांश में "अनुरूप फलं" का अभिप्राय वध या मृत्यु दण्ड से है। आभ्यन्तरे संस्कारः का चन्द्रगुप्त को विष देने से, शयन कक्ष में हत्या कर देने से है। संस्कारविशेषैः से चन्द्रगुप्त पर तोरण बहिर्द्वार गिराने से है। परितुष्टेनेव में उत्प्रेक्षाऽलंकार है।

राक्षस :—(सोद्वेगम्) सखे! कुतश्चाणक्यवटोः परितोषः? अहमनिष्टफलं वा दारुवर्मणः प्रयत्नमवगच्छामि। यदनेन बुद्धि-मोहादथवा राजभक्तिप्रकर्षान्नियोगकालमप्रतीक्षमाणेन जनितश्चाणक्य-वटोश्चेतसि बलवान् विकल्पः। ततस्ततः?

भाषार्थ—राक्षसः—(उद्विग्नता के साथ) मित्र! मूढमति चाणक्य को सन्तोष कहाँ? मैं तो दारुवर्मा के प्रयत्न को व्यर्थ या अनर्थकारी समझता हूँ। क्योंकि इसने बुद्धि के भ्रम अथवा अतिशय राजभक्ति के कारण आदेश-समय की प्रतीक्षा नहीं की। इससे मन्दमति चाणक्य के हृदय में दृढ़ सन्देह उत्पन्न कर दिया। तब उसके पश्चात् क्या हुआ?

संस्कृतार्थः—राक्षसः व्याकुलतया कथयति हे मित्र! अहं दारुवर्मणः प्रयत्नं प्रथमद्वारादारभ्य राजभवनं यावत् अनादिष्टं संस्करणं व्यर्थं अनिष्टकरं चावगच्छामि। यतस्तेन हि चाणक्यस्य स्वान्ते सन्देहः समुत्पादितः।

टिप्पणी

व्याकरणम्—अफलम् = अविद्यमानं फलं अस्मिन् इति अफलः नञ् बहुव्रीहि समासः। फल् + अच्, फलम्। अनिष्टफलम् = न इष्टं अनिष्टं नञ् तत्पुरुष समासः, अनिष्टं फलं अस्य इति अनिष्टफलः तं बहुव्रीहिसमासः। उद्वेगेन सहितं सोद्वेगं क्रियाविशेषणम्, उद् + विज् + घञ्।

विराधगुप्तः—ततश्चाणक्यहतकेनानुकूललग्नवशादद्यार्धरात्रसमये चन्द्रगुप्तस्य नन्दभवनप्रवेशो भविष्यतीति शिल्पिनः पौरांश्च गृही-

तार्थान् कृत्वा तस्मिन्नेव क्षणे पर्वतेश्वरभ्रातरं वैरोचकमेकासने चन्द्रगुप्तेन सहोपवेश्य कृतः पृथ्वीराज्यार्धभागः ।

राक्षसः—किं वातिसृष्टं पर्वतेश्वरभ्रात्रे वैरोचकाय पूर्वप्रतिश्रुतं राज्यम् ?

विराधगुप्तः—अथ किम् ?

राक्षसः—(स्वगतम्) नियतमतिधूर्तवटुना तस्यापि तपस्विनः कमप्युपांशुवधमाकलय्य पर्वतेश्वरविनाशजनितस्यायशसः परिहारार्थमेषालोकप्रतिपत्तिरुपचरिता । (प्रकाशम्) ततस्ततः ?

भाषार्थः विराधगुप्त—तब उस दुरात्मा चाणक्य ने "अनुकूल लग्न के कारण आज आधी रात के समय चन्द्रगुप्त का नन्द भवन में प्रवेश होगा" यह समाचार शिल्प विद्या जानने वालों नथा नगर निवासियों को अवगत करा कर उसी समय पर्वतेश्वर के भाई वैरोचक को चन्द्रगुप्त के साथ एक आसन पर बैठा कर राज्य की पृथ्वी का आधा भाग अलग कर दिया ।

राक्षस—क्या पर्वतेश्वर के भाई वैरोचक को पहले का प्रतिज्ञात राज्य दे दिया ?

विराधगुप्त—और क्या ?

संस्कृतार्थ = विराधगुप्तः—चाणक्येन अद्यार्द्धरात्रसमयेऽनुकूललग्नवशात् चन्द्रगुप्तस्य नन्दभवनप्रवेशो भविष्यति इति वृत्तं शिल्पिनः पौरांश्चाहूय गृहीतार्थांश्च कृत्वा चन्द्रगुप्तेन सह वैरोचकं अर्द्धराज्यभागिनं उद्घुष्य पूर्वप्रतिज्ञातः राज्यार्द्धविभागः कृतः ।

टिप्पणी

व्याकरणम्—अनुकूललग्नवशात्—अनुकूलं च तत् लग्नं, कर्मधारयसमासः, तस्य वशात्, षष्ठीतत्पुरुषः, लग् + क्त = लग्नम् । गृहीतार्थान् = गृहीतः अर्थः यैः ते गृहीतार्थाः तान्, ग्रह् + क्तः + अर्थः द्वितीया बहुवचन । उपवेश्य = उप + विश् + णिच् + क्त्वा (ल्यप्) । शिल्पिनः = शिल्प + णिनि, द्वितीयाबहुवचन ।

भाषार्थः—राक्षस—(मन ही मन) निश्चय ही अत्यन्त धूर्त चाणक्य ने उस तपस्वी वैरोचक का रहस्य वध सोचकर पर्वतेश्वर के वध से उत्पन्न अयश को दूर करने के लिये ही ऐसा किया होगा । (प्रकट) तब क्या हुआ ?

संस्कृतार्थः—(स्वमनसि) महान् धूर्तः चाणक्यः, तपस्विनः वैरोचकस्य रहस्यवधं अवधार्य पवर्तकवधेन समुत्पन्नमपयशः प्रमार्ष्टुमेतत् राज्यार्द्धविभाग-रूपः लोकावबोधः परिकल्पितः स्यात् ।

टिप्पणी

व्याकरणम्—उपांशुवधम् = उपांशु एकान्तार्थक अव्यय है । उसके साथ वधः का 'सुप्सुपा' समास । आकलय्य = आ + कल् + णिच् + क्त्वा (ल्यप्) लोके प्रतिपत्तिः = लोकप्रतिपत्तिः । प्रति + पद् + क्तिन् । उपचरिता = उप + चर् + क्त + टाप् ।

विराधगुप्तः—ततः प्रथममेव प्रकाशिते चन्द्रगुप्तस्यार्धरात्रे नन्दभवनप्रवेशे कृताभिषेके च वैरोचके विमलमुक्तागुणपरिक्षेपोपरचितपटवारबाणप्रच्छादितशरीरे मणिमयमुकुटनिविडनियतरुचिरतरमौलौ सुरभिकुसुमदामवैकक्षकावभासितविपुलवक्षः स्थले परिचिततमैरप्यनभिज्ञायमानाकृतौ चाणक्यहतकादेशाच्चन्द्रगुप्तोपवाह्यां चन्द्रलेखां नाम गजवशामारुह्य चन्द्रगुप्तानुयायिना राजलोकेन अनुगम्यमाने जवेन देवस्य नन्दस्य भवनं प्रविशति वैरोचके युष्मत्प्रयुक्तेन सूत्रधारेण दारुवर्मणा चन्द्रगुप्तोऽयमिति मत्वा वैरोचकस्योपरि निपातनाय सज्जीकृतं यन्त्रतोरणम् । अत्रान्तरे वहिर्निगृहीतवाहनेषु स्थितेषु चन्द्रगुप्तानुयायिषु भूमिपालेषु युष्मत्प्रयुक्तेनैव चन्द्रगुप्तनिषादिना वर्वरकेण कनकदण्डान्तर्निहितामसिपुत्रिकामाकर्ष्टुकामेन अवलम्बिता करेण कनकश्रृंखलावलम्बिनी कनकदण्डिका ।

राक्षसः—उभयोरप्यस्थाने यत्नः । ततस्ततः ?

भाषार्थ :—(विराधगुप्त)—तब आधीरात के समय ही नन्द-भवन में चन्द्र गुप्त का प्रवेश प्रकाशित होने पर तथा वैरोचक का राज्याभिषेक हो जाने पर स्वच्छ मुक्ताहार से खचित वस्त्र निर्मित कञ्चुक से ढके हुए शरीर वाले, मणि जटित मुकुट से भलीभाँति बाँधे हुए सुन्दर केश वाले, सुगन्धित पुष्पमाला से सुशोभित उन्नत वक्षःस्थल वाले, सुपरिचित लोगों से भी न पहचानने योग्य

आकृति वाले, नीच चाणक्य की आज्ञा से चन्द्रगुप्त के चढ़ने योग्य चन्द्रलेखा नाम की हथिनी पर चढ़कर, चन्द्रगुप्त के अनुयायी राजलोक से अनुगमन किये जाने पर वेग-पूर्वक महाराज नन्द के भवन में वैरोचक के प्रवेश करने पर, "यह चन्द्रगुप्त है" ऐसा जानकर आपके भेजे हुए दारुवर्मा सूत्रधार ने वैरोचक के ऊपर गिराने के लिए तोरण यन्त्र तैयार कर लिया। इसी बीच चन्द्रगुप्त के अनुगामी राजगण ऐसा देख अपने-अपने वाहनों को बाहर ही रोकने लगे कि आपके द्वारा चन्द्रगुप्त को मारने के लिये नियुक्त चन्द्रगुप्त के महावत वर्वरक ने सोने की जंजीर में लटकती सोने की छड़ी की मूंठ पकड़ ली।

राक्षस—दोनों ने बड़ा असामयिक प्रयत्न किया।

तब क्या हुआ ?

संस्कृतार्थ—चाणक्येन चन्द्रगुप्तस्यार्द्धरात्रसमये नन्द-भवने प्रवेशः प्रचारितः, वैरोचकस्य च राज्याभिषेकः कृतः, वेशभूषादिभिश्चाच्छादित-शरीरं वैरोचकं चन्द्रगुप्तस्य चन्द्रलेखां नाम करिणीमध्यारोप्य नन्दभवनं प्रति प्रेषितः। तदा वैरोचकं "चन्द्रगुप्तोऽयमिति मत्वा राक्षसेन चन्द्रगुप्तवधाय प्रेषितेन दारुवर्मणा तोरणयन्त्रं, वर्वरकेण च छुरिका सज्जीकृता।

राक्षसः—चन्द्रगुप्तवधाय एष प्रयत्नः उभयोरपि असामयिकः आसीत्।

टिप्पणी

व्याकरणम्—उपवाह्याम् = उप + वह् + ण्यत् + टाप् द्वितीयैकवचनम्। यन्त्रतोरणं + यन्त्रयुक्तं तोरणं, मध्यमपदलोपी समासः। कनकस्य दण्डिका तत्पुरुष समासः, दण्ड + कन् + टाप्।

विराधगुप्तः—अथ जघनाभिघातमुत्प्रेक्षमाणा गजवधूरतिजवन-तया गत्यन्तरमारूढवती। ततः प्रथमगत्यनुरोधप्रत्याकलितमुक्तेन प्रभ्रष्टलक्ष्यं पतता यन्त्रतोरणेन आकृष्टकृपाणीव्यग्रपाणिरनासाद-यन्नेव चन्द्रगुप्तप्रत्याशया वैरोचकं, हतस्तपस्वी वर्वरकः। ततो दारुव-र्मणा, यन्त्रतोरणनिपातनादात्मवधमाकलय्य शीघ्रमेवोत्तुङ्गतोरण-स्थानमारूढेन, यन्त्रघट्टनबीजलोहकीलकमादाय हस्तिनीगत एव हतस्तपस्वी वैरोचकः।

विराध गुप्त—इस के पश्चात् हथिनी जघन भाग में प्रहार के कारण अत्यन्त वेग से दौड़ी, तब मन्दगमन को लक्ष्य कर पकड़ा गया बाद में शीघ्र गमन के कारण भ्रष्टलक्ष्य होकर गिरते हुये उस तोरण यन्त्र से निशाना चूक कर चन्द्रगुप्त की आशा से वैरोचक पर भी न गिरकर जिसके दोनों हाथ छुरी के निकालने तथा खींचने में फंसे हुए थे ऐसा वेचारा वर्वरक ही मारा गया। तब शीघ्र ही ऊंचे बाहरी दरवाजे पर चढ़े हुए दारुवर्मा ने यन्त्र तोरण के प्रहार से अपना मरण समझ कर यन्त्र चलाने के कारण लोहे की कील को लेकर हथिनी पर चढ़े हुए वेचारे वैरोचक को मार दिया।

संस्कृतार्थ—विराधगुप्तः—तदनु गजवशा स्वनितम्वे आघातं सम्भावयन्ती अतिशयवेगेन शीघ्रगतिं समाश्रयत्। तदा मन्दगतिमभिलक्ष्य चालितं तोरण यन्त्रं पश्चात् गजवशायाः द्रुतगतेः कारणात् भ्रष्टलक्ष्यं भूत्वा तोरणयन्त्रं चन्द्रगुप्ताशया वैरोचकमप्यनासादयन् छुरिकाऽऽकर्षणे व्यग्रपाणिं वर्वरकमेव जघान। ततः त्वरितं वाह्यद्वारमधिरूढः दारुवर्मा तोरणयन्त्रस्य चालनापराधात् स्वमरणं प्रत्यासन्नं विज्ञाय लौहकीलकेन चन्द्रगुप्तबुद्ध्या वराकं गजारूढं वैरोचकमेव हतवान्।

टिप्पणी

व्याकरणम्—उत्प्रेक्षमाणा = उत् + प्र + ईक्ष् + शानच्।

अतिजवनतया = अति + जु + ल्युट् + तल् + टाप् तृतीयैकवचनम्। गत्यन्तरं = अन्या गतिः, गम् + क्तिन्। प्रत्याकलितः = प्रति + आ + कल् + णिच् + क्तः। आत्मवधं = आत्मनः स्वस्य वधः तं तत्पुरुषसमासः। आकलय्य = तर्कयित्वा, आङ् + कल् + क्त्वा (ल्यप्)

राक्षसः—कष्टम्! अनर्थद्वयमापतितम्। न हतश्चन्द्रगुप्तो हतौ वैरोचकवर्वरकौ!! (सावेगमात्मगतम्) नैतावुभौ हतौ, दैवेन वयमेव हताः। (प्रकाशम्) अथ स सूत्रधारो दारुवर्मा क्व?

विराधगुप्तः—वैरोचकपुरःसरेण पदातिलोकेन लोष्टघातं हतः।

राक्षसः—(सास्रम्) कष्टम् ! अहो ! वत्सलेन सुहृदा दारुवर्मणा वियुक्ताः स्मः । अथ तत्रत्येन भिषजाऽभयदत्तेन किमनुष्ठितम् ?

विराधगुप्तः—अमात्य ! सर्वमनुष्ठितम् ।

राक्षसः—(सहर्षम्) किं हतो दुरात्मा चन्द्रगुप्तः ?

विराधगुप्तः—अमात्य ! दैवान्न हतः ।

राक्षसः—(सविषादम्) तत् किमिदानीं कथयसि परितुष्टः 'सर्वमनुष्ठितम्' इति ।

विराधगुप्तः—अमात्य ! कल्पितमनेन विषचूर्णमिश्रमौषधं चन्द्रगुप्ताय । तच्च प्रत्यक्षीकुर्वता चाणक्यहतकेन कनकभाजने वर्णान्तरमुपगतमुपलम्याभिहितश्चन्द्रगुप्तः—वृषल ! सविषमिवौषधं, न पातव्यम् इति ।

राक्षसः—शठः खल्वसौ वटुः । अथ स वैद्यः कथम् ?

विराधगुप्तः—स खलु वैद्यस्तदेवौषधं पायित उपरतश्च ।

राक्षसः—(सविषादम्) अहह ! महान् विज्ञानराशिरुपरतः । भद्र ! अथ तस्य शयनाधिकृतस्य प्रमोदकस्य किं वृत्तम् ?

विराधगुप्तः—यत् इतरेषाम् ।

राक्षसः—(सोद्वेगम्) कथमिव ?

विराधगुप्तः—सः खलु मूर्खस्तं युष्माभिरतिसृष्टं महान्तमर्थराशिमवाप्य महता व्ययेनोपभोक्तुमारब्धवान् । ततः 'कुतोऽयं भूयान् धनागमस्तव' इति पृच्छ्यमानोऽयं यदा वाक्यभेदान् बहूनकथयत् तदा चाणक्यहतकादेशाद् विचित्रेण वधेन व्यापादितः ।

भाषार्थ—राक्षसः—अत्यन्त खेद है । ये दोनों ही अनर्थ हुए । वह चन्द्रगुप्त नहीं मारा गया, किन्तु वैरोचक तथा वर्वरक ये दोनों मारे गये । (उद्वेग सहित मन ही मन) ये दोनों नहीं मारे गये किन्तु भाग्य ने हम लोगों को ही मार डाला । (जोर से) अब वह दारुवर्मा नामक सूत्रधार कहाँ है ।

विराधगुप्त—वैरोचक के अनुगामी लोगों ने ढेलों से मार दिया ।

राक्षस—(रोता हुआ) बड़े कष्ट की बात है। अहो हम लोग अपने प्रिय मित्र दारुवर्मा से वियुक्त हो गये। इसके बाद वहाँ रहते हुए अभयदत्त वैद्य ने क्या किया।

विराधगुप्त—अमात्य ! सब कुछ किया।

राक्षस—(हर्ष से) दुष्ट चन्द्रगुप्त मारा गया क्या ?

विराधगुप्त—वह भाग्य-बल से नहीं मारा जा सका।

राक्षस—(खेद से) तब क्या खुश होकर कहते हो कि सब कुछ किया।

विराधगुप्त—अमात्य ! इस अभयदत्त वैद्य ने चन्द्रगुप्त के लिए विष-चूर्ण मिली हुई ओषधि बनाई। ओषधि की परीक्षा करने के लिये चाणक्य ने उसे सोने के पात्र में रखा तो वह दवा तुरन्त अन्य वर्ण की हो गई। तब उस ओषधि को देखकर उसने चन्द्रगुप्त से कहा, वृषल ! यह ओषधि विष मिली हुई सी मालूम होती है। इसलिए इसे न पीना।

राक्षस—वह अल्पबुद्धि चाणक्य बड़ा धूर्त है, अब कहो वह वैद्य कैसे है।

विराध गुप्त—वैद्य को वही ओषधि पिलाई गई और वह मर गया।

राक्षस—(खेद के साथ) अहो ! वह विज्ञान का पण्डित मर गया। भद्र ! चन्द्रगुप्त के शयनगृह के अधिकारी उस प्रमोदक का क्या हाल है ?

विराधगुप्त—आत्महत्या।

राक्षस—किस प्रकार ? (दुःख से)

विराधगुप्त—उसने तो ऐसी मूर्खता की जो भी धनराशि आपसे मिलती गई उसे प्राप्त कर बहुत ज्यादा खर्च करने लगा। इसके बाद "कहाँ से तुमको बहुत धन मिला।" इस प्रकार पूछे गये प्रमोदक ने परस्पर विरुद्ध बातें कही, तब नीच चाणक्य की आज्ञा से उसे मार दिया गया।

राक्षसः—(सोद्वेगम्) कथमत्रापि वयमेवोपहता दैवेन ? अथ शयितस्य चन्द्रगुप्तस्य शरीरे प्रहर्तुमस्मत्प्रयुक्तानां नरपतिशयनगृहस्यान्तः सुरङ्गायां निवसतां बीभत्सकादीनां को वृत्तान्तः ?

विराधगुप्तः—अमात्य ! दारुणो वृत्तान्तः ।

राक्षसः—(सावेगम) कथं दारुणो वृत्तान्तः । न खलु विदिताः ते तत्र निवसन्तः चाणक्यहतकेन ?

विराधगुप्तः—अथ किम् ?

राक्षस —कथमिव ?

विराधगुप्तः—प्राक् चन्द्रगुप्तप्रवेशात् प्रविष्टमात्रेणैव शयनगृहे चाणक्येन दुरात्मना समन्तादवलोकितः । ततस्तु एकस्माद् भित्तिच्छिद्राद् गृहीतभक्तावयवां निष्क्रामन्तीं पिपीलिकापंक्तिमवलोक्य पुरुषगर्भमेतद् गृहमिति गृहीतार्थेन दाहितं तदन्तः शयनगृहम् । तस्मिंश्च दह्यमाने धूमावरुद्धदृष्टयः वीभत्सकादयस्तत्रैव ज्वलनमुपगता उपरताश्च ।

राक्षसः—(सास्रम्) सखे ! पश्य, चन्द्रगुप्तस्य दैवसम्पदा सर्व एव उपरताः । (सचिन्तम्) सखे ! दैवसम्पदं पश्य दुरात्मनश्चन्द्रगुप्तहतकस्य ! ! कुतः ?—

राक्षस—(उद्विग्न होकर) क्या इस उद्योग में भी भाग्य से हम सब मारे गए । अच्छा, चन्द्रगुप्त के शरीर में प्रहार करने के लिये हमसे भेजे गये राजा के शयनगृह में सुरंग में रहते हुए बीभत्सक आदि का क्या हाल है ।

विराधगुप्त—बड़ा भयानक वृत्तान्त है ।

राक्षस—(आवेग सहित) कैसा दारुण समाचार है ? वहाँ रहते हुए वे सब दुष्ट चाणक्य द्वारा जाने तो नहीं गये ?

विराधगुप्त—जाने नहीं गये तो और क्या ।

राक्षस—किस तरह ?

विराधगुप्त—चन्द्रगुप्त के प्रवेश से पहले ही दुष्ट चाणक्य ने शयनगृह में जाकर चारों ओर देखा । तब अन्न का कण लेकर दीवाल के छेद से निकलती हुई एक पिपीलिका-पंक्ति को देखकर उसे संदेह हुआ और उसने कहा कि मालूम होता है कि इसके भीतर मनुष्य हैं । ऐसा समझकर उसने उस शयन-

गृह को जला दिया। उस घर को जला देने पर धूम से नेत्रों के व्याप्त हो जाने पर मार्ग न पाकर वे सब वीभत्स आदि वहीं पर जलकर मर गये।

राक्षस—(रोता हुआ) मित्र विराधगुप्त ! देखो चन्द्रगुप्त की दैवी सम्पत्ति से हमारे सब आदमी मारे गये। (चिन्ता सहित) मित्र ! उस दुरात्मा तथा नीच चन्द्रगुप्त के भाग्य को तो देखो—

टिप्पणी

व्याकरणम्—वैरोचकपुरःसरेण = वैरोचकः पुरःसरः यस्य सः तेन बहुव्रीहि समासः, पुरः सरतीति, पुरःसरः, पुरस् + सृ + ट। पदातीनां लोकः + पदातिलोकः षष्ठीतत्पुरुषः। लोक्यतेऽसौ, लोक् + घञ्। पदातिः = पद्भ्यां अतति गच्छति इति, पद् + अत् + इनि। लोष्टघातम् = ढेलों से मारकर, लोष्टैः हता इति, लोष्ट + हन् + णिच् + घञ्। लोष्टः = लुष् + तन्। उपरतः = मृतः उप + रम् + क्त। भिषजा = भिषज्यति जयति रोगान् इति भिषक् तेन, प्रत्यक्षीकुर्वता = अप्रत्यक्षं प्रत्यक्षं करोति, अक्षं अक्षं प्रति इति प्रत्यक्षं, अव्ययीभावः, अभूततद्भावे च्विः, प्रत्यक्ष + च्विः + कृ + शतृ, तृतीयैकवचनम्।

कन्या तस्य वधाय या विषमयी गूढं प्रयुक्ता मया
दैवात् पर्वतकस्तथा स निहतो यस्तस्य राज्यार्धभाक्।
ये यन्त्रेषु रसेषु च प्रणिहितास्तैरेव ते घातिताः
मौर्यस्यैव फलन्ति पश्य विविधश्रेयांसि मे नीतयः ॥१६॥

प्रसङ्गः—राक्षसः चन्द्रगुप्तस्य सौभाग्यं स्वस्य च दौर्भाग्यं, चन्द्रगुप्तवधाय स्वयन्त्रप्रयोगवैयर्थ्यं च मुहुः पर्यालोचयन् दैवमेवाधिक्षिपन् पद्यमिदमाह—

अन्वयः—मया तस्य वधाय या विषमयी कन्या गूढं प्रयुक्ता तया दैवात् यः तस्य राज्यार्धभाक् सः पर्वतकः निहतः। ये यन्त्रेषु रसेषु च प्रणिहिताः ते एव तैः घातिताः। पश्य, मे नीतयः मौर्यस्य एव विविधश्रेयांसि फलन्ति।

संस्कृतार्थः—मया = अमात्यराक्षसेन, तस्य चन्द्रगुप्तस्य, वधाय = व्यापादनाय या विषमयी कन्या = या विषकन्या, विषेण निर्मिता कन्या, गूढं = गुप्तं यथा स्यात् तथा प्रयुक्ता = प्रेरिता, तया = विषकन्यया, दैवात् = भाग्य-

वशात्, सः पर्वतकः = मलयकेतुजनकः, चन्द्रगुप्तस्य राज्यार्धभाक्, निहतः = व्यापादितः, ये = जनाः, यन्त्रेषु = तोरणादिशास्त्रेषु, रसेषु च = विषेषु च, प्रणिहिताः = विनियुक्ताः, मौर्यवधाय इति शेषः, तैः = यन्त्रैः प्रयोगैश्च, ते एव = विनियुक्ताः पुरुषाः, एव = निर्धारणे, घातिताः = व्यापादिताः, पश्य = विलोकय, मे = मम राक्षसस्य, नीतयः = कूटप्रयोगाः यन्त्ररसादयः, मौर्यस्य = चन्द्रगुप्तस्य एव, विविधानि = भूयांसि अनेकानि इत्यर्थः, श्रेयांसि = मङ्गलानि, फलन्ति = समुत्पादयन्ति ।

भावार्थः—राक्षेन चन्द्रगुप्तवधाय प्रयुक्तं विषकन्याप्रेषणं तोरणयन्त्रपातनं, रसदानं व्यर्थं सत् चन्द्रगुप्तस्य सौभाग्यं ज्ञापयन्ति, तैरेव प्रयोगैः स्वजनानां दारुवर्मवैरोचकवर्वरकादीनां वधः राक्षसस्य हतभाग्यत्वं दैवदुर्विलसितं च द्योतयन्ति ।

भाषार्थः—मैंने उस चन्द्रगुप्त की हत्या के लिये जिस विष कन्या का गुप्त रूप से प्रयोग किया था उसने दुर्भाग्यवश पर्वतक को मार दिया । जो उसके आधे राज्य का हिस्सेदार था ।

जो मनुष्य चन्द्रगुप्त को मारने के लिये वस्त्रों और विषों के प्रयोग करने में लगाये थे उन्हीं से वे मारे गये, देखो मेरी सभी नीतियाँ चन्द्रगुप्त के ही अनेक प्रकार के मङ्गलों को उत्पन्न कर रही हैं ।

टिप्पणी

व्याकरणम्—विषमयी = विष + मयट् + ङीप् । गूढं = गुहे् + क्त । राज्यार्धभाक् = राज्यस्य अर्धं षष्ठी तत्पुरुषः, तत् भजति इति राज्यार्ध + भज् + ण्वि । प्रणिहिताः—प्र—नि + धा + क्त धा को हि आदेश, णत्वं च । घातितः = हन् + णिच् + क्त । कोषः—:"शृङ्गारादौ विषे विर्ये गुणे रागे द्रवे रसः ।। अर्थात् रस शब्द के निम्नांकित अर्थ होते हैं । शृङ्गार – हास्य – करुण – रौद्र – वीर – भयानक, बीभत्स – शान्त अद्भुत नव रस । षड्रस = मधुर – तिक्त – कषाय – लवण – कटु – अम्ल । विष, वीर्य, गुण, राग, द्रव (पिघलना) । अलंकार—'विषम' अलंकार है । "यद्वारब्धस्य वैफल्यं, अनर्थस्य च सम्भवः" तद्विषमम् । छन्द—शार्दूलविक्रीडितम्, वैदर्भी रीतिः, माधुर्यगुणः ।

विराधगुप्तः—अमात्य ! तथा प्रारब्धमपरित्याज्यमेव । पश्यतु—

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः
प्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः ।
विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः
प्रारब्धमुत्तमगुणास्त्वमिवोद्वहन्ति ॥१७॥

विराधगुप्त—अमात्य ! तो भी प्रारंभ किये हुये कार्य को नहीं छोड़ना चाहिए । देखिए—

प्रसङ्ग—"प्रारभ्यते न खलु" इति वाचो युक्त्या राक्षसस्य नीतिविषयकमुत्साहं विराधगुप्तवाचोत्तेजयति कविपुङ्गवः विशाखदत्तः ।

अन्वयः—नीचैः विघ्नभयेन न खलु प्रारभ्यते । मध्याः प्रारभ्य विघ्नविहताः विरमन्ति । त्वमिव उत्तमगुणाः विघ्नैः पुनः पुनः प्रतिहन्यमाना अपि प्रारब्धं उद्वहन्ति ।

संस्कृतार्थः—नीचैः = अधमैः, विघ्नस्य = अन्तरायस्य, भयेन = भीत्या, न खलु = श्चियेन न, प्रारभ्यते = कार्यं प्रस्तूयते । मध्याः = मध्यमपुरुषाः, प्रारभ्य = कार्यं प्रस्तुत्य, विघ्नैः = अन्तरायैः, विहताः = बाधिताः, सन्तः, विरमन्ति = कर्मणः निवर्तन्ते । त्वमिव = भवान् इव, उत्तमगुणः = उत्कृष्टगुणवन्तः जनाः, विघ्नैः = प्रत्यूहैः, पुनः पुनः = भूयोभूयः,, प्रतिहन्यमानाः = ताडिताः, अपि, प्रारब्धं = प्रस्तुतं कार्यं, उद्वहन्ति = सम्पादयन्ति ।

भावार्थः—संसारे त्रिविधाः पुरुषाः भवन्ति, उत्तम – मध्यम – अधम-भेदेन । तत्र नीचपुरुषाः विघ्न-भयेन कार्यमेव न प्रारभन्ते, मध्यमपुरुषाः कार्यं प्रारभ्य मध्ये एव त्यजन्ति परमुत्तमाः जनाः कार्यं प्रारभ्य विघ्नैः भूयो भूयः प्रतिहन्यमानाः अपि कार्यं न त्यजन्ति ।

भाषार्थः—नीच पुरुष विघ्नों के डर से कार्य का प्रारम्भ ही नहीं करते हैं । प्रथम श्रेणी के लोग प्रारम्भ करके विघ्नों से बाधित होने पर रुक जाते हैं । किन्तु आप जैसे उत्तम गुण वाले जन विघ्नों से वार-बार बाधित होते हुए भी प्रारम्भ किये कर्म को करते ही हैं ।

टिप्पणी

व्याकरणम्—प्रारब्धम् = प्र + आ + रभ् + क्त । विघ्नभयेन = वि + हन् + क = विघ्नः तस्मात् भयम्, तेन । विरमन्ति = अत्र "व्याङ्परिभ्यो रमः" इससे परस्मैपद हुआ । प्रतिहन्यमानः = प्रति + हन् + यत् + शानच् । प्रारभ्यते = प्र + आ + रभ् + यक् "भावकर्मणोः यक्" + लट् प्रथमपुरुषैकवचने रूपम् । कोषः—"विघ्नोऽन्तरायः प्रत्यूहः" इत्यमरः । अलंकारः—त्वमिव – उपमाऽलंकारः, अप्रस्तुतप्रशंसा चालंकारः । ',अप्रस्तुतात् प्रस्तुतं चेद्गम्यते साऽप्रस्तुतप्रशंसा"॥ छन्दः—वसन्ततिलका वृत्तम्, वैदर्भी रीतिः, प्रसादो गुणः ।

अपि च—

किं शेषस्य भरव्यथा न वपुषि क्ष्मां न क्षिपत्येष यत्
किं वा नास्ति परिश्रमो दिनपतेरास्ते न यन्निश्चलः ।
किंत्वङ्गीकृतमुत्सृजन् कृपणवच्छ्लाघ्यो जनो लज्जते
निर्व्यूढं प्रतिपन्नवस्तुषु सतामेतद्धि गोत्रव्रतम् ॥१८॥

प्रसङ्गः—विराधगुप्तः "अंगीकृतं सुकृतिनः परिपालयन्ति" इति मनसि कृत्य राक्षसं भूयोऽभियोगायोत्साहयन् पद्यमिदमाह ।

अन्वयः—शेषस्य वपुषि किं भरव्यथा न यदेष क्ष्मां न क्षिपति ? किं वा दिनपतेः परिश्रमो नास्ति यत् निश्चलः न आस्ते ? किन्तु श्लाघ्यो जनः अंगीकृतं कृपणवत् उत्सृजन् लज्जते । हि प्रतिपन्नवस्तुषु निर्व्यूढं एतत् सतां गोत्रव्रतम् ।

संस्कृतार्थः—शेषस्य = वासुकेः, वपुषि = शरीरे, किं भरव्यथा न = किं भूधारणजन्यक्लेशः न, यत् = यस्मात् कारणात्, एषः = शेषः, क्ष्मां = पृथ्वीं, न क्षिपति = न पातयति, किं वा = आहोस्वित्, दिनपतेः = भगवतो भास्करस्य, परिश्रमः = आयासः, नास्ति = न विद्यते, यत् = यस्मात् हेतोः, एषः = सूर्यः, निश्चलः = स्थिरः, न आस्ते = न तिष्ठति, किन्तु = परं, श्लाघ्यो जनः = आदरणीयः पुरुषः, अंगीकृतं = स्वीकृतं, कर्म = कार्यं, कृपण इव = कातर इव, उत्सृजन् = मुञ्चन्, लज्जते = त्रपते, हि = निश्चयेन, प्रतिपन्नवस्तुषु = अंगीकृतविषयेषु, निर्व्यूढं = निर्वाहः, एतत्, सतां = सज्जनानां, गोत्रव्रतम् = कुलधर्मः भवति ।

भावार्थः—विराधगुप्तः पुनः राक्षसं युद्धाय उत्साहयन् नागराजदृष्टान्तेन, दिनपतेश्च निदर्शनेन बोधयति, यत् शेषनागः किं भूभारेण क्लान्तपृथ्वीं स्वशिरसः उत्क्षिपति आहोस्वित् दिनमणिः सर्वं दिनं भ्रमन् न व्यथते इति न परं तस्यैतत् व्रतं, इत्थमेव सुकृतिनः यदंगीकुर्वन्ति तदवश्यं पालयन्ति । अतः त्वमपि – अंगीकृतं परिपालय ।

भाषार्थः—और भी क्या शेष नाग के शरीर में पृथ्वी के भार से कष्ट नहीं होता जो वह पृथ्वी को अपने शिर पर से उतार कर फेंक नहीं देते । अथवा सूर्य को दिन रात चलते रहने से थकावट नहीं होती जो स्थिर नहीं होते हैं । किन्तु उत्तम पुरुष स्वीकार किये हुए को नीच पुरुष के समान त्याग करता हुआ लज्जित होता है । क्योंकि अंगीकार की हुई वस्तुओं के सम्बन्ध में निर्वाह करना महापुरुषों का कुलधर्म है ।

टिप्पणी

व्याकरणम्—उत्सृजन् = उत् + सृज् + शतृप्रथमैकवचनम् । निर्व्यूढम् = निर् – वि + वह् + क्त प्रत्ययः । गोत्रस्य व्रतम् = गोत्रव्रतम् षष्ठी तत्पुरुषः । श्लाघ्य = श्लाघ् + ण्यत् । परिश्रमः = परि + श्रम् + घञ् । अंगीकृतम् = अंग + च्वि + कृ + क्त । प्रतिपन्न = प्रति + पद् + क्त । कोषः—"उरीकृतमुररीकृतमंगीकृतमाश्रुतं प्रतिज्ञातम् । संगीर्णविदितसंश्रुतसमाहितोपश्रुतोपगतम्" उभयत्रामरः । अलङ्कार = निर्व्यूढं प्रतिपन्नवस्तुषु सतामेतद्धि गोत्रव्रतम्— इस अंश में विशेष से सामान्य का समर्थन होने से अर्थान्तरन्यास अलंकार है । छन्दः—"शार्दूलविक्रीडितम्', वैदर्भी रीतिः प्रसादश्च गुणः । गुण—माधुर्यव्यञ्जकैः वर्णैः रचना ललितात्मिका । अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते ।। प्रसादगुणः—चित्तं व्याप्नोति यः क्षिप्रं शुष्केन्धनमिवानलः । सः प्रसादः समस्तेषु रसेषु रचनासु च ।।

राक्षसः—सखे ! प्रारब्धमपरित्याज्यमिति प्रत्यक्षमेवैतद्भवताम् । ततस्ततः ?

विराधगुप्तः—ततः प्रभृति चाणक्यहतकश्चन्द्रगुप्तस्य शरीरे सहस्रगुणमप्रमत्तः, एभ्य एव ईदृशं भवतीत्यन्विष्य निगृहीतवान् कुसुमपुरनिवासिनो युष्मदीयानाप्तपुरुषान् ।

राक्षसः—(सोद्वेगम्) वयस्य ! कथय कथय के केनिगृहीताः ?

विराधगुप्तः—अमात्य ! आदावेव तावत् क्षपणको जीवसिद्धिः सनिकारं नगरान्निर्वासितः ।

राक्षसः—(आत्मगतम्) एतावत् सह्यं, न निष्परिग्रहं स्थानपरिभ्रंशः पीडयिष्यति । (प्रकाशम्).सखे ! कमपराधमुद्दिश्य निर्वासित एषः ?

विराधगुप्तः—एष दुरात्मा राक्षसप्रयुक्तया विषकन्यया पर्वतेश्वरं घातितवानिति ।

राक्षसः—(स्वगतम्) साधु कौटिल्य ! साधु ।

भाषार्थः—राक्षस—आरम्भ किया हुआ कार्य परित्याग के योग्य नहीं है, यह तो आपके सम्मुख ही है । तब क्या हुआ ।

विराधगुप्त—तब से लेकर चन्द्रगुप्त के शरीर के बारे में हजार गुना सावधान रहते हुए चाणक्य ने "इन्हीं लोगों के द्वारा ऐसा होता है" यह मान कर कुसुमपुर में रहने वाले आपके समस्त विश्वस्त पुरुषों को खोज कर कैद कर लिया है ।

राक्षस—(उद्वेग के साथ) कहो कहो किस किस को पकड़ लिया है ?

विराधगुप्त—अमात्य सर्वप्रथम तो क्षपणक जीवसिद्धि को नगर से अपमान पूर्वक निकाल दिया है ।

राक्षस—(मन में) इतना तो सह्य है । विषयासक्ति से रहित को स्थान-परित्याग दुःखित नहीं करेगा । (प्रकट) मित्र ! किस अपराध में यह निकाला गया है ।

विराधगुप्त—इस दुष्ट ने राक्षस द्वारा प्रयुक्त विषकन्या से पर्वतेश्वर का वध कराया ।

राक्षस—(मन में) शाबाश कौटिल्य शाबाश ।

परिहृतमयशः पातितमस्मासु च घातितोऽर्धराज्यहरः ।
एकमपि नीतिबीजं बहुफलतामेति यस्य तव ॥१६॥

प्रसङ्गः—पद्यमिदं कविः राक्षसमुखेन सफलनयं चाणक्यं तत्पराभवं च निपुणं मनसि निधाय तमेव सम्बोधयन् आह :—

अन्वयः—अर्द्धराज्यहरः घातितः, अयशः परिहृतम्, अस्मासु पातितं च। यस्य तव एकमपि नीतिबीजं बहुफलतां एति।

संस्कृतार्थः—भोः चाणक्य ! यस्य तव=कौटिल्यस्य, एकमपि=अद्वितीयमपि, नीतबीजं=मत्प्रयुक्तविषकन्योपजापरूपं नयकारणं, बहुफलतां=अनेक फलवत्त्वं, एति=प्राप्नोति, तथाहि अर्धराज्यहरः= राज्यार्धभाक् पर्वतेश्वरः, घातितः=व्यापादितः, तद्वधोत्पन्नं, अयशः=अपकीर्तिः, परिहृतम्=निवारितम्, अस्मासु=मयि राक्षसे, तदयशः, अरोपितं=पतितं च।—

भावार्थः—एतेन मौर्यरक्षणेन, पर्वतकवधेन, प्रतिश्रुतराज्यार्धाऽप्रदानेन बहुफलवत्त्वेन तव नयेन राक्षसः वशीकृतः इति मा मंस्थाः।

भाषार्थः—अयि कौटिल्य ! तुम्हारी नीति का एक ही बीज नाना भाँति के फलों को प्राप्त कर रहा हैं। जैसा कि आधे राज्य के हिस्सेदार पर्वतक को मरवा दिया। उसके वध से उत्पन्न कलङ्क को मिटा दिया और मुझ राक्षस पर उस कलङ्क को लाद दिया।

टिप्पणी

व्याकरणम्—अर्धराज्यहरम्=अर्धराज्यस्य हरः षष्ठीतत्पुरुषः, अर्धं च तद्राज्यं इति अर्धराज्यं कर्मधारय, हरतीति हरः, हृ+अच्। बहुफलताम्—बहूनि फलानि यस्य सः बहुफलः बहुव्रीहि समासः, तस्य भावः तत्ता ताम्। परिहृतम्=परि+हृ+क्त।

कोषः—"हेतुर्ना कारणं बीजं।
"बीजवीर्येन्द्रियाणि च" उभयत्रामरः।

अलंकार—काव्यलिंगअलंकारः "हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गं निगद्यते" इति लक्षणात्।

छन्द—आर्या वृत्तम् जिसके प्रथम तृतीयपाद में १२ मात्रा हों, द्वितीयपाद में १८ मात्रा हों तथा चतुर्थपाद में १५मात्रा हो उसे आर्या छन्द कहते हैं।

प्रसादो गुणः वैदर्भी च रीतिः।
चाणक्यस्य नीतिबीजेन फलत्रयमुत्पादितम्।

१. राज्यार्धभाक् पर्वतेश्वरः घातितः

२. पर्वतेश्वरवधकलङ्कः परिहृतः

३. पर्वतेश्वरवधस्यायशोऽस्मासु पातितमिति

(प्रकाशम्) ततस्ततः ?

विराधगुप्तः—ततश्चन्द्रगुप्तशरीरमभिद्रोग्धुमनेन व्यापारिता दारुवर्मादय इति नगरे प्रख्याप्य शकटदासः शूलमारोपितः।

राक्षसः--(सास्रम्) हा सखे ! शकटदास ! अयुक्तस्तवायमीदृशो मृत्युः !! अथवा, स्वाम्यर्थमुपरतो न शोच्यस्त्वमसि; वयमेवात्र शोच्याः—ये नन्दकुलविनाशेऽपि जीवितुमिच्छामः।

विराधगुप्तः—अमात्य ! स्वाम्यर्थ एव साधयितव्य इति प्रयतसे।

तत्पश्चात् क्या हुआ ?

विराधगुप्त—तब चन्द्रगुप्त के शरीर को नष्ट करने के लिये इसने (शकटदास ने) दारुवर्मा आदि को प्रेरित किया, यह नगर में प्रसिद्ध करा के शकटदास को शूली पर चढ़ा दिया गया।

राक्षस—(आँसुओं के साथ) हाय मित्र शकटदास ! तुम्हारी ऐसी मृत्यु अनुचित है। अथवा स्वामी के लिये मरे हो, तुम शोक करने योग्य नहीं हो। हम ही इस विषय में शोक के योग्य हैं। जो नन्द-वंश के नष्ट हो जाने पर भी जीवित रहने की इच्छा कर रहे हैं।

विराधगुप्त—अमात्य ! आप तो महाराज नन्द के लिये ही सब कुछ कर रहे हैं।

राक्षसः—सखे !—

अस्माभिरमुमेवार्थमालम्ब्य न जिजीविषाम्।
परलोकगतो देवः कृतघ्नैर्नानुगम्यते ॥२०॥

राक्षस—सखे !

प्रसङ्गः—श्रुतशकटदासविनाशः राक्षसः आत्मानमधिक्षिपन् विराधगुप्तेन कृतसान्त्वनः धैर्यं प्राप्नुवन् पद्यमिदमुद्धरति।

अन्वयः—अमुमेव अर्थं न जिजीविषां आलम्ब्य कृतघ्नैः अस्माभिः परलोकगतः देवः न अनुगम्यते ।

संस्कृतार्थः—अमुमेव=एतदेव, अर्थं=प्रयोजनं-स्वामिकार्यं साधयितव्यं, आलम्ब्य=आश्रित्य, न तु जिजीविषां=जीवनेच्छां, आलम्ब्य, परलोकगतः=लोकान्तरं प्राप्तः, देवः=नन्दः, कृतघ्नैः=कृतोपकारानभिज्ञैः, अस्माभिः, न अनुगम्यते=न अनुम्रियते ।

भावार्थः—राक्षसो वदति यत्परलोकनिवासिनः महाराजनन्दस्य अनुगमनमकृत्वा शत्रुविनाशरूपकार्यं सम्पादयितुमेव ममात्र संसारे स्थितिः न जीवनेच्छयेतिभावः ।

भाषार्थः—स्वामी के किये हुए उपकारों को न जानने वाले हम लोग शत्रुविनाश रूपी स्वामिकार्य करने के लिये ही तो परलोक गत स्वामी का अनुगमन नहीं कर रहे हैं, जीने के लिये नहीं ।

टिप्पणी

व्याकरणम्—जिजीविषां=जीवितुमिच्छा जिजीविषा ताम्, जीव्+सन्+अ प्रत्ययः । कृतघ्नैः=कृतं घ्नन्तीति कृतघ्नाः तैः, कृ+क्त+हन्+कः । अनुगम्यते=अनु+गम्+यक्+त लट् प्रथमपुरुषैकवचनम् । परलोकं गतः=परलोकगतः द्वितीयातत्पुरुषः । कोषः-अर्थः 'अर्थोऽभिधेयरैवस्तुप्रयोजननिवृत्तिषु ।। अर्थ शब्द कहने योग्य, धन, वस्तु, प्रयोजन, निवृत्ति इन पाँच अर्थों में प्रयुक्त होता है ।

अलंकारः—परिसंख्या प्रश्नादप्रश्नतो वापि कथिताद्वस्तुनो भवेत् ।
तादृगन्यव्यपोहश्चेत् शाब्दः आर्थो वा भवेत् ।।

छन्दः—अनुष्टुप्वृत्तं, वैदर्भी रीतिः, माधुर्यं गुणः, करुणो रसः ।

विराधगुप्तः—अमात्य ! नैतदेवम् । (अस्माकममुमेवार्थमित्यादि पुनः पठति ।)

राक्षसः—सखे ! कथ्यतामपरस्यापि सुहृद्व्यसनस्य श्रवणे सज्जोऽस्मि ।

विराधगुप्तः—तत एतदुपलभ्य चन्दनदासेनोपारूढसाध्वसेनापवाहितममात्यकलत्रम् ।

राक्षसः—सखे ! क्रूरस्य चाणक्यवटोः विरुद्धमयुक्तमनुष्ठितं चन्दनदासेन ।

विराधगुप्तः—ननु अयुक्ततरः सुहृद्द्रोहः ।

राक्षसः—ततस्ततः ?

विराधगुप्तः—ततो याच्यमानेनापि यदा न समर्पितमनेनाऽमात्यकलत्रं ततः कुपितेन चाणक्यवटुना ।

राक्षसः—(सोद्वेगं) स खलु व्यापादितः ?

विराधगुप्तः—अमात्य ! न खलु व्यापादितः, किन्तु गृहीतगृहसारः सपुत्रकलत्रः संयम्य बन्धनागारे निक्षिप्तः ।

राक्षसः—ततः किं परितुष्टः कथयसि—'अपवाहितमनेन राक्षसकलत्रम्' इति । ननु वक्तव्यं 'संयतः सकलत्रो राक्षसः' इति ।

[प्रविश्य पटाक्षेपेण पुरुषः] जेदु अमच्चो । अज्ज ! एसो क्खु सअडदासो पडिहार भूमिमुवत्थिदो । (जयत्वमात्यः । आर्य ! एष खलु शकटदासः प्रतिहारभूमिमुपस्थितः ।)

राक्षसः—प्रियंवदक ! अपि सत्यम् ?

प्रियंवदकः—किं अलिअं अमच्चपादेसु विणिवेदेमि ? (किमलीकममात्यपादेषु विनिवेदयामि ?)

राक्षसः—सखे ! विराधगुप्त ! कथमेतत् ?

विराधगुप्तः—अमात्य ! स्यादेतदेवं यतो भव्यं रक्षति भवितव्यता ।

राक्षसः—प्रियंवदक ! यद्येवं, तत् किं चिरयसि ! क्षिप्रं प्रवेशय तम् ।

प्रियंवदकः—जं अमच्चो आणवेदि त्ति । (यदमात्य आज्ञापयति ।) (इति निष्क्रान्तः ।)

भाषार्थः—विराधगुप्त—अमात्य आप ऐसा न कहें ।

(अस्माकममुमेवार्थं इत्यादि श्लोक फिर पढ़ता है ।)

राक्षस—मित्र कहो ! दूसरे मित्र की विपत्ति भी सुनने के लिये तैयार हूँ ।

विराधगुप्त—तब यह (शकटदास की घटना) जानकर भयभीत चन्दनदास ने आपके परिवार को हटा दिया ।

राक्षस—मित्र चन्दनदास ने क्रूर चाणक्य के विरुद्ध कार्य किया ।

विराधगुप्त—परन्तु मित्र-द्रोह तो इससे भी बुरा होता ।

राक्षस—उसके बाद क्या हुआ ?

विराधगुप्त—बाद में माँगने पर भी जब उन्होंने आपके परिवार को नहीं दिया तब क्रुद्ध चाणक्य वटु ने ।

राक्षस—(उद्वेग के साथ) क्या वह मार दिया गया ?

विराधगुप्त—अमात्य ! मारा तो नहीं किन्तु घर की सारी सम्पत्ति छीन ली तथा स्त्री-पुत्र सहित उन्हें कारागार में डाल दिया गया ।

राक्षस—तब तुम क्यों सन्तुष्ट होकर कह रहे हो कि उन्होंने राक्षस के परिवार को दूर कर दिया । वस्तुतः कहना यह चाहिये कि स्त्री-पुत्र सहित राक्षस को पकड़ लिया ।

(पर्दे को बिना हटाये एक पुरुष प्रवेश करके) अमात्य की जय हो । आर्य, ये शकटदास दरवाजे पर आये हुए हैं ।

राक्षस—प्रियंवदक ! क्या यह सत्य है ?

प्रियंवदक—क्या अमात्य के चरणों में मिथ्या निवेदन करूँगा ?

राक्षस—मित्र ! विराधगुप्त ! यह कैसे ?

विराधगुप्त—यह तो ऐसा हो सकता है, क्योंकि भाग्य भाग्यवान् की रक्षा करता है ।

राक्षस—प्रियंवदक ! यदि ऐसा है तो क्यों विलम्ब कर रहे हो ? शीघ्र उसे अन्दर ले आओ ।

प्रियंवदक—अमात्य की जो आज्ञा (बाहर निकल जाता है) तब (शकटदास और पीछे-पीछे सिद्धार्थक का एक साथ प्रवेश)

(ततः प्रविशति सिद्धार्थकेनानुगम्यमानः शकटदासः ।)

शकटदासः—(दृष्ट्वा स्वगतम्)—

दृष्ट्वा मौर्यमिव प्रतिष्ठितपदं शूलं धरित्र्यास्तले
तल्लक्ष्मीमिव चेतसः प्रमथनीमुन्मुच्य वध्यस्रजम् ।
श्रुत्वा स्वाम्युपरोधरौद्रविषमानाध्मातातूर्यस्वनान्
न ध्वस्तं प्रथमाभिघातकठिनं मन्ये मदीयं मनः ॥२१॥

(शकटदास और पीछे-पीछे सिद्धार्थक का एक साथ प्रवेश)

शकटदास—(देखकर मन में)—

प्रसंगः—शूलघातात् सिद्धार्थकेन परिरक्षितः शकटदासः दृष्टा मौर्य विवादि पद्येनात्मानं चिन्तयति :—

अन्वयः—मन्ये प्रथमाभिघातकठिनं मदीयं मनः मौर्यमिव धरित्र्याः तले प्रतिष्ठितपदं शूलं दृष्ट्वा तल्लक्ष्मीमिव चेतसः प्रमथनीं वध्यस्रजं उन्मुच्य स्वाम्युपरोधरौद्रविषमान् आध्मातातूर्यस्वनान् श्रुत्वा न ध्वस्तम् ।

संस्कृतार्थः—मन्ये = जाने, अहमिति शेषः, प्रथमाभिघातकठिनं = प्राक्-ताडनेन दृढं, मदीयं = मम शकटदासस्येत्यर्थः, मनः = स्वान्तं, मौर्यमिव = वृषलमिव, धरित्र्याः = धरायाः, तले = पृष्ठभागे, प्रतिष्ठितपदं = बद्धमूलं, शूलं = हननप्रयोजकं लौहदण्डं, दृष्ट्वा = अक्षिलक्ष्यीकृत्य, तल्लक्ष्मीमिव = मौर्यश्रिय-मिव, चेतसः = मनसः, प्रमथनीं = विदारणीं, वध्यस्रजं = वध्यचिह्नभूतां, रक्त-पुष्पमालां, उन्मुच्य = परिधाय, स्वामिनः = नन्दस्य येन उपरोधेन = हिंसनेन, रौद्रान् = घोरान्, विषमान् = कठोरान्, आध्मातान् = ताडितान्, तूर्यस्वनान् = डिण्डिमस्वरान्, श्रुत्वा = निशम्य, न ध्वस्तम् = न विदीर्णम् इत्यहं मन्ये ।

भाषार्थः—अस्मिन् पद्ये शकटदासः चन्द्रगुप्ताय असूयतीति राक्षसोत्साहं वर्धिष्यते इत्यपि वस्तु ध्वनितं इति सुमहान् मनस्तोषः सहृदयानामिति भावः ।

भाषार्थः—मैं जानता हूँ कि पहले के आघातों से कठोर मेरा मन चन्द्र-गुप्त के समान पृथ्वीतल में गड़े हुए मूल भाग वाले शूलदण्ड को देखकर और उस चन्द्रगुप्त की लक्ष्मी की तरह हृदय विदीर्ण करने वाली वध्य सूचक माला को पहन कर स्वामी की हत्या के समान भयंकर तथा कर्कश बनाई गयी तुरही के शब्दों को सुन कर विदीर्ण नहीं हुआ ।

टिप्पणी

व्याकरणम्—प्रमथनीम्=प्रमथ्यते अनया इति प्र+मथ्+ल्युट्+ङीप् । प्रतिष्ठितपदं=प्रतिष्ठितं पदं यस्य सः तं बहुव्रीहिसमासः । उपरोधः=उप+रुध्+घञ् । विषमाः=विभिन्नाः समेभ्यः इति पञ्चमीतत्पुरुषः । अभिघात=अभि+हन्+घञ् । कोषः—"शूलं रुगायुधम्" शूल शब्द के रोग तथा शस्त्र दो अर्थ होते हैं । धरित्रीं=धरा धरित्री धरणिः क्षोणिःज्या काश्यपी" इत्यमरः । अलंकारः—उपमा—उत्प्रेक्षा तथा काव्यलिंग की संसृष्टि है । छन्द—शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ।

(नाट्येनावलोक्य सहर्षम्) अयममात्यराक्षसस्तिष्ठति । य एषः,—

अक्षीणभक्तिः क्षीणोऽपि नन्दे स्वाम्यर्थमुद्वहन् ।
पृथिव्यां स्वामिभक्तानां प्रमाणे परमे स्थितः ।।२२।।

(अभिनयपूर्वक देख कर हर्ष के साथ) । ये अमात्य राक्षस हैं । जो यह

प्रसङ्गः—शकटदासः महामन्त्रिणः राक्षसस्य स्वामिभक्तिं चिन्तयति, ब्रूते च अक्षीणभक्तिरितिः—

अन्वयः—नन्दे क्षीणेऽपि अक्षीणभक्तिः स्वाम्यर्थं उद्वहन् पृथिव्यां स्वामिभक्तानां परमे प्रमाणे स्थितः ।

संस्कृतार्थः—यः एष=राक्षसः, नन्दे=तन्नाम्नि नृपे, क्षीणेऽपि=नाशं गतेऽपि, अक्षीणा=अपरिहीना, भक्तिः=अनुरागः, स्वाम्यर्थं=स्वामिनः=नन्दस्य, अर्थं=कार्यं, उद्वहन्=धारयन्, पृथिव्यां=इलायां, स्वामिभक्तानां=प्रभुसेवकानां, परमे=सर्वोत्कृष्टे, प्रमाणे=मात्रायां, स्थितः=वर्तते ।

भावार्थः—संसारे स्वामिसेवकयोः सम्बन्धेऽयं राक्षसः सर्वोत्कृष्टः विचित्रश्चास्ति, यतोहि जीवति स्वामिनि सर्वे सेवकाः सेवकाः भवन्ति, परमयं राक्षसः मृतेऽपि स्वामिनि तस्य कार्यमुद्वहति, तस्मादयमलौकिकः सर्वोत्कृष्टश्चास्ति ।

भाषार्थः—नन्द राजा के मरने पर भी उनमें भक्ति रखने वाले तथा स्वामी के कार्य को करते हुये आप पृथ्वी के सभी स्वामिभक्तों में श्रेष्ठ हैं ।

टिप्पणी

व्याकरणम्—क्षीणः = क्षि + क्त, दीर्घः तकारस्य नकारश्च । अक्षीण-भक्तिः = न क्षीणं अक्षीणं भक्तिः यस्य तादृशः, सामान्ये नपुंसकम् । प्रमाणे = प्रमीयतेऽनेन इति प्र + माङ् ल्युट्, तस्मिन् । स्वाम्यर्थं = स्वामिनः अर्थः, तं षष्ठी तत्पुरुषः । उद्वहन् = उत् + वह् + शतृ । भक्तानां = भज् + क्त षष्ठी बहु० । कोषः—"भक्तमन्धोऽन्नमोदनः, भक्तस्तु सेवकः" । भक्त शब्द नपुंसक लिङ्ग अन्न-चावल का वाचक है, भक्तः पुंल्लिग सेवक का वाचक होता है । अलंकारः—विभावना—"विभावना विना हेतुं कार्योत्पत्तिः यदुच्यते ।" अत्र नन्दवंशविनाशेऽपि राक्षसस्य भक्तेरक्षीणत्वात् । छन्दः—अनुष्टुप् वृत्तम् ।

(उपसृत्य) जयत्वमात्यः ।

राक्षसः—(विलोक्य सहर्षम्) सखे शकटदास ! दिष्ट्या कौटिल्य-गोचरगतोऽपि दृष्टोऽसि, तत् परिष्वजस्व माम् ।

(शकटदासस्तथा करोति)

राक्षसः—(तं परिष्वज्य) इदमत्रासनमास्यताम् ।

शकटदासः—यदाज्ञापयत्यमात्यः । (इति नाट्येनोपविष्टः ।)

राक्षसः—सखे शकटदास । अथ कोऽयमीदृशस्य मे हृदयानन्दस्य हेतुः ?

शकटदासः—(सिद्धार्थकं निर्दिश्य) अमात्य ! प्रियसुहृदा सिद्धार्थकेन घातकान् विद्राव्य वध्यस्थानादपवाहितोऽस्मि ।

राक्षसः—(सहर्षम्) भद्र सिद्धार्थक ! काममपर्याप्तमिदमस्य प्रियस्य, तथापि गृह्यताम् । (इति स्वगात्रादवतार्य भूषणानि प्रयच्छति ।)

सिद्धार्थकः—(गृहीत्वा पादयोर्निपत्य स्वगतम्) अअं क्खु अज्जो-वदेसो । होदु । तह करिस्सम् । (प्रकाशम्) अमच्च ! एत्थ मे पढमप्प विट्ठस्य णत्थि कोवि परिचिदा, जहिं पदं अमच्चस्स प्पसादं णिक्खि-विअ णिब्बुदो भविस्सं; ता इच्छामि अहं इमाए मुद्दिआए मुद्दिदं अमच्चस्स ज्जेव भाण्डागारे णिक्खिविदु । जदा मे एदिणा प्पओअणं

भविस्सदि, तदा गेहिणस्सं। (अयं खलु आर्योपदेशः। भवतु। तथा करिष्यामि। अमात्य! अत्र मे प्रथमप्रविष्टस्य नास्ति कोऽपि परिचितः, यत्रेमममात्यस्य प्रसादं निक्षिप्य निर्वृत्तो भविष्यामि; तदिच्छाम्यहमेतया मुद्रया मुद्रितममात्यस्यैव भाण्डागारे निक्षेप्तुम्। यदा मे एतेन प्रयोजनं भविष्यति, तदा ग्रहीष्यामि।)

भाषार्थ—(पास जाकर) अमात्य की जय हो।

राक्षस—(देखकर हर्ष के साथ) मित्र शकटदास! चाणक्य के चक्कर में पड़ जाने पर भी भाग्य से तुम दीख पड़ रहे हो। अतः मेरा आलिङ्गन करो।

(शकटदास वैसा करता है)

राक्षस—(शकटदास को आलिङ्गन कर) यहाँ इस आसन पर बैठो।

शकटदास—जो आज्ञा अमात्य! (अभिनय द्वारा बैठ जाता है)

राक्षस—मित्र शकटदास! तो यह कौन इस तरह के मेरे हृदय के आनन्द का कारण है।

शकटदास—(सिद्धार्थक की ओर देखते हुए) अमात्य! यही वह मेरा प्रिय मित्र सिद्धार्थक है जिसने वधिकों को डरा कर मुझे वध्य भूमि से हटाया है।

राक्षस—(प्रसन्नतापूर्वक) ओह सिद्धार्थक! यद्यपि मेरी प्रसन्नता के अनुरूप नहीं जो कुछ तुम्हें दे रहा हूँ। किन्तु ले लो स्वीकार कर लो इसे। (अपने आभूषण उतार कर देता है)

सिद्धार्थक—(आभूषणों को लेकर राक्षस के चरणों में गिर कर मन ही मन) आर्य चाणक्य की भी तो यही आज्ञा है। अच्छा वैसा ही करूँगा। (प्रकट) अमात्य! मैं पहली बार ही यहाँ आया हूँ, अपरिचित हूँ, मुझे पता नहीं किसके पास आपसे दिये गये इस पारितोषिक को धरोहर रखूँ और शान्ति की साँस लूँ। मेरी तो यही इच्छा है कि अमात्य के कोषागार में मुहर लगा कर रख दिया जाय, जब मुझे आवश्यकता होगी, ले लूँगा।

राक्षसः—भद्र ! भवतु, को दोषः ? शकटदास एवं क्रियताम् ।

शकटदासः—यदाज्ञापयतीति । (मुद्रां विलोक्य जनान्तिकम्) अमात्य ! भवन्नामाङ्कितेयं मुद्रा ।

राक्षसः—(विलोक्य सविषादं सवितर्कमात्मगतम्) सत्यं नगरात् निष्क्रामतो मम हस्ताद् ब्राह्मण्या उत्कण्ठाविनोदार्थं गृहीता, तत् कथमस्य हस्तमुपगता ? (प्रकाशम्) भद्र सिद्धार्थक ! कुतस्त्वयेयमधिगता ?

सिद्धार्थकः—अमच्च ! अत्थि कुसुमपुरणिवासी मणिआरसेठी चन्दणदासो णाम । तस्स गेहदुआरे भूमिए पड़िदा, मए समासाहिदा । (अमात्य ! अस्ति कुसुमपुरनिवासी मणिकारश्रेष्ठी चन्दनदासो नाम । तस्य गेहद्वारे भूमौ पतिता, मया समासादिता ।)

राक्षसः—युज्यते ।

सिद्धार्थकः—अमच्च ! किं एत्थ जुज्जदि ? (अमात्य ! किमत्र युज्यते ?)

राक्षसः—भद्र ! यतो महाधनानां गृहे पतितस्यैवंविधस्योपलब्धिरिति ।

शकटदासः—सखे सिद्धार्थक ! अमात्यनामाङ्कितेयं मुद्रा । तदितो बहुतरेणार्थेन भवन्तममात्यस्तोषयिष्यति । तद् दीयतामेषा मुद्रा ।

सिद्धार्थकः—अज्ज ! एसो मे परितोसो, जं अमच्चो एमाए मुद्दाए परिग्गहप्पसादं करेदि त्ति । (आर्य ! एष मे परितोषो, यदमात्योऽस्या मुद्रायाः परिग्रहप्रसादं करोतीति ।) (इति मुद्रां समर्पयति ।)

राक्षसः—सखे शकटदास ! अनयैव मुद्रया स्वाधिकारे व्यवहर्तव्यं भवता ।

शकटदासः—यदाज्ञापयत्यमात्यः ।

सिद्धार्थकः—अमच्च ! विणवेमि किं पि । (अमात्य ! विज्ञापयामि किमपि ।)

राक्षसः—भद्र ! विश्रब्धं ब्रूहि ।

सिद्धार्थकः—जाणादि ज्जेव अमच्चो जधा चाणक्कहदअस्स विप्पिअं कदुअ, णत्थि मे पुणो पाडलिउत्ते प्पवेसो त्ति, ता इच्छामि अहं अज्जस्स ज्जेव सुप्पसणे पादे सेविदुं। (जानात्येवामात्यो यथा चाणक्यहतकस्य विप्रियं कृत्वा, नास्ति मे पुनः पाटलिपुत्रे प्रवेश इति, तदिच्छाम्यहममात्यस्यैव सुप्रसन्नौ पादौ सेवितुम्।)

राक्षसः—भद्र ! प्रियं नः, किन्तु त्वदभिप्रायपरिज्ञानेनाऽन्तरितोऽस्माकमनुनयः। तदेवं क्रियताम्।

सिद्धार्थकः—(सहर्षम्) अणुग्गहिदोह्मि। (अनुगृहीतोऽस्मि।)

राक्षस—अरे भाई ! इसमें क्या हानि है, ऐसा ही कर लो।

शकटदास—जैसी आज्ञा अमात्य ! (अंगूठी देखकर एकान्त में) अमात्य ! आपके नाम से चिह्नित यह मुद्रा है।

राक्षस—(देख कर विषाद और विचार के साथ मन ही मम) ठीक है कुसुमपुर से बाहर जाते समय हमारे हाथ से ब्राह्मणी ने उदासीनता को मिटाने के लिये इस मुद्रा को ले लिया था, सो यह उसके हाथ में कैसे आ गई ? (प्रकट) भद्र सिद्धार्थक ! तुमने इसको कहाँ से पाया।

सिद्धार्थक—अमात्य ! मैंने तो इसे कुसुमपुरनिवासी जौहरी चन्दनदास के गृहद्वार पर पड़ी पायी।

राक्षस—ठीक है।

सिद्धार्थक—अमात्य ! क्या ठीक है ?

राक्षस—यही कि महाधनियों के घर में ही तो ऐसी वस्तु गिरी रह सकती है, जिसे कोई पा ले।

शकटदास—मित्र सिद्धार्थक ! मन्त्री राक्षस की नामाङ्कित यह मुद्रा है। इसके लिये अमात्य आपको बहुत धन देंगे। अतः उन्हें यह मुद्रा दे दो।

सिद्धार्थक—मित्र शकटदास ! इससे अधिक मेरी क्या प्रसन्नता होगी, कि अमात्य इसे स्वीकार करने की कृपा करेंगे। (मुद्रा को दे देता है)

राक्षस—मित्र शकटदास ! आप अपने प्रयोग में इस मुद्रा का उपयोग करें।

शकटदास—अमात्य की जो आज्ञा।

सिद्धार्थक—अमात्य ! मुझे कुछ निवेदन करना है।

राक्षस—भद्र ! विश्वासपूर्वक कहो।

सिद्धार्थक—अमात्य जानते ही हैं कि दुष्ट चाणक्य का विरोधकर पाटलिपुत्र में मेरा पुनः प्रवेश नहीं हो सकता, इसलिये मैं चाहता हूँ कि अमात्य के ही सुन्दर चरणों में रहूँ।

राक्षस—भद्र ! मुझे अभीष्ट है, किन्तु तुम्हारी इच्छा के जान लेने से मेरा अनुरोध मन में ही रह गया है। तो ऐसा ही करो।

सिद्धार्थक—(हर्ष के साथ) अनुगृहीत हूँ।

राक्षसः—सखे शकटदास ! विश्रामय सिद्धार्थकम्।

शकटदासः—यदाज्ञापयत्यमात्यः।

(इति सिद्धार्थकेन सह निष्क्रान्तः।)

राक्षसः—सखे विराधगुप्त ! वर्णयेदानीं कुसुमपुरवृत्तान्तशेषम्। अपि क्षमन्ते कुसुमपुरनिवासिनोऽस्मदुपजापं चन्द्रगुप्तप्रकृतयः ?

विराधगुप्तः—अमात्य ! बाढं क्षमन्ते, ननु यथाप्रधानमनुगच्छन्त्येव।

राक्षसः—सखे ! किं तत्र कारणम् ?

विराधगुप्तः—अमात्य ! इदं तत्र कारणम्—मलयकेतोरपक्रमणात् प्रभृति पीडितश्चन्द्रगुप्तेन चाणक्य इति। चाणक्योऽपि जितकाशितयाऽसहमानस्तैस्तैराज्ञाभङ्गैश्चन्द्रगुप्तस्य चेतसः पीडामुपचिनोति, अयमपि ममानुभवः।

राक्षसः—(सहर्षम्) सखे विराधगुप्त ! तद्गच्छ त्वम् अनेनैव आहितुण्डिकच्छद्मना पुनः कुसुमपुरमेव। तत्र हि मे सुहृत् वैतालिकव्यञ्जनः स्तनकलसो नाम प्रतिवसति। स त्वया मद्वचनात वाच्यः, यथा चाणक्येन क्रियमाणेष्वाज्ञाभङ्गेषु चन्द्रगुप्तस्त्वया समुत्तेजनसमर्थैः श्लोकैरुपश्लोकयितव्यः इति। कार्यञ्चातिनिभृतं करभकहस्तेन सन्देष्टव्यम् इति।

विराधगुप्तः—यदाज्ञापयत्यमात्यः ।

(इति निष्क्रान्तः ।)

पुरुषः—(प्रविश्य) जेदु अमच्चो । अमच्च ! सअड़दासो विण्णबेदि, एदे क्खु तिणि अलङ्कारविसेसा विक्की अन्ति, ता पच्चक्खीकरेदु अमच्चो । (जयत्वमात्यः । अमात्य ! शकटदासो विज्ञापयति, एते खलु त्रयोऽलङ्कारविशेषा विक्रीयन्ते, तत् प्रत्यक्षीकरोत्यमात्यः ।)

राक्षसः—(विलोक्यात्मगतम्) अहो ! महार्हाण्याभरणानि । (प्रकाशम्) भद्र ! उच्यतां शकटदासः, परितोष्य विक्रेतारं गृह्यन्तामिति ।

पुरुषः—जं अमच्चो आणबेदि । (यदमात्य आज्ञापयति ।)

(इति निष्क्रान्तः)

राक्षस—मित्र शकटदास ! सिद्धार्थक को विश्राम कराओ ।

शकटदास—अमात्य की जो आज्ञा ।

(सिद्धार्थक के साथ बाहर चला जाता है)

राक्षस—मित्र विराधगुप्त ! अब कुसुमपुर का अवशिष्ट वृत्तान्त वर्णन करो । क्या कुसुमपुर में रहने वाली चन्द्रगुप्त की प्रजायें हमारे द्वारा डाली गई फूट को सहन करती है ।

विराधगुप्त—अमात्य ! हाँ, सहन करती हैं । राजा और मन्त्री का अनुकरण करती हैं । अर्थात् राजा और मन्त्री के अनुसार प्रजा में भी फूट है ।

राक्षस—मित्र ! उसमें क्या कारण है ।

विराधगुप्त—अमात्य ! यह कारण है कि मलयकेतु के निकल भागने के के बाद से लेकर चन्द्रगुप्त से चाणक्य तंग किया जा रहा है और चाणक्य भी विजय के अभिमान के कारण चन्द्रगुप्त को सहन न करता हुआ उन उन आज्ञाओं के उल्लंघनों से चन्द्रगुप्त के हृदय में पीड़ा उत्पन्न करता है । ऐसा भी मेरा अनुभव है ।

राक्षस—(प्रसन्नतापूर्वक) मित्र विराधगुप्त ! तुम इसी संपेरे के कपट से फिर कुसुमपुर जाओ। वहाँ स्तनकलश नाम का मेरा मित्र वैतालिक के वेष में रहता है। उसे मेरी ओर से कहो कि चाणक्य के द्वारा आदेशों का उल्लंघन किये जाने पर उत्तेजनाजनक प्रशस्तियों से चन्द्रगुप्त की स्तुति करो, और जो भी बात मुझे बतानी हो गुप्तरूप से करभक के द्वारा मुझे सूचित करो।

विराधगुप्त—अमात्य की जो आज्ञा !

(बाहर चला जाता है।)

पुरुष—(प्रवेश करके) अमात्य की जय हो। हे अमात्य ! दास निवेदन करते हैं कि ये तीन विशिष्ट आभूषण वेचे जा रहे, इन्हें आप देख लें।

राक्षस—(देखकर मन-ही-मन) अहा ! आभूषण तो बहुमूल्य है (प्रकट) भद्र ! शकटदास से कहो कि बेचने वाले को सन्तुष्ट कर ले लें।

पुरुष—अमात्य की जो आज्ञा।

(बाहर चला जाता है)

राक्षसः—(स्वगतम्) यावदहमपि कुसुमपुराय करभकं प्रेषयामि। (उत्थाय) अपि नाम दुरात्मनश्चाणक्याच्चन्द्रगुप्तो भिद्येत, अथवा सिद्धमेव समीहितं पश्यामि। कुतः—

राक्षस—(मन-ही-मन) तब तक मैं भी करभक को कुसुम पुर भेजता हूँ। (उठकर) क्या दुष्ट चाणक्य से चन्द्रगुप्त अलग हो गया। अथवा मैं अपने अभीष्ट को सिद्ध हुआ ही देखता हूँ।

मौर्यस्तेजसि सर्वभूतलभुजामाज्ञापको वर्तते
चाणक्योऽपि मदाश्रयादयमभूद्राजेति जातस्मयः।
राज्यप्राप्तिकृतार्थमेकमपरं तीर्णप्रतिज्ञार्णवं
सौहार्दात् कृतकृत्यतैव नियतं लब्धान्तरा भेत्स्यति ॥२३॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे।)

॥इति राक्षसविचारनामक द्वितीयोऽङ्कः॥

राक्षस—कुत :—

प्रसङ्गः—राक्षसः विदितवृत्तान्तः चाणक्यचन्द्रगुप्तयोः वैमनस्योदन्त-श्रवणमात्रेणोत्पन्नस्वविजयाभिलाषः स्वस्वान्तेन मन्त्रयन् मौर्यः तेजसि इति पद्यं पठति ।

अन्वयः—मौर्यः सर्वभूतलभुजां आज्ञापकः तेजसि वर्तते, चाणक्योऽपि मदाश्रयात् अयं राजा अभूत् इति जातविस्मयः, राज्यप्राप्तिकृतार्थं एकं तीर्ण-प्रतिज्ञार्णवम् अपरं कृतकृत्यता एव लब्धान्तरा नियतं सोहार्दात् भेत्स्यति ।

संस्कृतार्थः—मौर्यः = चन्द्रगुप्तः, सर्वभूतलभुजां = सकलभूपतीनां, आज्ञा-पकः = आदेशकः, शासकः सन्, तेजसि = प्रतापे, वर्तते = विद्यमानोऽस्ति । चाणक्यः = कौटिल्यः, अपि = समुच्चये, मदाश्रयात् = मम चाणक्यस्य, आश्रयात् = साहाय्यात्, अयं = वृषलः, राजा = नृपः, अभूत् = जातः, इति हेतोः, जातविस्मयः = उत्पन्नाहंकारः, राज्यस्य = कुसुमपुराधिपत्यस्य, प्राप्त्या = लाभेन, कृतार्थं = सफलं, एकं = अद्वितीयं, चन्द्रगुप्तमित्यर्थः, अपरं = द्वितीयं, चाणक्यमित्यर्थः, तीर्णः = पारं गतः, प्रतिज्ञारूपः = अंगीकृतः, अर्णवः = समुद्रः येन तादृशं चाणक्यमित्यर्थः, कृत्यता एव = सफलता एव, लब्धान्तरा = लब्धः = प्राप्तः अन्तरः = अवसरः यया तादृशी कृत्यता, 'नियतं = अवश्यं, सौहार्दात् = सुहृद्भावात्, भेत्स्यति = विघटयिष्यति ।

भावार्थ—चन्द्रगुप्तचाणक्योः स्वस्वविषये प्राप्ता कृत्यता एव अनयोः द्वयोः कालान्तरे भेदयित्री भविष्यति । यतः चन्द्रगुप्तः सकलभूपतीनां शासकः, चाणक्यश्च तस्याश्रयः अतएव गर्वितः तस्मादवश्यमनयोः अन्योऽन्यं वैमनस्यं भविष्यति ।

भाषार्थः—चन्द्रगुप्त सभी पृथिवीपतियों का शासक होने से प्रतापारूढ है, चाणक्य भी मेरी सहायता से यह राजा बना है इससे गर्वित है । राज्यलाभ से कृतार्थ चन्द्रगुप्त को और प्रतिज्ञारूपी समुद्र को पार कर लेने से चाणक्य को कृतकृत्यता ही समय पाकर निःसन्देह मित्र भाव से पृथक् कर देगी ।

टिप्पणी

व्याकरणम्—भूतलभुजाम् = भुवः तलं = भूतलं, भूतलं भुञ्जन्ति पाल-यन्ति इति भूतल + भुज् + क्विप् = भूतलभुज् तेषां । आज्ञापकः = आ + ज्ञा +

णिच् + ण्वुल् (अकादेशः पुगागमश्च) कृतकृत्यता = कृतं कृत्यं अनेन इति कृतकृत्यः, "तस्य भावः त्वतलौ" कृतकृत्य + तल् + टाप् । सौहार्दम् = सुहृदः भावः, सुहृद् + अप् "हृद्भगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च" इत्यनेनोभयपदवृद्धिः । अलंकार—यथासंख्य—यथासंख्यमनूद्देशः उद्दिष्टानां क्रमेण यत्" इति लक्षणात् । कोषः—अर्णवः = "उदन्वानुदधिः सिन्धुः सरस्वान् सागरोऽर्णवः" इत्यमरः । विस्मयः = "विस्मयोऽद्भुतमाश्चर्यं चित्रमप्यथ भैरवम्" इत्यमरः । छन्द—शार्दूलविक्रीडितम् । यहाँ तक गर्भसन्धि पूर्ण हुई ।

(सब बाहर चले गए)

॥ दूसरा अङ्क समाप्त ॥

तृतीयोऽङ्कः

(ततः प्रविशति कञ्चुकी)

कञ्चुकी—(सनिर्वेदम्)

रूपादीन् विषयान् निरूप्य करणैर्यैरात्मलाभस्त्वया
लब्धस्तेष्वपि चक्षुरादिषु हताः स्वार्थावबोधक्रियाः ।
अङ्गानि प्रसभं त्यजन्ति पटुतामाज्ञाविधेयानि ते
न्यस्तं मूर्ध्नि पदं तवैव जरया तृष्णे ! मुधा माद्यसि ॥१॥

(कञ्चुकी प्रवेश करता है)

कञ्चुकी—(निर्वेदसहित)

प्रसङ्गः—राज्ञः चन्द्रगुप्तस्य कञ्चुकी कौमुदीमहोत्सवमधिकृत्य चन्द्रगुप्तचाणक्ययोः विरोधं वैमत्यं च निवेदयितुकामः वृद्धावस्थायामपि परमुखापेक्षित्वमिति स्वभृत्यभावाज्जुगुप्समानः रूपादीन् विषयानिति पद्यं ब्रवीति ॥

अन्वयः—तृष्णे ! मुधा माद्यसि । यैः करणैः रूपादीन् विषयान् निरूप्य त्वया आत्मलाभः लब्धः तेषु चक्षुरादिषु अपि स्वार्थाऽवबोधक्रियाः हताः । आज्ञाविधेयानि ते अङ्गानि प्रसभं पटुतां त्यजन्ति । जरया तव मूर्ध्नि एव पदं न्यस्तम् ।

संस्कृतार्थः—हे तृष्णे = हे स्पृहे !, व्यर्थं = मुधैव, माद्यसि = ताम्यसि,

यैः = चक्षुरादिभिः, करणैः = इन्द्रियैः, रूपादीन् = रूपप्रभृतीन्, आदिशब्देन रस-गन्ध-स्पर्श – शब्दाः ग्राह्याः, विषयान् = अर्थान्, निरूप्य = अवधार्य, त्वया = भवत्या, आत्मलाभः = स्वोत्पत्तिः, लब्धः = अधिगतः, तेषु = करणेषु, चक्षुरादिषु = नेत्रप्रभृति पञ्चज्ञानेन्द्रियेषु, अपि, स्वार्थावबोधक्रियाः = स्वार्थस्य = स्वविषयस्य, यः अवबोधः = ज्ञानं, तद्रूपाः क्रियाः = व्यापाराः हताः = नष्टाः, किञ्च आज्ञाविधेयानि = आदेशकारीणि, ते = तव, अङ्गानि = कर्मेन्द्रियाणि करचरणादीनि पञ्च, प्रसभं = बलात्, पटुतां = कार्यसामर्थ्यं, त्यजन्ति = मुञ्चन्ति, जरया = वृद्धावस्थया, तव = ते, मूर्ध्नि = शिरसि, एव = निर्धारणे, पदं = चरणं, न्यस्तम् = स्थापितम् ।

भावार्थः—अत्र चन्द्रगुप्तचाणक्ययोः वैमनस्ये सम्भाव्यमाने तद्भृत्यानां अन्यतरस्य मुखप्रेक्षित्वं तृष्णानिन्दया व्यंग्यत्वं विवक्षितमिति ।

भावार्थः—हे तृष्णे ! भला ऐसा मदोन्माद क्यों ? जिन चक्षुरादि इन्द्रियों से रूपदि देखकर तूने अपनी सत्ता प्राप्त की थी यानी तेरा जन्म हुआ था, उन नेत्रादियों में भी अपने-अपने विषयों के ज्ञान की क्रियायें नष्ट हो गई हैं। आज्ञाकारी अङ्ग भी कार्यक्षमता को छोड़ रहे हैं, हठात् बुढ़ापे ने तेरे ही सिर पर पैर रख दिये हैं।

टिप्पणी

व्याकरणम्—सनिर्वेदम् = निर्वेदेन सह, निर् + विद् + घञ् । करणैः = क्रियते एभिः इति कृ + ल्युट्, "युवोरनाकौ' इति अनादेशः णत्वं च, तृतीया बहुवचनम् । जरया = जरा + टा, जराया जरसन्यतरस्यामिति जरसादेशाऽभावपक्षे रूपम् । आज्ञाविधेयानि = आज्ञायाः विधेयानि षष्ठीतत्पुरुषः, वि + धा + यत् । कोषः—विषयः—"रूपं शब्दो गन्धरसस्पर्शश्च विषया अमी" । करणैः—करणं साधकतमं क्षेत्रगात्रेन्द्रियेष्वपि इत्यमरः । करण शब्द तृतीयार्थ में, क्षेत्र, शरीर, इन्द्रिय इन चार अर्थों में प्रयुक्त होता है। अलंकार—विभावना "विभावना विना हेतुः कार्योत्पत्तिः" । छन्दः—शार्दूलविक्रीडितम् ।

तृतीय अंक में नियताप्ति अवस्था तथा चतुर्थ अंक में प्रकरी अर्थ प्रकृति के वर्णन से इन दोनों अंकों में विमर्शसन्धि है ।

(परिक्रम्याकाशे) भो भोः सुगाङ्गप्रासादाधिकृताः पुरुषाः ! सुगृहीतनामा देवश्चन्द्रगुप्तो वः समाज्ञापयति ।

यथा—'प्रवृत्तकौमुदीमहोत्सवरमणीयतरं कुसुमपुरमवलोकयितुमिच्छामि, तत् संस्क्रियन्तामस्मद्दर्शनयोग्याः सुगाङ्गप्रासादस्योपरिभूमयः' इति । तत् किं चिरयन्ति भवन्तः ? (आकाशे आकर्ण्य) किं ब्रूथ 'आर्य ! किमविदित एवायं देवस्य चन्द्रगुप्तस्य कौमुदीमहोत्सवप्रतिषेधः' इति ? आः दैवोपहताः ! किमनेन वः प्राणहरेण कथोद्घातेन ? शीघ्रमिदानीम्—

भाषार्थ—(घूम कर आकाश में) हे हे सुगांग भवन में नियुक्त पुरुषो ! प्रातः स्मरणीय राजा चन्द्रगुप्त तुम्हें आज्ञा देते हैं कि प्रारम्भ किये गये कौमुदी महोत्सव से रमणीक कुसुमपुर को देखना चाहता हूँ अतः मेरे देखने योग्य सुगांग प्रासाद के ऊपरी भाग को सजा दो। तो तुम लोग देर क्यों कर रहे हो ? (आकाश में सुनकर) क्या कहते हो कि आर्य ! क्या महाराज चन्द्रगुप्त को कौमुदी महोत्सव का निषेध ज्ञात नहीं है ? (चाणक्य द्वारा निषिद्ध) । ओ भाग्य से मारे हुए ! तुम्हें इस प्राणनाशक वार्ता के प्रसङ्ग से क्या ? अभी शीघ्र ही:—

संस्कृतार्थः—भ्रमणं विधाय, भोः भोः सुगांगाख्यभवने नियुक्ताः जनाः । प्रातः स्मरणीयः महाराजः मौर्यः युष्मानादिशति । शरत्पूर्णिमामहोत्सवेन सुन्दरं पाटलिपुत्रं द्रष्टुकामोऽस्मि । ततः ममावलोकनार्हाः सुगांगप्रासादस्य उच्चैः भूमयः अलंक्रियन्ताम् । तत्कस्माद् विलम्बन्ते ? श्रुत्वा आर्य ! किं देवश्चन्द्रगुप्तः कौमुदीमहोत्सवनिषेधादेशं नाश्रौषीत् । आः भाग्योपहताः ! अनेन प्राणघातकेन वार्ताप्रसंगेन वः किं प्रयोजनम् ।

आलिङ्गन्तु गृहीतधूपसुरभीन् स्तम्भान् पिनद्धस्रजः
सम्पूर्णेन्दुमयूखसंहतिरुचां सच्चामराणां श्रियः ।
सिंहाङ्कासनधारणाच्च सुचिरं सञ्जातमूर्च्छामिव
क्षिप्रं चन्दनवारिणा सकुसुमः सेकोऽनुगृह्णातु गाम् ।।२।।

२. आलिङ्गन्तु इतिः—

प्रसङ्गः—अस्मिन् पद्ये कौटिल्यकृतकौमुदीमहोत्सवप्रतिषेधविदितवृत्तान्तः कञ्चुकी कमप्यनर्थं विभावयन् चन्द्रगुप्तादिष्टां कौमुदीमहोत्सवयोजनां कावा घोषयति ।

अन्वयः—सम्पूर्णेन्दुमयूखसंहतिरुचाम् सच्चामराणाम् श्रियः गृहीतधूप-सुरभीन् पिनद्धस्रजः आलिङ्गन्तु, सकुसुमः चन्दनवारिणा सेकः सुचिरं सिंहाङ्का-सनधारणात् सञ्जातमूर्च्छामिव गां क्षिप्रं अनुगृह्णातु च ।

संस्कृतार्थः-सम्पूर्णेन्दुमयूखसंहतिरुचां = सम्पूर्णस्य = कलासमग्रस्य, इन्दोः = शशिनः, मयूखानां = रश्मीनां, संहत्याः = राशेः, रुचां = कान्तिरिव कान्तिमतां, सच्चामराणां = चमरीवालव्यजनांनां, श्रियः = शोभाः, पिनद्धाः = वद्धाः, स्रजः = मालाः येषु तान्, गृहीतधूपसुरभीन् = धूपसौरभसमन्वितान्, स्तम्भान् = स्थूणान्, आलिङ्गन्तु = आश्लिष्यन्तु । सकुसुमः—पुष्पसहितः, चन्दनवारिणा = मलयजजलेन, सेकः = सेचनं छिड़काव इति भाषायां, सुचिरं चिरात्, सिंहांकासनस्य = सिंहचिह्नितस्य राजासनस्य, धारणात् = वहनात्, सञ्जातमूर्च्छामिव = समुत्पन्नवैकल्यमिव, गाम् = पाटलिपुत्रस्य पृथ्वीम्, क्षिप्रं = शीघ्रं, अनुगृह्णातु = सम्भावयतु । अथवा सिंहक्रोडीकृतां—धेनुमिव विगत-संज्ञां जलसेचनेन प्राणपरित्राणं यथा स्यात्तथा पाटलिपुत्रभुवं शत्रुभिः कृत-वैशसां सकुसुमेन चन्दनवारिणा सम्भावयतु इत्यर्थः द्योत्यते ।

भावार्थः—पाटलिपुत्रस्य प्रासादभूमयः राजमार्गाः वीथयः चत्वराः सुगन्धितजलप्रोक्षणेन मार्जनभ्रक्षणादिभिश्च पार्थिवसञ्चारयोग्याः भवन्त्वि-ति भावः ।

भाषार्थः—पूर्णचन्द्र की किरणों के समूह की कान्ति जैसी कान्ति वाले श्रेष्ठ चंवरों की शोभायें, धूपवत्ती के सेवन से सुगन्धित, तथा बंधी हुई पुष्प-मालाओं से युक्त स्तम्भों का आलिङ्गन करें । पुष्पों से मिश्रित चन्दन जल का छिड़काव बहुत दिनों से सिंहांकित सिंहासन धारण करने से मूर्च्छित पृथ्वी को शीघ्र ही अनुगृहीत करें ।

टिप्पणी

व्याकरणम्—कौमुदीमहोत्सव = कौमुद्याः महोत्सवः षष्ठीतत्पुरुषः। महान् चासौ उत्सवः कर्मधारयः। कौ पृथ्वियां मोदते इति कुमुदम् — कु + मुद् + क। कुमुद + अण् + ङीप् = कौमुदी। आश्विनकार्तिकयोः पूर्णिमा कौमुदी-शब्देनोच्यते। पिनद्धस्रजः = अपि + णह् + क्त। यहाँ निम्नांकित कारिका से अपि के अकार का लोप विकल्प से हो जाता अतः पिनद्धः अपिनद्धः दोनों रूप होते हैं। "वष्टि भागुरिरल्लोपमवाप्योरुपसर्गयोः" सृज्यते इति स्रक्, सृज् + क्विन् = स्रज्, प्रथमैकवचने स्रक्। संहतिः + सम् + हन् + क्तिन्। चन्दन-वारिणा = चन्दनेन संश्लिष्टं वारि तेन, मध्यमपदलोपी समासः। कोषः— "माल्यं माला स्रजौ मूर्ध्नि" इत्यमरः। अलंकारः—पूर्वार्द्ध में "समासोक्तिः"। उत्तरार्द्ध में "उत्प्रेक्षा"। छन्दः—शार्दूलविक्रीडितम्।

सिंहांकासनधारणात् = सिंह मूर्ति से चिह्नित राजसिंहासन को धारण करने से थकी पृथ्वी को श्रीखण्ड मिश्रित जल से सिञ्चन करो। यथा सिंह की (अंक-गोद) गोद में पड़ने से मूर्छित गाय पानी के छींटों से होश में लाई जाती है। (गां = पृथ्वी तथा धेनु)। या पाटलिपुत्र में कौमुदीमहोत्सव होने के कारण सर्वत्र चन्दन जल का छिड़काव कराओ।

कौमुदी महोत्सव = आश्विन तथा कार्तिक की दोनों पूर्णिमाओं को कौमुदी कहते हैं। कौमुदी नाम का व्रत भी होता है कौमुदी—आश्विनीपूर्णिमाव्रतम्। कार्तिक्यां चन्द्रमण्डलपूजा कौमुदीव्रतम्।

"आश्विने पौर्णमास्यान्तु चरेज्जागरणं निशि"
कौमुदी सा समाख्याता इति वाचस्पतिः।

(आकाशे) किं कथयन्ति भवन्तः 'एते त्वरामह' इति भद्राः! त्वरध्वम्, अयमागत एव देवश्चन्द्रगुप्तः। य एषः,—

सुविश्रब्धैरङ्गैः पथिषु विषमेष्वप्यचलता
चिरं धुर्येणोढा गुरुरपि भुवो याऽस्य गुरुणा।
धुरं तामेवोच्चैर्नववयसि वोढुं व्यवसितो
मनस्वी दम्यत्वात् स्खलति न च दुःखं वहति च ॥३॥

(आकाश में) आप क्या कहते हैं, ये हम शीघ्रता कर रहे हैं, भद्रमुखो ! जल्दी करो ये महाराज चन्द्रगुप्त आ ही गये—

प्रसङ्गः—अत्र कञ्चुकी राज्यतन्त्रभारं स्वयं वहनसमर्थं चन्द्रगुप्तं सुनिपुणं परामृशन् तस्योत्कर्षं वर्णयति ।

अन्वयः—विषमेषु अपि पथिषु अचलता धुर्येण अस्य गुरुणा सुविश्रब्धैः अङ्गैः भुवः गुरुः अपि या चिरं ऊढा तामेव उच्चैः धुरं नववयसि मनस्वी वोढुं व्यवसितः, दम्यत्वात् दुःखं वहति न च स्खलति ।

संस्कृतार्थः—विषमेषु = गहनेषु, अपि, पथिषु = राजतन्त्रेषु, अचलता = स्थिरेण, धुर्येण = राज्यभारनिर्वणसमर्थेन, अस्य = चन्द्रगुप्तस्य, गुरुणा = पित्रा नन्देन, सुविश्रब्धैः = विश्वासपात्रैः कार्यक्षमैः च, अङ्गैः = मन्त्रिप्रभृतिभिः "स्वामी, अमात्यः, सुहृद्, कोष, राष्ट्रम्, दुर्गबलञ्चैतानि सप्त राज्ञोऽङ्गानि" भुवः = पृथिव्याः, गुरुः अपि = महत्यपि, या धूः, चिरं = बहुकालपर्यन्तं, ऊढा = धृता, तामेव = ऊढामेव नन्देनेत्यर्थः, उच्चैः धुरं = गुर्वीधुरं, नववयसि = अनुभवहीनावस्थायां तारुण्ये, दम्यः = वृषभः, इव = यथा, एषः = चन्द्रगुप्तः, विषमेषु = उच्चावचेषु नतोन्नतेषु, पथिषु = मार्गेषु, सुविश्रब्धैः = सुदृढैः, अङ्गैः = करचरणाद्यवयवैः, वोढुं = धारयितुं, व्यवसितः = उद्यतः, मनस्वी = विचारशीलः महामनाः दम्यत्वात् = असमाप्तशिक्षत्वात्, दुःखं = क्लेशं तु राज्यधारणे, वहति = प्राप्नोति, न च स्खलति = न भ्रश्यति ।

भावार्थः—दम्यवृषभ इव चन्द्रगुतः प्रथमे वयसि राज्यधुरं वहन् अनुभवाऽभावेन कदाचित् असुविधां त्वनुभवति परं न कदाचिदपि स्खलति । कवेरत्रायमभिप्रायः, यच्चद्रगुप्तः राजतन्त्रधौरेयमपि—अतिशेते ।

भाषार्थः—कठिन कार्य पद्धतियों में स्थिर राज्य भार वाहन करने में समर्थ चन्द्रगुप्त के पिता नन्द ने विश्वासपात्र कार्यक्षम मन्त्री आदि द्वारा जो पृथ्वी का महान् भार चिरकाल तक वहन किया उसी महान् भार को अनुभव हीन युवावस्था में वृषभ की तरह जिस प्रकार वृषभ नीचे ऊँचे मार्गों में सुदृढ़

अंगों से भार धारण करता है। उसी प्रकार यह राजा चन्द्रगुप्त राज्य भार वहन करने में असमाप्त शिक्षा होने से दुःख तो अनुभव करता है पर गिरता नहीं।

टिप्पणी

व्याकरणम्—अचलता = न चलन् "चल् + शतृ" अचलन् तेन, नञ् समासः, धुर्येण = धुरि साधु धुर्यः "धुर् + यत्" तेन, मनस्वी = प्रशस्तं मनः अस्य "मनस् + विनि मत्वर्थे, सुविश्रब्धैः = वि + श्रम्भ् + क्त + विश्रब्धः, अतिशयेन विश्रब्धा तैः। कोषः—"धूर्वहे धुर्यः धौरेयः धुरीणःधुरन्धरः" इत्यमरः। अलङ्कारः—"समासोक्तिः"। छन्दः—शिखरिणी, "रसैः रुद्रैः छिन्ना यमनसभलागः शिखरिणी" इति लक्षणम्।

(नेपथ्ये) इत इतो देवः।
(ततः प्रविशति राजा प्रतिहारी च)
(नेपथ्य में) इधर इधर महाराज।
(प्रतिहारी के साथ महाराज चन्द्रगुप्त का-प्रवेश)

राजा—(स्वगतम्) राज्यं हि नाम राजधर्मानुवृत्तिपरस्य नृपतेर्महदप्रीतिस्थानम्। कुतः—

भावार्थः—राजा (मन-ही-मन) राजा के कर्तव्य के पालन में तत्पर राजा के लिये राज्य अत्यन्त क्लेश का स्थान है। क्योंकि—

परार्थानुष्ठाने रहयति नृपं स्वार्थपरता
परित्यक्तस्वार्थो नियतमयथार्थः क्षितिपतिः।
परार्थश्चेत् स्वार्थादभिमततरो हन्त परवान्
परायत्तः प्रीतेः कथमिव रसं वेत्ति पुरुषः ॥४॥

प्रसङ्ग—सम्राट् चन्द्रगुप्तः करिष्यमाणं कृतककलहं चाणक्येन आज्ञप्तं मुहुश्चिन्तयन् अशान्तस्वान्तः ब्रूते।

अन्वयः—परार्थानुष्ठाने स्वार्थपरता नृपं रहयति । परित्यक्तस्वार्थः क्षितिपतिः नियतं अयथार्थः । परार्थः स्वार्थात् अभिमततरः चेत् हन्त परवान् । परायत्तः पुरुषः प्रीतेः रसं कथमिव वेत्ति ।

संस्कृतार्थः—परार्थानुष्ठाने = परयोजनसाधने, स्वार्थपरता = स्वातन्त्र्यं, नृपं = नरपतिं, रहयति = परित्यजति, परित्यक्तस्वार्थः = उत्सृष्टस्वप्रयोजनः क्षितिपतिः = भूपतिः, नियतं = निश्चितं, अयथार्थः = अनन्वितार्थः भवति । परार्थः = अन्यस्य प्रयोजनं, स्वार्थात् = आत्मप्रयोजनात् अभिमततरः = ईप्सिततरः चेत् = यदि, हन्त = कष्टम्, परवान् = पराधीनः भवेत् । परायत्तः = पराधीनः पुरुषः = जनः, प्रीतेः = सुखस्य, रसं = आस्वादम्, कथमिव = केन प्रकारेण वेत्ति = जानाति अर्थात् न केनापि प्रकारेण ज्ञातुं शक्नोति ।

भावार्थः—राज्यं हि नाम न किमपि सुखं परं दुःखमेव, यतः चन्द्रगुप्तः यदि चाणक्यसमीहितं कृतककलहादिकं करोति न स्वतन्त्रः, न करोति चेत् गुरुद्रोहं करोति परवशः नृपः स्वातन्त्र्यानन्दमनुभवितुं सर्वथाऽसमर्थो भवतीति भावः ।

भाषार्थः—प्रजा-प्रयोजन-सिद्धि में तत्पर राजा को स्वातन्त्र्य-विहार विषय-भोग छोड़ देते हैं । स्वार्थ-सिद्धि में सतत संयुक्त राजा अयथार्थ नामवाला अवास्तविक राजा है । यदि स्वार्थ से राजा को परार्थ ही अभीष्ट है तो बड़े दुःख की बात है कि परवश राजा सुख-आनन्द को कैसे जान सकता है, अर्थात् नहीं अनुभव कर सकता है ।

टिप्पणी

व्याकरणम्—परार्थाऽनुष्ठाने = परस्य अर्थः परार्थः तस्य अनुष्ठाने अनु + स्था + ल्युट् "युवोरनाकौ" इत्यनेन अन आदेशः । स्वार्थपरता = स्वस्य अर्थः स्वार्थः तत्र परः स्वार्थपरः तस्य भावः "भावे त्वतलौ" स्वार्थपर + तल् + टाप् । अयथार्थः = न यथार्थः नञ् समासः, न + यत् + थाल् + अर्थः "प्रकारवचने थाल्" अनेन थाल् प्रत्ययः । अभिमततरः = अतिशयेन अभिमतः "अतिशायने तरप्तमपौ" अनेन तरप् प्रत्ययः । परवान् = पर + मतुप् (वत् आदेशः) कोषः—

परः "दूरानामोत्तमाः पराः" पर के दूर, शत्रु, उत्तम और दूसरा ये चार अर्थ होते हैं। अलङ्कारः—काव्यलिङ्ग। छन्दः—शिखरिणी। प्रसादो गुणः, वैदर्भी च रीतिः!

राजधर्मानुवृत्तिपरः—राज धर्म यह है—
नयेनार्जनमर्थस्य, वर्धनं पालनं तथा।
सत्पात्रे प्रतिपत्तिश्च, राजवृत्तं चतुर्विधम्॥

अपि च, दुराराध्या हि राजलक्ष्मीरात्मवद्भिरपि राजभिः। कुतः?—

और भी स्थिर चित्त वाले राजाओं की राजश्री कठिनता से आराधना करने योग्य होती है। क्योंकिः—

तीक्ष्णादुद्विजते मृदौ परिभवत्रासान्न सन्तिष्ठते
मूर्खान् द्वेष्टि न गच्छति प्रणयितामत्यन्तविद्वत्स्वपि।
शूरेभ्योऽप्यधिकं बिभेत्युपहसत्येकान्तभीरूनहो
श्रीलब्धप्रसरेव वेशवनिता दुःखोपचर्या भृशम्॥५॥

प्रसङ्गः—अस्मिन् पद्ये चन्द्रगुप्तः "राजलक्ष्मीः वेशवनिता इव दुःखेनोपचर्या भवति" इति चिन्तयन्नाह—

अन्वयः—तीक्ष्णात् उद्विजते परिभवत्रासात् मृदौ न सन्तिष्ठते, मूर्खान् द्वेष्टि, अत्यन्तविद्वत्स्वपि प्रणयितां न गच्छति, एकान्तभीरून् उपहसति, शूरेभ्यः अधिकं बिभेति, अहो लब्धप्रसरा वेशवनिता इव श्रीः भृशं दुखेन उपचर्या भवति!

संस्कृतार्थः—तीक्ष्णात् = उग्रस्वभावात्, उद्विजते = उद्विग्ना भवति, न सन्तिष्ठते = न सम्यक्तया स्थिरतामाप्नोति, मूर्खान् = अचतुरान् नृपान्, अविवेकिनः भूपान् इत्यर्थः, द्वेष्टि = द्वेषं करोति, न कामयते इत्यर्थः, अत्यन्तं = अतिशयेन, विद्वत्स्वपि पण्डितेष्वपि, प्रणयितां = प्रीतिं, न गच्छति = न प्राप्नोति, एकान्तं = सततं, भीरून् = कातरान् भूपान्; उपहसति = तिरस्करोति, शूरेभ्यः = वीरेभ्यः, अपि = समुच्चये, अधिकं = अत्यन्तं, बिभेति = त्रस्यति, अहो =

आश्चर्यं, लब्धप्रसरा=प्राप्ताधिकारा, वेशवनिता=वेश्या, इव=यथा, राजलक्ष्मीः, भृशम्=अत्यर्थम्, दुःखेन=कष्टेन, उपचर्या=सेव्या भवति :

भावार्थः—वाराङ्गनेव दुःसेव्या राजलक्ष्मीः अनेकरूपा भवति, न चेयं उग्रं मृदुं वा स्निह्यति, न च पण्डितं मूर्खं वा प्रीणयति, न च शूरं भीरुं वाऽऽश्रयते, एषा राजश्रीः महता कष्टेन सेव्या जायते ।

भाषार्थः—यह राजलक्ष्मी उग्र स्वभाव वाले से उद्विग्न रहती है । कोमल स्वभाव वाले के पास अपमान के डर से स्थिर नहीं हो पाती । मूर्खों से द्वेष करती है । पण्डितों से भी प्यार नहीं करती । डरपोकों का उपहास करती है तो शूरवीरों से भय खाती है । आश्चर्य है कि अधिकार प्राप्त वेश्या के समान राजश्री अत्यन्त दुःख से सेवनीय है ।

टिप्पणी

व्याकरण—सन्तिष्ठते=सम्+स्था+लट् "समवप्रविभ्यः स्थः" अनेन-आत्मनेपदम् । लब्धप्रसरा=लब्धः प्रसरः यया सा बहुव्रीहिसमासः, लभ्+क्त=लब्धः, प्र+सृ+अप्=प्रसरः । दुःखोपचर्या=दुःखेन उपचर्तुं योग्या उप+चर्+यत्+टाप् । विद्वत्सु=विद्+क्वसु=विद्वस्+सु=विद्वान्, तेषु । कोषः—उग्रम्—"रौद्रं तूग्रमयी त्रिषु;" "उग्रःकपर्दी श्रीकण्ठः" । "शूद्राक्षत्रिययोरुग्रः" अर्थात् उग्र शब्द भयंकर, महादेव तथा शूद्र स्त्री तथा क्षत्रिय पिता से उत्पन्न सन्तान इन तीन अर्थों में प्रयुक्त होता है । अलंकारः—काव्यलिंग । छन्द—शार्दूलविक्रीडित, वैदर्भी रीतिः, ओजोगुणः ।

तीक्ष्णादुद्विजते के स्थान पर उग्राद्विजते पाठ अधिक उपयुक्त है, क्योंकि यह उक्ति चन्द्रगुप्त की है, चन्द्रगुप्त उग्र सन्तान है अतः उससे राजलक्ष्मी उद्विग्न होती है यह अर्थ अधिक संगत है । शूद्राक्षत्रिययोरुग्रः यह कोष है ।

अन्यच्च, कृतककलहं कृत्वा स्वतन्त्रेण त्वया कञ्चित् कालं व्यवहर्तव्यमित्यार्योपदेशः । स च कथमपि मया पातकमिवाभ्युपगतः । अथवा शश्वदार्योपदेशसंस्क्रियमाणमतयः सदैव स्वतन्त्रा वयम् । कुतः ?—

और भी आर्य चाणक्य का उपदेश है कि बनावटी झगड़ा करके तुम्हें कुछ समय तक स्वतन्त्र रूप से व्यवहार करना चाहिये। उस उपदेश को मैंने पातक के समान किसी प्रकार अङ्गीकार किया। अथवा आर्य के उपदेश से सतत संस्कृत की जा रही बुद्धि वाले हम सदा ही स्वतन्त्र हैं। क्योंकि

इह हि रचयन् साध्वीं शिष्यः क्रियां न निवार्यते
त्यजति तु यदा मार्गं मोहात् तदा गुरुरङ्कुशः।
विनयरुचयस्तस्मात् सन्तः सदैव निरङ्कुशाः
परतरमतः स्वातन्त्र्येभ्यो वयं हि पराङ्मुखाः ॥६॥

प्रसङ्गः—तत्रभवान् चन्द्रगुप्तः चाणक्येन विचार्य निश्चिते कृतककलहे कमपि लाभं निश्चिन्वानः गुरोरादेशं शिरोधार्यं मन्यमानः पद्यमिदं ब्रवीति।

अन्वयः—इह हि शिष्यः साध्वीं क्रियां रचयन् न निवार्यते, यदा तु मोहात् (सः) मार्गं त्यजति तदा गुरुः अङ्कुशः। तस्मात् विनयरुचयः सन्तः सदैव निरंकुशाः। अतः स्वातन्त्र्येभ्यः वयं परतरं हि पराङ्मुखाः।

संस्कृतार्थः—इह हि = इह इलातले किलाखिले, शिष्यः = अन्तेवासी, साध्वीं क्रियां = सत्कार्यम्, रचयन् = कुर्वाणः, न निवार्यते = न प्रतिषिध्यते। यदा तु = यस्मिन् काले, मोहात् = अज्ञानात्, सः मार्गं त्यजति = शिष्यः सदाचारमार्गमतिक्रामति, तदा गुरुः = अध्यापकः, अंकुशः = निवारको नियामकश्च, भवति, तस्मात् = ततः विनयरुचयः = विनयस्पृहालवः, सन्तः, = साधवः, सदैव = सर्वदा, निरकुंशाः = स्वतन्त्राः भवन्ति। अतः स्वातन्त्र्येभ्यः = स्वेच्छाचारिताभ्यः, वयं, हि = निश्चितं, पराङ्मुखाः स्मः।

भावार्थः—पूर्वं तावच्चन्द्रगुप्तः चिन्तयति यद्दते चाणक्यं स्वतन्त्ररूपेण कार्यकरणपापम्, परं पश्चात् विजानाति यत् सः कृतककलहेन न किञ्चदपि पापमाचरति, यतः सः विनयशीलत्वात् स्वयं स्वतन्त्रः विनयशीले हि गुरुः निरकुंशः भवति, शिष्यश्च स्वतन्त्रः।

भाषार्थ—इस संसार में शिष्य उचित कार्य करता हुआ गुरु द्वारा रोका

नहीं जाता है। किन्तु जब मोहवश सदाचार मार्ग का शिष्य अतिक्रमण कर देता है तो गुरु अंकुश होता है। अतः विनय में रुचि रखने वाले सज्जन सदा ही स्वतन्त्र हैं। अतएव स्वेच्छाचारों से हम अत्यन्त ही पराङ्मुख हैं।

टिप्पणी

व्याकरणम्—स्वतन्त्रेण = स्वः आत्मा तन्त्रं प्रधानं यस्य सः स्वतन्त्रः तेन बहुव्रीहिः समासः। व्यवहर्तव्यम् = वि + अव + हृ + तव्यत्। स्वातन्त्र्येभ्यः स्वतन्त्रस्य भावः, स्वतन्त्र + ष्यञ्, तेभ्यः, ध्रुवमपाये इत्यादिना पञ्चमी। पराङ्मुखाः = परा अञ्चति इति परा + अञ्च् + क्विन् = पराक्। पराक् मुखं एषाम् ते। कोषः—अंकुशः, "अंकुशोऽस्त्री सृणिः स्त्रियां" इत्यमरः। "पराङ्मुखः पराचीनः स्यात्" ये दो विमुख के नाम हैं। अलंकारः—"परिणामः। विषयात्मतयारोप्ये प्रकृतार्थोपयोगिनि परिणामः। छन्दः—हरिणी, वैदर्भी, प्रसादगुणः। "नसमरसलागः षड्वेदैर्हयैः हरिणी मता"

जिसके एक पाद में १७ अक्षर हों ६. ४. ७. पर यति हो. नगण सगण मगण रगण सगण। ऽ हो उसे हरिणी वृत्त कहते हैं।

(प्रकाशम्) आर्य वैहीनरे ! सुगाङ्गप्रासादमार्गमादेशय।

कञ्चुकी—इत इतो देवः।

राजा—(परिक्रामति।)

कञ्चुकी—(परिक्रम्य) अयं सुगाङ्गप्रासादः। शनैरारोढुमर्हत्यार्यः।

राजा—(नाट्येनारुह्य दिशोऽवलोक्य) अहो ! शरत्समयसम्भृतशोभाविभूतीनां दिशामतिरमणीयता !! कुतः ?—

(प्रकट) आर्य ! वैहीनरे ! सुगांग प्रासाद की ओर चलना है।

कञ्चुकी—इधर आवें महाराज !

राजा—घूमता है।

कञ्चुकी—(चलने का अभिनय करते हुए) यह है सुगाङ्ग प्रासाद, धीरे-धीरे चला जाय महाराज !

राजा—(चढ़ने का अभिनय करते हुए—चारों ओर देखकर) ओह ! जिधर देखता हूँ उधर ही शरत् काल की शोभा छायी दिखाई दे रही है ! अरे !

शनैः शान्ता भूताः सितजलधर-छेदपुलिनाः
समन्तादाकीर्णाः कलविरुतिभिः सारसकुलैः ।
चिताश्चित्राकारैर्निशि विकचनक्षत्रकुमुदै-
र्नभस्तः स्यन्दन्ते सरित इव दीर्घा दश दिशः ।।७।।

प्रसङ्गः—चन्द्रगुप्तः कौमुदीमहोत्सवे शरदः शोभां पश्यन् तद्रामणीयकं वर्णयति अनेन पद्येन ।

अन्वयः—शनैः शान्ताः भूताः सितजलधरच्छेदपुलिनाः कलविरुतिभिः सारसकुलैः समन्तात् आकीर्णाः दश दिशः निशि चित्राकारैः विकचनक्षत्रकुमुदैः चिताः दीर्घाः सरितः इव नभस्तः स्यन्दन्ते ।

संस्कृतार्थः—शरत्पक्षे शनैः = क्रमेण, शान्ता भूताः = वर्षासु मेघजनित-गर्जनादिशब्दरहिताः अतएव शान्ताः = निःशब्दाः शमिताः इत्यर्थः, सितजल-धरच्छेदपुलिनाः = सिताः = श्वेताः जलधराणां – मेघानां छेदाः = खण्डाः पुलिनानि इव = सैकतानि इव, सन्ति यासां ताः दश दिशः, कलविरुतिभिः = अव्यक्तमधुरशब्दैः, सारसकुलैः = क्रौञ्चसमूहैः, समन्तात् = परितः, आकीर्णाः = व्याप्ताः, दश दिशः = दिशः उपदिशः ध्रुवोर्ध्वं वेति दश दिशः = दश आशाः निशि = रात्रौ, चित्रकारैः = विविधरूपैः, विकचैः = विकसितैः = कुमुदतुल्यैः नक्षत्रैः, चिताः = व्याप्ताः दीर्घाः आयताः, सरितः इव = नद्य इव, नभस्तः = आकाशात्, स्यन्दन्ते = प्रसरन्ति ।

सरित्पक्षे—शनैः शान्ताः = मन्दप्रवाहाः, सितजलधरच्छेदमिव पुलिनं = सैकतं यासां ताः सरितः, कलविरुतिभिः = मधुरा व्यक्तध्वनिभिः, सारसकुलैः पुष्कराह्वैः—सारसैः = कमलैश्च, आकीर्णाः व्याप्ताः, सरितः, निशि = रजन्यां, चित्राकारैः = विचित्ररूपैः, नक्षत्राणि इव विकचानि = विकसितानि, कुमुदानि = कुमुदपुष्पाणि तैः व्याप्ताः सरितः = नद्यः, दीर्घाः = आयताः, दशदिशः इव, नभस्तः = श्रावणमासात्, स्यन्दन्ते = निस्सरन्ति ।

भावार्थः—अहो ! शरत्साम्राज्यं सर्वत्र विजृम्भते, दिक्षु सरित्सु च शरदः रामणीयकं विशेषेणाक्षिलक्ष्यीक्रियते ।

भाषार्थः—शरत् पक्ष में वर्षा के पश्चात् शान्त बालु प्रदेशों के सदृश श्वेत, शुभ्र मेघ खण्डों से युक्त, अव्यक्त मधुर शब्द करने वाले सारस पक्षियों के समूहों से व्याप्त, विविध प्रकार के विकसित कुमुदों के तुल्य नक्षत्रों से युक्त दशों दिशायें लम्बी नदियों के समान आकाश से प्रवाहित हो रही हैं ।

नदियों के पक्ष में—क्रम पूर्वक नदियाँ मन्द वेग वाली शुभ्र मेघ खण्डों के तुल्य सैकत तटों वाली, कल मधुर शब्द वाले सारसों से तथा कमलपुष्पों से व्याप्त, अनेक प्रकार के नक्षत्रों के तुल्य कुमुद पुष्पों से युक्त दशों दिशाओं के समान लम्बी नदियाँ श्रावण मास से प्रवाहित हो रही हैं ।

टिप्पणी

व्याकरणम्—वैहीनरिः = विहीनो नरः कामभोगाभ्यां इति विहीनरः विहीनरस्य अपत्यं वैहीनरिः तत्सम्बोधने हे वैहीनरे ! विहीनर + इञ् । ञित्वात्, "अचो ञ्णिति" इति वृद्धिः । सिताः च ते जलधरच्छेदाः इति कर्मधारय समासः । जलानां धराः जलधराः षष्ठीतत्पुरुषः । धरतीति धृ + अच् = धरः । नभस्तः = नभस् + तसिल् । कोषः—"नभः खं श्रावणो नभाः" नपुंसकलिंग नभस् का अर्थ आकाश तथा पुंलिंग नभस् का अर्थ श्रावण मास । सारस = सारसं सरसीरुहम्, पुष्कराह्वस्तु सारसः । नपुंसकलिंग सारस कमल का वाचक है और पुंल्लिग में सारस पक्षी का वाचक होता है । अलंकारः—श्लेषानुप्राणित उपमेयोपमा । छन्द—शिखरिणी, पाञ्चाली रीतिः, प्रसाद गुण है । यहाँ पर "दीर्घाः दश दिशः सरित इव और सरितः दीर्घाः दश दिशः इव" इसप्रकार उपमानोपमेयभाव के कारण शरत् ऋतु पक्ष में एक अर्थ, तथा सरित् पक्ष में दूसरा अर्थ, विशेषणों के कारण इस पद्य के दो अर्थ हैं ।

अपिच—

अपामुद्वृत्तानां निजमुपदिशन्त्या स्थितिपदं
दधत्या शालीनामवनतिमुदारे सति फले ।

मयूराणामुग्रं विषमिव हरन्त्या मदमहो
कृतः कृत्स्नस्यायं विनय इव लोकस्य शरदा ॥८॥

प्रसङ्ग—चन्द्रगुप्तः कौमुदीमहोत्सवारम्भे शरदृतुः सर्वं जगत् विनयन्तीव दृश्यते इति विमृशन्नाह पद्यमिदम् ।

अन्वयः—अहो उद्वृत्तानां अपां निजं स्थितिपदं उपदिशन्त्या शालीनां फले उदारे सति अवनतिं दधत्या मयूराणां विषमिव उग्रं मदं हरन्त्या शरदा कृत्स्नस्य लोकस्य अयं विनयः कृत इव ।

संस्कृतार्थ :—अहो = आश्चर्यम्, उद्वृत्तानां = अतिक्रान्ततटानां, अपां = जलानां, निजं = स्वकीयं स्वाभाविकं, स्थितिपदं = प्रवाहस्थानम्, उपदिशन्त्या = संयोजयन्त्या, शालीनां = कलमानां, धान्यविशेषाणां, उदारे = महति, फले = प्रसवे, शस्ये सति, अवनतिं = नम्रतां, दधत्या = धारयन्त्या, मयूराणां = कलापिनां, विषमिव = गरलमिव, उग्रं = तीक्ष्णं, मदं = अहंकारं, हरन्त्या = अपनयन्त्या, शरदा = शरदृतुना, कृत्स्नस्य = सम्पूर्णस्य, लोकस्य = जगतः, अयं = एषः, विनयः = उपदेशः, इव = यथा, कृतः = सम्पादितः ।

भावार्थः—एषः शरदृतुः जडान् अल्पचेतान् सचेतनाँश्च क्रमशः (सरितः) सलिलानि, शालीन्, मयूराँश्च सर्वान् विनेतुं शिक्षते । उन्मार्ग गान् सन्मार्गे प्रवर्तयतिच ।

भाषार्थ—आश्चर्य है कि तटों का अतिक्रमण करने वाले जलों को स्वाभाविक अपने प्रवाह स्थान का बोध कराती हुई, साठी के धानों को झुकाती हुई मयूरों का मान अपहरण करती हुई शरद् ऋतु ने मानों समस्त संसार को यह विनय सिखाया है ।

टिप्पणी

व्याकरणम्—उद्वृत्तानाम् = उत्क्रान्ताः वृत्तमिति उद्वृत्ताः तेषां उत् + वृत् + क्त "अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया" प्रादिसमासः । उपदिशन्त्या = उप + दिश् + शतृ + ङीप् तृतीयैकवचने रूपम् । कोष.—"शालयः कलमाद्याश्च" इत्यमरः । अलंकारः—उपमा, उत्प्रेक्षा, काव्यलिङ्ग । छन्दः—शिखरिणी छन्दः, प्रसादगुणः वैदर्भी रीतिः ।

अपि च—

भर्तुस्तथा कलुषितां बहुवल्लभस्य
मार्गे कथञ्चिदवतार्य तनूभवन्तीम् ।
सर्वात्मना रतिकथाचतुरेव दूती
गङ्गां शरन्नयति सिन्धुपतिं प्रसन्नाम् ॥९॥

प्रसङ्गः—चन्द्रगुप्तः कौमुदीमहोत्सवसमारम्भे शरत्प्रसन्नां गङ्गां नायिकात्वेन शरदञ्च दूतीत्वेन परिकल्प्य नवयैव भङ्ग्या वर्णयति ।

अन्वयः—तथा कलुषितां तनूभवन्तीं सर्वात्मना प्रसन्नां गङ्गां रतिकथाचतुरा दूतीश्च शरत् बहुवल्लभस्य भर्तुः मार्गे कथञ्चित् अवतार्य सिन्धुपतिं नयति ।

संस्कृतार्थ—गंगापक्षे = तथा = तेन प्रकारेण, कलुषितां = सपङ्कां, तनूभवन्तीं = क्षीणप्रवाहां, सर्वात्मना = सर्वप्रकारेण, प्रसन्नां = निर्मलां, गङ्गां = भागीरथीं, रतिकथाचतुरा = रतिकथायां = सम्भोगवार्तायां, चतुरा = निपुणा, दूती इव शरत् बहुवल्लभस्य = बह्व्यः वल्लभाः = प्रेयस्यः यस्य तथाविधस्य, अनेकपत्नीकस्य, भर्तुः = स्वामिनः समुद्रस्येत्यर्थः, मार्गे = पथि, कथञ्चित् = महता कृच्छ्रेण, अवतार्य = संस्थाप्य, सिन्धुपतिं = समुद्रं, नयति = प्रापयति ।

नायिकापक्षे—शरत् = एतदभिधाना काचित् कामिनी, रतिकथाचतुरा = प्रियवार्तानिवेदने, चतुरा = निपुणा, दूती इव कलुषितां = कुपितां, तनूभवन्तीं = विरहदुःखेन कृशाङ्गीम्, सर्वात्मना = सम्पूर्णतया, प्रसन्नां = विगतेर्ष्यां, गङ्गां = तन्नाम्नीं नायिकां, बहुवल्लभस्य = अनेककान्तस्य, भर्तुः = पत्युः, मार्गे = अभिसरणे, कथञ्चित् = येन केन प्रकारेण, अवतार्य = अभिगामिनीं विधाय, सिन्धुपतिं = समुद्रं इव सिन्धुपतिं तन्नामकं पतिं, नयति = प्रापयति ।

भावार्थः—रतिकथाचतुरा दूती इव शरत् गङ्गां तन्नाम्नीं नायिकां गङ्गानदीं च बहुवल्लभस्य भर्तुः सिन्धुपतेः समुद्रस्य च समीपे महता कृच्छ्रेण नयति ।

भाषार्थः—गङ्गा पक्ष में—शरद् ऋतु प्रेम की कथाओं में चतुर दूती के समान तब वर्षा काल में पङ्कलिप्त होने से कलुषित, अब शरद् ऋतु में कृश

प्रवाह वाली गंगा को बहु पत्नियों वाले समुद्र के पास बड़ी कठिनता से ले जा रही है।

नायिका पक्ष में—

शरद् नामक स्त्री रति कथाओं में चतुर दूती के समान उस प्रकार से ईर्ष्या वाली, विरह के कारण कृश हुई गंगा नाम वाली नायिका को प्रयत्न पूर्वक प्रसन्न मुख वाली करके अनेक पत्नियों वाले स्वामी सिन्धु नामक मालिक के पास अभिसरण मार्ग में प्रवृत्त कर रही है।

टिप्पणी

व्याकरणम्—तनूभवन्ती = अतनुः तनुः भवन्ती इति तनु + च्वि + भू + शतृ + ङीप् "अभूततद्भावे च्विः" अनेन च्विः "च्वौ च" अनेन उकारस्य दीर्घः, "ऋन्नेभ्यो ङीप्" अनेन ङीप्। अवतार्य + अव = तृ + णिच् + क्त्वा (ल्यप्)। सिन्धुपतिम् = सिन्धूनां पतिः समुद्रः, अथवा सिन्धु नामा पतिः सिन्धुपतिः मध्यमपदलोपी समासः। प्रसन्नाम् = प्र + सद् + क्त + टाप् द्वितीयैकवचने रूपम्। गङ्गाम् = गच्छतीति गम् + गन् + टाप् द्वितीयैक वचने रूपम्। कोषः— सिन्धुः "देशे नदविशेषेऽब्धौ सिन्धुर्ना सरिति स्त्रियामित्यमरः। अर्थात् सिन्धु शब्द सिन्ध देश के लिये, सिन्ध नदी के लिये, समुद्र के लिये पुंल्लिग में प्रयुक्त होता है। स्त्रीलिंग में नदी का वाचक है। अलंकारः—अर्थश्लेष से अनुप्राणित उपमा। छन्द— वसन्ततिलका वृत्तम्।

दूती के गुणः—

कला कौशलमुत्साहः भक्तिश्चित्तज्ञता स्मृतिः।
माधुर्यं नर्म्मविज्ञानं वाग्मिता चेति तद्गुणः॥

(समन्तान्नाट्येनावलोक्य) अये कथमप्रवृत्तकौमुदीमहोत्सवम् कुसुमपुरम्। आर्य वैहीनरे! अथ अस्मद्वचनात् आघोषितः कुसुमपुरे कौमुदीमहोत्सवः।

(चारों ओर देखकर अभिनय द्वारा) ऐं कौमुदी महोत्सव कुसुमपुर में क्यों नही मनाया जा रहा है? आर्य वैहीनरि! क्या मेरी आज्ञा से कुमुदीपुर में कौमुदीमहोत्सव घोषित कर दिया गया था।

कंचुकी—देव ! अथ किम् ?

कञ्चुकी—महाराज ! और क्या ?

राजा—आर्य ! तत्किं न गृहीतमस्मद्वचनं पौरैः ।

कञ्चुकी—(कर्णौ पिधाय । शान्तं पापं शान्तं पापम् । पृथिव्यामस्खलितपूर्वं देवस्य शासनं कथं पौरेषु स्खलिष्यति ।

राजा—तत्कथमप्रवृत्तकौमुदीमहोत्सवमद्यापि कुसुमपुरम् ।

राजा—आर्य ! तो क्या हमारी बात नागरिकों ने नहीं मानी ?

कञ्चुकी—(कान बन्द करके) ऐसा न कहें महाराज ! सम्पूर्ण पृथ्वी पर जब आपका शासन लागू है तो पाटलिपुत्र की प्रजायें क्योंकर न मानेंगी ।

राजा—आर्य वैहीनरे ! तो फिर क्यों नहीं पाटलिपुत्र में कौमुदी महोत्सव मनाया जा रहा है, देखो तो सही—

धूर्तैरन्वीयमानाः स्फुटचतुरकथाकोविदैर्वेशनार्यो
नालंकुर्वन्ति रथ्याः पृथुजघनभराक्रान्तिमन्दैः प्रयातैः ।
अन्योन्यं स्पर्धमाना न च गृहविभवैः स्वामिनो मुक्तशङ्काः
साकं स्त्रीभिर्भजन्ते विधिमभिलषितं पार्वणं पौरमुख्याः ।।१०।।

प्रसङ्ग—चन्द्रगुप्तः कौमुदीमहोत्सवे विटचेटैः सह वारनारीणां तास्ताः विलासचेष्टाः नाक्षिलक्ष्योक्रियन्ते इति चिन्तयन्नाह ।

अन्वयः—स्फुटचतुरकथाकोविदैः धूर्तैः अन्वीयमानाः वेशनार्यः पृथुजघनभराक्रान्तिमन्दैः प्रयातैः रथ्याः न अलङ्कुर्वन्ति । स्वामिनः मुक्तशङ्काः पौरमुख्याश्च गृहविभवैः अन्योऽन्यं स्पर्धमानाः स्त्रीभिः साकं अभिलषितं पार्वणं विधिं न भजन्ते ।

संस्कृतार्थः—स्फुटं = स्पष्टं, चतुराणां = कुशलानां, याः कथाः = प्रेमालापाः, तासु कोविदैः = पण्डितैः अभिज्ञैरित्यर्थः, धूर्तैः = विटैः, अन्वीयमानाः = अनु = पश्चात्, ईयमानाः, = गम्यमानाः, वेशनार्यः = पण्यस्त्रियः पृथोः = महतः स्थूलस्य, जघनस्य = जंघाद्वयस्य, नितम्बद्वयस्येति भावः, यः भरः = स्थौल्यं, तस्य आक्रान्त्या = आरोपेण, मन्दैः = तुन्दपरिमृजैः अलसैरित्यर्थः, प्रयातैः = गमनैः, रथ्याः = प्रतोल्यः, न अलंकुर्वन्ति = न भूषयन्ति । स्वामिनः = राज्ञः, मुक्तशंकाः = निर्भयाः, पौरमुख्याः = प्रधानपुरवासिनः, गृहविभवैः = स्वगृह-

सम्पत्तिभिः, अन्योऽन्यं = परस्परं, स्पर्धमानाः = स्पर्धां कुर्वन्तः, धनरूपादि-विषय इति शेषः। स्त्रीभिः = कामिनीभिः, सह = साकं सार्द्धं, अभिलषितं = मनोवाञ्छितं, पार्वणं = पर्वणि भवं पौर्णमास्यं, विधिं = कौमुदीमहोत्सवं, न भजन्ते = न आचरन्ति।

भावार्थः—चन्द्रगुप्तः मनसि चिन्तयति यत् कौमुदीजागरोत्सवायाज्ञप्ताः अपि जनाः कथं न तासु तासु वनविहारादिद्युतक्रीडासु वाराङ्गनाभिः सह नर्म-वार्तासु प्रवृत्ता दृश्यन्ते।

भाषार्थः—स्पष्ट, चतुर पुरुषों द्वारा कृत प्रणय-कथाओं में कुशल विट चेटादि से अनुगमन की गईं, विशाल नितम्ब युगल भार से आक्रान्त अतएव मन्द गति वाली वेश्यायें राजमार्गों को अलंकृत नहीं कर रही हैं। राजा से निर्भीक होकर प्रधान नागरिक भी अपनी श्रीमतियों के साथ अपना वैभव प्रद-र्शित करते हुये शरत् पूर्णिमा के उत्सव को नहीं मना रहे हैं।

टिप्पणी

व्याकरणम्—कोविदः = विशेषणपदम्, कु + विच्, तं वेत्ति विद् + क। अन्वीयमानाः = अनु + इण् (गतौ) + शानच्, मुमागमश्च। पार्वणं = पर्वणि भवं पर्वन् + अण् तम्। प्रयातैः = प्र + या + क्त तैः। स्वामिनः = यहाँ "भीत्रा-र्थानां भयहेतुः" सूत्र से पंचमी। स्वं अस्य अस्ति इति स्व + आमिन् तस्मात्। अलंकारः—स्वभावोक्तिः। "स्वभावोक्तिर्दुरूहार्थस्वक्रियारूपवर्णनम्" विश्वनाथः। छन्दः—स्रग्धरा वृत्तम् "म्रभ्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्" ३१ अक्षर ७. ७. ७. पर यति म-र-य-न-य-य-य- गण हों।

जघनम्—जघन शब्द जंघा का वाचक है परन्तु यहाँ नितम्बों से तात्पर्य है, जघनभराक्रान्त पद के प्रयोग के कारण।

स्वामिनः = यद्यपि पौर मुख्याः प्रथमान्त का विशेषण हो सकता है तो भी यहाँ पञ्चम्यन्त पद ही संगत है क्योंकि नन्द प्रजा से धन छीन लेता था चन्द्र-गुप्त से लोग मुक्तशङ्क हैं। वेशनारी वेश्या का लक्षण—सामान्यस्त्री गणिका कलाप्रागलभ्यधौर्त्ययुक्।

कञ्चुकी—देव ! एवमेतत् ।

राजा—किमेतत् ?

कञ्चुकी—देव ! अत इदम्—।

राजा—आर्य ! स्फुटमभिधीयताम् ।

कञ्चुकी—देव ! प्रतिषिद्धः कौमुदीमहोत्सवः ।

राजा—(सक्रोधम्) आः केन ?

कञ्चुकी—नातः परमस्माभिर्देवो विज्ञापयितुं शक्यते ।

राजा—न खल्वार्येण चाणक्येनापहृतः प्रेक्षकाणामतिशयरमणीयश्चक्षुषो विषयः ?

कञ्चुकी—देव ! कोऽन्यो जीवितुकामो देवस्य शासनमतिवर्तेत ?

राजा—शोणोत्तरे ! उपवेष्टुमिच्छामि ।

प्रतीहारी—देव ! एदं सिंहासणं । उपविसदु देवो । (देव ! एतत् सिंहासनम् । उपविशतु देवः ।)

राजा—(नाट्येनोपविश्य) आर्य वैहीनरे ! आर्यचाणक्यं द्रष्टुमिच्छामि ।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः । (इति निष्क्रान्तः)

ततः प्रविशत्यासनस्थः स्वभवनगतः कोपानुविद्धां चिन्तां नाटयन् चाणक्यः ।)

चाणक्यः—(आत्मगतम्) कथं स्पर्धते मया सह दुरात्मा राक्षसहतकः ! कुतः ?—

कञ्चुकी—महाराज ! यह ऐसा ही है ।

राजा—यह क्या है ?

कञ्चुकी—महाराज ! इसलिये यह ।

राजा—आर्य ! स्पष्ट बतलाइये ।

कञ्चुकी—महाराज ! कौमुदी महोत्सव रोक दिया गया ।

राजा—(क्रोध के साथ) ऐं, किसने ।

कञ्चुकी—मैं इससे अधिक निवेदन नहीं कर सकता हूँ महाराज !

राजा—क्या ? आर्य चाणक्य ने तो दर्शकों की आँखों का यह अत्यन्त सुन्दर दृश्य नहीं लूट लिया है ?

कञ्चुकी—महाराज ! दूसरा कौन जीवन चाहने वाला महाराज की आज्ञा का उल्लंघन करेगा ।

राजा—शोणोत्तरे ! मैं बैठना चाहता हूँ ।

प्रतीहारी—महाराज ! यह सिंहासन है, आप विराजें ।

राजा—(अभिनय द्वारा बैठकर) आर्य ! वैहीनरे ! मैं आर्य चाणक्य से मिलना चाहता हूँ ।

कञ्चुकी—महाराज की जो आज्ञा (बाहर चला जाता है) (तब प्रवेश करता है अपने भवन में आसन पर बैठा हुआ क्रोध पूर्वक चिन्ता का अभिनय करते हुए चाणक्य ।)

चाणक्य—(स्वगत) इस नीच राक्षस की मेरे साथ बराबरी ।

कृतागाः कौटिल्यो भुजग इव निर्याय नगराद्
यथा नन्दान् हत्वा नृपतिमकरोन्मौर्यवृषलम् ।
तथाहं मौर्येन्दोः श्रियमपहरामीति कृतधीः
प्रभावं मद्बुद्धेरतिशयितुमेष व्यवसितः ।।११।।

११ कृतागाः कौटिल्य इति

प्रसङ्गः—अस्मिन् पद्ये चाणक्यः बुद्धिस्थं राक्षसमेव प्रधर्षयन् ब्रवीति—

अन्वयः—यथा कृतागाः कौटिल्यः भुजग इव नगरात् निर्याय नन्दान् हत्वा मौर्यवृषलं नृपतिं अकरोत् तथा अहं मौर्येन्दोः श्रियं अपहरामि इति कृतधीः एष मद्बुद्धेः प्रभावं अतिशयितुं व्यवसितः ।

संस्कृतार्थः—यथा = येन प्रकारेण, कृतागाः = कृतं = विहितं, आगः = अपराधः यस्य तथाभूतः, कौटिल्यः = चाणक्यः, भुजग इव = द्विजिह्व इव, नगरात् = पाटलिपुत्रात्, निर्याय = निर्गत्य, नन्दान् = नवनन्दान्, हत्वा = प्राणैर्वियुज्य, मौर्यवृषलं = चन्द्रगुप्तं, नृपतिं = राजानं, अकरोत् । तथा अहं = चाणक्यः, मौर्येन्दोः = चन्द्रगुप्तस्य, श्रियं = लक्ष्मीं, अपहरामि = अपनयामि, इति अनेन प्रकारेण, कृतधीः = कृतमतिः, एषः = राक्षसः, मद्बुद्धेः = मम चाणक्यस्य

बुद्धेः = मत्याः, प्रकर्षं = महिमानं, अतिशयितुं = अतिक्रमितुं, व्यवसितः = उद्यतः अस्ति।

भावार्थः—पूर्वमहं नन्दान् हत्वा चन्द्रगुप्तं राजानं अकुर्वम्, पश्चात् चन्द्रगुप्तस्यापि राज्यं हर्तुकामोऽस्मि, इति बुद्ध्यैष राक्षसः मम महिमानं अतिक्रमितुमभिलषति।

भाषार्थः—जिस प्रकार अपराध किये जाने पर चाणक्य ने साँप की तरह नगर से बाहर जाकर नन्दों का विनाश कर चन्द्रगुप्त को राजा बना दिया, उसी प्रकार मैं चन्द्रगुप्त का राज्य छीन लूँगा, ऐसा निश्चय करने वाला यह राक्षस मेरी बुद्धि के प्रभाव को नीचा दिखाने के लिए प्रयत्नशील है।

टिप्पणी

व्याकरणम्—कृतागाः = कृतं आगः यस्मिन्तादृशः चाणक्यः, बहुव्रीहिः। भुजैः गच्छति इति भुजगः, भुज् + गम् + ड। अतिशयितुम् = अति + शीङ् स्वप्ने + तुमुन्। व्यवसितः = वि + अव + सो + क्त। बुद्धिः = बुध् अवगमने + क्तिन्, स्त्रियां क्तिन्। प्रभावं = प्र + भू + घञ् द्वितीयैकवचनम्। कोषः—"पापाऽपराधयोरागः" इत्यमरः। अलङ्कारः—उपमा अलंकारः, "भुजग इव" इस अंश में। छन्दः—शिखरिणी।

जिस प्रकार चाणक्य ने कुसुमपुर को छोड़कर नन्द को मारकर चन्द्रगुप्त को राजा बना दिया, उसी प्रकार राक्षस ने कुसुमपुर को छोड़ दिया है। वह चन्द्रगुप्त को मारकर मलयकेतु का राज्याभिषेक करना चाहता है।

(प्रत्यक्षवदाकाशे लक्ष्यं बद्ध्वा) राक्षस! राक्षस! विरम्यतामस्माद्दुर्व्यवसितात्।

उत्सिक्तः कुसचिवदृष्टराज्यतन्त्रो
नन्दोऽसौ न भवति चन्द्रगुप्त एषः।
चाणक्यस्त्वमपि च नैव केवलं ते
साधर्म्यं मदनुकृतेः प्रधानवैरम् ॥१२॥

(आकाश में लक्ष्य बाँधकर) ओ राक्षस! चन्द्रगुप्त की राजश्री के अपहरण रूपी दुर्व्यसन से बस।

१२ उत्सिक्तः कुसचिवेति—

प्रसङ्गः—पुरपि चन्द्रस्य राजश्रियं हर्तुकामं बुद्धिस्थं राक्षसमेवाधिक्षिपन्नाह चाणक्यः।

अन्वयः—एष चन्द्रगुप्तः उत्सिक्तः कुसचिवदृष्टराज्यतन्त्रः असौ नन्दः न भवति। त्वमपि च नैव चाणक्यः। केवलं प्रधानवैरं ते मदनुकृतेः साधर्म्यम्।

संस्कृतार्थः—एषः = अयं, चन्द्रगुप्तः = मौर्यः, उत्सिक्तः = अहंकृतः, कुसचिवैः = कुमन्त्रिभिः, दृष्टं = निरीक्षितं, राज्यतन्त्रं = राष्ट्रं यस्य तादृशः असौ = एष, नन्दः = तदाख्यः नृपः = भूपः, न भवति = नास्ति। केवलं = एकमात्रं प्रधानवैरं = मुख्यद्वेषः, ते तव, मदनुकृतेः = मम चाणक्यस्यानुकरणस्य, साधर्म्यम् = सादृश्यम् (अस्ति इति शेषः)

भावार्थः—चाणक्यः राक्षसं सम्बोध्य कथयति—उत्सिक्तस्य कुसचिवदृष्ट-राज्यभारस्य नन्दस्य इव चन्द्रगुप्तः नास्ति। न च चाणक्यराक्षसयोः साम्यमस्ति, परमस्त्यद्वितीयं साम्यं आवयोः तच्च प्रधानवैरं, प्रमुखेण नृपेण सह वैरभावः तवापि ममापि च।

भाषार्थः—यह चन्द्रगुप्त है, अहंकारी तथा बुरे मन्त्रियों को राज्यभार सौंपने वाला नन्द नहीं है। और तुम भी चाणक्य नहीं हो। केवल मुख्य शत्रुता प्रधान राजा के साथ वैर भाव की समानता रखती है।

टिप्पणी

व्याकरणम्—उत्सिक्तः = उत् + सिच् + क्त। साधर्म्यम् = समानो धर्मः सधर्मः, सधर्म + ष्यञ्, समानस्य सादेशः कर्मधारय समासः। कोष—"मन्त्री सहायसचिवौ"। सचिव शब्द के 'बुद्धिसचिव' यानी मन्त्री तथा 'कर्मसचिव' सहायक दो अर्थ हैं। अलकारः—परिकर तथा व्यतिरेक की संसृष्टि। छन्द—प्रहर्षिणी व्याशाभिः मनजरगा प्रहर्षिणीयम्।

(विचिन्त्य) अथवा नातिमात्रमस्मिन् वस्तुनि मया मनः खेदयितव्यम्। कुतः ?—

मदभृत्यैः किल सोऽपि पर्वतसुतो व्याप्तः प्रविष्टान्तरै-
रुद्युक्ताश्च नियोगसाधनविधौ सिद्धार्थकाद्याः स्पशाः ।
कृत्वा सम्प्रति कैतवेन कलहं मौर्येन्दुना राक्षसं
भेत्स्यामि स्वमतेन भेदकुशलो ह्येष प्रतीपं द्विषः ।।१३।।

(सोचकर) अथवा मुझे इन सब बातों की क्या चिन्ता, क्योंकि—

१३ मद्भृत्यैः किलेति—

प्रसङ्ग—पर्वतपुत्रः राक्षसोपलालितः मलयकेतुः आयत्तीकृतहृदयैः मम नीतिकुशलैः प्रणिधिभिः संवृतः वर्तते तस्मात् अवश्यं भाविनं राक्षसपराजयं निर्धारयन् चाणक्यः पद्यमिदं व्याचष्टे ।

अन्वयः—सः पर्वतसुतः प्रविष्टान्तरैः मद्भृत्यैः व्याप्तः किल अपिच सिद्धार्थकाद्याः स्पशाः नियोगसाधनविधौ उद्युक्ताः । सम्प्रति भेदकुशलः (चाणक्यः) कैतवेन मौर्येन्दुना कलहं कृत्वा प्रतीपं राक्षसं एष स्वमतेन द्विषः भेत्स्यति ।

संस्कृतार्थः—सः = प्रकरणवशात् प्राप्तः, पर्वतसुतः = मलयकेतुः. प्रविष्टान्तरैः = स्वायत्तीकृतहृदयैः, मद्भृत्यैः = चाणक्यानुचरैः, व्याप्तः = परिवृतः, भागुरायणादिभिरिति शेषः । अपिच किल = निश्चयेन, सिद्धार्थकाद्याः = सिद्धार्थकप्रभृतयः, स्पशाः = गुप्तचराः, नियोगसाधनविधौ = आज्ञासम्पादनव्यापारे, उद्युक्ताः = तत्पराः सन्ति । सम्प्रति = अधुना, भेदकुशलः = भेदनीतौ प्रवीणः चाणक्यः, कैतवेन = व्याजेन मौर्येन्दुना = चन्द्रगुप्तेन, सह, कलहं = विवादं, कृत्वा = विधाय, प्रतीपं = विरुद्धं, राक्षसं = नन्दमन्त्रिणं एषः = सत्वरं, चाणक्यो वा, स्वमतेन = स्वबुद्ध्या, द्विषः = शत्रोः मलयकेतोरित्यर्थः, भेत्स्यति = भेदं प्राप्स्यति, भेत्स्यामीति पाठे, एषोऽहं चाणक्यः पृथक् करिष्यामि ।

भावार्थः—साम्प्रतं मम गुप्तचरैः भागुरायणादिभिः मलयकेतुः समन्तात् संवृतोऽस्ति । अतः मलयकेतुराक्षसयोः मध्ये मम भेदनीतिपाटवेन द्वयोर्विरोधोऽवश्यं सत्वरं च भवितेति निश्चयः ।

भाषार्थः—वह मलयकेतु पर्वतपुत्र मेरे आज्ञाकारी तथा अन्दर प्रविष्ट भृत्यों से घिरा हुआ है । सिद्धार्थक आदि गुप्तचर भी निर्दिष्ट कार्यों में संलग्न

हैं। इस समय फूट डालने में प्रवीण मैं चाणक्य चन्द्रगुप्त के साथ बनावटी झगड़ा उत्पन्न कर प्रतिकूल राक्षस को अपनी बुद्धि से शत्रु मलयकेतु से अलग कर दूँगा।

टिप्पणी

व्याकरणम्—उद्युक्ताः = उत् + युजिर् योगे + क्त बहुवचनम् प्रतीपम् = प्रतिगताः आपः यत्र, प्रति + आप् + अच्, "द्व्यन्तरुपसर्गेभ्यः" इस सूत्र से आप को ईत् होकर प्रति + ईप् + अ = प्रतीपम्। भृत्यः = भर्तुं पोषयितुं योग्यः, भृज् + क्यप्, तुक् च। प्रविष्टान्तरैः = प्रविष्टं अन्तः—अन्तः करणं यैः तादृशैः बहुव्रीहिः। व्याप्तः = वि + आप् + क्त। कैतवम् कितवस्य भावः, कितव + अण्। कोषः—"अस्त्रियां समराऽनीकरणाः कलहविग्रहौ" इत्यमरः। अलंकारः—मौर्यः चासौ इन्दुः इति कर्मधारयाश्रयेण रूपकम्। मौर्यः इन्दु रिवेत्युपमितसमासे उपमाऽलंकारः। छन्दः—शार्दूलविक्रीडितम्। गौड़ी रीति ओजः गुणः।

कञ्चुकी—(प्रविश्य) कष्टं खलु सेवा नाम ! कुतः ?—

भेतव्यं नृपतेस्ततः सचिवतो राज्ञस्ततो वल्लभा-
दन्येभ्यश्च वसन्ति येऽस्य भवने लब्धप्रसादा विटाः।
दैन्यादुन्मुखदर्शनापलपनैः पिण्डार्थमायस्यतः
सेवां लाघवकारिणीं कृतधियः स्थाने श्ववृत्तिं विदुः ॥१४॥

कञ्चुकी—(प्रवेश करके) सेवा भी बड़ी दुःखद वस्तु है।

प्रसङ्गः—चन्द्रगुप्तेन कौटिल्यस्यान्तिके प्रेषितः कञ्चुकी स्वस्य सेवावृत्तिं शोचन् पद्यमिदमुद्धरति।

अन्वयः—(पूर्वं) नृपतेः भेतव्यम्, ततः सचिवतः, ततः राज्ञः वल्लभात् अन्येभ्यः, ये लब्धप्रसादाः विटाः अस्य भवने वसन्ति। कृतधियः स्थाने दैन्यात् उन्मुखं दर्शनापलपनैः पिण्डार्थं आयस्यतः लाघवकारिणीं सेवां श्ववृत्तिं विदुः।

संस्कृतार्थः—पूर्वं तावत्, नृपतेः = राज्ञः, भेतव्यम्, ततः = तदनन्तरं सचिवतः = मन्त्रिणः भेतव्यम्, ततः राज्ञः = नृपस्य, वल्लभात् = प्रियजनात्

भेतव्यम्, अन्येभ्यः = अपरेभ्यः, ये लब्धप्रसादाः = प्राप्तानुग्रहाः, विटाः = धूर्ताः, अस्य = राज्ञः, भवने = प्रासादे, वसन्ति तेभ्यः भेतव्यम् । कृतधियः = पण्डिताः, स्थाने = युक्तमेव, दैन्यात् = दीनभावात्, उन्मुखं = उद्ग्रीवं क्रियाविशेषणं, दर्शनानि = वीक्षितानि, अपलपनानि = मिथ्या भाषणानि, तैः, पिण्डार्थं = भोज्यार्थं, आयस्यतः = क्लिश्यमानस्य भृत्यस्य, लाघवकारिणीं = क्षुद्रत्वविधायिनीं, सेवां = शुश्रूषां, श्ववृत्तिं = सारमेयतां, विदुः = मन्यन्ते कृतधियः इति उपरिष्टादन्वयः ।

भावार्थ—लाङ्गलचालनमधः चरणावपातं, पिण्डदस्य कुरुते मुखोदरदर्शनञ्च एवं भृत्यः तस्मात् बुद्धिकन्तः सेवावृत्तिं श्ववृत्तिमाहुः ।

भावार्थः—सर्व प्रथम राजा से डरना चाहिये तदनन्तर मन्त्री से ततः राजा के प्रिय पात्रों से, फिर उन लोगों से जो धूर्त राजा के घर में रहते हैं। ठीक ही विद्वानों ने निर्धनता के कारण दूसरों का मुख देखने वाले तथा मिथ्या चापलूसी कर जीविकार्थ कष्ट उठाने वाले सेवक को तुच्छ बनाने वाली सेवा वृत्ति को कुत्ते की वृत्ति माना है ।

टिप्पणी

व्याकरणम्—अपलपनम् = अप + लप् + ल्युट् "युवोरनाकौ" इत्यनेनानादेशः । कृतधियः = कृता सफला धीः बुद्धिः येषां ते बहुव्रीहिसमासः, कृ + क्त + टाप् = कृता, ध्यै + क्विप् सम्प्रसारणं च धीः । उन्मुखदर्शनापलपनैः = उत् ऊर्ध्वं मुखं यस्मिन् तत् उन्मुखम्, उत् + खन् + अच्, धातोः पूर्वं मुट् च" दर्शनम् = दृश् + ल्युट् । श्ववृत्तिः = शुनः वृत्तिः षष्ठी तत्पुरुषः,

कोषः—श्ववृत्ति—'सेवा श्ववृत्तिराख्याता', अमरसिंह ।

"शुनो वृत्तिः स्मृता सेवा गर्हितं तद् द्विजन्मनाम्" मनुः ।

अलंकारः—काव्यलिङ्ग

छन्दः—शार्दूलविक्रीडितम्, वैदर्भी रीतिः, प्रसाद गुणः ।

विटः—सम्भोगहीनसम्पत् विटस्तु धूर्तः कलैकदेशज्ञः ।
वेशोपचारकुशलः वाग्मी मधुरोऽथ बहुमतो गोष्ठ्याम् ॥

राजाओं के अन्तःपुरों में विटचेट आदि राजा के शृङ्गार में सहायक होते हैं, जैसा कि "शृङ्गारेऽस्य सहाया विटचेटविदूषकाद्याः ।"

(परिक्रम्यावलोक्य च) इदमार्यचाणक्यस्य गृहं, यावत् प्रविशामि।

(नाट्येन प्रविश्यावलोक्य च) अहो! राजाधिराजमन्त्रिणो गृहभूतिः!! कुतः?—

उपलशकलमेतद्भेदकं गोमयानां
वटुभिरुपहृतानां बर्हिषां स्तोम एषः।
शरणमपि समिद्भिः शुष्यमाणाभिराभि-
विनमितपटलान्तं दृश्यते जीर्णकुड्यम् ॥१५॥

(घूमकर और देखकर) यह आर्य चाणक्य का घर है, जब तक प्रवेश करूँ (अभिनय द्वारा प्रवेश करके और देखकर) अहहा! यह है एक चक्रवर्ती राजा के महामन्त्री का भवन वैभव।

प्रसङ्गः—कञ्चुकी महाराजाधिराजस्य चन्द्रगुप्तस्य महामन्त्रिणः चाणक्यस्य गृहं दृष्ट्वा तस्य निःसङ्गभावमनुमिनोति।

अन्वयः—गोमयानां भेदकं एतत् उपलशकलम्, वटुभिः उपहृतानां बर्हिषां एषः स्तोमः, शुष्यमाणाभिः आभिः समिद्भिः विनमितपटलान्तं जीर्णं कुड्यं शरणमपि दृश्यते।

संस्कृतार्थः—गोमयानां=गोविषां, भेदकं=विदारकं, एतत्=इदं, उपलशकलं=प्रस्तरखण्डं, दृश्यते इति शेषः। वटुभिः अन्तेवासिभिः ब्रह्मचारिभिः, उपहृतानां=समानीतानां, बर्हिषां=कुशानां, एषः=अयं, स्तोमः=समूहः दृश्यते, शुष्यमाणाभिः=आतपे शुष्यन्तीभिः, आभिः=एताभिः, समिद्भिः=यजनकाष्ठैः, विनमितपटलान्तं=विशेषेण नतः पटलान्तः छदिप्रान्तः यस्य तादृशं, जीर्णं कुड्यम्=जीर्णं=विशीर्णं, कुड्यम्=भित्तिः यस्य तादृशं शरणमपि=गृहञ्च, दृश्यते=अक्षिलक्ष्यीक्रियते।

भावार्थः—चाणक्यः अनासक्तिभावेन चन्द्रगुप्तसाचिव्यं करोति अस्यैतत् विशीर्णं गृहं साक्षात् प्रत्यायनम्।

भाषार्थः—एक तरफ सूखे कण्डों को तोड़ने के लिए पत्थर का टुकड़ा है, दूसरी ओर छोटे ब्रह्मचारियों के एकत्र किये गये कुशों का ढेर लगा हैं।

और छप्पर पर सुखाई जाने वाली समिधाओं से घर की छत झुकी जा रही हैं और दीवालें टूट-फूट रही हैं, ऐसा यह महामन्त्री चाणक्य का मकान दीख रहा है।

टिप्पणी

व्याकरणम्—राजाधिराजमन्त्रिणः = अधिकं राजते शोभते इति अधिराजः, राज्ञां अधिराजः, राजाधिराजः तस्य मन्त्रिणः षष्ठीतत्पुरुषसमासः। अधि + राजन् + टच् "राजाहः सखिभ्यष्टच्" अनेन टच् प्रत्ययः। समिद्भिः = समिध्यते आभिः, सम् + इन्धि दीप्त + क्विप् तृतीयाबहुवचने भिस् प्रत्ययः। शुष्यमाणाभिः = शुष् + यक् + शानच् + टाप् तृतीया बहुवचने रूपम्। कोषः—"शरणं गृहरक्षित्रोः" इत्यमरः। अलंकारः—स्वभावोक्तिः। छन्द'—मालिनी "न न म य य युतेयं मालिनी भोगिलोकैः" १५ अक्षरों का एक पाद, ८, ७ पर यति। वैदर्भी रीतिः, प्रसाद गुणः।

तत् स्थाने खल्वस्य वृषलो देवश्चन्द्रगुप्त इति। कुतः—
स्तुवन्त्यश्रान्तास्याः क्षितिपतिभभूतैरपि गुणैः
प्रवाचः कार्पण्याद् यदवितथवाचोऽपि कृतिनः।
प्रभावस्तृष्णायाः स खलु सकलः स्यादितरथा
निरीहाणामीशस्तृणमिव तिरस्कारविषयः ॥१६॥

और तभी तो सम्राट् चन्द्रगुप्त इनके लिये वृषल (शूद्र) हैं—

प्रसङ्ग—कञ्चुकी चाणक्यचरितस्य किमप्यलौकिकं माहात्म्यं चिन्तयन् पुनः वर्णयति।

अन्वयः—अवितथवाचः कृतिनः अपि यत् कार्पण्यात् प्रवाचः सन्तः अश्रान्तास्याः (भूत्वा) अभूतैरपि गुणैः क्षितिपतिं स्तुवन्ति स खलु तृष्णायाः सकलः प्रभावः। इतरथा निरीहाणां ईशः तृणमिव तिरस्कारविषयः स्यात्।

संस्कृतार्थः—अवितथवाचः = न वितथा = अवितथा सत्या = वाक् वाणी येषां तथाभूताः सत्यवाचः, कृतिनः = पुण्यवन्तः, अपि यत् कार्पण्यात् दैन्यात्, प्रवाचः = प्रकृष्टा वाक् येषां तादृशाः वाचालाः सन्तः, अश्रान्तास्याः =

न श्रान्तं अश्रान्तं आस्यं = मुखं येषां तादृशाः भूत्वा, अभूतैः = अविद्यमानैः, अपि गुणैः = दयादाक्षिण्यादिभिः, क्षितिपतिं = राजानं, स्तुवन्ति = प्रशंसन्ते, स खलु = निश्चितं, तृष्णायाः = लोभस्य, सकलः = समग्रः, प्रभावः = माहात्म्यं । इतरथा = अन्यथा, निरीहाणां = निष्कामानां कृते, ईशः = नृपः, तृणमिव = शष्पं बालतृणम्, इव = यथा, तिरस्कारविषयः = अनादरास्पदं, स्यात् = भवेत् ।

भावार्थः—विद्वांसः लोभवशात् एषां धनिनां नृपाणां निगुर्णानामपि प्रशंसां कुर्वन्ति, अन्यथा तु निष्कामाः जनाः तान् तृणाय मन्यन्ते ।

भाषार्थ—सत्यवाक् विद्वान् लोग जो दीनता के कारण सतत इन निर्गुण राजाओं की प्रशंसा करते हैं, वह निश्चित रूप से लोभ लालच का ही प्रभाव होता है । अन्यथा निस्पृह जनों के लिये तो ये राजा लोग तृण के समान अनादर के पात्र होते हैं ।

टिप्पणी

व्याकरणम्—प्रवाचः = प्रकृष्टा वाक् येषांते प्र + वच् परिभाषणे + घञ् । प्रभावः—प्र + भू + घञ् । अवितथवाचः, अश्रान्तास्यः, उभयत्र बहुव्रीहि समासः । निरीहाणां में पंचमी तत्पुरुष । तिरस्कारविषयः—तिरस् + कृ + घञ् तस्य विषयः षष्ठीतत्पुरुषः । आस्यम् = अस्यते ग्रासः अत्र अस् + ण्यत् । कोषः—वक्त्रास्ये वदनं तुण्डमाननं लपनं मुखम्" अमरः । अलंकारः—तृणमिव यहाँ उपमालंकार है । छन्दः—शिखरिणी वृत्तम्, वैदर्भी रीतिः, प्रसादः गुणः ।

(अवलोक्य सभयम्) तदयमार्यचाणक्यस्तिष्ठति ।

यो नन्दमौर्यनृपयोः परिभूय लोक—
मस्तोदयौ प्रतिदिशन्नविभिन्नकालम् ।
पर्यायपातितहिमोष्णमसर्वगामि
धाम्नातिशाययति धाम सहस्रधाम्नः ॥१७॥

(देखते हुए भयभीत होकर) तो ये आचार्य चाणक्य विराजमान हैं ।

प्रसंगः—कञ्चुकी चाणक्यस्य सूर्यातिगं लोकपरिभावि तेजः वर्णयन्नाह।

अन्वयः—यः लोकं परिभूय अविभिन्नकालं नन्दमौर्यनृपयोः अस्तोदयौ प्रतिदिशन् सहस्रधाम्नः असर्वगामि पर्यायपातितहिमोष्णं धाम धाम्ना अतिशययति।

संस्कृतार्थः—यः = कौटिल्यः, लोकं = संसारं, परिभूय = अनादृत्य, अविभिन्नकालं = एककालावच्छेदेन नन्दमौर्यनृपयोः = नन्दनृपस्य मौर्यनृपस्य च, अस्तोदयौ = अपचयोपचयौ, प्रदिशन् = प्रतियच्छन्, सहस्रधाम्नः = मरीचिमालिनः सूर्यस्य इत्यर्थः, असर्वगामि = अर्द्धलोकगामिनं, पर्यायेण = कालक्रमेण, पातितं = नाशितं, हिमं = शीतलं, उष्णं = आतपश्च येन तादृशं धाम = तेजः, धाम्ना = स्वेन तेजसा, अतिशययति = उल्लङ्घते।

भावार्थः—चाणक्योऽर्द्धलोकव्यापिनं सूर्यस्य तेजः स्वतेजसा तिरस्करोति, किञ्च सूर्यस्य धाम पर्यायेण शीतोष्णं जायते परं चाणक्यस्य तेजः युगपत् नन्दस्यकृते शीतं चन्द्रगुप्तस्य च कृते उष्णं भवति, अतः मरीचिमालिनः तेजो स्वतेजसाऽधः करोति।

भाषार्थः—जो संसार का अभिभव करके एक ही समय में नन्द के राज्य और चन्द्रगुप्त के राज्य को अस्त और उदय होते हुए सूर्य के सर्वत्र अव्यापि तथा काल क्रम से कभी शीतल तो कभी गर्म तेज को अपने तेज से यह चाणक्य अतिक्रान्त कर रहा है।

टिप्पणी

व्याकरणम्—परिभूय = परि + भू + क्त्वा (ल्यप्)। हिमश्च उष्णञ्च इति हिमोष्णम्। अतिशययति अति + शीङ् स्वप्ने + णिच् + लट्। कोषः—धाम "गृहदेहत्विट्प्रभावा धामानि" इत्यमरः। धाम शब्द के घर—शरीर—तेज—प्रभाव ये चार अर्थ होते हैं। अलंकारः—अतिशयोक्ति और व्यतिरेक। छन्दः—वसन्ततिलका, पाञ्चाली रीति, ओज गुण।

(जानुभ्याम भूमौ निपत्य) जयतु जयत्वार्यः।

चाणक्यः—नाट्येनावलोक्य) वैहीनरे! किमागमनप्रयोजनम्?

कञ्चुकी—आर्य ! प्रणतसम्भ्रमसमुच्चलितभूमिपालमौलिमाला-माणिक्यशकलशिखापिशङ्गीकृतपादद्वयुगलः सुगृहीतनामधेयो देवश्-चन्द्रगुप्त आर्यं शिरसा प्रणिपत्य विज्ञापयति—'अकृतक्रियान्तराय-मार्यं द्रष्टुमिच्छामि' इति ।

चाणक्यः—वृषलो मां द्रष्टुमिच्छति ? वैहीनरे ! न खलु वृषल-श्रवणपथगतोऽयं मत्कृतः कौमुदीमहोत्सवप्रतिषेधः ?

कञ्चुकी—आर्य ! अर्थं किम् ?

चाणक्यः—(सक्रोधम्) आः ! केन कथितम् ?

(पृथ्वी पर घुटने टेककर) आर्य की जय हो ।

चाणक्य—(देखने का अभिनय करते हुए) हे वैहीनरे ! कैसे आना हुआ ?

कंचुकी—आर्य ! सुगृहीतनामधेय अर्थात् प्रातःस्मरणीय देव चन्द्र-गुप्त जिनके दोनों चरणकमल प्रणाम करने के लिये झुके हुए तथा शीघ्रता वश कम्पायमान राजाओं की चूड़ापंक्ति पर स्थित रत्नखण्डों की रश्मियों से लाल बने रहते हैं आपको नत मस्तक हो निवेदन करते हैं कि यदि किसी कार्य में विघ्न न पड़े तो आपसे मिलना चाहता हूँ ।

संस्कृतार्थ—आर्य ! प्रणताः = कृतनस्काराः, ससम्भ्रमं = सत्वरितं यथा स्यात्तथा, समुच्चलितानां = कम्पायमाननां, भूमिपालानां = नृपाणां, मौलि-मालासु = चूड़ापंक्तिषु, माणिक्यशकलानां = रत्नखण्डानां, शिखाभिः = ज्वालाभिः, पिशङ्गीकृतं = पिङ्गलीकृतं, पादयुगलं = चरणकमलयुगलं यस्य तथाभूतः, सुगृहीतनामधेयः = प्रातःस्मरणीयः, देवः = सम्राट्, चन्द्रगुप्तः = मौर्यः, आर्यं = भवन्तं, शिरसा = मस्तकेन, प्रणिपत्य = नमस्कृत्य, विज्ञाप यति = निवेदयति यदहं अकृतक्रियान्तरायं = विघ्नशून्यकर्माणं, आर्यं = भवन्तं चाणक्यं, द्रष्टुं = साक्षात्कर्तुं, इच्छामि = अभिलषामि ।

चाणक्य—वैहीनरे ! क्या चन्द्रगुप्त मुझसे मिलना चाहता है ? मेरे द्वारा किया हुआ कौमुदी-महोत्सव का निषेध चन्द्रगुप्त के कानों तक तो नहीं पहुँच गया है ?

कंचुकी—आर्य ! और क्या

चाणक्य—(क्रोधपूर्वक) ऐं, किसने कहा ?

व्याकरणम्—अकृतक्रियान्तरायम्=न कृतः अकृतः, क्रियासु विघेयेषु अन्तरायः विघ्नः यस्य तथाविधं, भवन्तम्। सुगृहीतनामधेयः—सुगृहीतं=स्मरणीयं, नामधेयं = नाम यस्य सः बहुव्रीहिसमासः। प्रणिपत्य = प्र + नि + पत् + क्त्वा (ल्यप्)।

कञ्चुकी—(भयं नाटयित्वा) प्रसीदत्वार्यः। स्वयमेव सुगाङ्गप्रासादशिखरगतेन देवेनावलोकितमप्रवृत्तकौमुदीमहोत्सवं कुसुमपुरम्।

चाणक्य —आः ! ज्ञातम्। भवद्भिरेव मदन्तरा प्रोत्साह्य रोषितो वृषलः। किमन्यत् ?

कञ्चुकी—(सभयं तूष्णीमधोमुखस्तिष्ठति।)

चाणक्यः—अहो ! राजपरिजनस्य चाणक्योपरि विद्वेषपक्षपातः। अथ क्व वृषलस्तिष्ठति ?

कञ्चुकी—(भयं नाटयन्) आर्य ! सुगाङ्गप्रासादगतेन देवेनाहमार्यपादमूलं प्रेषितः।

चाणक्यः—(उत्थाय) कञ्चुकिन् ! सुगाङ्गप्रासादमार्गमादेशय।

कञ्चुकी—इत इत आर्यः। (इत्युभौ परिक्रामतः।)

कञ्चुकी—अयं सुगाङ्गप्रासादः, शनैरारोढुमर्हत्यार्यः।

कञ्चुकी—(भय का अभिनय करके) आर्य प्रसन्न हो। स्वयं सुगाङ्ग प्रासाद के शिखर पर गये हुए महाराज ने कौमुदीमहोत्सव के समारम्भ से शून्य कुसुमपुर को देखा।

चाणक्य—हाँ, समझ गया। तुम्हीं लोगों ने मेरी अनुपस्थिति में भड़काकर चन्द्रगुप्त को कुपित कर दिया है। और क्या हो सकता है ?

कञ्चुकी—(भय के साथ नीचे मुँह किये चुपचाप खड़ा रहता है)

चाणक्य—अच्छा, इन राज-परिजनों का चाणक्य के साथ ऐसा विरोध-विद्वेष। बताओ चन्द्रगुप्त कहाँ है ?

कञ्चुकी—(भय का अभिनय करते हुए) मुझे जब श्रीमान् जी के चरण कमलों में भेजा था तब सुगाङ्ग प्रासाद में थे।

चाणक्य—(उठकर) चलो सुगाङ्ग प्रासाद का मार्ग बताओ।

कञ्चुकी - आर्य ! इधर से पधारें, (दोनों घूमते हैं)

कञ्चुकी—यह सुगाङ्ग प्रासाद है, धीरे से ऊपर चढ़ने की कृपा करें श्रीमान् जी।

संस्कृतार्थः—चाणक्यः वृषलो मामिति—

वृषलः चन्द्रगुप्तः, मां = चाणक्यं, द्रुष्टुं = अवलोकयितुम्, इच्छति = वाञ्छति किम्। वैहीनरे ! अयं = एषः, मत्कृतः = अस्माभिराज्ञप्तः कौमुदी-महोत्सवप्रतिषेधः = शरत्पूर्णिमायाः चन्द्रहेतुकमहोत्सवस्य निषेधः, वृषल-श्रवणगतः = चन्द्रगुप्तेन कर्णकुहरीकृतः, न खलु = न श्रुतः निश्चयेन।

कञ्चुकी—भयं नाटयित्वेति—

सुगाङ्गप्रासादशिखरगतेन = सुगाङ्गप्रासादस्याग्रभागमारूढेन, देवेन = चन्द्रगुप्तेन, स्वयमेव अप्रवृत्तकौमुदीमहोत्सवम् = अप्रवृत्तः = अनारब्धः, कौमुदी-महोत्सवः = शरत्पूर्णचन्द्रोत्सवः यस्मिन् तादृशं, कुसुमपुरं, अवलोकितं = अक्षिलक्ष्यीकृतम्।

चाणक्यः—(नाट्येनावरुह्यावलोक्य च। अये, सिंहासनमध्यास्ते वृषलः। साधु साध्।

नन्दैर्वियुक्तमनपेक्षितराजवृत्तौ—
रध्यासितं च वृषलेन वृषेण राज्ञाम्।
सिंहासनं सदृशपार्थिवसंगतं च
प्रीतिं परां प्रगुणयन्ति गुणा ममैते ॥१८॥

चाणक्य—(चढ़ने का अभिनय करते हुए, देखकर, हर्षपूर्वक स्वागत) ओह वृषल सिंहासन पर विराजमान है। बहुत ठीक।

प्रसङ्गः—चाणक्यः चन्द्रगुप्तं सिंहासनासीनं समीक्ष्यामन्दानन्दसन्दोह-मनुभवन् पद्यमिदमाह।

अन्वयः—अनपेक्षितराजराजैः नन्दैः वियुक्तम्, राज्ञां वृषेण वृषलेन अध्या-

सितं च, सदृशपार्थिवसङ्गतं च, सिंहासनं, एते गुणाः मम परां प्रीतिं प्रगुणयन्ति ।

संस्कृतार्थः—अनपेक्षितराजराजैः = न अपेक्षितः अनपेक्षितः = अनादृतः, राजराजः = कुवेरः यैः तैः नन्दैः = तदाख्यनृपैः, वियुक्तम् = विहीनं, राज्ञां = भूपतीनां, वृषेण = उत्तमेन, वृषलेन = चन्द्रगुप्तेन, अध्यासितं = अधिष्ठितं, सदृशेन = आत्मतुल्येन, पार्थिवेन = नृपेण, सङ्गतं च = संयुक्तं च जातमिति शेषः, एते गुणाः = अभ्युदयाः, मम = चाणक्यस्य, परां = अत्यधिकां, प्रीतिं = आनन्दं, प्रगुणयन्ति = उत्पादयन्ति ।

भावार्थः—चाणक्यः सिंहासनासीनं चन्द्रगुप्तं निचाय्य, योग्येन योग्यं युक्तं इति ध्यायं ध्यायं परमप्रमोदं प्राप्नोति ।

भाषार्थः—कुबेर का भी तिरस्कार करने वाले नन्दों से रहित राजाओं में श्रेष्ठ चन्द्रगुप्त से अधिष्ठित अपने अनुरूप राजा से युक्त राज सिंहासन हो गया है । ये तीन गुण नन्द से वियुक्त, चन्द्रगुप्त से अधिष्ठित, योग्य राजा से युक्त ये मेरी प्रीति को अत्यधिक बढ़ा रहे हैं ।

टिप्पणी

व्याकरणम – वियुक्तम्—वि + युज् + क्त । अध्यासितम् – अधि + आस् + क्त, सदृशः – समान (स) + दृश् + कञ् । पार्थिवः – पृथिवी + अञ् । कोष —वृषभः "शुक्रले मूषिके श्रेष्ठे सुकृते वृषभे वृषः" इत्यमरः । अलंकारः—सम अलङ्कार—समं स्यादानुरूपेण श्लाघा योग्यस्य वस्तुनः" इति दर्पणकारः । वसन्ततिलकावृत्तम्, प्रसाद गुणः, वैदर्भी च रीतिः ।

अनपेक्षितराजराजैः के स्थान पर अनपेक्षितराजवृत्तैः पाठान्तर"

(उपसृत्य) विजयतां वृषलः ।

(सिंहासनादुत्थाय चाणक्यस्य पादौ गृहीत्वा) आर्य ! चन्द्रगुप्तः प्रणमति ।

चाणक्यः—(पाणौ गृहीत्वा) उत्तिष्ठोत्तिष्ठ वत्स !—

आ शैलेन्द्राच्छिलान्तःस्खलितसुरनदीशीकरासारशीता-

त्तीरान्तान्नैकरागस्फुरितमणिरुचो दक्षिणस्यार्णवस्य ।
आगत्यागत्य भीतिप्रणतनृपशतैः शश्वदेव क्रियन्तां
चडारत्नांशुगर्भास्तव चरणयुगस्याङ्गुलीरन्ध्रभागाः ।।१९।।

(पास में जाकर) वृषल की जय हो ।

राजा—(सिंहासन से उठकर चाणक्य के पैर पकड़कर) आर्य । चन्द्रगुप्त प्रणाम करता है ।

चाणक्यः—(हाथो से उठाकर) उठो उठो चन्द्रगुप्त !

प्रसङ्गः—आहिमालयात्—आसेतुबन्धात् समागताः सर्वे राजानः त्वदधीनाः सन्तः त्वां प्रणमन्तु, इत्याशिषा सम्वर्द्धयन् चाणक्यः मौर्यं ब्रवीति ।

अन्वयः—शिलान्तः स्खलितसुरनदीशीकरासारशीतात् शैलेन्द्रात् आ, नैकरागस्फुरितमणिरुचः दक्षिणस्य अर्णवस्य तीरान्तात् आगत्य आगत्य भीतिप्रणतनृपशतैः तव चरणयुगस्य अङ्गुलीरन्ध्रभागाः शश्वदेव चूडारत्नांशुगर्भाः क्रियन्ताम् ।

संस्कृतार्थः—शिलानां=पाषाणानां, अन्तः=मध्ये, स्खलितायाः=पतितायाः सुरनद्याः=सुरसरितः गङ्गायाः इत्यर्थः, शीकराणां=जलकणानां,आसारेण=वर्षणेन, शीतात्=शिशिरात्, शैलेन्द्रात्=हिमालयात्, आ=मर्यादीकृत्य, नैकरागस्फुरितमणिरुचेः=नैकैः=न एकैः अनेकैः, बहुभिरित्यर्थः, रागैः=वर्णैः हरितपीतादिभिः, स्फुरिताः=प्रकाशमानाः मणिरुचः=रत्नकान्तयः यस्मिन् तथाभूतस्य दक्षिणस्य=याम्यदिग्वर्तिनः, अर्णवस्य=सागरस्य, तीरान्तात्=कूलात् तटादित्यर्थः, आगत्य आगत्य—भूयोभूयः सम्भूय—समेत्य, भीत्या=भयेन, प्रणतैः प्रह्वीभूतैः नृपशतैः=नृपाणां शतैः राजमण्डलैः इत्यर्थः, तव=भवतः चन्द्रगुप्तस्य, चरणयुगस्य=पादद्वयस्य, अङ्गुलीनां=अंगुरीणां, रन्ध्रभागः=छिद्रप्रदेशाः, शश्वदेव=सदैव, चूडारत्नांशुगर्भाः=मुकुटमणिकिरणाऽभ्यन्तराः क्रियन्ताम् सम्पाद्यन्ताम् ।

भावार्थः—अस्मिन् पद्ये चाणक्यः चन्द्रगुप्तं स्वाशिषा सम्वर्द्धयन् वदति, यदुत्तरस्यां दिशि हिमालयादारभ्य दक्षिणस्यां च दिशि सागरतटादागत्य तव चरणकमलेषु नृपाणां प्रणामाञ्जलयः विलसन्तुतरां सुतराम् ।

भाषार्थ—शिलाओं के मध्य में गिरती हुई गङ्गा की जल-विन्दुओं की

निरन्तर वर्षा से शीतल, हिमालय से लेकर दक्षिणी समुद्र के तट से आ आकर अनेक वर्णों से देदीप्यमान मणि कान्ति वाले राज मण्डल जो भय से झुके हुए हैं तुम्हारे दोनों चरणों की अंगुलियों के छिद्रभाग सदैव उनकी शिरःस्थिति रत्नों की किरणों से युक्त हों।

टिप्पणी

व्याकरणम्—आशैलेन्द्रात् यहाँ आङ् के योग में "पञ्चम्यपाङ्परिभिः" सूत्र से पञ्चमी। चूडारत्नांशुगर्भाः = चूडारत्नानां अंशवः गर्भे येषां तादृशाः व्यधिकरणबहुव्रीहिसमासः। क्रियन्ताम् यहाँ आशीः अर्थ में लोट्लकार है। अर्णवस्य – अर्णांसि जलानि सन्ति यस्मिन् अर्णस् + व सकारलोपः। नैकः = न एकः नैकः "सुप्सुपा इति समासः। कोषः—"अम्भोऽर्णस्तोयपानीयं"। अर्णवः "सरस्वान् सागरोऽर्णवः" उभयत्रामरः। छन्दः—स्रग्धरा वृत्तम्।

राजा—आर्यप्रसादादनुभूयत एवैतत, नाऽऽशास्यते। उपविशत्वार्यः। (इत्युभौ यथासनमुपविष्टौ।)

चाणक्यः—वृषल! किमर्थं वयमाहूताः?

राजा—आर्यस्य दर्शनेनात्मानमनुग्राहयितुम्।

चाणक्यः—(स्मितं कृत्वा) वृषल! अलमनेन प्रश्रयेण, न निष्प्रयोजनमधिकारवन्तः प्रभुभिराहूयन्ते; तत् प्रयोजनमभिधीयताम्।

राजा—आर्य! यह सब आप का प्रसाद मिल रहा है न कि मिलना है, आप बैठें (दोनों यथास्थान बैठ जाते हैं)।

चाणक्य—वृषल! हमें किसलिये बुलाया है?

राजा—आपके दर्शनों से कृतार्थ होने के लिये।

चाणक्य—(मुस्कराकर) वृषल! यह अनुनय विनय पर्याप्त हो गया, बस बस, राजाओं से अधिकारी विना प्रयोजन के नहीं बुलाये जाते। इसलिये बुलाने का प्रयोजन कहिये।

राजा—आर्य! कौमुदीमहोत्सवप्रतिषेधस्य किं लमार्यः पश्यति?

चाणक्यः—(स्मितं कृत्वा) वृषल! उपालब्धुं तर्हि वयमाहूताः।

राजा—आर्य ! नोपालब्धुम् ।

चाणक्यः—किं तर्हि ?

राजा—विज्ञापयितुम् ।

चाणक्यः—वृषल ! यद्येवं तर्हि विज्ञापनीयानामवश्यं शिष्येण रुचयोऽनुरोद्धव्याः ।

राजा—आर्य ! कः सन्देहः ? किन्तु न कदाचिदप्यार्यस्य निष्प्रयोजना प्रवृत्तिरित्यस्ति न प्रश्नावकाशः ।

चाणक्यः—वृषल ! सम्यग्गृहीतवानसि मदाशयम् । न हि प्रयोजनमनपेक्षमाणः स्वप्नेऽपि चाणक्यश्चेष्टते ।

राजा—आर्य ! अतएव मां प्रयोजनशुश्रूषा मुखरयति ।

चाणक्यः—वृषल ! श्रूयताम् । इह खल्वर्थशास्त्रकाराः त्रिविधां सिद्धिमुपवर्णयन्ति । तद्यथा—राजायत्तां, सचिवायत्ताम्, उभयायत्तामेति । तत् सचिवायत्तसिद्धर्भवतः किं फलान्वेषणेन ! यतो वयमेवात्र नियुक्ता वेत्स्यामः ।

राजा—(सकोप इव मुखं परावर्तयति ।)

राजा=आर्य ! कौमुदी महोत्सव के रोकने का क्या परिणाम आप देखते हैं ।

चाणक्य—(मुस्कराकर) वृषल ! उलहना देने के लिये हमें बुलाया गया है ।

राजा—आर्य ! उलहना देने के लिये नहीं ।

चाणक्य—तो किसलिये ?

राजा—निवेदन करने के लिये ।

चाणक्य—वृषल ! यदि ऐसा है तो शिष्य को उनकी इच्छाओं का अवश्य ध्यान रखना चाहिये जिनसे निवेदन करना है ।

राजा—आर्य ! इसमें क्या सन्देह है । लेकिन बिना प्रयोजन के आपका कोई कार्यव्यापार नहीं होता है, केवल यही पूछना है ।

चाणक्य—वृषल ! तुम मेरा अभिप्राय ठीक समझे। बिना प्रयोजन के तो चाणक्य स्वप्न में भी कुछ नहीं करता।

राजा—आर्य ! इसीलिये तो मुझको प्रयोजन सुनने की इच्छा वाचालित कर रही है।

चाणक्य—वृषल ! सुनो, निश्चय से अर्थशास्त्रकारों ने तीन प्रकार की ही सिद्धि का वर्णन किया है : तथाहि प्रथम—राजायत्त, दूसरी सचिवायत्त, तीसरी राजा और मन्त्री दोनों के अधीन। तुम्हारी सिद्धि तो सचिवायत्त है। फिर परिणाम की खोज से तुम्हें क्या प्रयोजन ? यह तो हम ही इस विषय में जानेंगे।

राजा—(क्रुद्ध सा होकर मुँह फेर लेता है)

(तदनन्तर नेपथ्य में वैतालिकों का प्रशस्तिपाठ)

टिप्पणी

व्याकरणम्—अनुग्राहयितुम्=अनु+ग्रह्=णिच्+तुमुन्। प्रश्रयेण=प्र+श्रि+अच्, करणे तृतीया। अधिकारवन्तः=अधिकार+मतुप् (मतुप् को वतुप्)। शुश्रूषा=श्रोतुं इच्छा श्रू+सन्+अ+टाप्। राजायत्ताम्=राज+आ+यत्+क्त राजनि आयत्ता 'सुप्सुपा समासः। मुखरयति=मुखरः वाचालः तं करोति मुखर+णिच्+लट्+तिप् (नामधातुः)।

(ततो नेपथ्ये वैतालिकौ पठतः।)

एकः——

आकाशं काशपुष्पच्छविमभिभवता भस्मना शुक्लयन्ती
शीतांशोरंशुजालैर्जलधरमलिनां क्लिन्दती कृत्तिमैभीम्।
कापालीमुद्वहन्ती स्रजमिव धवलां कौमुदीमित्यपूर्वा
हासश्रीराजहंसा हरतु तनुरिव क्लेशमैशी शरद्वः ॥ २० ॥

प्रसङ्गः—राक्षसेन पूर्वमेव नियुक्तः वैतालिको नाम कश्चित् तस्यैव गुप्तचरः चाणक्यचन्द्रगुप्तयोः वैरमुत्तेजयितुं शरद्वतुं शिवतनुं च भंग्यन्तरेणोपवर्णयति।

अन्वयः—(शरद् पक्षे) भस्म अभिभवन्त्या काशपुष्पच्छव्या आकाशं शुक्लयन्ती, शीतांशोः अंशुजालैः ऐभीं कृत्तिं इव जलधरमलिनां क्लिन्दती,

कापालीं स्रजं इव धवलां कौमुदीं उद्वहन्ती, हास्यश्रीरिव राजहंसा, अपूर्वा ऐशी तनुः इव शरत् वः क्लेशं हरतु ।

संस्कृतार्थः—भस्म=भूति, अभिभवन्त्या=तिरस्कुर्वन्त्या, काशपुष्पच्छव्या=काशकुसुमकान्त्या, आकाशं=नभः, शुक्लयन्ती भासयन्ती, शीतांशोः=शशिनः अंशुजालैः=रश्मिसमूहैः, ऐभीं=गजासुरविषयां, कृत्तिमिव=गजचर्मवत्, जलधरमलिनां=जलधरस्य=नीरदस्य, मलिनां=मलिनतां, क्लिन्दती=सिञ्चन्ती कापालीं=नरकपालकल्पितां, स्रजमिव=मालामिव, धवलां=शुभ्रां, कौमुदीं=चन्द्रचन्द्रिकां, उद्वहन्ती=धारयन्ती, हासश्रीरिव=हास्यशोभामिव, राजहंसो यस्यां तादृशी, अपूर्वा=विचित्रा, ऐशी तनुः इव=शिवशरीरमिव, शरत् ऋतुः, वः=युष्माकं चाणक्यचन्द्रगुप्तयोः, क्लेशं=दुःखं, मलयकेतुराक्षसयोरभियोगजनितमित्यर्थः । हरतु=विनाशयतु ।

अन्वय :—(शिव पक्षे) काशपुष्पच्छविं अभिभवता भस्मना आकाशं शुक्लयन्ती, शीतांशोः अंशुजालैः जलधरमलिनां ऐभीं कृत्तिं क्लिन्दती, कौमुदीमिव धवलां कापालीं स्रजं उद्वहन्ती हासश्रीराजहंसा अपूर्वा शरत् इव ऐशीं तनुः व क्लेशं हरतु ।

संस्कृतार्थः :—(शिवपक्षे) काशपुष्पच्छविं=काशकुसुमकान्तिं, अभिभवता=तिरस्कुर्वता, ततोऽपि धवलतरेण इत्यर्थः भस्मना=भूत्या, आकाशं=गगनं, शुक्लयन्ती=शुभ्रयन्ती धवलयन्तीतियावत्, शीतांशोः=चन्द्रस्य, अंशुजालैः=किरणसमूहैः, जलधरमलिनां=मेघतुल्यां नीलां, ऐभीं=गजासुरसम्बन्धिनीं, कृत्तिं=चर्म, क्लिन्दती=प्रक्षालयन्ती, कौमुदीमिव=ज्योत्स्नामिव धवलां=श्वेतां सितां च, कापालीं=नरकपालकल्पितां, स्रजं=मुण्डमालां, उद्वहन्तीं=दधती, हास्यश्रीः=हास्यस्य सम्पत्, राजहंसी इव यस्यां तनौ तादृशी, अपूर्वा=अलौकिका शरद् इव ऐशी तनुः=शाम्भवं शरीरं, वः युवयो चन्द्रगुप्तचाणक्ययोः, क्लेशं दुःखं हरतु=अपनयतु ।

भावार्थ :—अस्मिन् पद्ये श्लेषेण शरदः शिवतनोश्च परस्परं उपमानोपमेयभावं वर्णयता वैतालिकमुखेन कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धेनाविष्कृतं किमप्यलौकिकं वर्णनम् ।

भाषार्थ :—(शरत् पक्ष में) अपनी शुभ्रता से महादेव की भस्म की श्वेतता को निरादर करती हुई काश कुसुम की कान्ति से गगन मण्डल को शुभ्र बनाती हुई, चन्द्र किरणों से गजासुर सम्बन्धी चर्म के समान मेघों की मलिनता को नष्ट करती हुई, कपाल-कल्पिता माला के समान निर्मल ज्योत्स्ना को धारण करती हुई, हास्य की शुभ्रता के समान राजहंसों वाली अपूर्व गुणशाली, शिव के शरीर के समान शरद् ऋतु आपके क्लेश को दूर करे।

भाषार्थ :—(शिव पक्ष में) काश पुष्प की कान्ति से अधिक कान्ति वाले भस्म से आकाश को श्वेत बनाता हुआ, चन्द्र किरणों से मेघ के समान मलिन वर्ण वाली हाथी सम्बन्धिनी खाल को विवर्ण बनाता हुआ चन्द्र कान्ति के समान शुभ्र नर कपालों की माला को धारण करता हुआ राजहंसों के समान अट्टहास की शोभा वाला, अद्भुत शरद् ऋतु के समान शिवजी का शरीर आपके दुःखों को दूर करे।

टिप्पणी

व्याकरणम्—वैतालिकः=वेताल+ठक् "ठस्येकः" वृद्धिश्च। शुक्लयन्ती =शुक्ल+णिच्+शतृ+ङीप् (नामधातु)। कापालीं—कपालानां इयं कपाल +अण्+ङीप्। ऐशी=ईशस्य इयं ईश+अण्+ङीप्। कोषः—शुक्ल-शुभ्रशुचिश्वेतविशेदश्येतपाण्डुराः" इत्यमरः

अलंकार =उपमा, छन्द=स्रग्धरा वृत्तम्।

अपि च—

प्रत्यग्रोन्मेषनिद्रा क्षणमनभिमुखी रत्नदीपप्रभाणा-
मात्मव्यापारगुर्वी जनितजललवा जृम्भितैः साङ्गभङ्गैः।
नागाङ्कं मोक्तुमिच्छोः शयनमुरु फणाचक्रवालोपधानं
निद्राच्छेदाभिताम्रा चिरमवतु हरेर्दृष्टिराकेकरा वः ॥२१॥

२१ प्रत्यग्रोन्मेष इति—

प्रसङ्गः—वैतालव्यञ्जकः गुप्तचरः शरदृतुं भङ्ग्यन्तरेण वर्णयन् महाराजं चन्द्रगुप्तमुत्साहयति।

अन्वयः—फणाचक्रवालोपधानम् उरु नागाङ्कं शयनं मोक्तुमिच्छोः हरेः

प्रत्यग्रोन्मेषजिह्मा क्षणं रत्नदीपप्रभाणां अनभिमुखी साङ्गभङ्गैः जृम्भितैः जनितजललवा आत्मव्यापारगुर्वी आकेकरा निद्राच्छेदाभिताम्रा दृष्टिः वः चिरं अवतु ।

संस्कृतार्थः—फणाचक्रवालोपधानं = फणानां = आभोगानां, चक्रवालं = मण्डलं, तदेव उपधानं = शिरोधनं, यस्मिन् तादृशं, उरु = महत्, नागाङ्कं = सर्पक्रोडं, एव शयनं = शय्यां, मोक्तुं = त्यक्तुं, इच्छोः = अभिलषमाणस्य, हरेः = विष्णोः, प्रत्यग्रोन्मेषेण = नवोन्मीलनेन, जिह्मा = वक्रा, क्षणं = किञ्चित्कालं, रत्नदीपानां = रत्नानि एव दीपाः तेषां प्रभाणां = कान्तीनाम्, अनभिमुखी असम्मुखी, साङ्गभङ्गैः = अङ्गभङ्गसहितैः, जृम्भितैः = जृम्भणैः, जनितजललवा = उत्पन्नास्रुकणाः, अतएव, आत्मव्यापारगुर्वी = दर्शनेऽसमर्था, आकेकरा = अर्द्धनिमीलिता, निद्राच्छेदाभिताम्रा = निद्रायाः भङ्गेनातिरक्ता, दृष्टिः = लोचनं वः = युष्मान्, चिरं = वहुकालं, अवतु = रक्षतु ।

भावार्थः—शरदृतौ भङ्गनिद्रः विष्णुरिव चन्द्रगुप्तोऽपि विगतनिद्रः शनैः शनैः सर्वं कार्यकलापं अक्षिलक्ष्यीकरोतु इति निगूढार्थः ।

भाषार्थः—और भी—फनों के वने सिरहानों से शोभायमान शेषनाग के गोद रूप पलंग से उठ बैठने की इच्छा वाले भगवान् विष्णु के अलसाये अधखुले नेत्र आपका कल्याण करते रहें जो सहसा निद्रा भङ्ग के कारण दीप रूप शेष नाग की शिर की मणि की शिखा पर टिक नहीं पाती, जम्भाई लेने के कारण उत्पन्न आसुओं वाली, अतएव देखने में असमर्थ तथा अतिरक्त दृष्टि तुम्हारी रक्षा करें ।

टिप्पणी

व्याकरणम्—वः = युष्मान्, अन्वादेश में युष्मद्—अस्मद् शब्दों के स्थान में वस्—नस् (वः और नः) आदेश है । जिह्मा = जहातिसरलमार्गं इति (ओहाक् त्यागे) हा + मन् सन्वत्कार्यआकार लोपश्च । जृम्भितैः—जृम्भ् + क्त + भिस् । दृष्टिः = दृश् + क्तिन् । मोक्तुम् = मुच् + तुमुन् । उपधानम् = तकिया, उप + धा + ल्युट् (अनादेशः युवोरनाकौ) । कोषः—आकेकरा = अर्द्धनिमीलिता दृष्टिराकेकरा किञ्चित् स्फुटापाङ्गे प्रसारिता । मीलितार्द्धपुटा

लोके तारा व्यावर्तनोत्तरा ॥ "स्फुटायां तु फणा द्वयोः" चक्रवालं तु मण्डलं" इत्यमरः। अलङ्कारः—रूपक तथा स्वभावोक्तिः, द्वयोः संसृष्टिः। छन्दः—स्रग्धरा, लाटी रीतिः, प्रसाद गुणः।

द्वितीयः—

सत्त्वोत्कर्षस्य धात्रा निधय इव कृताः केऽपि कस्यापि हेतो-
र्जेतारः स्वेन धाम्ना मदसलिलमुचां नागयूथेश्वराणाम्।
दंष्ट्राभङ्गं मृगाणामधिपतय इव व्यक्तमानावलेपा-
नाऽऽज्ञाभङ्गं सहन्ते नृवर नृपतयस्त्वादृशाः सार्वभौमाः ॥२२॥

प्रसङ्गः—द्वितीयः वैतालिकः चाणक्यात् चन्द्रगुप्तं विघटयितुं सिंहोपमानेन स्तौति।

अन्वयः—नृवर! धात्रा सत्त्वोत्कर्षस्य केऽपि कस्यापि हेतोः निधयः इव कृताः, मदसलिलमुचां नागयूथेश्वराणां स्वेन धाम्ना जेतारः मृगाणां अधिपतयः इव दंष्ट्राभङ्गं न सहन्ते, (एवमेव) व्यक्तमानावलेपाः सार्वभौमा त्वादृशाः नृपतयः आज्ञाभङ्गं न सहन्ते।

संस्कृतार्थः—नृवर! हे पुरुषोत्तम, धात्रा = प्रजापतिना, सत्त्वोत्कर्षस्य = बलाधिक्यस्य, केऽपि = अलौकिकमहिमानः, कस्यापि = कस्मैचित्, हेतोः = प्रयोजनाय, निधयः = आकराः इव, कृताः = उत्पादिताः, ये मदसलिलमुचां = मदवारिप्रसृजां, नागयूथेश्वराणां = नागानां = गजानां, यूथेश्वराणां = यूथपतीनां, स्वेन = स्वकीयेन, धाम्ना = तेजसा, जेतारः = विजयिनः, मृगाणां = चतुष्पदां, अधिपतयः = स्वामिनः, इव = यथा, दंष्ट्राभङ्गं = दन्तोत्पाटनं, न सहन्ते = न मृष्यन्ति, तथैव व्यक्तमानावलेपाः = व्यक्तौ = स्फुटौ, मानावलेपौ = स्वाभिमानगर्वौ येषां ते सार्वभौमाः = चक्रवर्तिनः, त्वादृशाः = भवादृशाः, चन्द्रगुप्ततुल्याः, नृपतयः = राजानः, आज्ञाभङ्गं = आदेशोल्लंघनं, न सहन्ते।

भावार्थः—कौमुदीमहोत्सवस्य निरोधकः आज्ञाभङ्गकारकः चाणक्यः सर्वथाऽमर्षणीयः, सोऽवश्यमेव दण्डनीयः त्वया इति भावः।

भाषार्थः—हे पुरुषोत्तम! प्रजापति से बल के निधि प्रकट स्वाभिमान

स्वाभिमान और गर्व से युक्त किसी विशेष प्रयोजन के लिये उत्पन्न किये गये आप सरीखे चक्रवर्ती राजा अपने तेज के कारण आज्ञोल्लंघन उसी प्रकार सहन नहीं करते हैं जैसे मदमस्त गज समुदाय का विजेता सिंह अपने दन्तोत्पाटन को सहन नहीं करता है '

टिप्पणी

व्याकरणम्—निधयः=नि+धा+कि प्रत्ययः "कर्मण्यधिकरणे च" इस सूत्र से अधिकरण अर्थ में कि प्रत्ययः। कस्यापि हेतोः=यहाँ "षष्ठी हेतु-प्रयोगे" सूत्र से षष्ठी विभक्तिः। व्यक्तम्=स्पष्टम्, वि+अञ्ज्+क्त। मानः=मनु (अवबोधने)+घञ्। अवलेपः=अव+लिप्+घञ्। मानश्च अवलेपश्च मानावलेपौ इतरेतरद्वन्द्वः। समस्तसम्पूर्णपदव्यक्तौ मानावलेपौ येषामिति बहुव्रीहि समासः। त्वादृशः=युष्मद्+दृश्+कञ् "त्यदादिषु दृशेरनालोचने कञ्" सार्व भौमा=सर्वभूमेः स्वमिनः, सर्वभूमि+अण् "अनुशतिकादीनां च" सूत्र से उभयपदवृद्धिः। कोषः—सार्वभौमः—"चक्रवर्ती सार्वभौमो नृपः"। धाम—"गृहदेहत्विट्प्रभावाः धाम्नि अथ चतुष्पथे" इत्यमरः। अलंकारः—दंष्ट्रा भङ्गमिव" में उपमा। निधयः इव यहाँ उत्प्रेक्षा। दोनों की संसृष्टि। छन्दः—स्रग्धरा, ओज गुण, वैदर्भी रीतिः।

अपि च—

भूषणाद्युपभोगेन प्रभुर्भवति न प्रभुः
परैरपरिभूताज्ञस्त्वमिव प्रभुरुच्यते ॥२३॥

प्रसंगः—राक्षसस्य वैतालव्यञ्जकः स्तनकलशनामधेयो गुप्तचरः चन्द्रगुप्तं चाणक्यात् भेत्तुं पुनः प्रयततेऽनेन पद्येन।

अन्वयः—प्रभुः भूषणाद्युपभोगेन प्रभुः न भवति। त्वमिव परैः अपरिभूताज्ञः प्रभुः उच्यते।

संस्कृतार्थः—प्रभुः=नृपः, भूषणाद्युपभोगेन=भूषणादीनां=कटक-कुण्डलाद्यलङ्काराणां, उपभोगेन=निर्वेशेण, प्रभुः=नृपः न भवति=न सम्प-द्यते, त्वमिव=भवानिव परैः=अन्यैः, अपरिभूताज्ञा=अपरिभूता=अप्रतिहता

आज्ञा = नियोगः यस्य तादृशः, प्रभुः = राजा, उच्यते = कथ्यते ।

भावार्थः—भूषणानामुपभोगः राज्ञां संघटते, परमलङ्काराणां निर्वेश एव न प्रभुत्वस्य कारणम्, वस्तुतः प्रभुत्वस्य प्रधानं निदानं तु अव्याहतनिदेशत्वमेव ।

भाषार्थः—राजा आभूषणादि का उपभोग करने से राजा नहीं होता है, परन्तु आपही की तरह दूसरों से उल्लंघन न किये जाने वाली आज्ञा से राजा वस्तुतः राजा कहलाने योग्य होता है ।

टिप्पणी

व्याकरणम्—प्रभुः = प्रकर्षेण भवति इति प्र + भू + डु । भूषणम् = भूष् + ल्युट् । उपभोगेन = उप + भुज् + घञ् । उपभोगः तेन । अपरिभूताज्ञः = अपरिभूता आज्ञा यस्य सः बहुव्रीहिसमासः । अपरिभूता = अ + परि + भू + क्त + टाप् । आज्ञा – आ + ज्ञा + अङ् + टाप् । उच्यते = वच् + यक् + लट् सम्प्रसारणं च । कोषः—"निर्वेशः उपभोगः स्यात्" । "अलङ्कारस्त्वाभरणं, परिष्कारो विभूषणम्" मण्डनमपि भूषणमित्यमरः । अलङ्कारः—"त्वमिव" उपमालङ्कार । छन्दः—अनुष्टुप् वृत्तम् ।

चाणक्यः—(आकर्ण्यात्मगतम्) प्रथमं तावद्विशिष्टदेवतास्तुतिरूपेण प्रवृत्तशरदगुणप्रख्यापनमाशीर्वचनम् । इदमपरं किमिति नावधारयामि । (विचिन्त्य) आः, ज्ञातम् । राक्षसस्यायं प्रयोगः । आः दुरात्मन् राक्षसहतक ! दृश्यसे, जागर्ति खलु कौटिल्यः ।

राजा—आर्य वैहीनरे ! दापयाभ्यां वैतालिकाभ्यां सुवर्णशतसहस्रम् ।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति देवः । (इत्युत्थाय परिक्रामति ।)

चाणक्यः—(सक्रोधम्) वैहीनरे ! तिष्ठ तिष्ठ, न गन्तव्यम् । वृषल ! किमयमस्थाने एव महानर्थोत्सर्गः क्रियते !

राजा—आर्येणैवं सर्वतो निरुद्धचेष्टाप्रसरस्य मम बन्धनमिव राज्य न राज्यमिव ।

चाणक्यः—वृषल ! स्वयमनभियुक्तानां राज्ञामेते दोषा भवन्ति । तद्यदि न सहसे, तदा स्वयमेवाभियुज्यस्व ।

राजा—एते वयं स्वकर्मण्यभियुज्यामहे ।

चाणक्यः—प्रियं नः, वयमपि स्वकर्मण्यभियुज्यामहे ।

राजा—यद्येवं, तर्हि कौमुदीमहोत्सवप्रतिषेधस्य प्रयोजनं श्रोतुमिच्छामि ।

चाणक्यः—वृषल ! कौमुदीमहोत्सवानुष्ठानस्य किं प्रयोजनमित्यहमपि श्रोतुमिच्छामि ।

राजा—प्रथम तावत् ममाज्ञाव्याघातः ।

चाणक्यः—वृषल ! ममापि खलु त्वदाज्ञाव्याघात एव कौमुदीमहोत्सवप्रतिषेधस्य प्रथमं प्रयोजनम् । कुतः ?

चाणक्य—(सुनकर स्वगत) पहले तो देवविशेष शिवजी तथा विष्णु की स्तुति के साथ-साथ प्रस्तुत शरदागम की विशेषताओं का ऐसा वर्णन हुआ जिसमें आशीर्वाद था, बाद में यह क्या है यह निश्चय नहीं हो रहा है । (कुछ सोचते हुए) ओह ! जान लिया । यह तो सब राक्षस की चाल हैं । अरे नीच राक्षस ! तू देखता नहीं कि चाणक्य जागरूक है ।

राजा—आर्य वैहीनरे ! इन दोनों वैतालिकों को एक लाख स्वर्ण मुद्रायें दिला दो ।

कञ्चुकी—जैसी महाराज की आज्ञा (उठ कर घूमता है)

चाणक्य—(क्रोध के साथ) हे वैहीनरि ! ठहरो ठहरो, मत जाओ, वृषल ! क्यों अनुपयुक्त स्थान में महान् धन का व्यय कर रहे हो ।

राजा—इस प्रकार आर्य के द्वारा सब तरह से रोकी गई गतिविधि वाले मेरे लिये तो राज्य बन्धन के समान है, न कि राज्य ।

चाणक्य—वृषल ! स्वयं कुछ न करने वाले राजाओं के ये दोष होते हैं, यदि तुम्हें यह सहन नहीं होता है तो स्वयं राज्य की देख भाल करो ।

राजा—ये हम स्वयं सब कुछ करेंगे ।

चाणक्य—बहुत अच्छा अब हम भी अपना काम स्वयं करेंगे ।

राजा—यदि ऐसा है तो कौमुदीमहोत्सव के निषेध का प्रयोजन सुनना चाहता हूँ ।

चाणक्य—वृषल ! कौमुदीमहोत्सव के अनुष्ठान का क्या प्रयोजन है। यह मैं भी सुनना चाहता हूँ।

राजा—सर्वप्रथम मेरी आज्ञा थी जिसका आपने उल्लंघन किया।

चाणक्य—मेरा भी कौमुदी महोत्सव का निषेध करने का सबसे पहला तुम्हारी आज्ञा का उल्लंघन करना था। क्योंकि ?

टिप्पणी

व्याकरणम्—अर्थोत्सर्ग=अर्थस्य उत्सर्गः षष्ठीतत्पुरुषः, ऋ गतौ+थन् =अर्थ, उत्+सृज् विसर्गे+घञ्=उत्सर्ग। निरुद्धः चेष्टायाः प्रसरः अस्येति बहुव्रीहिः, नि+रुध्+क्त। प्र+सृ+अप्=प्रसारः।

अम्भोधीनां तमालप्रभवकिसलयश्यामवेलावनाना-
मा पारेभ्यश्चतुर्णां चटुलतिमिकुलक्षोभितान्तर्जलानाम्
मालेवाज्ञा सपुष्पा तव नृपतिशतैरुह्यते या शिरोभिः
सा मय्येव स्खलन्ती प्रथयति विनयालङ्कृतं ते प्रभुत्वम् ॥२४॥

प्रसङ्गः—चन्द्रगुप्तेष्टः शरत्कौमुदी-महोत्सवः चाणक्यादेशात् निषिद्धः, एतस्मिन् प्रकरणे व्याहताज्ञं चन्द्रगुप्तं चाणक्योऽनेन पद्येन समाश्वासयति—

अन्वयः—तमालप्रभवकिसलयश्यामवेलावनानां चटुलतिमिकुल-क्षोभितार्न्तजलानां चतुर्णां अम्भोधीनां पारेभ्यः आ या तव आज्ञा सपुष्पा मालेव नृपशतैः शिरोभिः उह्यते सा मयि एव स्खलन्ती ते विनयालङ्कृतं प्रभुत्वं प्रथयति।

संस्कृतार्थः—तमालप्रभवकिसलयश्यामवेलावनानां तमालप्रभवाणि =तापिच्छवृक्षोत्पन्नानि यानि किसलयानि=नवपल्लः तैः श्यामाय-मानानां=कृष्णवर्णानां, वेलावनानां=तीरवर्तिनां काननानां, चटुलैः= चञ्चलैः, तिमिकुलैः=राजमत्स्यसमूहैः, क्षोभितानां=आन्दोलितानां, अन्तर्ज-लानां=अन्तः सलिलानां, चतुर्णां=दिक्संख्यानां, अम्भोधीनां=समुद्राणां, पारेभ्यः तीरपर्यन्तेभ्यः, आ=आगतैः नृपशतैः=राजसमूहैः, या, तव=ते चन्द्रगुप्तस्य, आज्ञा=आदेशः, सपुष्पा=अम्लानकुसुमा, माला इव=स्रगिव.

शिरोभिः = उत्तमाङ्गैः उह्यते = धार्यते, सा = आज्ञा, मयि = चाणक्ये, एव = निर्धारणे, नान्यत्र इत्यर्थः, स्खलन्ती = व्याहता, ते = तव, चन्द्रगुप्तस्य, विनयेन = प्रश्रयेण, अलंकृतं = भूषितं, प्रभुत्वं = आधिपत्यं, प्रथयति = प्रख्यापयति ।

भावार्थः—भोः चन्द्रगुप्त ! विश्वस्मिन् यः तवाव्याहतादेशः सर्वैरेव नृपतिभिः शिरोभिः धार्यते, चेत्सः अव्याघातादेशः ममाग्रे स्खलति तेन तव राज्यं विनयालङ्कृतं वर्तते इति प्रकटयति ।

भाषार्थः—तापिच्छ के वृक्षों से उत्पन्न होने वाले नवीन पत्तों से श्याम वर्ण तटों वाले, चञ्चल तिमि नामक महामत्स्यों से आलोडित जल वाले चारों समुद्रों के तीर पर्यन्त भू-भाग से आने वाले राज-समूहों से पुष्प-माला के समान जो तुम्हारी आज्ञा शिरोधार्य है, वह आज्ञा मेरे ही सामने स्खलित होती है अन्य किसी दूसरे के सामने नहीं यह तुम्हारे विनय-विभूषित प्रभुत्व की द्योतक है ।

टिप्पणी

व्याकरणम्—आज्ञाव्याघातः = न व्याघातः, अव्याघातः नञ् समासः, आज्ञायाः अव्याघातः षष्ठीतत्पुरुषः । वि + आ + हन् + घञ् । आपारेभ्यः = "पञ्चम्यपाङ्परिभिः" सूत्र से अभिविधि वाचक आङ् के योग में पञ्चमी है । तमालप्रभवः = तमालः प्रभवः येषां तानि बहुव्रीहिः, प्रभवः = प्र = भू + अप्, प्रभवति अस्मादिति विग्रहः । अन्तर्जलम् = जलस्य अन्तः षष्ठीतत्पुरुषः, "राजदन्तादिषुपरम्" इस सूत्र से जलस्य परनिपातः । उह्यते = वह प्रापणे + यक् + लट् — ते "भावकर्मणोर्यक्" कर्मणि यक् प्रत्ययः । कोषः—तमालः—कालस्कन्धः तमालः स्यात्तापिच्छोऽपि" इत्यमरः । अलंकारः—"मालेव" में उपमा । छन्दः—स्रग्धरा छन्द, गौडी रीतिः, ओज गुणः ।

राजा—अथापरमपि प्रयोजनं यत्तच्छ्रोतुमिच्छामि ।

चाणक्यः—तदपि कथयामि ।

राजा—कथ्यताम् ।

चाणक्यः—शोणोत्तरे ! मद्वचनात् कायस्थमचलदत्तं ब्रूहि, यत् भद्रभटप्रभृतीनां लेख्यपत्रं तत्तावत् दीयतामिति ।

प्रतीहारी—जं अज्जो आणवेदि त्ति (यदार्य आज्ञापयतीति।) (निष्क्रम्य पुनः प्रविश्य) अज्ज ! एदं पत्तं । (आर्य ! इदं पत्रम् ।)

चाणक्यः—वृषल ! श्रूयताम् ।

राजा—दत्तावधानोऽस्मि ।

चाणक्यः—(वाचयति) स्वस्ति सुगृहीतनामधेयस्य देवस्य चन्द्रगुप्तस्य सहोत्थायिनां प्रधानपुरुषाणामितोऽपक्रम्य मलयकेतुमाश्रितानां प्रमाणलेख्यपत्रम् । तत्र प्रथमं तावत् गजाध्यक्षो भद्रभटः, अश्वाध्यक्षः पुरुषदत्तः महाप्रतीहारस्य चन्द्रभानोर्भागिनेयो हिङ्गुरातः, देवस्य स्वजनगन्धी महाराजो बलगुप्तः, देवस्यैव कुमारसेवको राजसेनः सेनापतेः सिंहबलस्य कनीयान् भ्राता भागुरायणः मालवराजपुत्रो रोहिताक्षः क्षत्रगणमुख्यतमो विजयवर्मा इति ।

(आत्मगतम्) एते वयं देवस्य कार्येऽवहिताः स्म इति ।

(प्रकाशम्) एतावदेतत् पत्रम् ।

राजा—दूसरा जो प्रयोजन है, उसे भी मैं सुनना चाहता हूँ ।

चाणक्य—उसे भी कहता हूँ ।

राजा—कह दीजिये ।

चाणक्य—शोणोत्तरे ! जाओ और मेरी ओर से कायस्थ अचलदत्त से कहो कि भद्रभट आदि जो यहाँ से विराग के कारण भागकर मलयकेतु की शरण में चले गये हैं उनका जो लेख है, उसे मेरे पास भेज दिया जाय ।

प्रतीहारी—जो आदेश महाराज (बाहर जाकर पुनः प्रवेश कर) आर्य ! यह पत्र है ।

चाणक्य—(लेकर) वृषल ! सुनो ।

राजा—भली-भाँति सुन रहा हूँ ।

चाणक्य—(पढ़ता है) कल्याण हो, प्रातः स्मरणीय महाराज चन्द्रगुप्त के साथ उठने-बैठने वाले पाटलिपुत्र से भागकर मलयकेतु का आश्रय लेने वाले प्रधान राजपुरुषों का प्रामाणिक रूप से लिखा हुआ पत्र है ।

उनमें :से प्रथम गजसेनापति भद्रभट, २—अश्व सेनापति पुरुषदत्त, ३—महाप्रतीहार चन्द्रभानु का भानजा हिंगुरात ४—महाराज का आत्मीय महाराज बलगुप्त, ५—महाराज का ही वालसेवक राजसेन ६—सेनापति सिंहबल के छोटे भाई भागुरायण ७—मालव राजपुत्र रोहिताक्ष ८—क्षत्रगण प्रधान विजय वर्मा (स्वगत) ये हम सब महाराज के कार्य में सावधान हैं। (प्रकट) यह पत्र इतना ही है।

टिप्पणी

व्याकरणम्—लेख्यपत्रम्=लेख्यस्य पत्रम् लिख्+ण्यत्=लेख्यम्। गजाध्यक्षः=गजेषु अध्यक्षः सुप्सुपा समासः। भागिनेयः=भगिन्या अपत्यम्, भगिनी+ढक् "स्त्रीभ्यो ढक्" ढस्य एयः। कनीयान्=अतिशयेन युवा इति युवन्+ईयसुन् "युवाल्पयोः कनन्यतरस्याम्" इससे युवन् के स्थान पर कनादेश विकल्प से होकर कनीयान् और यवीयान् दो रूप बनते हैं। क्षत्रगण-मुख्यतमः=क्षत्रगणे मुख्यतमः तत्पुरुषः, मुख्य+तमप् "अतिशायने तरप्तमपौ" से तमप् प्रत्ययः। अतिशयेन मुख्यः इति मुख्यतमः।

राजा—आर्य! एतेषामपरागहेतून् श्रोतुमिच्छामि।

चाणक्यः—वृषल! श्रूयताम्। अत्र यावेतौ गजाध्यक्षाश्वध्यक्षो भद्रभटपुरुषदत्तनामानौ, एतौ खलु स्त्रीमद्यमृगयाशीलौ हस्त्यश्वावेक्षणेऽभियुक्तौ इति स्वाधिकाराभ्यामवरोप्य मया स्वजीवनमात्रेणैव स्थापितावित्यपरक्तौ, गत्वा स्वेन स्वेन चाऽधिकारेण व्यवस्थाप्य मलयकेतुमाश्रितौ। यावेतौ हिङ्गुरातबलगुप्तौ, तावत्यन्तलुब्धप्रकृती दत्तं धनमवहुमन्यमानौ 'तत्र वहु लभ्येत' इति मलयकेतुमाश्रितौ। योऽप्यसौ भवतः कुमारसेवको राजसेनः सोऽपि तव प्रसादादतिप्रभूतकोषहस्त्यश्वं सहसैव सुमहदैश्वर्यमवाप्य पुनरुच्छेदशङ्कया मलयकेतुमाश्रितः। योऽयमपरः सेनापतेः सिंहवलस्य कनीयान् भ्राता भागुरायणः, असावपि तत्र काले पर्वतकेन सह समुत्पन्नसौहार्दः तत्प्रीत्या च 'पिता ते चाणक्येन घातितः' इति रहसि त्रासयित्वा मलयकेतुमपवाहितवान्। ततो भवदपथ्यकारिषु चन्दनदासप्रभृतिषु निगृह्यमाणेषु

स्वदोषाशङ्कयाऽपक्रम्य मलयकेतुमाश्रितः। तेना 'प्यसौ मम प्राण-रक्षिक' इति कृतज्ञतामनुवर्तमानेन आत्मनोऽनन्तरममात्यपदं ग्राहितः। द्वौ तौ लोहिताक्षविजयवर्माणौ, तावप्यतिमानित्वात् स्वदायादेभ्य-स्त्वया दीयमानमसहमानौ मलयकेतुमाश्रितौ—इत्येषामपरागहेतवः।

राजा—आर्य ! इनके विराग के कारण सुनना चाहता हूँ।

चाणक्य—वृषल ! सुनो, उनमें से ये जो गजसेनापति तथा अश्व-सेनापति भद्रभट और पुरुषदत्त नाम के हैं, ये दोनों स्त्री, मद्य और मृगया में सतत आसक्त होने के कारण हाथी-घोड़ों की देख-भाल करने में असावधान रहते थे—अतः मैंने इन्हें अधिकार से पृथक् कर जीविका के निर्वाह मात्र पर रहने दिया। अतः विरक्ति से शत्रु-पक्ष में जाकर अपने-अपने अधिकार के अनुरूप कार्य पाकर मलयकेतु के आश्रित हो गए। इनमें से हिंगुरात और बलगुप्त हैं। वे दोनों अत्यन्त लोभी स्वभाव के कारण तुम्हारे दिये धन को थोड़ा समझते हुये वहाँ अधिक मिलेगा, ऐसा सोचकर मलयकेतु के आश्रय में चले गये। यह जो तुम्हारा बचपन का सेवक राजसेन है, उसने भी तुम्हारी कृपा से अत्यधिक धन हाथी घोड़ों के साथ विपुल ऐश्वर्य को प्राप्त करके पुनः छिन जाने के भय से मलयकेतु का आश्रय ले लिया। यह जो दूसरा सिंहबल का छोटा भाई भागुरायण है वह भी उस समय पर्वतक के साथ मित्रता होने के कारण तुम्हारे पिता को चाणक्य ने मरवाया है इस प्रकार एकान्त में मलय केतु को डराकर भगा ले गया। तदनन्तर तुम्हारा अहित करने वाले चन्दन दास आदि के पकड़ लिये जाने पर अपने अपराध की आशंका से भागकर वह भागुरायण मलयकेतु के आश्रय में चला गया। उसने भी 'यह मेरा प्राण रक्षक है' इस प्रकार कृतज्ञता का अनुभव करते हुए अपने सान्निध्य में मन्त्री पद पर नियुक्त कर दिया। जो वे लोहिताक्ष और विजयवर्मा हैं वे दोनों भी अत्यंत अभिमानी होने के कारण अपने बन्धुओं को तुम्हारे द्वारा दिये जाने को सहन न करते हुये मलयकेतु के आश्रित हो गये। ये हैं इनकी विरक्ति के कारण।

संस्कृतार्थः—एषु भद्रभटपुरुषदत्तौ गजाश्वाध्यक्षौ स्वनियोगेऽसावधानौ केवलं स्त्रीमद्यपरायणौ मया पृथक्कृतौ अतएव विरक्तौ तत्र च प्राप्तस्वाजी-

विकौ मलयकेतुमाश्रितौ । हिंगुरातबलगुप्तौ परमकृपणौ दत्तमर्थं स्वल्पमात्रमवगच्छन्तौ "मलयकेतोः पार्श्वे प्रभूतं लप्स्यते" इति कृत्वा तमुपाश्रितौ । यश्चैष भवतः बाल्यभृत्यः राजसेनः सोऽपि भवत्कृपया विपुलं धनं गजाश्वादिकञ्चाधिगत्य "मा चन्द्रगुप्तः पुर्नगृह्णीयादि" ति भिया पलायितस्तमाश्रितश्च । यश्च-पुनः सिंहबलस्यानुजः भागुरायणः "हे मलयकेतो ! तव जनकः चाणक्येन घातितः । इति तमेकान्ते त्रासयित्वाऽपसारितवान् । ततश्चन्दनदासादिषु दण्ड्यमानेषु स्वापराधभयात् मलयकेतुमाश्रितः, सोऽप्ययं मम प्राणरक्षकः इति मन्यमानः तं स्वान्तरङ्गं चकार । यौ चात्यन्ताहंकारिणौ अमर्षिणौ लोहिताक्षविजयवर्माणौ मलयकेतुमाश्रितौ इति सन्ति तेषामपरागहेतवः ।

टिप्पणी

व्याकरणम्—अपरागः = अप + रञ्ज् + घञ् । स्त्रीमद्यमृगयाशीलौ = स्त्री च मद्यं च मृगया चेति द्वन्द्वः । अत्यन्तलुब्धप्रकृती = अत्यन्तं लुब्धा प्रकृतिः ययोः तादृशौ बहुव्रीहिः । प्राणरक्षकः = प्राणानां रक्षकः "याजकादिभ्यश्च" इति समासः, ग्राहितः = ग्रह् उपादाने + णिच् + क्त । जीवनमात्रेण = जीवति अनेन इति जीव् प्राणने + ल्युट् ।

राजा—एवमेतेषु परिज्ञातापरागहेतुषु क्षिप्रमेव कस्मान्न प्रतिविहितमार्येण ।

चाणक्यः—वृषल, न पारितं प्रतिविधातुम् ।

राजा—किमकौशलादुत प्रयोजनापेक्षया ।

राजा—इस प्रकार इनकी विरक्ति के कारणों के जाने लेने पर शीघ्र ही आर्य ने प्रतीकार क्यों नहीं किया ?

चाणक्य—वृषल ! प्रतीकार किया नहीं जा सका ।

राजा—क्या अकुशलता के कारण या प्रयोजन की अपेक्षा से ।

चाणक्यः—कथमकौशलं भविष्यति, प्रयोजनापेक्षयैव ।

राजा—तदप्रतिविधानप्रयोजनमिदानीं श्रोतुमिच्छामि ।

चाणक्यः—वृषल ! श्रूयतामवधार्यताञ्च ।

राजा—उभयमपि क्रियते, कथ्यताम् ।

चाणक्यः—वृषल ! इह खलु विरक्तानां प्रकृतीनां द्विविधं प्रतिविधानम्—अनुग्रहो निग्रहश्चेति। अनुग्रहस्तावदाक्षिप्ताधिकारयोः भद्रभटपुरुषदत्तयोः पुनः अधिकारारोपणमेव। अधिकारश्च पुनस्तादृशेषु व्यसनयोगादनभियुक्तेषु पुनरारोप्यमाणः सकलमेव राज्यस्य मूलं हस्त्यश्वमवसादयेत्। हिङ्गुरातबलगुप्तयोरत्यन्तलुब्धप्रकृतिकयोः सकलराज्यप्रदानेनाप्यपरितुष्यतोरनुग्रहः कथं कर्तुं शक्यः? राजसेनभागुरायणयोस्तु धनप्रणाशभीतयोः कुतोऽनुग्रहस्यावकाशः? लोहिताक्षविजयवर्मणोरपि दायादमसहमानयोरतिमानिनोः कीदृशोऽनुग्रहः प्रीतिं जनयिष्यतीति परिहृतः पूर्वः पक्षः। उत्तरोऽपि खलु वयमचिरादधिगतनन्दैश्वर्याः सहोत्थायिनं प्रधानपुरुषवर्गमुग्रेण दण्डेन पीडयन्तो नन्दकुलानुरक्तानां प्रकृतीनामविश्वास्या भवाम इत्यतः परिहृत एव। तदेवमनुगृहीतास्मद्भृत्यपक्षो राक्षसोपदेशश्रवणप्रवणो महीयसा म्लेच्छबलेन परिवृतः पितृवधामर्षी पर्वतकपुत्रो मलयकेतुरस्मानभियोक्तुमुद्यत इति। सोऽयं व्यायामकालो नोत्सवकाल इति। अतो दुर्गसंस्कारे आरब्धव्ये किं कौमुदीमहोत्सवेन? इति प्रतिषिद्धः।

चाणक्य—अकुशलता क्यों होगी। प्रयोजन की अपेक्षा से ही !

राजा—तो अब अप्रतिविधान के प्रयोजन सुनना चाहता हूँ।

चाणक्य—वृषल ! सुनो और विचार करो।

राजा—दोनों कर रहा हूँ। कहिये।

चाणक्य—वृषल ! इस संसार में विरक्त प्रजाओं का प्रतीकार दो प्रकार से किया जाता है, अनुग्रह से और निग्रह से। अनुग्रह से पदच्युत किये गये भद्रभट और पुरुषदत्त को पुनः पदारूढ़ करना ही है। दुर्व्यसन के कारण वैसे अयोग्य व्यक्तियों को पुनः पदारूढ़ करना सम्पूर्ण राज्य की जड़ गजबल और अश्वबल को नष्ट कर देना है। अत्यन्त कृपण स्वभाव वाले तथा सम्पूर्ण राज्य दे देने पर भी सन्तुष्ट न होने वाले हिङ्गुरात और बलगुप्त पर कैसे अनुग्रह किया जा सकता है? धन नाश के भय से भयभीत राजसेन और भागुरायण पर अनुग्रह करने का अवसर कहाँ? दायादों को सहन न करने वाले

अत्यन्त अभिमानी लोहिताक्ष और विजयवर्मा को भी कैसा अनुग्रह सन्तुष्ट करेगा इसलिये पूर्वपक्ष अर्थात् अनुग्रह को छोड़ दिया। दूसरा उत्तरपक्ष निग्रह भी अभी-अभी नन्द का ऐश्वर्य प्राप्त करने वाले हम साथ उठने-बैठने वाले प्रधान राजपुरुषों को तीव्र दण्ड के द्वारा पीड़ित करने पर नन्द-वंश के प्रति अनुरक्त प्रजाओं के अविश्वासी हो जायँगे—इस विचार से छोड़ ही दिया गया। तो इस प्रकार हमारे भृत्य-वर्ग को अनुगृहीत करने वाला, राक्षस की शिक्षा सुनने में तत्पर, बड़ी म्लेच्छ सेना से युक्त और पिता की हत्या से क्रुद्ध पर्वतक पुत्र मलयकेतु हम पर आक्रमण करने के लिये उद्यत है। सो यह सैन्य-संग्रह के प्रयास करने का समय है न कि उत्सव मनाने का समय है। अतएव किले के संस्कार आरम्भ किये जाने के अवसर पर कौमुदी-महोत्सव से क्या लाभ ? इसलिये यह उत्सव रोक दिया गया है।

संस्कृतार्थः—चाणक्यः—अस्मिन् संसारे विरक्तप्रजानां द्विप्रकारकः प्रतीकारः अनुग्रहः निग्रहश्चेति। तत्र पदच्युतयोः भद्रभटपुरुषदत्तयोः पुनः पदारोहणमनुग्रहः, तत्तु समग्रराज्यस्य मूलभूतस्य गजबलस्याश्वबलस्य च हननं भवेत्। अतिकृपणयोः समस्तराज्यप्रदानेनाप्यसन्तुष्टयोः हिंगुरातबलगुप्तयोः अनुग्रहः कथङ्कारं कर्तुं शक्यः। अर्थस्यानर्थभीतयोः राजसेनभागुरायणयोः क्वानुग्रहावसरः। दायाद्यानमृष्यतोः महाभिमानवतोः लोहिताक्षविजयवर्मणोः अनुग्रहः कथं प्रीतिमुत्पादयिष्यति, कथं चैतयोः प्रधानपुरुषयोः तीव्रदण्डदानेन निग्रहो वा सम्भवः। अतो न निगृहीतौ। अपरञ्चैवं निग्रहेण नन्दवंशेऽनुरक्ताः सर्वाः प्रजाः विरक्ताः स्युः अतः परित्यक्ताः एते सर्वे प्रधानपुरुषाः। किञ्च साम्प्रतं महता म्लेच्छबलेन समन्वितः पितृवधेन च क्रुद्धः मलयकेतुरस्मानभियोक्तुकामः, तस्मादयं युद्धार्थं विशिष्टप्रयासस्य समयः न तु कौमुदीमहोत्सवस्येति कृत्वा निषिद्धः।

टिप्पणी

व्याकरणम्—अकौशलं = कुशलस्य भावः कौशलम्, न कौशलं, कुशल + अण्, नञ्तत्पुरुषसमासः। प्रतिविधानम् = प्रति + वि + धा + ल्युट् (अनादेशः)। हस्त्यश्वम् = हस्ती च अश्वः च तयोः समाहारः, 'द्वन्द्वश्च प्राणितूर्य-

सेनाङ्गानामिति समाहारद्वन्द्व । पितृवधामर्षः = पितुः वधः तेन यः अमर्षः । अवधार्यताम् = अव + धृ + णिच् + लोट् । प्रतिषिद्धः = प्रति + षिध् + क्तः । आरब्धव्ये = आ + रभ् + तव्यत् तस्मिन् । अभियोक्तुम् = अभि + युजिर् योगे + तुमुन् ।

राजा—आर्य ! वहु प्रष्टव्यमत्र ।

चाणक्यः—वृषल ! विश्रब्धं पृच्छ । ममापि वह्वाख्येयमत्र ।

राजा—एष पृच्छामि ।

चाणक्यः—अहमप्येष कथयामि ।

राजा—योऽयमस्माकमस्य सर्वस्यैवानर्थस्य हेतुर्मलयकेतुः स कस्मादार्येणापक्रामन्नुपेक्षितः ?

चाणक्यः—वृषल ! मलयकेतोरपक्रमणानुपेक्षणे द्वयी गतिः स्यात्—अनुगृह्येत निगृह्येत वा । अनुग्रहे पूर्वप्रतिश्रुतं राज्यार्धं प्रतिपाद्येत । निग्रहे तावत् पर्वतकोऽस्माभिर्व्यापादित इति कृतघ्नतायाः स्वयं हस्तो दत्तः स्यात् । प्रतिश्रुतार्धराज्यप्रतिपादनेऽपि पर्वतकविनाशः केवलं कृतघ्नतामात्रफलः स्यात् इति मलयकेतुरपक्रामन्नुपेक्षितः ।

राजा—अत्र तावदेवम् । राक्षसः पुनरिहैवान्तर्नगरे वर्तमान आर्येणोपेक्षित इत्यत्र किमुत्तरमार्यस्य ?

राजा—आर्य मुझे इस विषय में बहुत कुछ पूछना है ।

चाणक्य—वृषल ! मुझे भी बहुत कुछ कहना है, निश्चिन्त होकर पूछो ।

राजा—अभी पूछता हूँ ।

चाणक्य—मैं अभी कहता हूँ ।

राजा—यह जो हमारे इस सम्पूर्ण अनर्थ का कारण मलयकेतु है, भागते हुए, उसको आपने क्यों उपेक्षित कर दिया ?

चाणक्य—वृषल ! मलयकेतु के भागने की उपेक्षा न करने में दो बातें होतीं, या तो उसे अनुगृहीत किया जाता या दण्ड दिया जाता । अनुग्रह करने पर पहले प्रतिज्ञात अर्द्ध राज्य दे दिया जाता निग्रह करने पर पर्वतक को हमने मारा है इस कृतघ्नता को स्वयं सहारा देना होता । प्रतिज्ञात आधा

राज्य दे देने पर भी पर्वतक का विनाश केवल कृतघ्नता मात्र प्रयोजन रखता। इसलिये भागते हुए मलयकेतु की भी उपेक्षा की गई।

राजा—यहाँ तक तो आपका किया हुआ सब ठीक है। किन्तु राक्षस इसी नगर के अन्दर रहता हुआ आपसे उपेक्षित किया गया, इस विषय में आपका क्या उत्तर है।

संस्कृतार्थः—चाणक्यः – पलायमानो मलयकेतुरस्माभिः कथमुपेक्षितः इति प्रश्ने, अनुपेक्षितेऽनुग्रहो वा निग्रहो वा कार्यं स्यात्। तत्रानुग्रहे पूर्वं प्रतिज्ञातं राज्यार्द्धं प्रतिपाद्येत, निग्रहे च पर्वतकोऽस्माभिः घातितः इति दोषारोपणं स्यात्; तस्य च विनाशस्य कृतघ्नतामात्रं फलमवशिष्टं स्यात्, अतः पलायमानो मलयकेतुरुपेक्षितः।

टिप्पणी

व्याकरणम्—कृतघ्नता = कृतं हन्तीति कृत + हन् + क्तः, तस्य भावः कृत + हन् + क + तल् + टाप्। अन्तर्नगरे = नगरस्य अन्तः "राजदन्तादिषु परम्" इस सूत्र से नगर शब्द का परनिपात। अपक्रामन् = अप + क्रमु पाद विक्षेपे + शतृ प्रथमैकवचने रूपम्। उपेक्षितः—उप + ईक्ष् + क्त।

चाणक्यः—राक्षसोऽपि खलु निजस्वामिनि स्थिरानुरागत्वात् सुचिरमेकत्रवासाच्च शीलज्ञानां नन्दानुरक्तानां प्रकृतीनामत्यन्तं विश्वास्यः, प्रज्ञापुरुषकाराभ्यामुपेतः, सहायसम्पदा युक्तः, कोषबलवानिहैवान्तर्नगरे वर्तमानो महान्तं खल्वन्तः कोपमुत्पादयेत। दूरीकृतस्तु बाह्यकोपमुत्पादयन्नपि न दुःखसाध्यो भविष्यतीत्यतोऽपक्रामन्नुपेक्षितः।

राजा—तत् किमर्थमिहस्थ एवोपायैर्नोपक्रान्तः ?

चाणक्यः—अथ कथमपक्रान्तो भविष्यति ? ननु उपायैरेवासौ हृदयेशयः शङ्कुरिवोद्धृत्य दूरीकृतः। दूरीकरणस्य चोक्तं प्रयोजनम्।

राजा—आर्य ! कस्माद्विक्रम्य न गृहीतः ?

भाषार्थः चाणक्यः—राक्षस भी अपने स्वामी में दृढ़ अनुराग रखने के कारण तथा चिरकाल पर्यन्त एक स्थान पर निवास करने के कारण शील को

पहचानने वाली तथा नन्द में अनुरक्त प्रजाओं का अत्यन्त विश्वासपात्र बुद्धि और पराक्रम से सम्पन्न, सहायकों की सम्पत्ति से युक्त, कोश, बल से संवलित यहीं नगर में भीतर रहता हुआ महान् आन्तरिक विद्रोह को उत्पन्न कर देता। परन्तु दूर कर दिये जाने पर बाहरी विद्रोह को उत्पन्न करता हुआ भी कठिनता से वश में करने योग्य न होगा। इसलिए भागता हुआ उपेक्षित किया गया।

राजा—तो यहीं रहता हुआ राक्षस क्यों नहीं उपायों से वश में कर लिया गया ?

चाणक्य—अब वह निकला हुआ कैसे बच सकेगा। उपायों से ही तो वह हृदय में विद्यमान काँटे के समान निकाल कर दूर कर दिया गया।

राजा—आर्य ! बल-प्रयोग से उसे क्यों नहीं वश में किया गया ?

संस्कृतार्थः—

चाणक्यः—राक्षसस्य स्वस्वामिनि नन्दे महाननुषंगः आसीत् किञ्च चिरकालं यावदेकत्र निवासात् नन्दभक्तानां प्रजानामत्यन्तं विश्वासपात्रमासीत्, अपरञ्च बुद्धिपराक्रमेण सहायकसम्पदा च सम्पन्नः, कोशवलेन च सम्वलितः हृदयस्थशङ्कुरिवात्र पाटलिपुत्रं मध्येनगरमधितिष्ठन् महदुपद्रवं कर्तुं शक्नुयात्। इतः बहिष्कृतस्तु बाह्योपद्रवं कुर्वन्नपि येन केनापि प्रकारेण विनेयो विघातुं शक्यते, एतस्माद्दूरीकृतः।

टिप्पणी

व्याकरणम्—स्थिरानुरागत्वात्=स्थिरः अनुरागः अस्य बहुव्रीहिः समासः। तस्य भावः त्वतलौ इति भावार्थे त्व प्रत्ययः स्थिरानुराग+त्व, तस्मात्। सहायसम्पदा=साहाय्यकारिणां सम्पत्त्या, तत्पुरुषः, सह+अय्+सहायाः, सम्—पद्+क्विप्=सम्पद् तया। हृदयेशयः=हृदये शेते इति हृदये+शीङ् (स्वप्ने)+अच्, सप्तम्यलुक् समासः। उद्धृत्य=उत्+धृ+क्त्वा (ल्यप्)।

चाणक्यः—वृषल ! राक्षसः खल्वसौ विक्रम्य निगृह्यमाणः स्वयं

वा विनश्येत्, युष्मद्वलानि वा विनाशयेत् । एवं सत्युभयथापि दोषः । पश्य—

स हि भृशमभियुक्तो यद्युपेयाद् विनाशं
ननु वृषल वियुक्तस्तादृशेनासि पुंसा ।
अथ तव वलमुख्यान्नाशयेत् सापि पीडा
नवगज इव तस्मात् सोऽभ्युपायैर्विनेयः ।।२५।।

भाषार्थ—चाणक्य—वह राक्षस शक्ति से पकड़ा जाता तो स्वयं मर जाता या तुम्हारी सेनाओं को नष्ट कर देता । ऐसा होने पर दोनों प्रकार से हानि होती । देखो—

प्रसङ्गः—चाणक्यः राक्षसस्य बलान्निग्रहे दोषद्वयमुपादिशन् चन्द्रगुप्तं निर्दिशति ।

अन्वयः—ननु वृषल ! भृशं अभियुक्तः सः यदि विनाशं उपेयात् (तदा) तादृशेन पुंसा वियुक्तः असि, अथ तव बलमुख्यान् नाशयेत् सा अपि पीडा, तस्मात् सः वनगज इव अभ्युपायैः विनेयः ।

संस्कृतार्थः—ननु=निश्चयेन, वृषल ! हे चन्द्रगुप्त ! भृशं=अतिमात्रं, अभियुक्तः=आक्रान्तः, सः=राक्षसः, यदि=चेत्, विनाशं=मृत्युं, उपेयात्=यायात्, तदा तादृशेन=तथाविधेन, पुंसा=गुणवता पुरुषेण, वियुक्तः=विरहितः, असि । अथ यदि, तव=ते चन्द्रगुप्तस्य बलमुख्यान्=प्रधान-सैनिकान्, नाशयेत्=हन्यात्, साऽपि=सेनाविनाशजन्या, पीडा=हानिरेव स्यात्, तस्मात् सः=राक्षसः, वनगज इव=वन्यः करीव, अभ्युपायैः=साम-दानदण्ड-भेदादियुक्तिभिः, विनेयः=वशीकरणीयः ।

भावार्थ—भोः वृषल ! राक्षसे मृते प्रधानसैनिकानां विनाशे वोभयथा तवैव क्षतिः स्यात्, तस्मात् बलात् न निगृह्य सामाद्युपायैः वनगज इव सः राक्षसः विनेयः ।

भाषार्थ—यदि हमारी सेना से आक्रान्त होकर राक्षस मर जाय तो तुम एक गुणवान् पुरुष से रहित हो जाते हो, यदि राक्षस तुम्हारे प्रधान सैनिकों

को मार देता है तो वह भी तुम्हारी ही क्षति है। अतः उसे जङ्गली हाथी की तरह सामादि उपायों से वश में करना चाहिये।

टिप्पणी

व्याकरण—वनगजः = वनचरो गजः वनगजः मध्यमपदलोपी समासः। अभियुक्तः = अभि + युज् + क्तः। भृशं = भृश् + क क्रियाविशेषणम्। विनाशः = वि + णश् (अदर्शने) + घञ्। पीडा = पीड् + अङ् + टाप्। कोष—पीडा बाधा व्यथा दुःखमित्यमरः। अलङ्कार—वनगज इव यहाँ उपमा अलङ्कार है। छन्द—मालिनी, प्रसाद गुणः, वैदर्भी रीतिः।

राजा—न शक्नुमो वयमार्यस्य वाचा वाचमतिशयितुं। सर्वथा-ऽमात्यराक्षस एवात्र प्रशस्यतरः।

चाणक्यः—(सक्रोधम्) न भवानिति वाक्यशेषः। भो वृषल! तेन किं कृतम्?

राजा—यदि न ज्ञायते, तदा श्रूयताम्। तेन खलु महात्मना—

राजा—हम आपकी बातों को बात से नहीं जीत सकते पर इस विषय में अमात्य राक्षस ही सब प्रकार से अधिक प्रशंसनीय हैं।

चाणक्य—(क्रोध के साथ) आप नहीं, यह कहना शेष रह गया। हे वृषल! उसने क्या किया है?

राजा—यदि नहीं जानते हैं तो सुनिये, उस महात्मा ने—

लब्धायां पुरि यावदिच्छमुषितं कृत्वा पदं नो गले
व्याघातो जयघोषणादिषु बलादस्मद्बलानां कृतः।
अत्यर्थं विपुलैः स्वनीतिविभवैः सम्मोहमापादिता
विश्वास्येष्वपि विश्वसन्ति मतयो न स्वेषु वर्गेषु नः ॥२६॥

प्रसङ्ग—कुपितः चन्द्रगुप्तः राक्षसोत्कर्षवर्णनेन तस्य कार्यकलापेन च चाणक्यं कोपयन्नाह।

अन्वय—नः गले पदं कृत्वा लब्धायां पुरि यावदिच्छं उषितम्, अस्मद्

बलानां जयघोषणादिषु बलात् व्याघातः कृतः, विपुलैः स्वनीतिविभवैः अत्यर्थं सम्मोहंआपादिताः नः मतयः विश्वास्येषु अपि स्वेषु न विश्वसन्ति ।

संस्कृतार्थ—नः = अस्माकं, गले = कण्ठे, पदं = चरणं, कृत्वा = निधाय. लब्धायां = अधिगतायां, पुरि = नगर्यां, यावदिच्छं = यथेच्छं, उषितं = स्थितं, अस्मद्बलानां = अस्माकं चमूनां, जयघोषणादिषु = विजयडिण्डिमेषु, बलात् = हठात्, व्याघातः = प्रत्यूहः विघ्न इतियावत्, कृतः = आचरितः, विपुलैः = अत्यधिकैः, सुनीतिविभवैः = स्वानां नीतीनां विभवैः = सम्पद्भिः, अत्यर्थं = अत्यन्तं, सम्मोहं = अज्ञानं, आपादिताः = लम्भिताः, नः = अस्माकं, मतयः = बुद्धयः, विश्वास्येषु = विश्वासयोग्येषु, अपि, स्वेषु = स्वकीयेषु वर्गेषु = पक्षेषु, न विश्वसन्ति = न प्रत्ययं कुर्वन्ति ।

भावार्थ—राक्षसोऽस्माभिरधिकृतेऽपि पाटलिपुत्रे स्वेच्छं यावत्कालमवसत्, अपरं अस्माकं विजयघोषणादिषु तेन विघ्नः निहितः, किञ्च स्ववुद्धिवैभवेन वयं तथा सम्मोहिताः येन वयं निजपक्षीयेष्वपि न विश्वसिमः ।

भाषार्थ—पैर से हमारी गर्दन दबाकर जीती हुई नगरी में अपनी इच्छानुसार जब तक चाहा रहा, हमारी सेनाओं की विजय-घोषणा आदि में हठात् उसने विघ्न डाले, और महान् अपनी नीति के वैभव से हमारी बुद्धियों को अत्यन्त मोह में डाल दिया जिससे हमारी बुद्धियां अपने विश्वसनीय वर्गीय व्यक्तियों पर भी विश्वास नही करती हैं ।

टिप्पणी

व्याकरणम्—प्रशस्यतरः = अतिशयेन प्रशस्यः इति प्रशस्यतरः, प्र + शंस् + क्यप् + तरप् । महात्मना = महान् आत्मा यस्य सः वहुव्रीहि समासः । लब्धायां = लभ् + क्त + टाप् = लब्धा तस्यां, उषितम् = वस् + क्त सम्प्रसारणं । नः = अस्मद् शब्द के द्वितीया—चतुर्थी—षष्ठी के वहुवचन में अन्वादेश में नः रूप होता है । व्याघातः = वि + आ् + हन् + णिच् + घञ् । सम्मोहः = सम् + मुह् (वैचित्ये) + घञ् निःसंज्ञता । कोषः—"वड्रोरु विपुलं" इत्यमरः । अलङ्कार—दीपक, अतिशयोक्ति, उदात्त अलंकाराणां संसृष्टिः । छन्द—

शार्दूलविक्रीडितम् । लोकातिशयसम्पत्तिवर्णनमुदात्तमुच्यते । यद्वापि प्रस्तुतस्यांगं महतां चरितं भवेत् ।

जयघोषणादिषु—आदिपद से राक्षस का प्रतिकूल आचरण निम्नांकित है—

१. विजयघोषणा में विघ्न उत्पन्न करना,
२. चन्द्रगुप्त-वध के लिए विष-कन्या का प्रयोग
३. चन्द्रगुप्त-वध के लिए यन्त्रतोरण का प्रयोग
४. शय्यागृह में अन्तः प्रवेश
५. सर्वार्थसिद्धि को सुरंग से निकालना
६. हमारी बुद्धि में भ्रम पैदा करना
७. अब युद्ध की तैयारी

चाणक्यः—(विहस्य) वृषल, एतत् कृतं राक्षसेन ?

राजा—अथ किम् ! एतत् कृतमात्यराक्षसेन ।

चाणक्यः—वृषल ! मया पुनर्ज्ञातं, नन्दमिव भवन्तमुद्धृत्य भवानिव भूतले मलयकेतुरधिराज्यमारोपितः ।

राजा—अलमुपालभ्य । आर्य ! दैवेनेदमनुष्ठितम् । किमत्रार्यस्य ?

चाणक्यः—हे मत्सरिन् !

चाणक्य—(हँसकर) वृषल ! यह सब राक्षस का काम है क्या ?

राजा—और क्या यह सब अमात्य राक्षस ने किया ।

चाणक्य—वृषल ! तो फिर मैंने समझ लिया कि नन्द की तरह आपको हटाकर उसने मलयकेतु को पृथ्वी-मण्डल के दिव्य सिंहासन पर बैठा दिया ।

राजा—उलहानों से बस, यह सब तो भाग्य से हुआ है । आपका इसमें क्या ?

चाणक्य—हे पराये उत्कर्ष को न सहने वाले चन्द्रगुप्त ! सुन—

आरुह्यारूढकोपस्फुरणविषमिताग्राङ्गुलीमुक्तचूडां
लोकप्रत्यक्षमुग्रां सकलरिपुकुलोच्छेददीर्घां प्रतिज्ञाम् ।
केनान्येनावलिप्ता नवनवतिशतद्रव्यकोटीश्वरास्ते
नन्दाः पर्यायभूताः पशव इव हताः पश्यतो राक्षसस्य ।।२७।।

प्रसङ्गः—चाणक्यः चन्द्रगुप्तेन कृतं राक्षसप्रशंसनमहमानः सक्रोधं शत्रोः समूलोन्मूलनस्य हठां प्रतिज्ञां स्मारयति ।

अन्वयः—केन अन्येन लोकप्रत्यक्षम् आरूढकोपस्फुरणविषमिताग्राङ्गुलीमुक्तचूडां उग्रां सकलरिपुकुलोच्छेददीर्घां प्रतिज्ञां आरुह्य अवलिप्ताः नवनवतिशतद्रव्यकोटीश्वराः ते नन्दाः पर्यायभूताः पशवः इव पश्यतः राक्षसस्य हताः ।

संस्कृतार्थः—केन अन्येन = मदतिरिक्तेन केन अपरेण नरेण, लोकप्रत्यक्षं = संसारस्य समक्षं, आरूढस्य = प्रवृद्धस्य, कोपस्य = क्रोधस्य, स्फुरणेन = स्फोरणेन, विषमितया = कुटिलीभूतया, अग्राङ्गुल्या = अंगुल्याः अग्रभागेण, मुक्ता = श्लथबन्धनीकृता, चूडा = शिखा यस्यां तथाभूतां, उग्रां = दारुणां, सकलानां = सम्पूर्णानां, रिपुकुलानां = शत्रुवंशानां, उत्सादेन = विनाशेन, दीर्घां = कठिनां, प्रतिज्ञां = सन्धां, आरुह्य = संप्रदर्श्य, अवलिप्ताः = अहंकारिणः, नवनवतिशतानां = शतोनसहस्राणां द्रव्यकोटीनां = वित्तकोटीनां, ईश्वराः = स्वामिनः, ते = प्रसिद्धाः, नन्दाः प्रचुरैश्वर्यशालिनः नन्दवंशीयाः, राक्षसस्य नन्दमन्त्रिणः, पश्यतः = अवलोकयतः, पशवः इव क्रमेण उपस्थिताः, केन अन्येन, हताः = विनाशिताः ।

भावार्थः—भोः चन्द्रगुप्त ! मद्विना कस्कः पश्यतां सर्वजगतां दृप्तानां प्रचुरैश्वर्यशालिनां नन्दानां पशव इवोच्छेदं कृतवान्,, कश्च शिखाबन्धनस्य प्रतिज्ञां पूरितवान् ? येन कथयसि किमार्येण कृतम् ।

भाषार्थः—

दूसरे किसने लोगों के सामने उत्पन्न क्रोधावेश से असमान अंगुलियों के अग्रभाग से खोली हुई चोटी वाली भयङ्कर तथा समस्त शत्रुकुल को विनाश करने वाली दीर्घ प्रतिज्ञा को पूराकर अहंकारी तथा निन्यानवे सौ करोड़ मुद्राओं

के स्वामी नन्दों को क्रमशः बलि-पशु के समान राक्षस के देखते हुए मार दिया।

टिप्पणी

व्याकरणम्—आरुह्य = आङ् + रुह् + क्त्वा (ल्यप्)। पश्यतः = दृश् + शतृ, पश्यन् तस्य। राक्षसस्य = "षष्ठी चानादरे" से षष्ठी। विषमिताः = विषमाः कृताः इति वि + सम् + णिच् + क्त। नवनवतिः = नव अधिका नवतिः शाकपार्थिवादित्वात् समासः, द्रव्याणां कोटयः तत्पुरुषः तासां ईश्वराः। पर्यायेण भूताः पर्यायभूताः तृतीयातत्पुरुषः, परि + अय् + घञ् आरूढस्य = प्रवृद्धस्य, आङ् + रुह् + क्त, तस्य। कोषः—"मत्सरोऽन्यशुभद्वेषे"। शिखा चूडा केशपाशी व्रतिनस्तु जटा सटा इत्यमरः। अलंकारः—पशव इव उपमा। अर्थापत्तिः च। छन्दः—स्रग्धरा, गौडी रीति, ओजोगुणः।

अपि च,

गृध्रैरावद्धचक्रं वियति विचलितैर्दीर्घनिष्कम्पपक्षै-
र्धूमैर्ध्वस्तार्कभासां सघनमिव दिशां मण्डलं दर्शयन्तः।
नन्दैरानन्दयन्तः पितृवननिलयान् प्राणिनः पश्य चैतान्
निर्वान्त्यद्यापि नैते श्रुतवहलवसावाहिनो हव्यवाहाः ॥२८॥

प्रसङ्गः—पुनरपि चाणक्यः नन्दवंशनिर्दहनकोपस्य विजृम्भणमेव वर्णयति, स्मारयति च नन्दानां स्रुतवहलवसावाहिनश्चचित्रादीन्।

अन्वयः—वियति आवद्धचक्रम् विचलितैः दीर्घनिष्कम्पपक्षैः गृध्रैः धूमैः ध्वस्तार्कभासां दिशां मण्डलं सघनमिव दर्शयन्तः नन्दैः च पितृवननिलयान् एतान् प्राणिनः आनन्दयन्तः एते स्रुतवहलवसावाहिनः हव्यवाहाः अद्यापि न निर्वान्ति इति पश्य।

संस्कृतार्थः—वियति = गगने, आबद्धं चक्रं = अवरुद्धानि, चक्राणि = मण्डलानि यस्मिन् कर्मणि तत् यथा स्यात् तथा, विचलितैः = भ्रमद्भिः, दीर्घनिष्कम्पपक्षैः = दीर्घाः = आयताः, निष्कम्पाः = निश्चलाः, पक्षाः = पत्त्राणि येषां तैः, गृध्रैः = दाक्षाय्यैः, एव धूमैः = गृध्ररूपधूमैः, ध्वस्तार्कभासां = ध्वस्ताः = तिरोहिताः, अर्कस्य = सूर्यस्य, भासः = किरणाः यासु तासां दिशां = आशानां,

मण्डलं = चक्रवालं, सघनमिव = समेघमिव, दर्शयन्तः = प्रकाशयन्तः, पितृवन-निलयान् = श्मशानवासिनः, एतान् = जीवान्, नन्दैः = बहलवसाऽवशिष्टैः नन्दैः, आनन्दयन्तः = प्रीणयन्तः, एते = इमे स्रुतबहलवसावाहिनः = गलितप्रचुर-मज्जाः धारयन्तः, हव्यवाहः = चिताग्नयः, अद्यापि = अधुनापि, न निर्वान्ति = न शाम्यन्ति। इति त्वं पश्य = अवलोकय।

भावार्थः—चाणक्यः चन्द्रगुप्तं मृतानां नन्दानां प्रज्वलितान् चिताग्नीन् दर्शयित्वा "इद कस्य कार्यमि" ति पृच्छन् स्वकार्यकलापं दर्शयति।

भाषार्थः—गगन-मण्डल में मण्डल बनाकर दीर्घ और निश्चल पंखों से उड़ते हुए गृध्ररूपी धूम्रों से छिपी हुई सूर्य-किरणों वाली दिशाओं के समूह को मानों मेघों से आच्छादित दिखलाती हुई, श्मशान में रहने वाले इन प्राणियों को नन्दों से तृप्त करती हुई ये पिघली हुई अत्यधिक चर्बी को बहाने वाली अग्नियाँ आज भी शान्त नहीं हो रही हैं।

टिप्पणी

व्याकरणम्—हव्यवाहाः = हव्यं वहन्ति प्रापयन्ति देवेभ्यः इति हव्य + वह् + अण्। सघनम् = घनेन सहितं इति "तेन सहेति" बहुव्रीहिसमासः। स्रुतबहलवसावाहिनः = स्रुतबहलवसा + वह् (प्रापणे) + णिच् + णिनि। दर्शयन्तः = दृश् + णिच् + शतृ प्रथमाबहुवचने रूपम्। पितृवननिलयान् = पितृवनं = श्मशानं निलयः आवासः येषां तान् बहुव्रीहिः। निलयः = नि + ली + अच्। कोषः—"दाक्षाय्यः गृध्रः गृद्धः" ये गीध के तीन नाम हैं। अलंकारः—'सघनमिव' यहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार है। भाविकालंकार। अद्भुतस्य पदार्थस्य भूतस्याथ भविष्यतः। यत्प्रत्यक्षायमाणत्वं तद्भाविकमुदाहृतम्॥ गृध्रेषु धूम-त्वारोपात् रूपकमपि। सर्वेषां संसृष्टिः। छन्दः—स्रग्धरा वृत्तम्।

राजा—अन्येनैवेदमनुष्ठितम्।

चाणक्यः—आः केन ?

राजा—नन्दकुलविद्वेषिणा दैवेन।

चाणक्यः—दैवमविद्वांसः प्रमाणयन्ति।

राजा—विद्वांसोऽप्यविकत्थना भवन्ति।

चाणक्यः--(सक्रोधम्) वृषल ! भृत्यमिव मामारोढुमिच्छसि ?
शिखां मोक्तुं बद्धामपि पुनरयं धावति करः ।
(भूमौ पादप्रहारं कृत्वा)
प्रतिज्ञामारोढुं पुनरपि चलत्येष चरणः ।
प्रणाशान्नन्दानां प्रशममुपयातं त्वमधुना
परीतः कालेन ज्वलयसि मम क्रोधदहनम् ॥२९॥

भाषार्थ—राजा—यह सब दूसरे का किया हुआ है ।

चाणक्य—किसका किया हुआ है ।

राजा—नन्द से रूठे हुए भाग्य का ।

चाणक्य—भाग्य पर मूर्खों का भरोसा होता है ।

राजा—विद्वान् लोग भी तो आत्मश्लाघी नहीं होते हैं ।

चाणक्य—(क्रोध पूर्वक) ओ वृषल ! हमें क्या भृत्य समझ रखा है ?

प्रसङ्गः—कोपप्रज्वलितमानसः चाणक्यः "ओ ! कालेन परीतः त्वमसि" इति चन्द्रगुप्तं प्रघर्षयन् वदति ।

अन्वयः—अयं करः बद्धां अपि शिखां मोक्तुं पुनः धावति, एष चरणः पुनरपि प्रतिज्ञां आरोढुं चलति, कालेन परीतः त्वं नन्दानां प्रणाशात् प्रशमम् उपजातं क्रोधदहनं अधुना पुनः ज्वलयसि ।

संस्कृतार्थः—अयं करः = एष हस्तः, बद्धां = संयतप्रायां नतु वस्तुतः संयतां अपि शिखां = चूडां, मोक्तुं = बन्धनरहितां विधातुं, पुनः = भूयः, धावति = प्रसर्पति, एषा चरणः = अयं पादः, पुनरपि = भूयोऽपि, प्रतिज्ञां = आरोढुं = अध्यासितुं, चलति = प्रसरति, कालेन = मृत्युना, परिवारितः = वशीकृतः, त्वं = भवान् चन्द्रगुप्तः, नन्दानां प्रणाशात् = विनाशात्, प्रशमं = शान्तिम्, उपजातं = प्राप्तं, क्रोधदहनं, कोपानलं, अधुना = इदानीं, पुनः = भूयः, ज्वलयसि = प्रदीपयसि ।

भावार्थः—चाणक्यः—चन्द्रगुप्त ! मदीयो हस्तः नन्दानां प्रणाशात् पूर्वं बद्धां शिखां त्वत्कृतावमानशोधनाय पुनः तां मोक्तुं वाञ्छति, किञ्च यदा त्वं भृत्यवत् व्यवहरसि तदा मम कोपानलः त्वां दग्धुं प्रज्वलतीव ।

भाषार्थः—यह हाथ प्रायः बँधी हुई चोटी को खोलने के लिये पुनः दौड़ रहा है। और यह मेरा पैर फिर दुबारा प्रतिज्ञा करने को दौड़ रहा है। नन्दों का नाश हो जाने से शान्त मेरी कोप-वह्नि को मौत के वश में पड़े हुए तुम प्रज्ज्वलित कर रहे हो।

टिप्पणी

व्याकरणम्—आरोढुम् = आ + रुह् + तुमुन्। बद्धां = बद्धप्रायां, बंध् + क्त + टाप् "आशंसायां भूतवच्च" इति क्त। ज्वलयसि = ज्वल् + णिच् + लट् सिप्। चरणः = चर (गतिभक्षणयोः) + ल्युट्, अनादेशः। प्रतिज्ञां = प्रति + ज्ञा + अङ् + टाप् तां। परीतं = व्याप्तम्, परि + इण् (गतौ) + क्त। प्रशमम् = प्र + शम् + घञ् + अम्। अधुना = इदमोऽधुनादेशः ५/३/१७। अलंकारः—'क्रोधदहनम्' अत्र क्रोधे दहनत्वारोपात् निरङ्गरूपकम् 'परीत इव' अत्र उत्प्रेक्षा। छन्दः—शिखरिणी वृत्तम्। ओज गुणः, वैदर्भी रीतिः, क्रोधानुभावेन वर्द्धितः वीर रसः, प्रथम द्वितीय पादे पुनः इत्यस्यावृतत्वात् अनवीकृतदोषः।

राजा—(सावेगं स्वगतम्) अये ! तत् कथं सत्यमेव कुपित आर्यः ? तथाहि—

संरम्भस्पन्द्रिपक्ष्मक्षरदमलजलक्षालनक्षामयापि
भ्रूभङ्गोद्भेदधूमं ज्वलितमिव पुरः पिङ्गया नेत्रभासा।
मन्ये रुद्रस्य रौद्रं रसमभिनयतस्ताण्डवे संस्मरन्त्या
सञ्जातोदग्रकम्पं कथमपि धरया धारितः पादघातः ॥३०॥

राजा—(उद्विग्नता के साथ) क्या सचमुच आर्य चाणक्य कुपित हो गये, क्योंकि

प्रसङ्गः—चन्द्रगुप्त ! चाणक्यं सत्यमेव नेत्रभासा पादाघातेन च प्रकुपितं पश्यन् किमपि विचिन्तयन्नाह।

अन्वयः—संरम्भस्पन्दिपक्ष्मक्षरदमलजलक्षालनक्षामया अपि पिङ्गया नेत्रभासा भ्रूभङ्गोद्भेदधूमं पुरः ज्वलितमिव मन्ये ताण्डवे रौद्रं रसं अभिनयतः रुद्रस्य संस्मरन्त्या धरया पादघातः कथमपि सञ्जातोदग्रकम्पं धारितः।

संस्कृतार्थः—संरम्भेण = कोपावेगेन, स्पन्दिभ्यः = चलद्भ्यः, पक्ष्मभ्यः =

लोमभ्यः, क्षरता = पतता, अमलेन = विशदेन, जलेन = अश्रुणा क्षालितेन = अपसारणेन, क्षामया = क्षीणया, अपि पिङ्गया = अरुणया, नेत्रभासा = नेत्र-कान्त्या, भ्रूभङ्गोद्भेदधूमं = भ्रूभङ्गस्य = भ्रूकुटेः, उद्भेदः = आविर्भावः एव धूमः यत्र तत् यथा स्यात्तथा, पुरः = अग्रे ज्वलितमिव = प्रदीप्तमिव, मन्ये = सम्भावयामि, ताण्डवे = उद्धतनृत्ये, रौद्ररसं = क्रोधस्थायिभावं, अभिनयतः = अभिनीय दर्शयतः, रुद्रस्य = शिवस्य, स्मरन्त्या = स्मृतिपथमानन्त्या, धरया = पृथिव्या, पादघातः = चरणाघातः, कथमपि = महता कृच्छ्रेण, सञ्जातोद-ग्रकम्पं = सञ्जातः = समुत्पन्नः, उदग्रः = महान्, कम्पः यत्र तत्, धारितः = सोढः ।

भावार्थः—ताण्डवे शिवस्य चरणाघातमिव चाणक्यस्य क्रूरं चरणघात-मनुभूय कम्पमाना धरा यथा कथंचि दात्मान मधारयत् एतेन ज्ञायते यच्चाणक्यः वस्तुतः क्रुद्धः न तु कृतकत्वेन कुपितः ।

भाषार्थः—क्रोध के कारण चलायमान पलकों से निकले स्वच्छ जल के द्वारा घुल जाने से क्षीण रक्त वर्ण की कान्ति से भृकुटि-भङ्गिमारूपी धुँआ मानों प्रदीप्त हो गया है । जैसे ताण्डव नृत्य में रौद्ररस का प्रदर्शन करते हुए रुद्र का स्मरण करती तथा काँपती हुई पृथ्वी ने कठिनता से चाणक्य के पाद-प्रहार को सहन किया हो ।

टिप्पणी

व्याकरणम्—रुद्रस्य स्मरन्त्या, यहाँ "अधीगर्थदयेशां कर्मणि" से कर्म में षष्ठी है । ताण्डवं = उद्धतं ताण्डवं प्रोक्तम् । तण्डु + अण् । स्पन्दि = स्पन्दते इति स्पन्द् + णिनि । उद्भिन्नः = उत् + भिदिर् (विदारणे) + क्त । रौद्रम् = रुद्रस्य इदं रुद्र + अण् । अभिनयतः = अभि + नी + अच् = अभिनय + शतृ । कोषः— "धरा धरित्री धरणिः क्षोणिर्ज्या काश्यपी क्षितिः" इत्यमरः । अलंकारः— 'मन्ये' इत्युत्प्रेक्षा, रुद्रस्य स्मरन्त्येति स्मरणालंकाराभ्यामनुप्राणितः संकरा-लंकारः । भ्रूभङ्गोद्भेदे अत्र रूपकालंकारः । छन्दः—स्रग्धरा वृत्तम्, पाञ्चाली रीतिः, ओजोगुणः ।

चाणक्यः—(कृतकं कोपं संहृत्य) वृषल, अलमुत्तरोत्तरेण । यद्य-

स्मत्तो वरीयान् राक्षसोऽवगम्यते तस्मादिदं शस्त्र तस्मै दीयतामिति (शस्त्रमुत्सृज्य उत्थाय च आकाशे लक्ष्यं बद्ध्वा स्वगतम्) राक्षस ! राक्षस ! एष भवतः कौटिल्यबुद्धिविजिगीषोर्बुद्धेः प्रकर्षः ।

भाषार्थः—चाणक्यः—(कृत्रिम क्रोध को दूर कर) मुझे तुमसे वाद-विवाद नहीं करना है । यदि तुम राक्षस को हमसे श्रेष्ठ समझते हो, तो यह शस्त्र उसे दो दो । (शस्त्र फेंककर, उठते हुए, आकाश की ओर एकटक देख मन ही मन)

राक्षस ! राक्षस ।! कौटिल्य की बुद्धि को जीतने की इच्छा वाले हो न । तुम्हारी बुद्धि का ऐसा प्रभाव ।

चाणक्यतः स्खलितभक्तिमहं सुखेन
जष्यामि मौर्यमिति सम्प्रति यः प्रयुक्तः ।
भेदः किलैष भवता सकलः स एव
सम्पत्स्यते शठ तवैव हि दूषणाय ।।३१।।

(इति निष्क्रान्तः ।)

प्रसङ्गः—चाणक्यः राक्षसेन उप्तं भेदबीजं समुत्पाटयन् बुद्धिस्थं राक्षसं भृशं प्रधर्षयन् वदति ।

अन्वयः—शठ ! चाणक्यतः स्खलितभक्तिः मौर्यमहं सुखेन जेष्यामि इति सम्प्रति भवता यः एष भेदः किल प्रयुक्तः सः सकल एव तवैव दूषणाय हि सम्पत्स्यते ।

संस्कृतार्थः—शठ ! धूर्त ! चाणक्यतः = कौटिल्यात्, स्खलितभक्तिः = अपगतभक्ति, मौर्यं = चन्द्रगुप्तं, अहं = राक्षसः, सुखेन = अनायासेन, जेष्यामि = विजयिष्ये, इति हेतोः, सम्प्रति = इदानीं, भवता = त्वया, यः एष भेदः = अयं उपजापः, किल, प्रयुक्तः = विहितः, स सकलः = सम्पूर्णः, एव, तवैव = भवतः एव, दूषणाय = दोषाय हि = निश्चयेन, सम्पत्स्यते = भविष्यति ।

भावार्थः—अहं चाणक्यात् शिथिलानुरागं चन्द्रगुप्तं सुखेन भेत्स्यामि इति ध्यायं ध्यायं यः कोऽपि नीतिप्रयोगः कृतः स किलः मया पूर्वमेव ज्ञातः त्वत्तः मलयकेतुं च भेत्तुं भविष्यति ।

भाषार्थः—हे धूर्त ! चाणक्य से शिथिल भक्ति चन्द्रगुप्त को मैं आसानी से जीत लूँगा—ऐसा समझकर तुमने जो इस भेद-नीति का प्रयोग किया है वह सम्पूर्ण भेदप्रयोग तुम्हारे ही विनाश के लिये निश्चित रूप से होगा।

टिप्पणी

व्याकरण—दूषणाय = दुष् + णिच् + ल्युट् "दोषो णौ" इत्यनेन ऊत्वम्। भक्तिः = भज् + क्तिन्। वरीयान् = अतिशयेन उरुः इति उरु + ईयसुन् वरादेशः। कोषः—"निकृतः अनृजुः शठः" इत्यमरः। अलङ्कारः—विषमः "यद्वारब्धस्य वैफल्यात् अर्थस्य च सम्भवात्। छन्दः—वसन्ततिलका, प्रसाद गुणः, वैदर्भी च रीतिः।

राजा—आर्य वैहीनरे ! अद्य प्रभृत्यनादृत्य चाणक्यं चन्द्रगुप्तः स्वयमेव राज्यमेव राज्यकार्याणि करिष्यतीति गृहीतार्थाः प्रकृतयः क्रियन्ताम्।

कञ्चुकी—(स्वगतम्) कथं निरुपपद एव चाणक्यो नार्य चाणक्य इति। हन्त ! सत्यमेव हृतोऽधिकारः। अथवा न खल्वत्र वस्तुनि देवदोषः। कुतः—

स दोषः सचिवस्यैव यदसत् कुरुते नृपः।
याति यन्तुः प्रमादेन गजो व्यालत्ववाच्यताम् ॥३२॥

(बाहर चला जाता है)

राजा—आर्य वैहीनरे ! आज से चाणक्य को हटाकर चन्द्रगुप्त स्वयं राज काज करेगा। यह प्रजा को सूचित कर दो।

कञ्चुकी—(स्वगत) केवल चाणक्य कह दिया, आर्य चाणक्य नहीं, खेद है सब अधिकार ले लिया। महाराज का इसमें क्या दोष है।

प्रसङ्गः—कञ्चुकी चाणक्यचन्द्रगुप्तयोः कृतककलहं सत्यमेव मन्यमानः स्वमतमाहः—

अन्वयः—नृपः यत् असत् कुरुते स सचिवस्यैव दोषः, यन्तुः प्रमादेन गजः व्यालत्ववाच्यतां याति।

संस्कृतार्थः—नृपः = भूपतिः, यत् असत् = अयुक्तं, कुरुते = विदधाति, सः

सचिवस्यैव = मन्त्रिणः एव दोषः = अपराधः, न तु राज्ञः । यन्तुः = हस्तिपकस्य निषादिनः इति यावत् प्रमादेन = अनवधानतया, गजः = करी, व्यालत्वेन = दुष्ट-गजत्वेन, वाच्यतां = निन्दनीयतां, याति = प्राप्नोति ।

भावार्थः—यथाऽऽधोरणस्य प्रमादेन गजः दुष्टगजः जायते एवमेव मन्त्रिणोऽपराधेन नृपोऽसत् कार्यं अनादरादिकं कुरुते, न तत्र राज्ञः दोषः ।

भाषार्थः—राजा जो अनुचित कार्य करता है, वह मन्त्री का ही दोष है । क्योंकि महावत की असावधानी से हाथी दुष्ट हाथी की वाच्यता को प्राप्त करता है ।

टिप्पणी

व्याकरणम्—वाच्यताम् = वक्तुमर्हः इति वाच्यः वच् (परिभाषणे) + ण्यत्, वाच्यः तस्य भावः, वाच्य + तल् + टाप् "तस्य भावः त्वतलौ" अनेन तल् प्रत्ययः । असत्कुरुते = अविद्यमानं सत् यत्र तदसत्, असत् + कृ + लट्—ते । यन्तुः = यमु (उपरमे) + तृच् = यन्तृ तस्य । कोषः—"व्यालो दुष्टगजे सर्पे" इति हैमः । अलंकारः—दृष्टान्तः "दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनम् । छन्दः—अनुष्टुप् वृत्तम् ।

राजा—आर्य, किं विचारयसि ।

कञ्चुकी—देव, न किंचित् । दिष्ट्या देव इदानीं देवः संवृत्तः । (इति निष्क्रान्तः ।)

राजा—(आत्मगतम् ।) एवमस्मासु गृह्यमाणेषु स्वकार्यसिद्धिकामः सकामो भवत्वार्यः । (प्रकाशम् ।) शोणोत्तरे, अनेन शुष्ककलहेन शिरोवेदना मां बाधते । शयनगृहमादेशय ।

प्रतीहारी—एतु एतु देवः ।

राजा—(आत्मगतम्)

राजा—आर्य ! क्या सोच रहे हैं ।

कंचुकी—कुछ नहीं महाराज ! बस यही कहना चाहता हूँ कि भाग्य से महाराज आज से महाराज हुये ।

राजा—(स्वगत) इस प्रकार हमारे समझे जाने पर (लोगों द्वारा मेरे और चाणक्य के प्रणय कलह को यथार्थ समझने पर) अपने कार्य की सिद्धि चाहने वाले आर्य पूर्ण काम हों (प्रकट) शोणोत्तरे ! इस सूखे विवाद से सिर की वेदना मुझे पीड़ित कर रही है। अतः शयन-कक्ष में ले चलो।

प्रतीहारी—इधर-इधर महाराज।

राजा—(आसन से उठकर स्वगत)

आर्याज्ञयैव मम लङ्घितगौरवस्य
बुद्धिः प्रवेष्टुमिव भूविवरं प्रवृत्ता।
ये सत्यमेव न गुरून् प्रतिमानयन्ति
तेषां कथं नु हृदयं न भिनत्ति लज्जा ॥३३॥

(इति निष्क्रान्तौ।)

तृतीयोऽङ्कः

प्रसङ्गः—चन्द्रगुप्तः कृतककलहेन दूयमानमनाः चिन्तयति।

अन्वयः—आर्याज्ञया एव लङ्घितगौरवस्य मम अवनेः विवरं प्रवेष्टुं बुद्धिः प्रवृत्ता। ये सत्यमेव गुरून् न प्रतिमानयन्ति तेषां हृदयं लज्जा कथं नु न भिनत्ति।

संस्कृतार्थः—आर्याज्ञया=आर्यस्य=आदरणीयस्य चाणक्यस्य, आज्ञया=आदेशेन, एव=निश्चये, लङ्घितगौरवस्य=लङ्घितं=अतिक्रान्तं, गौरवं=गुरुता, येन तादृशस्य मम=मे, चन्द्रगुप्तस्य, अवनेः=धरायाः, विवरं=छिद्रं, प्रवेष्टुं=अन्तर्गन्तुं, बुद्धिः=प्रज्ञा, प्रवृत्ता=उद्यता। ये जनाः=नराः, सत्यमेव=वस्तुतः, गुरून्=पूज्यान्, न प्रतिमानयन्ति=नाद्रियन्ते, तेषां जनानां, हृदयं=स्वान्तं लज्जा=त्रपा, कथं नु=कस्मात् कारणात् न भिनत्ति=विदारयति।

भावार्थः—ये पूज्यान् तिरस्कुर्वन्ति तेषां हृदयानि लज्जया कथं न विदीर्यन्ते, मम तु पुनः आर्यस्यादेशेनैव कृतककलहः जातः तेनैव हृदयमन्तर्गर्ते पततीव प्रतीयते, धिक् तान् पूज्यान् तिरस्कुर्वतः।

भाषार्थः—आर्य के आदेशानुसार मर्यादा का अतिक्रमण करने वाले मुझ चन्द्रगुप्त की बुद्धि अन्तः पृथ्वी के विवर में घुसी जाती है। जो यथार्थ में ही

गुरुओं का निरादर करते हैं उनके हृदय को लज्जा क्यों नहीं विदीर्ण कर डालती है।

टिप्पणी

व्याकरण—प्रतिमानयन्ति = पूजयन्ति, प्रति + मान् (पूजायाम्) + णिच् + लट्—अन्ति बहुवचने रूपम्। बुद्धिः, बुध् (अवगमने) + क्तिन्। लंघित-गौरवस्य = लङ्घितं गौरवं येन तादृशस्य बहुव्रीहिसमासः। प्रवृत्ता = प्र + वृतु (वर्तने) + क्त + टाप्। प्रवेष्टुम् = प्र + विश्—(प्रवेशने) + तुमुन्। कोषः—बुद्धिः = "बुद्धिर्मनीषा धिषणा धीः प्रज्ञा शेमुषी" हृदयम् = चित्तं तु चेतो हृदयं स्वान्तं हृन्मानसं मनः" इत्यमरः। अलंकार—अत्र प्रथमचरणे 'परिसंख्या' अप्रश्नपूर्वककथितवस्तुनः निर्देशात्। द्वितीयचरणे काव्यलिङ्गम् विवरप्रवेशे लंघितगौरवस्य हेतुत्वात्। तृतीये चतुर्थे चरणे अर्थापत्यलंकारः हृदयं न भिनत्ति, अपितु भिनत्त्येवेत्यर्थादापद्यते। छन्दः :—वसन्ततिलका वृत्तम्।

(सभी पात्र बाहर चले जाते हैं)

॥तृतीय अंक समाप्त हुआ॥

चतुर्थोऽङ्कः

(ततः प्रविशत्यध्वगवेषः पुरुषः।)

पुरुषः—हीमाणहे हीमाणहे। (आश्चर्यमाश्चर्यम्।)

जोअणसअं समधिअं को णाम गदागदं इह करेइ।
अत्थाणगमणगुरुई प्पहुणो अण्णा जइ ण होइ ॥१॥

(योजनशतं समधिकं को नाम गतागतमिह करोति।
अस्थानगमनगुरुका प्रभोराज्ञा यदि न भवति ॥१॥

(पथिक के वेश में एक पुरुष का प्रवेश)

पुरुषः—आश्चर्य है आश्चर्य है।

प्रसङ्गः—पथिकव्यञ्जनोऽमात्यराक्षसस्य प्रणिधिः विदितवेदितव्यः तन्निवेदयितुं राक्षसाय साधितनियोगमात्मानंप्रकाशयन्नाह—योजनशतमिति—

अन्वयः—अस्थानगमनगुरुका प्रभोः आज्ञा यदि न भवति को नाम इह समधिकं योजनशतं गतागतं करोति ।

संस्कृतार्थः—अस्थानगमनगुरुका = अस्थाने = अकाण्डे, एव गमने = प्रस्थानविषये, गुरुका = गुर्वी, अथवा अविद्यमानं स्थानं, स्थितिः = विरामः यस्मिन् तादृशं यत् गमनं = अविरतगमनं, तेन गुरुका = दुष्करा, अथवा अस्थाने = अयोग्यस्थाने, गमनेन गुरुका अनुल्लंघनीया, प्रभोः = स्वामिनः, आज्ञा = आदेशः, यदि न भवति, को नाम जनः, इह = अस्मिन् संसारे, योजनशतं = क्रोशानां चतुःशतम्, गतागतं = गमनागमनं करोति = विदधाति ।

भावार्थः—अस्य वक्ता करभकः स चामात्यराक्षसेनाज्ञप्तः, करभक ! गच्छ पाटलिपुत्रं जानीहि, विज्ञापय च तत्रत्यं सर्वमुदन्तजातमित्यादिरूपामाज्ञां विना कः जनः योजनानां शतं गतागतं कुर्यात्, न कोपीत्यर्थः ।

भाषार्थः—असमय में जाने के कारण अनुल्लंघनीय स्वामी की आज्ञा यदि न हो तो कौन प्राणी सौ योजन यानी चार सौ कोश दूर आना-जाना करता है ।

टिप्पणी

व्याकरणम्—अध्वगवेशः = अध्वानं गच्छति इति अध्वन् + गम् + ड तस्य वेषः इव वेषः अस्य बहुव्रीहिः समासः । गतागतम् = गतं च आगतं तयोः समाहारद्वन्द्वसमासः । समधिकम् = अधिकेन सङ्गतमिति प्रादितत्पुरुष समासः । कोषः—"चोचं पिच्छं गृहस्थूणं तिरीटं मर्मयोजनम्" । योजनशब्द के उच्छिष्ट—मोरपंख—स्थूण, पगडी, मर्म तथा चारकोश ये ६ अर्थ हैं । अलंकारः—काव्यलिङ्गम् । छन्दः—आर्या छन्द ।

ता जाव अम्मच्चखूवसस्स ज्जेव गेहं गच्छामि (परिश्रान्तवत् परिक्रम्य) भो । को एत्थ दुआरिआणम् ? णिवदेह दाव भद्दिणे अमच्चरक्खसस्स, एसो क्खु करहक विअ कज्जं तुवरन्तो पाडलि-

पुत्तादो आगदोऽत्ति (तद्यावदमात्यराक्षसस्यैव गेहं गच्छामि । भोः कोऽत्र दौवारिकाणाम् ? निवेदय तावत् भर्तुः अमात्यराक्षसस्य । एष खलु करभकः करभक इव कार्यं त्वरयन् पाटलिपुत्रादागतः" इति—

दौवारिकः—(प्रविश्य) भद्द मा उच्चं मन्तेहि । एसो अमच्चो भट्टा कज्जचिन्ताजणिदेण जाअरेण समुप्पण्णसीसवेअणो अज्ज वि दाव ण सअणदलं मुञ्चदि; ता चिट्ठदाव मुहुत्तअं जाव से लद्धावसरो भविअ भवदो आगमणं णिवेदेमि । (भद्र मा उच्चैर्मन्त्रय एष खलु भर्ता अमात्यराक्षसः कार्यचिन्ताजनितेन जागरेण समुत्पन्न-शीर्षवेदनोऽद्यापि तावत् न शयनतलं मुञ्चति, तस्मात् तिष्ठ तावन्मुहुर्तं यावत्तस्य लब्धावसरो भूत्वा भवतः आगमनं निवेदयामि ।

भाषार्थः—तो अमात्य राक्षस के ही घर जाता हूँ । (थके हुए की तरह घूमकर) द्वारपालों में से यहाँ कौन है ? अमात्य राक्षस से कहो कि हाथी के बच्चे के समान करभक जल्दी कार्य कर पाटलिपुत्र से आया है ।

द्वारपाल—(प्रवेश करके) भद्र जोर से मत बोलो, ये निश्चय से स्वामी मन्त्री राक्षस कार्य की चिन्ता के कारण जागने से उत्पन्न सिरदर्द से पीड़ित होकर अभी भी शय्या को नहीं छोड़ रहे हैं । अभी थोड़ी देर ठहरो । जब तक अवसर पाकर तुम्हारे आने की सूचना देता हूँ ।

संस्कृतार्थः—द्वारपालः—प्रविश्य, करभकमुद्दिश्य, भद्र ! शनैः ब्रूहि एष महामात्यः राक्षसः कार्यचिन्तया जनितशिरोवेदनयाऽधुनापि शेते, मुहूर्तं प्रतीक्षस्व, यथावसरं भवतः आगमनं निवेदयामि ।

व्याकरणम्—दौवारिकाणाम् = द्वारपालानां, द्वार + ठक् "तत्र नियुक्तः" इति ठक्, "द्वारादीनाञ्च" इससे द्वार के स्थान पर दौवार आदेश हो गया । त्वरयन् = सत्वरं साधयन्, त्वर् + णिच् + शतृ प्रथमैकवचनम् । समुत्पन्नशीर्ष वेदनः = समुत्पन्ना शीर्षवेदना अस्य सः बहुवीहिः ।

पुरुषः—भद्दमुह ! जधा दे रोअदि ! (भद्रमुख ! यथा ते रोचते ।)

(ततः प्रविशति शयनगत आसनगतेन शकटदासेन सह चिन्तितो राक्षसः)

राक्षसः—(आत्मगतम्)

पुरुष—भद्रमुख ! जैसी तुम्हारी इच्छा ।

(पलङ्ग पर लेटे चिन्तामग्न राक्षस, आसन पर बैठे शकटदास के साथ प्रवेश करता है)

राक्षस—(मन में)

मम विमृशतः कार्यारम्भे विधेरविधेयता—
मपि च कुटिलां कौटिल्यस्य प्रचिन्तयतो मतिम् ।।
अथ च विहिते मत्कृत्यानां निकाममुपग्रहे
कथमिदमिहेत्युन्निद्रस्य प्रयात्यनिशं निशा ।।२।।

प्रसङ्गः—व्यापृतबहुकृत्यः राक्षसः चिन्तामग्नः उन्निद्रश्च आत्मगत-माह—मम विमृशतः इति—

अन्वयः—कार्यारम्भे विधेः अविधेयतां विमृशतः कौटिल्यस्य सहज-कुटिलां मतिं प्रचिन्तयतः अथ च मत्कृत्यानां निकामं उपग्रहे विहिते 'इह इदं कथं' इति अनिशं उन्निद्रस्य मम निशाः प्रयान्ति ।

संस्कृतार्थः—कार्यारम्भे = विधेयस्योपक्रमे, विधेः = दैवस्य, अविधेयतां = प्रतिकूलतां, विमृशतः = विचारयतः, कौटिल्यस्य = चाणक्यस्य, सहजकुटिलां = स्वभाववक्रां, मतिं = प्रज्ञां, प्रचिन्तयतः = पर्यालोचयतः, अथच = अपिच मत्कृत्यानां = मम कार्याणां, विषकन्यादि = प्रयोगाणामित्यर्थः, निकामं = यथेप्सितं, उपग्रहे = प्रतीकारे, विहिते = कृते, इह = अस्मिन्, इदं = एतत्, कथं = केन प्रकारेण, इति = अनया रीत्या, अनिशं = सततं, उन्निद्रस्य = जाग्रतः, मे = मम राक्षसस्य, निशाः = यामिन्यः, प्रयान्ति = अतिगच्छन्ति

भावार्थ—पूर्वं तावत् भाग्यमेव प्रतिकूलं अथच कौटिल्यस्य कुटिला नीतयः, हन्त ! कथङ्कारं कार्यं सेत्स्यति, न जाने किं भावि इति भावः ।

भाषार्थः—कार्य के प्रारम्भ में भाग्य की विपरीतता को सोचते हुये तथा कौटिल्य की कुटिल नीतियों के विषय में तर्क-वितर्क करते हुये, अपने कार्यों के सर्वथा विफल हो जाने पर "यहाँ यह कैसे हुआ" इस चिन्ता में निरन्तर जागते हुये मेरी रात्रियाँ व्यतीत होती हैं।

टिप्पणी

व्याकरणम्—अविधेयताम्=वि+धा "डुधाञ् धारणपोषणयोः"+यत्=विधेयः, न विधेयः अविधेयः नञ्तत्पुरुष। "तस्य भावःत्वतलौ" अविधेय+तल्+टाप्—ताम्। उपग्रहे=उप+ग्रह "उपादाने"+अप्, तस्मिन्। अनिशं=सततं, अविद्यमाना निशा यस्मिन् कर्मणि तत्। कोषः—"कामं प्रकामं पर्याप्तं निकामेष्टं यथेप्सितम्" इत्यमरः। अलंकारः—समुच्चयः, "समुच्चयोऽयमेकस्मिन् सति कार्यस्य साधके। खलेकपोतिकान्यायात्तत्काः स्यात्परोऽपि चेत्॥ छन्दः—हरिणीवृत्तम् "नसमरसलागःषड्वेदैः हयैःहरिणी मता"।

अपि च।

कार्योपक्षेपमादौ तनुमपि रचयंस्तस्य विस्तारमिच्छ—
न्वीजानां गर्भितानां फलमतिगहनं गूढमुद्भेदयंश्च।
कुर्वन्बुद्ध्या विमर्शं प्रसृतमपि पुनः संहरन्कार्यजातं
कर्ता वा नाटकानामिममनुभवति क्लेशमस्मद्विधो वा॥३॥

प्रसङ्ग—चिन्ताव्यग्रमानसः राक्षसः पुनरपि किमपि स्वहृदयानुभूतं महत्कष्टं राजनीतिनाटकाभिनयनिर्वाहं मनसि कुर्वन्नाह।

अन्वयः—आदौ तनुमपि कार्योपक्षेपं रचयन्, यस्य विस्तारं इच्छन्, गर्भितानां वीजानां अतिगहनं फलं गूढं उद्भेदयन् च बुद्ध्या विमर्शं कुर्वन् प्रसृतमपि कार्यजातं पुनः संहरन् नाटकानां कर्ता वा अस्मद्विधो वा इमं क्लेशं अनुभवति।

संस्कृतार्थः—नाटककारपक्षे—आदौ=मुखसन्धौ, तनुमपि=अल्पमपि, कार्योपक्षेपं=वीजन्यासं, रचयन्=कुर्वन्, तस्य=वीजस्य, विस्तारं=अभिव्यक्तिं प्रतिमुखसन्धौ, इच्छन्=अभिलषमाणः, गर्भितानां=दृष्टनष्टानां, वीजानां=कार्योपक्षेपाणां, अतिगहनं=अतिदुर्वोधं गूढं फलं गर्भसन्धौ, उद्भेद-

यन = अन्विष्यन् विमर्शसन्धौ, बुद्ध्या = मनीषया, विमर्शं = अनुसन्धानं, कुर्वन् = विदधत्, प्रसृतमपि = विस्तृतमपि, कार्यजातं = अर्थजातं, पुनः = भूयः निर्वहणसन्धौ, संहरन् संगृह्णन्, नाटकानां = अभिनेयानां, कर्ता = रचयिता, इमं क्लेशं = दुःखं निन्दाविनाशरूपं अनुभवति ।

भावार्थः—मुखसन्धि में थोड़े भी कार्योपक्षेप को करता हुआ, उस बीज के विस्तार को प्रतिमुख सन्धि में चाहता हुआ, उन बीजों के गूढ फल को गर्भसन्धि में खोजता हुआ, विमर्शसन्धि में उस बीज का बुद्धि द्वारा अनुसन्धान करता हुआ, यत्रतत्र फैले हुये सभी कार्य समुदाय को निर्वहण सन्धि में एक प्रयोजन सिद्धि के लिए एकत्र करता हुआ, नाटकों का निर्माता इस रात्रिजागरण के दुःख को अनुभव करता है ।

राजनीतिपक्षे = वा = उत, आदौ = प्रथमं, तनुमपि = स्वल्पमपि, कार्यस्य = शत्रुविजयस्य, उपक्षेपं = सामादि-उपायं, रचयन् = प्रयुञ्जानः, तस्य = कार्यस्य, विस्तारं = बाहुल्यं, इच्छन् = वाञ्छन्, गर्भितानां = गूढानां, बीजानां = मन्त्राणां, अतिगहनं = दुर्बोधं, फलं = साध्यं, उद्भेदयन् = प्रकटयन्, बुद्ध्या = प्रज्ञया, विमर्शं = अनुसन्धानं, कुर्वन्, प्रसृतमपि = विस्तृतमपि, कार्यजातं = कार्यकलापं, पुनः संहरन् = उपसंहरन्, अस्मद्विधः = मन्त्री वा, इमं = निद्राछेद्ररूपं क्लेशं अनुभवति ।

भावार्थः—राजनीतिकार के पक्ष में—

प्रारम्भ में थोड़ा-सा भी अभीष्ट कार्य के उपाय सामादि को करता हुआ बीच-बीच में प्रारम्भ किये हुये कार्य के विस्तार को चाहता हुआ, गुप्त मन्त्रणाओं के अत्यन्त गहन अव्यक्त फल को प्रकट करता हुआ, बुद्धि के द्वारा विचार करता हुआ विस्तार में फैले हुए कार्यसमुदाय का पुनः उपसंहार करता हुआ, मेरे समान राजनीतिज्ञ इस रात्रि-जागरण के दुःख को अनुभव करता है ।

भावार्थः—अस्मिन् पद्ये महाकविः विशाखदत्तः राक्षसमुखेन नाटककारस्य राजनीतिज्ञस्य मन्त्रिणो वा रात्रिजागरणरूपं क्लेशसाम्यं श्लेषेणावर्णयत् ।

व्याकरणम्—कार्योपक्षेपम्=वीजन्यासं, उपक्षिप्यते अनेन इति उप+क्षिप्+घञ्=उपक्षेपः, कार्यस्य उपक्षेपः तं, "काव्यार्थस्य समुत्पत्तिरुपक्षेपः" इति स्मृतः। गर्भितानाम्=गर्भः सञ्जातः एषां इति गर्भ+इतच्, तेषां "गर्भस्तु दृष्टनष्टस्य वीजस्यान्वेषणं मुहुः।" विमर्शः=वि+मृश्+घञ्+विमर्शः "यत्र मुख्यफलोपायः उद्भिन्नो गर्भतोऽधिकः। शापाद्यैः सान्तरायश्च स विमर्शः इति स्मृतः॥

संहरन्=सम्+हृ+शतृ+निर्वहण सन्धि में नाटक का उपसंहार होता है।

बीजवन्तो मुखाद्यर्थाः विप्रकीर्णा यथायथम्।
ऐकार्थ्यमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणं हि तत्॥

मुखसन्धिः—मुखं वीजसमुत्पत्तिः नानार्थरससम्भवा।
अंगानि द्वादशैतस्य वीजारम्भसमन्वयात्॥

प्रतिमुखसन्धि—में वीज का विस्तार होता है वीजस्य लक्षणम् यथा—स्वल्पोद्दिष्टस्तु तद्धेतुः वीजं विस्तार्यनेकधा।

अलंकारः—श्लेषः "शब्दैः स्वभावादेकार्थैःश्लेषोऽनेकार्थवाचकम्। मन्त्रिणः नाटककारस्य प्रस्तुताप्रस्तुयोरेकक्रियाऽभिसम्बन्धात् द्वयोरङ्गाऽङ्गिभावेन वर्तमानत्वात् सङ्करः। छन्दः—स्रग्धरावृत्तं।

तदपि नाम दुरात्मा चाणक्यवटुः,—'

(उपसृत्य)

दौवारिकः—जेदु जेदु—' (जयतु जयतु—')

राक्षसः—'अभिसन्धातुं शक्यः स्यात्।

दौवारिकः—अमच्चो। (अमात्यः)।

राक्षसः—(वामाक्षिस्पन्दं सूचयित्वात्मगतम्) 'दुरात्मा चाणक्यवटुर्जयति, अभिसन्धातुं शक्यः स्यादमात्यः' इति वागीश्वरी वामाक्षिस्पन्दनेन प्रस्तावगता प्रतिपादयति। तथापि नोद्यमस्त्याज्यः। (प्रकाशम्) भद्र! किमसि वक्तुकामः?

दौवारिकः—अमच्च! एसो कखुकरहओ पाडलिपुत्तादो आअदो,

इच्छदि अमच्चं पेक्खिदुं । (अमात्य ! एष खलु करभकः पाटलिपुत्रादागतः, इच्छति अमात्यं प्रेक्षितुम् ।)

राक्षसः—अवारितं प्रवेशयैनम् ।

दौवारिकः—जं अमच्चो आणबेदि । (इति निष्क्रम्य पुरुषमुपसृत्य) भद्द ! एसो क्खु अमच्चो चिट्ठदि, ता उपसप्प णं । (यदमात्य आज्ञापयति । भद्र ! एष खलु अमात्यस्तिष्ठति, तदुपसर्प एनम् ।)

(इति निष्क्रान्तो दौवारिकः ।)

करभकः—(राक्षसमुपसृत्य) जेदु जेदु अमच्चो । (जयतु जयत्वमात्यः ।)

राक्षसः—(नाट्येनावलोक्य) भद्र करभक ! स्वागतम् । उपविश्यताम् ।

करभकः—जं अमच्चो आणवेदि । (यदमात्य आज्ञापयति ।) (इति भूमावुपविशति ।)

राक्षसः—(आत्मगतम्) अथ कस्मिन् प्रयोजने मयाऽयं प्रणिधिः प्रहित इति प्रभूतत्वात् प्रयोजनानां न खल्ववधारयामि । (इति चिन्तां नाटयति ।)

इतना होने पर भी कहीं यह दुष्ट चाणक्य···।

दौवारिक—(पास पहुँचकर) जय हो जय हो—)

राक्षस—वश में आ जाता

दौवारिक—अमात्य

राक्षस—(बाईं आँख का फड़कना सूचित कर, स्वगत)

दुष्ट चाणक्य की जय हो और अमात्य वश में आ जाता इस प्रकार की यह दैवी वाणी क्या मेरी बाईं आँख फड़क उठने में इस प्रकार की होनी की सूचना देने लगी ? तो भी इसे छोड़ना कैसा (प्रकट) क्यों भाई क्या कुछ कहना चाहते हो ?

दौवारिक—अमात्य ! यह करभक पाटलिपुत्र से आया है । अमात्य से मिलना चाहता है ।

राक्षस—बिना रोक टोक के उसे भीतर आने दो।

दौवारिक—अमात्य ! जैसी आज्ञा (बाहर जाकर उस पुरुष के पास पहुँच कर) भद्र ! ये अमात्य विराजमान हैं उनके पास चलो।

(द्वारपाल चला जाता है)

करभक—(राक्षस के पास पहुँचकर) जय हो अमात्य ! जय हो।

राक्षस—(उसे देखने का अभिनय करते हुए) अरे करभक ! आओ स्वागत है, बैठो।

करभक—जो आज्ञा अमात्य ! (नीचे पृथ्वी पर बैठता है)

राक्षस—(स्वगत) किस काम के लिये मैंने इसे भेजा है, यह कार्याधिक्य के कारण ठीक पता नहीं चल पाता (सोचने का अभिनय करता है)

(ततः प्रविशति वेत्रपाणिरपरः पुरुषः।)

पुरुषः—ओसलध अज्जा ! ओसलध। अबेध माणहे ! अबेध। किं ण पेक्खह ?। (अपसरत आर्याः ! अपसरत। अपेत मान्याः ! अपेत। किं न पश्यथ ?)

दूले पच्चासत्ती दंसणमवि दुल्लहं अधण्णेहिं।
कल्लाणकुलहराणं देवाणं अ मनुस्सदेआणं ॥४॥

दूरे प्रत्यासत्तिर्दर्शनमपि दुर्लभमधन्यैः।
कल्याणकुलधराणां देवानामिव मनुष्यदेवानाम् ॥४॥

(आकाशे) अज्जा ! किं भणाध, किं णिमित्तं एसा ओसालणा करीअदि ? अज्जा ! एसो क्खु कुमालो मलयकेदू समुप्पण्णसीसबेअणं अमच्चरक्खसं पेक्खिदुं इह ज्जेव आ-अच्छदि। एदिणा कालणेण ओसालणा करीअदि। (आर्याः ! किं भणथ, किं निमित्तमेषाऽपसारणा क्रियते ? आर्याः ! एष खलु कुमारो मलयकेतुः समुत्पन्नशीर्षवेदनमामात्यराक्षसं प्रेक्षितुमिहैवागच्छति। एतेन कारणेनापसारणा क्रियते।)

(बेंत हाथ में लिये हुए दूसरा पुरुष प्रवेश करता है)

पुरुष—हटो लोगो हटो, क्या तुम्हें पता नहीं—

प्रसङ्गः—करभकराक्षसयोः परस्परं वार्तालापप्रसङ्गे मलयकेतोरागमनं सूचयतः पुरुषस्योक्तिरियम्।

अन्वयः—कल्याणकुलधराणां देवानां इव कल्याणकुलधराणां मनुष्य-देवानां अधन्यैः दर्शनमपि दुर्लभम्, प्रत्यासत्तिः दूरे ।

संस्कृतार्थः—कल्याणकुलधराणां = कल्याणः = सुवर्णमयः, कुलधरः = कुलपर्वतः मेरुः येषां तादृशानां, देवानां = देवतानां इव यथा, कल्याणकुल-धराणां = कल्याणकुलं धरन्तीति कल्याणकुलधराः = महोन्नतवंशाः तेषां मनुष्य-देवानां = राज्ञाम्, अधन्यैः = हतभाग्यैः जनैरिति शेषः, दर्शनं = अवलोकनं, अपि, दुर्लभं = कठिनं, प्रत्यासत्तिः = सानिध्यसम्बन्धः तु दूरे आस्ताम् ।

भावार्थः—देवानां दर्शनं यथा दुर्लभं राज्ञामपि दर्शनं तथैव दुष्करतरं तेषां सामीप्यं तु दूरे तिष्ठ तु ।

भाषार्थः— मेरु पर्वत पर रहने वाले देवताओं के समान महान् उन्नत वंश वाले राजाओं के दर्शन दुर्भागी मनुष्यों के लिये दुर्लभ हैं उनका सामीप्य तो दूर की बात है ।

टिप्पणी

व्याकरणम्—प्रत्यासत्तिः = सामीप्यम्, प्रति + आ + सद् + क्तिन् । अधन्यैः = अत्र न लोकाव्यय इत्यादिना खलर्थप्रयोगे षष्ठीनिषेधः । वेत्रपाणिः = वेत्रं पाणौ यस्य सः व्यधिकरणबहुव्रीहिः । दर्शनम् = दृश् + ल्युट्—अना-देशः । कोषः—अमरा निर्जरा देवाः त्रिदशा विबुधाः सुराः" इत्यमरः । अलंकारः—दीपक, नृपदेवयोः प्राकरणिकाऽप्राकरणिकयोः एकक्रियासम्बन्धात् दीपकम् । छन्दः—आर्या वृत्तम् ।

भाषार्थः—आकाशे—(आकाश में) आर्यगण ! क्या कह रहे हो, किस कारण लोगों को हटाया जा रहा है । आर्यवृन्द ! ये कुमार मलयकेतु उत्पन्न शिरोवेदना वाले अमात्य राक्षस को देखने के लिये यहीं आ रहे हैं । इस कारण से हटाया जा रहा है ।

(इति निष्क्रान्तः पुरुषः ।)

(ततः प्रविशति भागुरायणेन कञ्चुकिना चाऽनुगम्यमानो मलय-केतुः ।)

मलयकेतुः—(निःश्वस्यात्मगतम्) अद्य दशमो मासस्तातस्योपर-

तस्य । न चास्माभिर्वृथा पुरुषकारमुद्वहद्भिस्तमुद्दिश्य तोयाञ्जलिरप्यार्वजितः । अथवा, प्रतिज्ञातमेतत् पुरस्तात ।

(पुरुष निकल जाता है)

(तत्पश्चात् भागुरायण तथा कञ्चुकी से अनुगमन किया हुआ मलयकेतु प्रवेश करता है)

मलयकेतु—(सांस खींच कर स्वगत) आज पिता के निधन का दसवाँ मास बीत रह रहा है । व्यर्थ ही यह सब हमारा अपने बल-पौरुष का अभिमान रहा । अभी तक श्रद्धाञ्जलि भी अर्पित नहीं की जा सकी प्रतिज्ञा तो पहले की अटल रही ।

वक्षस्ताडनभिन्नरत्नवलयं भ्रष्टोत्तरीयांशुकं
हाहेत्युच्चरितार्तनादकरुणं भूरेणुरूक्षालकम् ।
तादृङ्मातृजनस्य शोकजनितं सम्प्रत्यवस्थान्तरं
शत्रुस्त्रीषु मया विधाय गुरवे देयो निवापाञ्जलिः ।।५।।

प्रसंगः—पूर्वं प्रतिज्ञातमपि परमद्यावधिरसम्पादितं पितृवधनिकारप्रतिशोधं चिन्तयन् कुमारमलयकेतुः पुनः प्रतिजानाति ।

अन्वयः—मातृजनस्य शोकजनितं वक्षस्ताडनभिन्नरत्नवलयं भ्रष्टोत्तरीयांशुकं भूरेणुरूक्षालकं हा हा इत्युच्चरित—आर्तनादकरुणं तादृक् अवस्थान्तरं सम्प्रति शत्रुस्त्रीषु विधाय मया गुरुवे निवापाञ्जलिः देयः ।

संस्कृतार्थः—मातृजनस्य = जननीजातस्य, शोकजनितं = वियोगदुःखेन समुत्पन्नं, वक्षस्ताडनेन = उरसः कराघातेन, भिन्नरत्नवलयं = भग्नमणिकङ्कणं, भ्रष्टोत्तरीयांशुकं = पतितोत्तरीयवस्त्रं, भूरेणुरूक्षालकं = धराधूलिधूसरितकेशपाशं, हा हा = शब्दाकृतिः इति = अनेन प्रकारेण, उच्चारितेन = उद्गतेन, आर्तनादेन = दुःखस्वरेण, करुणं = दीनं, अवस्थान्तरं = दशान्तरं, सम्प्रति = अधुना, शत्रूणां = अरीणां, स्त्रीषु = अङ्गनासु, विधाय = सम्पाद्य, मया = मलयकेतुना, गुरवे = जनकाय, निवापाञ्जलिः = शुद्धतर्पणं, देयः = समर्पणीयः ।

भावार्थः—अहं मलयकेतुः शत्रुस्त्रीणां दुर्दशां विधायाधुना जनकस्य श्राद्धतर्पणादिकं कर्म करिष्यामि इति प्रतिजानामि ।

भावार्थः—माता के वियोगजन्य दुःख से उत्पन्न, छाती पीटने के कारण टूटे रत्न कंकणों वाली, पतित दुपट्टे वाली, धूल धूसरित केशों वाली, हा हा इस दीन स्वर के कारण दीन दशा वाली शत्रु स्त्रियों की दीन दशा करके मैं मलयकेतु पिता जी का श्राद्ध तर्पण करूँगा।

टिप्पणी

व्याकरणम्—भिन्नं रत्नानां वलयं यस्मिन् तादृशं, भिदिर (विदारणे) +क्त=भिन्नम्। भ्रष्टं उत्तरीयांशुकं यस्मिन् तत्, भ्रष्टम्=भ्रंशते भ्रश्यति इति भ्रंश्+क्त। उत्तरीयं=उद्+तरप्=उत्तर+छ, छस्य ईयादेशः। तादृक्=तद्+दृश्+क्विन्। तोयाञ्जलिः=तोयस्य अञ्जलिः षष्ठीतत्पुरुषः। तोयम्=तवे पूर्त्यै याति इति तु+विच्+या+क। भूरेणुरूक्षालकं=भुवः रेणुभिः रूक्षाः अलकाः यस्मिन् तत्। अवस्थान्तरम्=अन्या अवस्था, मयूरव्यंसकादित्वात् समासः। अव+स्था+अङ्+टाप्=अवस्था। कोषः—"अलकाश्चूर्णकुन्तलाः" इत्यमरः। अलंकारः—निदर्शना, सम्भवन् वस्तुसम्बन्धः, असम्भवन् वापि कुत्रचित्। यत्रबिम्बानुबिम्बत्वं बोधयेत्सा निदर्शना। परिवृत्तिरलकारः, शत्रुभिः मातृजनेष्विव मयापि शत्रुस्त्रीषु दण्डः पातनीयः इति समविनिमयरूपा परिवृत्तिः। छन्दः—शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्।

तत् किमिह बहुना ?

उद्यच्छता धुरमकापुरुषानुरूपां
गन्तव्यमाजिनिधनेन पितुः पथा वा।
आच्छिद्य वा स्वजननीजनलोचनेभ्यो
नेयो मया रिपुवधूनयनानि वाष्पः ॥६॥

अब और अधिक क्या ?

प्रसङ्गः—पुनरपि कुमारमलयकेतुः पितृवधकृतवैरप्रतिशोधनाय उद्यच्छतादिपद्येन प्रतिजानाति।

अन्वयः—अकापुरुषानुरूपां धुरम् उद्यच्छता मया पितुः पथा वा आजिनिधनेन गन्तव्यम्। वाष्पो वा स्वजननीजनलोचनेभ्यः आच्छिद्य रिपुवधूनयनानि नेयः।

संस्कृतार्थः—अकापुरुषानुरूपाम् = अकापुरुषस्य = वीरस्य, अनुरूपां = उचितां, धुरं = भारं, उद्यच्छता = उद्वहता, वीरोचितं कर्म कुर्वतेत्यर्थः, मया = मलयकेतुना, पितुः = जनकस्य, पथा = मार्गेण, गन्तव्यं, आजौ = युद्धे, निधनेन = मरणेन वा गन्तव्यम्, वा = अथवा स्वजननीजनस्यः निजमातृणां, लोचनेभ्यः नेत्रेभ्यः, वाष्पः = अश्रुजलं, आच्छिद्य = आकृष्य, रिपुवधूनां = अरिनारीणां, नयनानि = लोचनानि, नेयः = प्रापणीयः ।

भावार्थः—आहोस्वित् अहं मलयकेतुः युद्धे प्राणान् त्यक्षामि नोचेत् स्वमातृणां नेत्राश्रूणि शत्रुवधूनां नेत्रेषु नेष्यामि, अरीन् वधिष्यामि इत्यर्थः मया सर्वास्ववस्थासु उद्योग एव विधेयः ।

भाषार्थ—वीर पुरुषों के उचित भार वाहन करते हुए पिता के मार्ग से संग्राम में मर जाना चाहिये अथवा अपनी माताओं के नेत्रों से आँसू पोंछ कर शत्रु-वनिताओं की आँखों में पहुँचा देने चाहिये । (यहाँ पिता के मार्ग से का अभिप्राय मरण मात्र से है न कि विषकन्या के प्रयोग से मरण अभीष्ट है, क्योंकि पिता की मृत्यु तो विषकन्या द्वारा हुई थी ।)

टिप्पणी

व्याकरण—कुत्सितः पुरुषः कापुरुषः, न कापुरुषः = अकापुरुषः नञ्-तत्पुरुषः, "विभाषा पुरुषे" सूत्र से कु आदेश हो गया । उद्यच्छता = उद् + यमु "उपरमे" + शतृ तृतीयैकवचनम् । लोचनेभ्यः = अत्र अपाये पञ्चमी "ध्रुवमपायेऽपादानम् । कोषः—"समे क्ष्मांशे रणेऽप्याजिः" पृथ्वी और आजि के दो अर्थ हैं । अलङ्कारः—विकल्पः, "विकल्पस्तुल्यबलयोः विरोधचातुरीयुतः" । छन्दः—वसन्ततिलकावृत्तम् ।

(प्रकाशम्) आर्य जाजले, उच्यन्तामस्मद्वचनादनुयायिनो राजानः—'एक एवाहममात्यराक्षसस्यार्तकितगमनेन प्रीतिमुत्पादयितुमिच्छामि । तत्कृतमनुगमनक्लेशेन' इति ।

कञ्चुकी—तथा । (परिक्रम्य आकाशे) भो भो राजानः, कुमारः समाज्ञापयति—'न खल्वहं केनचिदनुगन्तव्य' इति । (विलोक्य

सहर्षम्) कुमारस्याज्ञानन्तरमेव सर्वे राजानः प्रतिनिवृत्ताः । पश्यतु कुमारः ।

सोत्सेधैः स्कन्धदेशैः खरतरकविकाकर्षणात्यर्थभुग्नै-
रश्वाः कैश्चिन्निरुद्धाः खमिव खुरपुटैः खण्डयन्तः पुरस्तात् ।
केचिन्मातङ्गमुख्यैर्विहतजवतया मूकघण्टैर्निवृत्ताः
मर्यादां भूमिपाला जलधय इव ते देव नोल्लङ्घयन्ति ।।७।।

(प्रकट) आर्य जाजले ! अनुगामी राजवर्ग से मेरी ओर से जाकर कहो मुझे इसी में प्रसन्नता है कि मैं एकाकी अमात्य राक्षस के पास बिना उनके जाने पहुँचूं; इसलिये मेरे पीछे आने का कोई भी कष्ट न करें ।

कञ्चुकी—जो आज्ञा कुमार ! (घूमकर आकाश की ओर) सुनिये राजगण ! कुमार की आज्ञा है कि कोई उनके पीछे न आवे (देखकर हर्ष के साथ) कुमार ! कुमार की आज्ञा सुनते ही समस्त राजगण लौट चले । यह देखिये ।

प्रसङ्गः—कञ्चुकी मलयकेतोः शासनस्य दुर्लंघ्यतां, यथा समुद्रः मर्यादां नोल्लंघते तथैव नृपाः तवाज्ञामिति निवेदयन्नाह ।

अन्वयः—कैश्चित् खुरपुटैः पुरस्तात् खं खण्डयन्तः इव अश्वाः खरतरकविकाकर्षणात्यर्थभुग्नैः सोत्सेधैः स्कन्धदेशैः निरुद्धाः । केचित् विहतजवतया मूकघण्टैः मातङ्गमुख्यैःनिवृत्ताः । देव ! जलधय इव ते मर्यादां न उल्लंघयन्ति ।

संस्कृतार्थः—कैश्चित् = नृपैः, खुरपुटैः = शफाग्रभागैः पुरस्तात् = अग्रे, खं = गगनं, खण्डयन्त इव = चूर्णयन्त इव, अश्वाः = वाजिनः, खरतराणां = अतितीव्राणां, कविकानां = खलीनानां "लगाम" इति भाषायां, कर्षणैः = आकर्षणैः, = अत्यर्थं = अत्यन्तं, भुग्नैः = वक्रैः, सोत्सेधैः = उच्चैः, स्कन्धदेशैः = कण्ठैकदेशैः, निरुद्धाः = अवरुद्धाः । केचित् = अन्ये नृपाः विहतः = निरुद्धः, जवः = वेग; येषां तथाविधतया = तथात्वेन, मूकघण्टैः = निःशब्दघण्टारवैः, मातङ्गमुख्यैः = महागजैः, सार्द्धमिति शेषः, निवृत्ताः = प्रतियाताः, अतः हे देव । हे मलयकेतो ! जलधयः = अब्धयः वेलां, इव = यथा, राजानः तव मर्यादां = आदेशं, नोल्लंघयन्ति = नातिक्रामन्ति ।

भाषार्थः—यथा समुद्रः स्वतटं कदापि नोल्लंघते तथैव अश्ववाराः राजानः

गजारूढाश्च नृपाः हे देव। तवादेशं नातिक्रामन्ति। यतः ते तवादेशं स्वीकृत्य प्रतिनिवर्तन्ते इति त्वं पश्य।

भाषार्थः—कुछ राजाओं ने खुरों के अग्रभाग से आकाश को चूर्ण करते हुए तथा अत्यन्त तीक्ष्ण एवं कटीली लगामों के खींचने के कारण अत्यधिक टेढ़े एवं उन्नत ग्रीवा भागों वाले घोड़ों को रोक लिया है। अन्य कुछ दूसरे राजाओं के हाथियों के वेग को रोक देने के कारण निःशब्द घण्टे वाले गजराजों के साथ वापिस लौट रहे हैं। महाराज ! समुद्र के समान जैसे समुद्र अपनी मर्यादा को नहीं लांघता है उसी तरह नृपगण आपकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं करते हैं।

व्याकरणम्—खरतरम्=अतिशयेन खरम् इति, खमिन्द्रियं राति इति ख+रा+क=खर+तरप्। भुग्नः=भुज्+क्त। सोत्सेधः=उत्+सिध्+घञ्=उत्सेधः तेन सह इति। निरुद्धः=नि+रुध्+क्त। मातङ्गमुख्यैः=मातङ्गानां मातङ्गेषु वा मुख्याः तैः सुप्सुपा समासः। भूमिपालाः=भूमिं पालयति इति भूमि+पाल्+णिच्+अण्। खण्डयन्तः=खण्ड+णिच्+शतृ प्रथमा बहुवचने रूपम्। अश्वाः=अश्नोति अध्वानं, अश्नन् हदते वा अश्+क्वन्। जलधयः=जलानि धीयन्ते येषु इति जल+धा+किप्रत्ययः बहुवचनम्। कोषः—"कविका तु खलीनोऽस्त्री, शफं क्लीबे खुरः पुमान्" अमरः। अलङ्कारः—जलधय इव अत्र उपमा। खमिव जलधयः अत्रोत्प्रेक्षा। अश्व मातङ्गानां स्वभाववर्णनात् स्वभावोक्तिः"। स्वभावोक्तिः दुरूहार्थस्वक्रिया स्वरूपवर्णनम् इति लक्षणात्। छन्दः=स्रग्धरा वृत्तम्।

अत्राश्वानां मातङ्गानां च वर्णनात् कुमारमलयकेतोः सेनासंग्रहः सूचितः।

मलयकेतुः—आर्य जाजले ! त्वमपि सपरिजनो निवर्तस्व। भागुरायण एको मामनुगच्छतु।

कञ्चुकी—यदाज्ञापयति कुमारः।

(इति सपरिजनो निष्क्रान्तः)

मलयकेतुः—सखे भागुरायण ! विज्ञापितोऽहमिहागच्छद्भिर्भद्रभटप्रभृतिभिः, यथा—'न वयममात्यराक्षसद्वारेण कुमारमाश्रयणीय-

माश्रयामहे, किन्तु कुमारस्य सेनापतिं शिखरसेनमूरीकृत्य दुष्टामात्य-परिगृहीतात् चन्द्रगुप्तादपरक्ताः सन्तः कुमारमाभिरामिकगुणयोगा-दाश्रयणीयमाश्रयामह' इति । तन्मया सुचिरमपि विचारयता तेषां न वाक्यार्थोऽधिगतः ।

मलयकेतुः—आर्य जाजलि ! तुम भी परिजनों के साथ लौट जाओ अकेला भागुरायण मेरे पीछे-पीछे आयें ।

कञ्चुकी—कुमार की जो आज्ञा ।

(कञ्चुकी परिजनों के साथ-साथ चला जाता है ।)

मलयकेतु—मित्र भागुरायण ! यहाँ आये हुए भद्रभट आदियों ने मुझे निवेदन किया था कि हम लोग अमात्य राक्षस के द्वारा आश्रय के योग्य कुमार का आश्रय नहीं ले रहे हैं । किन्तु कुमार के सेनापति शिखरसेन को अङ्गीकार करके दुष्ट चाणक्य मन्त्री के अधीन चन्द्रगुप्त से विरक्त होकर उत्तम गुणों से विभूषित जो एक राजा में होने चाहिये होने के कारण कुमार का आश्रय ले रहे हैं । मैंने बहुत समय तक इस पर विचार करने पर भी उनके वाक्य का अभिप्राय नहीं समझा है ।

संस्कृतार्थः—मलयकेतुः भागुरायणं पृच्छति यद्भोः ! भद्रभटप्रभृतीनां ममाश्रये ममाभिरामिकगुणः, मम सेनापतेः शिखरसेनस्य च वार्तालापः कारणं नतु मन्त्रिणो राक्षसस्य साचिव्यगुणः कारणं इति कथनस्यार्थः विचार्य-माणोऽपि न ज्ञातः ।

टिप्पणी

व्याकरणम्—विज्ञापितः = वि + ज्ञप् + णिच् + क्तः । आगच्छद्भिः = आङ् + गम् + शतृ तृतीयाबहुवचनम् । आश्रयणीयम् = आ + श्रि + अनीयर् । ऊरीकृत्य = ऊरी + कृ + क्त्वा – ल्यप् गति समासः "कुगति प्रादयः" । आभिरामिकगुणयोगात् = आभिरामिकश्चासौ गुणः, तस्य योगात्,

आभिरामिकगुणः = राजा के दो प्रकार के गुण होते है ।

१—आत्मसम्पत् गुण, २—आभिरामिक गुण । जिनमें आभिरामिक

गुणों का परिसंख्यान कौटिल्य के अर्थ शास्त्र में इस प्रकार किया है। महा कुलीनः दैवबुद्धिः सत्त्वसम्पन्नः वृद्धदर्शी धार्मिकः सत्यवाक् अविसंवादकः कृतज्ञः स्थूललक्षी महोत्साहः अदीर्घसूत्रः शक्यसामन्तः हठबुद्धिः अक्षुद्रपरिषत्कः विनयकामः ये पन्द्रह गुण राजा के आभिरामिक गुण कहलाते हैं।

भागुरायणः—कुमार ! 'नायमत्यन्तदुर्बोधोऽर्थः। पश्य, विजगीषु-मात्मगुणसम्पन्नं ,प्रियहितद्वारेणाश्रयणीयमाश्रयेदि' ति ननु न्याय्य एवायम्।

मलयकेतुः—सखे भागुरायण ! नन्वस्माकममात्यराक्षसः प्रिय-तमो हिततमश्च।

भागुरायणः—कुमार ! एवमेतत्, किन्तु अमात्यराक्षसश्चाणक्ये बद्धवैरो न तु चन्द्रगुप्ते, तद्यदि कदाचिच्चन्द्रगुप्तश्चाणक्यमतिजित-काशिनमसहमानः साचिव्यादवरोपयेत्, ततो नन्दकुलभक्त्या नन्दा-न्वय एवायमिति कृत्वा सुहृज्जनापेक्षया च, अमात्यराक्षसश्चन्द्रगुप्तेन सह सन्दधीत। चन्द्रगुप्तोऽपि पितृपारम्पर्यागत एवायमिति कृत्वा सन्धिमनुमन्येत। एवं सत्यस्मास्वपि कुमारो न विश्वसेदित्ययमेषां वाक्यार्थः।

भागुरायण—कुमार ! तात्पर्य तो इसका बहुत कठिन नहीं। देखो "उसी विजिगीषु राजा का आश्रय लो जो आत्मसम्पत् तथा आभिरामिक गुण से युक्त हो और उसी के माध्यम से आश्रय लो जो प्रिय और हितचिन्तक है। इन्होंने जो किया वह तो सर्वथा ठीक ही किया है।

मलयकेतु—मित्र भागुरायण ! तो क्या इसका यह अभिप्राय है कि अमात्य राक्षस इन लोगों के लिये न तो प्रिय है और न हितकर।

भागुरायण—कुमार ! ऐसा ही समझिये। लेकिन अमात्य राक्षस का चाणक्य से वैर है न कि चन्द्रगुप्त से। तो यदि कभी ऐसा हुआ कि चन्द्रगुप्त चाणक्य को उसके गर्व को न सहकर मन्त्री पद से च्युत कर दे तो सम्भव है अमात्य राक्षस अपनी नन्द-वंश-भक्ति के कारण और अपने मित्रों की रक्षा के लिये यह सोचकर चन्द्रगुप्त से जा मिले कि वह भी तो नन्द के वंश का ही है,

और चन्द्रगुप्त भी उससे यह जानकर मिल जाय कि वह भी तो उसकी पितृ-परम्परा से आया हुआ अमात्य है। कहीं यह सब यदि हो जाय तो कुमार इन पर भी तो विश्वास क्यों करने लगे यह उनका वाक्यार्थ है।

संस्कृतार्थः—भागुरायणः—राक्षसः कौटिल्ये धृतविद्वेषः नतु मौर्ये बद्ध-वैरः। यदि कदाचित् मौर्यः अहंकारिणं चाणक्यमसहमानः मन्त्रिपदात्प्रच्या-वयेत्तदा नन्दवंशेन सह स्नेहेनायं चन्द्रगुप्तः नन्दवंशीय एवेति कृत्वाऽपरञ्च चन्दनदासादिमित्रजनप्राणत्राणलिप्सया राक्षसः चन्द्रगुप्तेन सह सन्धि कुर्यात्, चन्द्रगुप्तोऽपि कुलक्रमागतोऽयं सचिवः इति मत्वा सन्धिमनुमन्येत इति कृत्वा कुमारः मलयकेतुः अस्मासु अपि न विश्वसेदित्येवं भद्रभटादीनां वाक्यार्थः।

टिप्पणी

व्याकरणम्—अतिजितकाशिनम्=अतिजितेन काशते तच्छीलः इति अतिजित+काश्+णिनि, तम्। अवरोपयेत्=अव+रह्+णिच्+लिङ्, हस्य पः। सन्धिम्=सम्+धा+कि=सन्धिः तम्।

मलयकेतुः—युज्यते। सखे भागुरायण! अमात्यराक्षसस्य गृह-मार्गमादेशय।

भागुरायण—इत इतः कुमारः। (इत्युभौ परिक्रामतः।) कुमार! इदममात्यराक्षसस्य गृहं प्रविशतु कुमारः।

मलयकेतुः—एष प्रविशामि। (इत्युभौ प्रवेशनं नाटयतः।)

राक्षसः—(आत्मगतम्) आः स्मृतम्। (प्रकाशम्) भद्र! अपि दृष्टस्त्वया कुसुमपुरे वैतालिकः स्तनकलसः?

मलयकेतुः—ठीक है, मित्र भागुरायण! अमात्य राक्षस के घरके मार्ग बताओ।

भागुरायण—इधर से कुमार इधर से (दोनों घूमते हैं) कुमार! यह अमात्य राक्षस का घर है। कुमार प्रवेश करें।

मलयकेतु—यह प्रवेश करता हूँ (दोनों प्रवेश करने का अभिनय करते हैं।)

राक्षस—(मन में) ओह ! स्मरण आ गया। (प्रकट) भद्र ! क्या तुम कुसुमपुर में वैतालिक स्तनकलश से मिले थे ?

करभक—अमात्य ? और क्या।

मलयकेतु—सखे भागुरायण ! यहाँ तो पाटलिपुत्र का वृत्तान्त चल रहा है, भीतर जाना ठीक नहीं, यहीं से सुनते हैं।

सत्त्वभङ्गभयाद्राज्ञां कथयन्त्यन्यथा पुरः।
अन्यथा विवृतार्थेषु स्वैरालापेषु मन्त्रिणः ॥८॥

प्रसङ्गः—मलयकेतुः राक्षसगुप्तचरयोः प्रवर्तमानं पाटलिपुत्रवृतान्तं श्रोतुकामः निभृतं भागुरायणमाह।

अन्वयः—मन्त्रिणः राज्ञां पुरः सत्त्वभङ्गभयात् अन्यथा कथयन्ति, विवृतार्थिषु स्वैरालापेषु अन्यथा ॥

संस्कृतार्थः—मन्त्रिणः = सचिवाः, राज्ञां = भूपतीनां, पुरः = समक्षं सत्त्वस्य = मनसः स्वप्रभावस्य, भङ्गः = नाशः, तस्य भयात् = भीत्या, अन्यथा = अन्य प्रकारेण, कथयन्ति = प्रतिपादयन्ति, विवृतार्थेषु = परस्परं विस्पष्टार्थेषु, स्वैरालापेषु = स्वतन्त्रभाषणेषु, अन्यथा = प्रकारान्तरेण, कथयन्तीति शेषः।

भावार्थः—मलयकेतुः मनसि चिन्तयति यद्राक्षसः ममाग्रे किञ्चिद्गुह्यं गोपयेत् परमेकान्ते गुप्तचरेण सह परस्परं स्वतन्त्रवार्तालापे न किमपि गोपिष्यति यतोऽसौ नैव जानति यदहं प्रच्छन्नः तयोः वार्तालापमाकर्णयामि।

भाषार्थः—मन्त्री लोग प्रभाव नष्ट हो जाने के भय से राजाओं के सम्मुख किसी बात को दूसरे ढंग से कहते हैं और प्रकट तात्पर्य वाली स्वच्छन्द बातचीत में अन्य प्रकार से कहते हैं।

व्याकरणम्—स्वैरालापेषु = स्वैर् + आ + लप् + घञ्, स्वैराः आलापाः तेषु कर्मधारयः। मन्त्रिणः—मन्त्रयते मन्त्रयति वा इति मन्त्र् + णिनि, बहु०। अलंकारः—सत्त्वभङ्गभयादिति पदार्थहेतुकं "काव्यलिङ्गमलंकारः। छन्दः—अनुष्टुप् वृत्तम्।

भागुरायणः—यदाज्ञापयति कुमारः।

राक्षसः—भद्र ! अपि तत् कार्यं सिद्धम् ?

करभकः—अमच्चस्स प्पसाएण सिद्धम । (अमात्यस्य प्रसादेन सिद्धम् ।)

मलयकेतुः—सखे भागुरायण ! किं तत् कार्यम् ?

भागुरायणः—कुमार ! गहनः खलु सचिववृत्तान्तो नैतावता परिच्छेत्तुं शक्यते । अवहितस्तावच्छृणु ।

राक्षसः—विस्तरेण श्रोतुमिच्छामि ।

करभकः—सुणादु अमच्चो, अत्थि दाव अहं अमच्चेणाणत्तो, जधा—'करभअ ! कुसुमपुरे गच्छिअ भणिदव्वो मम वअणेण तुए वैआलिओ त्थणकलसो, जधा—'चाणक्कहदएण तेसुं तेसुं अण्णाभङ्गेसुं अणुचिट्ठीअमाणेसुं चन्दउत्तो समुत्तेअणसमत्थेहिं सिलोएहिं उवसिलोअइदव्वो' त्ति । (श्रृणोत्वमात्यः, अस्ति तावदहममात्येनाज्ञप्तो यथा—'करभक ! कुसुमपुरं गत्वा मम वचनेन त्वया भणितव्यो वैतालिकः स्तनकलसः, यथा—'चाणक्यहृतकेन तेषु तेषु आज्ञाभङ्गेषु अनुष्ठीयमानेषु चन्द्रगुप्तः समुत्तेजनसमर्थैः श्लोकैरुपश्लोकयितव्यः' इति ।)

राक्षसः—ततस्ततः ?

करभकः—तदो मए पाडलिउत्तं गच्छिअ सुणाविदो अमच्चस्स सन्देसं वैआलिओ त्थणकलसो । एत्थन्तरे णन्दकुलविणासहूणस्स पोरजणस्स परिओसं समुप्पाअन्तेण चन्दउत्तेण आघोसिदो कुसुमउरे कौमुदीमहोसवो । सोवि चिरआलपवत्तमाणो जणिदपरिचओ अहिमदवन्धुजणसमागमो विअ, ससिणेहं वहुमाणिदो णअरजणेण ।

करभकः—ततो मया पाटलिपुत्रं गत्वा श्रावितः अमात्यसंदेशं वैतालिकः स्तनकलशः । अत्रान्तरे नन्दकुलविनाशदूनस्य पौरजनस्य परितोषं समुत्पादयता चन्द्रगुप्तेनाघोषितः कौमुदीमहोत्सवः । स च चिरकालपरिवर्तमानो जनितपरिचयोऽभिमतवन्धुजनसमागम इव सस्नेहं वहु मानितो नगरजनेन

भागुरायण—कुमार की जैसी आज्ञा ।

राक्षस—भद्र करभक ! तो क्या काम बन गया ।

करभक—हाँ अमात्य ! आपकी कृपा से सब कुछ बन गया ।

मलयकेतु—मित्र भागुरायण ! वह क्या काम है ।

भागुरायण—कुमार ! मन्त्री का वृत्तान्त बड़ा गूढ़ होता है । इतने से कुछ पता नहीं चल सकता, ध्यान से सुनते हैं ।

राक्षस—भद्र ! विस्तार से कुछ सुनने की इच्छा है ।

करभक—सुनें अमात्य ! आपने मुझे आज्ञा दी थी, करभक ! पाटलिपुत्र जाओ, वहाँ वैतालिक स्तनकलश से मेरी ओर से जाकर कहो कि जब-जब दुष्ट चाणक्य चन्द्रगुप्त की आज्ञाओं का उल्लंघन करे तब-तब ऐसी प्रशस्तियों से चन्द्रगुप्त की स्तुति की जाय कि वह उत्तेजित हो उठे ।

राक्षस—तत्पश्चात् ?

करभक—तब मैं पाटलिपुत्र पहुँचा, वैतालिक स्तनकलश से मिला, और अमात्य आपका सन्देश उसे सुना दिया ।

राक्षस—तत्पश्चात् क्या हुआ ?

करभक—इसके बाद नन्द-वंश के विनाश से दुःखित नागरिकों को प्रसन्न करने की इच्छा से चन्द्रगुप्त ने पाटलिपुत्र में कौमुदी-महोत्सव मनाये जाने की घोषणा कर दी, फिर क्या था । नागरिकों ने भी बहुत दिनों के बाद होने वाले, सन्तोष देने वाले, इष्ट बन्धु के समागम के समान बड़े प्रेम से कौमुदी-महोत्सव का अभिनन्दन किया ।

संस्कृतार्थः—अत्रान्तरे इति – वैतालिकः – भोः कौटिल्य ! भवतः सन्देश-श्रवणानन्तरं नन्दानामन्वयक्षयात् दुर्हृदयस्य नागरिकजनस्य सन्तोषं समुत्पादयता चन्द्रगुप्तेन पाटलिपुत्रे कौमुदी-महोत्सवः आघोषितः । स च शारदपूर्णचन्द्रोदयोत्सवः बहु कालानन्तरं जायमानः समुत्पादितामन्दानन्दः बन्धुजन-समागमः इव सानुरागं पुरवासिनि इति सत्कृतः ।

राक्षसः—(सबाष्पम्) हा देव नन्द,

कौमुदी कुमुदानन्दे जगदानन्दहेतुना ।
कीदृशी सति चन्द्रेऽपि नृपचन्द्र त्वया बिना ॥९॥

राक्षसः—(आँखों में आँसू भर कर) हा देव नन्द !

प्रसङ्गः—राक्षसः कौमुदीमहोत्सवस्य नाममात्रं श्रुत्वा तद्गतत्तत् पूर्ववृत्तान्तं स्मृत्वा नन्दं च स्मृतिपथमानयन् भृशं दूयमानमना वदति, कौमुदी कुमुदानन्दे इति ९ ।

अन्वयः—नृपचन्द्र ! कुमुदानन्दे चन्द्रे सति अपि जगदानन्दहेतुना त्वया विना कौमुदी कीदृशी ।

संस्कृतार्थः—नृपचन्द्र ! = हे शशिसदृश राजन्, कुमदानन्दे = कुमुदानां = कुवलयानां, आनन्दे = आनन्ददायके, चन्द्रे = चन्द्रमसि, सत्यपि = विद्यमानेऽपि, जगदानन्दहेतुना = जगतः = संसारस्य, आनन्दस्य = आमोदस्य, हेतुना = कारणेन, त्वया = भवता नन्देन, विना = अन्तरा, कौमुदी = कौमुदीमहोत्सवः, कीदृशी = किं प्रकारकः व्यर्थः इति ।

अथवा कुमुदानन्दे = कुत्सिता मुद्येषां ते कुमुदः तान् आनन्दयति रञ्जयति कुमुदानन्दः तस्मिन् .कुमुदानन्दे = दुःखितजनरञ्जके, चन्द्रे = चन्द्रगुप्ते सत्यपि कौमुदी = शरत्पूर्णिमोत्सवः, किं विधः निष्फलः इत्यर्थः ।

भावार्थः—यद्यपि इह इलातले चन्द्रगुप्तः चन्द्रश्च विद्यते एव परं हे नन्द ! त्वां विना चन्द्रगुप्तस्य कौमुदीमहोत्सवः चन्द्रस्य च चन्द्रिका नैव शोभते । अथवा चन्द्रगुप्ते दुःखितजनरञ्जके मौर्ये विद्यमाने एषः कौमुदीमहोत्सवः व्यर्थः इत्यपि व्यज्यते ।

भाषार्थः—हे राजचन्द्र ! कुमुदों को आनन्दित करने वाले चन्द्रमा के रहते हुए अथवा दुःखित प्रजाजनों को रञ्जित करने वाले चन्द्रगुप्त के रहते भी, जगत् को आनन्द देने वाले तुम्हारे बिना कौमुदीमहोत्सव कैसा अर्थात् न चन्द्र की चान्दनी न चन्द्रगुप्त का कौमुदीमहोत्सव ही लोगों को आनन्दित कर सकेगा ।

टिप्पणी

व्याकरणम् —कुमुदानि आनन्दयति इति कुमुद + आ + नन्द् + णिच् + अण् । तस्मिन् कुमुदानन्दे चन्द्रे । कोः पृथिव्याः मुदं आनन्दयति वर्धयति यः तादृशे चन्द्रगुप्ते । अलंकारः—विनोक्तिरलङ्कारः, "विनोक्तिः यद्विनाऽन्येन न साध्वन्यदसाधु यो । व्यतिरेकश्च । छन्द—अनुष्टप् वृत्तम् ।

भद्र ! ततस्ततः ?

करभकः—अमच्च ! तदो सो लोअलोअणाणन्दभूदो अणिच्छन्तस्स ज्जेव तस्स णिवारिदो चाणक्कहदकेण कौमुदीमहोस्सवो। एत्थन्तरे त्थणकलसेण पवट्टिदा चन्दउत्तस्स समुत्तेअणसमत्था सिलोअपरिवाटी। (अमात्य ! ततः स लोकलोचनानन्दभूतोऽनिच्छत एव तस्य निवारितश्चाणक्यहतकेन कौमुदीमहोत्सवः। अत्रान्तरे स्तनकलसेन प्रवर्तिता चन्द्रगुप्तस्य समुत्तेजनसमर्था श्लोकपरिपाटी।)

राक्षसः—कीदृशी सा ?

करभकः—(सत्त्वोत्कर्षस्य' इत्यादि पूर्वोक्तं पठति।)

राक्षसः—(सहर्षम्) साधु सखे स्तनकलस ! साधु। काले भेदवीजमुप्तम् अवश्यमेव फलमुपदर्शयिष्यति। यतः—

भद्र ! तब क्या हुआ ?

करभक—अमात्य ! तत्पश्चात् प्रजा के नेत्रों का आनन्द स्वरूप वह कौमुदी महोत्सव नगर निवासियों के न चाहते हुए .भी उस दुष्ट चाणक्य ने निषेध करवा दिया। इसी बीच स्तन कलश ने चन्द्रगुप्त को उत्तेजित करने वाली प्रशस्ति प्रारम्भ कर दी।

राक्षस—कैसी वह ?

करभक—('सत्त्वोत्कर्षस्य' इत्यादि तृतीय अंक में २३वां श्लोक पढ़ता है)।

राक्षस—(बड़ी प्रसन्नता से) बहुत अच्छा स्तनकलश ! धन्य हो तुम। कैसे अच्छे अवसर प र दोनों में फूट का बीज तुमने बो दिया। इसका फल तो फलेगा ही क्योंकि—

सद्यः क्रीडारसच्छेदं प्राकृतोऽपि न मर्षयेत्।
किमु लोकाधिकं धाम बिभ्राणः पृथिवीपतिः ॥१०॥

प्रसङ्ग—सद्यः क्रीडारसच्छेदं इत्यादि पद्यं राक्षसः चाणक्यचन्द्रगुप्तयोः अवश्यं भाविनं भेदं मनसि निधाय ब्रवीति।

अन्वयः—प्राकृतः अपि सद्यः क्रीडारसच्छेदं न मर्षयेत् लोकाधिकं धाम बिभ्राणः पृथिवीपतिः किमु।

संस्कृतार्थः- प्राकृतः=साधारणः, अपि सद्यः=शीघ्र कारणं विनैव,

क्रीडारसस्य = क्रीडास्वाद य, छेदं = भङ्गं, न मर्षयेत् = न सहेत। लोकेभ्यः अधिकं लोकाधिकं = अलौकिकं, धाम = तेजः, बिभ्राणः = धारयन्, पृथिवीपतिः = क्षितीशः, किमु मर्षयेत्, नैव मर्षयेत्।

भावार्थः—अति साधारणोऽपि जनः उत्सवभङ्गं न सहते, पुनः नृपस्तु कथङ्कारं क्रीडारसच्छेदं मर्षयेत्। चन्द्रगुप्तः चाणक्यकृतकौमुदीमहोत्सवप्रतिषेधं कथं सोढुं शक्नुयात्।

भाषार्थः—साधारण पुरुष भी बिना हेतु क्रीडारस के भङ्ग को नहीं सह सकता तव अलौकिक तेज को धारण करने वाला राजा क्यों कर सहे।

टिप्पणी

व्याकरणम्—बिभ्राणः = डुभृञ् 'धारणयोषणयोः' + लट् + शानच्। लोकाधिकं = लोकादधिकं सुप्सुपा समासः। कोषः—प्राकृतः पामरो नीचः इत्यमरः। अलंकारः—अर्थापत्तिः, अनुष्टुप् वृत्तम्।

मलयकेतुः—एवमेतत्।

राक्षसः—ततस्ततः ?

करभकः—तदा चन्दउत्तेण आणाभङ्गकलुसिदहिअएण सुइरं अमच्चगुणं प्पसंसिअ प्पब्भंसिदो अहिआरादो चाणक्कहदओ। (ततश्चन्द्रगुप्तेनाज्ञाभङ्गकलुषितहृदयेन सुचिरममात्यगुणं प्रशस्य प्रभ्रंशितोऽधिकारात् चाणक्यहतकः।)

मलयकेतुः—सखे भागुरायण, गुणप्रशंसया दर्शितश्चन्द्रगुप्तेन राक्षसे भक्तिपक्षपातः।

भागुरायणः—न तथा गुणप्रशंसया यथा चाणक्यवटोर्निराकरणेन।

राक्षसः—किमयमेवैकः कौमुदीमहोत्सवप्रतिषेधश्चन्द्रगुप्तस्य चाणक्यं प्रति कोपकारणमुतान्यदप्यस्ति।

मलयकेतुः—सखे, चन्द्रगुप्तस्यापरकोपकारणान्वेषणेन किं फलमेष पश्यति।

भाषार्थः—मलयकेतुः—यह बात तो ठीक है।

राक्षस—तत्पश्चात् क्या हुआ ?

करभक—तत्पश्चात्, आज्ञाभङ्ग के कारण विक्षुब्ध चित्त वाले चन्द्रगुप्त ने दुष्ट चाणक्य को अपने अधिकार से पृथक् कर दिया और आपकी बहुत-बहुत प्रशंसा होने लगी।

मलयकेतु—मित्र भागुरायण! ऐसा लगता है कि गुण-प्रशंसा करके चन्द्रगुप्त ने राक्षस में अपनी भक्ति प्रदर्शित कर दी हो।

भागुरायण—कुमार! गुण की प्रशंसा के द्वारा उतना नहीं जितना कि दुष्ट चाणक्य को पदच्युत करके।

राक्षस—करभक! क्या केवल कौमुदी-महोत्सव का निषेध ही चन्द्रगुप्त का चाणक्य पर क्रोध का कारण है या और भी कुछ।

मलयकेतु—मित्र भागुरायण! चन्द्रगुप्त के क्रोध का अन्य कारण के अन्वेषण से राक्षस का क्या अभिप्राय है।

टिप्पणी

व्याकरणम्—आज्ञाभङ्गकलुषितेन = आज्ञायाः भङ्गः छेदः तेन कलुषितेन, आज्ञा = आ + ज्ञा + अङ् + टाप्। भङ्ग = भञ्ज् = घञ्। प्रशस्य = संस्तुत्य, प्र + शंस् + क्त्वा—ल्यप्। अपभ्रंशितः = च्यावितः अप् + भ्रंश् + क्त। कलुषितेन = कलुषं कृतं इति कलुष + णिच् + क्त। भक्तिपक्षपातः = भक्तेः पक्षपातः, भज् + क्तिन्।

भागुरायणः—कुमार! एतत् फलं पश्यति—'अतिमतिमान् चाणक्यो निष्प्रयोजनमेव किमिति चन्द्रगुप्तं कोपयिष्यति? न च कृतवेदी चन्द्रगुप्त एतावता गौरवमुल्लङ्घयिष्यति। सर्वथा चाणक्य-चन्द्रगुप्तयोः पुष्कलात् कारणाद् यो विश्लेष उत्पद्येत, स आत्यन्तिको भविष्यति' इति।

करभकः—अमच्च! अत्थि अण्णदपि चन्दउत्तस्स कोवकारणं चाणक्के। (अमात्य! अस्त्यन्यदपि चन्द्रगुप्तस्य कोपकारणं चाणक्ये।)

राक्षसः—किं किम्?

करभकः—जधा पढमं दाव उवेक्खिदो अणेण अवक्कमन्तो

कुमारो मलयकेदू अमच्चरक्खसो अ । (यथा प्रथमं तावदुपेक्षितोऽनेन अपक्रामन् कुमारो मलयकेतुः अमात्यराक्षसश्च ।)

राक्षसः—(सहर्षम्) सखे शकटदास ! हस्ततलगतो मे चन्द्रगुप्तो भविष्यति । इदानीं चन्दनदासस्य बन्धनान्मोक्षः, तव च पुत्रदारैः सह समागमः, जीवसिद्धिप्रभृतीनां क्लेशच्छेदः ।

भागुरायणः—(आत्मगतम्) जातः सत्यं जीवसिद्धेः क्लेशच्छेदः ।

भागुरायण—कुमार ! यह फल देखते हैं "अत्यन्त बुद्धिमान् चाणक्य बिना प्रयोजन के ही चन्द्रगुप्त को क्यों नाराज करेगा ? तथा कृतज्ञ चन्द्रगुप्त भी इतने मात्र से चाणक्य की प्रतिष्ठा का अतिक्रमण नहीं करेगा । सब प्रकार से परिपुष्ट कारण होने से चाणक्य और चन्द्रगुप्त में जो फूट पड़ेगी वह स्थायी होगी ।

करभक—अमात्य ! चन्द्रगुप्त के चाणक्य पर कुपित होने के और भी कारण हैं ।

राक्षस—कौन-कौन से ।

करभक—ये कि चाणक्य ने कुमार मलयकेतु और अमात्य राक्षस को क्यों भाग जाने दिया ।

राक्षस—(प्रसन्नता से) मित्र शकटदास ! अब तो चन्द्रगुप्त मेरे हाथ में आ जायेगा । अब तो चन्दनदास का कैद से छुटकारा, तुम्हारा अपने पुत्र और स्त्री से मिलना, जीवसिद्धि आदि का दुःखनाश हो जायगा ।

भागुरायण—(मन ही मन) जीवसिद्धि का कष्ट तो अवश्य ही शान्त हो गया ।

संस्कृतार्थः—भागुरायणः कुमारमलयकेतुमुद्दिश्य कथयति—अमितमतिमान् कौटिल्यः निर्हेतुकमेव कथङ्कारं मौर्यं कोपयिष्यति । कृतज्ञश्च चन्द्रगुप्तोऽपि नैतावता स्वल्पकारणेन कौटिल्यस्य महत्त्वमतिक्रामिष्यति । सर्वथा कौटिल्यमौर्ययोः महता केनापि हेतुना यो भेदः उत्पत्स्यते स एव विश्लेषः प्रतीकाराऽयोग्यः भविष्यति ।

टिप्पणी

व्याकरणम्—अतिमतिमान् = अत्यन्तं प्रशस्ता मतिः अस्ति अस्य इति मनु "अवबोधने" + क्तिन् = मति + मतुप् । कृतवेदी + कृतं वेत्ति इति कृत + विद् + णिनि । आत्यन्तिकः = अतिगतं अन्तं अत्यन्तं । अत्यन्त + ठञ् "ठस्येकः" इति इकादेशः । हस्ततलगतः = हस्तस्य तलमिति षष्ठीतत्पुरुषः, तत् गतः द्वितीया तत्पुरुषः ।

मलयकेतुः—सखे भागुरायण ! 'हस्ततलगतो मे सम्प्रति चन्द्रगुप्तो भविष्यति' इति व्याहरतः कोऽयमस्याभिप्रायः ?

भागुरायणः—किमन्यत् ? चाणक्यादपकृष्टस्य चन्द्रगुप्तस्योद्धरणान्न किञ्चित्कार्यमवश्यं पश्यति ।

राक्षस—भद्र ! हृताधिकारः साम्प्रतं क्वासौ वटुः ?

करभकः—तहिं ज्जेव पाडलिपुत्ते प्पडिवसदि । (तस्मिन्नेव पाटलिपुत्रे प्रतिवसति ।)

राक्षसः—(सावेगम्) भद्र ! तत्रैव प्रतिवसति, न तपोवनं गतः, प्रतिज्ञां वा न पुनः समारूढवान् ?

करभकः—अमच्च ! तपोवणं गमिस्सदि त्ति सुणीअदि । (अमात्य ! तपोवनं गमिष्यतीति श्रूयते ।)

राक्षसः—(सावेगम्) शकटदास ! नेदमुपपद्यते । पश्य—

मलयकेतु—मित्र भागुरायण ! चन्द्रगुप्त अब मेरे हाथ में आ गया, इसका क्या अभिप्राय है ?

भागुरायण—और क्या, चाणक्य से पृथक् चन्द्रगुप्त का नाश करने से और कोई लाभ नहीं ।

राक्षस—भद्र ! छिने हुए अधिकार वाला अब चाणक्य कहाँ है ?

करभक—उसी पटना में रहता है ।

राक्षस—(बेचैनी के साथ) भद्र ! वहीं रहता है, तपोवन को नहीं गया । क्या दुबारा प्रतिज्ञा नहीं की ?

करभक—अमात्य ! तपोवन को जायगा ऐसा सुना है ।

राक्षस—(उद्वेग के साथ) हे शकटदास ! यह ठीक नहीं प्रतीत होता देख—

देवस्य येन पृथिवीतलवासवस्य
स्वाऽग्रासनापनयजा निकृतिर्न सोढा ।
सोऽयं स्वयङ्कृतनराधिपतेर्मनस्वी
मौर्यात्कथं नु परिभूतिमिमां सहेत ॥११॥

प्रसङ्गः—पदच्युतः चाणक्यः तपोवनं गमिष्यतीति नैतदुपपद्यते, एतत्तस्य स्वभावविरुद्धम् इति मनसि निधाय राक्षसः वदति देवस्य येनेति—

अन्वयः—येन पृथिवीतलवासवस्य देवस्य स्वाग्रासनापनयजा निकृतिः न सोढा, स अयं मनस्वी स्वयं कृतनराधिपतेः मौर्यात् इमां परिभूतिं कथं नु सहेत १ ॥

संस्कृतार्थः—येन = कौटिल्येन, पृथिवीतलवासवस्य = पृथिव्याः = अवनेः, तलस्य = पृष्ठभागस्य, वासवस्य = इन्द्रस्य, नन्दस्येत्यर्थः, स्वाग्रासनापनयजां = स्वस्य = निजस्य, यत् अग्रासनं = भोजनासनं, तस्मात् यत् अपनयनं = उत्थापनं, ततःजाता = उत्पन्ना, या निकृतिः = अनादरः, न सोढा = न मर्षिता । स अयं मनस्वी = मानशीलः, कौटिल्यः, स्वयं = आत्मना कृतः = विहितः, यः नराधिपतिः = नृपः तस्मात् राज्ञः चन्द्रगुप्तात्, इमां = अनुभूयमानां, परिभूतिं = तिरस्कारं, कथं नु = कथङ्कारं, सहेत = मर्षयेत् न केनापि प्रकारेण सोढुं शक्नुयात् ।

भावार्थः—यः चाणक्यः नन्देन श्राद्धे भोजनाय समागतः आसनमधिष्ठितोऽनादृतः सन् प्रतिशोधं विना तमनादरं न सोढवान्, सः स्वयं विहितराज्याधिकारिणः चन्द्रगुप्तकृतमनादरं कथङ्कारं सोढुं शक्नुयात्, अर्थात् मौर्यात् प्रतिशोधमनादाय चाणक्यः नैव विरंस्यति ।

मलयकेतुः—सखे, चाणक्यस्य तपोवनगमने पुनः प्रतिज्ञारोहणे वा कास्य स्वार्थसिद्धिः ।

भागुरायणः—नात्यन्तदुर्बोधोऽयमर्थः । यावद्यावच्चाणक्यहतकश्चन्द्रगुप्ताद्दूरीभवति तावत्तावदस्य स्वार्थसिद्धिः ।

शकटदास :—अलमन्यथा विकल्प्य । उपपद्यत एवैतत् पश्यत्वमात्यः ।

मलयकेतु—मित्र भागुरायण ! चाणक्य के तपोवन चले जाने पर या कोई दूसरी प्रतिज्ञा कर लेने पर इसका क्या स्वार्थ है ।

भागुरायण—कुमार ! यह तो कठिन बात नहीं । ज्यों-ज्यों नीच चाणक्य चन्द्रगुप्त से दूर होता जाय त्यों-त्यों राक्षस का काम बनता चला जाय ।

शकटदास—अमात्य ! इस पर आपको इतना सङ्कल्प विकल्प करने की कोई आवश्यकता नहीं । इसमें कोई सन्देह नहीं ऐसा आप क्यों नहीं सोचते कि :—

राज्ञां चूडामणीन्दुद्युतिखचितशिखे मूर्ध्नि विन्यस्तपादः
स्वैरेवोत्पाद्यमानं किमिति विषहते मौर्य आज्ञाविघातम् ।
कौटिल्यः कोपनोऽपि स्वयमभिचरणे ज्ञातदुःखप्रतिज्ञाम्
दैवात्तीर्णप्रतिज्ञः पुनरपि न करोत्यायतिज्यानिभीतः ।।१२।।

प्रसङ्गः—पाटलिपुत्रे निवसन्नपि हृताधिकारोऽपि पुनः प्रतिज्ञाभङ्गभीरुः चाणक्यः प्रतिज्ञां न प्रतिजानीते इत्याहामुना पद्येन शकटदासः ।

अन्वयः—चूडामणीन्दुद्युतिखचितशिखे राज्ञां मूर्ध्नि विन्यस्तपादः मौर्यः स्वैरेव उत्पाद्यमानं आज्ञाविघातं किमिति विषहते । स्वयं अभिचरणज्ञातदुःख-प्रतिज्ञः दैवात् पूर्णप्रतिज्ञः कौटिल्यः कोपनोऽपि आयतिज्यानिभीतः सन् पुनरपि प्रतिज्ञां न करोति ।

संस्कृतार्थः—चूडामणिः = शिरोरत्नं तत्र खचितानां = निषक्तानां, राज्ञां = भूपतीनां, मूर्ध्नि = मस्तके, ये इन्दुद्युतयः चन्द्रतुल्यकान्तयः मणयः तैः, खचिताः = व्याप्ताः, शिखाः येषु तथाभूतेषु शिरःसु, विन्यस्तपादः = समर्पित-चरणः, मौर्यः = चन्द्रगुप्तः, स्वैरेव = आत्मीयैरेव, उत्पाद्यमानं = विधीयमानं, आज्ञाविघातं = आज्ञाभङ्गं, किमिति = केन प्रकारेण, विषहते = सोढुं शक्नोति, स्वयं = आत्मना, अभिचरणेन = अभिचारकर्मणा, ज्ञातं = अनुभूतं, दुःखं = कष्टं, यस्यां तादृशी या प्रतिज्ञा यस्य तथाभूतः दैवात् = भाग्यवशात्, पूर्ण-

प्रतिज्ञः=सफलप्रतिश्रुतिः, तीर्णप्रतिज्ञः इति वा, कोपनः=क्रोधशीलः, कौटिल्यः =चाणक्यः, आयतिज्यानिभीतः आयतौ=उत्तरकाले, या ज्यानिः=हानिः, तस्याः भीतः=शङ्कितः, पुनरपि=भूयोऽपि, प्रतिज्ञां=प्रतिश्रवं, न करोति= न विदधाति ।

भावार्थः—शकटदासोक्तदिशा चाणक्यः चन्द्रगुप्तादनादरमुपलभ्यापि दैवात्पूर्वोत्तीर्णप्रतिज्ञोऽपि पुनः उत्तरकालिकहानिशङ्कितोऽभिचारावगत क्लेशश्च प्रतिज्ञां न प्रतिजानीते ।

भाषार्थः—चन्द्रतुल्य अति स्वच्छ चूडामणि की कान्ति से सुशोभित शिखा-युक्त राजाओं के मस्तक पर पैर रखने वाला चन्द्रगुप्त अपने ही सेवकों द्वारा किये गये आज्ञा-भङ्ग को किस प्रकार सह सकता है और अभिचार के दुःख को जानने वाला तथा दैवयोग से सफल प्रतिज्ञा वाला क्रोधी चाणक्य भविष्य में निष्फल होने की शङ्का से पुनः प्रतिज्ञा नहीं कर रहा है ।

टिप्पणी

व्याकरणम्—विषहते=वि=सह्—मर्षणे+वर्तमानसामीप्येऽतीतार्थे लट् "परिनिविभ्यः" इति षत्वम् । अभिचारः=अभि+चर्—गतिभक्षणयोः+ ल्युट् । मारण-मोहन-उच्चाटन आदि हिंसा कर्म अभिचार कहलाते हैं । आयतिः=आ+यमु—उपरमे+क्तिन् । आज्ञायाः विघातः तत्पुरुषः, आ+ ज्ञा+अङ्+टाप्+आज्ञा, वि+हन्+णिच्+घञ्=विघातः । कोपः— "हिंसा कर्माभिचारः स्यात्" इत्यमरः । अलङ्कारः—निःशङ्कोऽपि चाणक्यः साशङ्क इवेति इवशब्दप्रयोगाऽभावेऽपि प्रतीयमानोत्प्रेक्षाऽलङ्कारः । छन्दः— स्रग्धरा वृत्तम् ।

राक्षसः—शकटदास, एवमेतत् । गच्छ विश्रामय करभकम् ।

शकटदासः—यदाज्ञापयत्यमात्यः (इति करभकेण सह निष्क्रान्तः ।)

राक्षस—मित्र शकट दास ! ऐसा ही सही, जाओ करभक को विश्राम करने का प्रबन्ध कर आओ ।

शकटदास—अमात्य की जैसी आज्ञा । (करभक के साथ बाहर जाता है ।)

राक्षसः—अहमपि कुमारं द्रष्टुमिच्छामि ।

मलयकेतुः—अहमेवार्यं द्रष्टुमागतः ।

राक्षसः—(नाट्येनावलोक्य) अये ! कुमार एवागतः । (आसनादुत्थाय) इदमासनमुपवेष्टुमर्हति कुमारः ।

मलयकेतुः—अहमुपविशामि । उपविशत्वार्यः । (इत्युभौ यथासनमुपविष्टौ) आर्य ! अपि सह्या शिरोवेदना ?

राक्षसः—कुमारस्याधिराजशब्देनातिरस्कृते कुमारशब्दे कुतः शिरोवेदनायाः सह्यता ?

मलयकेतुः—स्वयमुरीकृतमेतदार्येण, न दुष्प्रापं भविष्यति । तत् कियन्तं कालमस्माभिरेवं सम्भृतबलैरपि शत्रुव्यसनमवेक्षमाणैरुदासितव्यम् ।

राक्षसः—कुमार ! कुतोऽद्यापि कालहरणस्यावकाशः ? प्रतिष्ठस्व रिपुजयाय ।

मलयकेतुः—अमात्य ! अपि किञ्चिच्छत्रुव्यसनमुपलब्धम् ।

राक्षसः—बाढमुपलब्धम् ।

मलयकेतुः—कीदृशम् ?

राक्षसः—सचिवव्यसनं, किमन्यत् ? अपकृष्टश्चाणक्याच्चन्द्रगुप्तः ।

मलयकेतुः—अमात्य ! सचिवव्यसनमेव ?

राक्षसः—कुमार ! अन्येषां भूपतीनां कदाचिदमात्यव्यसनमव्यसनमपि स्यात्, न पुनश्चन्द्रगुप्तस्य ।

मलयकेतुः—आर्य ! ननु विशेषतश्चन्द्रगुप्तस्येति ।

राक्षसः—किं कारणं यदस्यामात्यव्यसनमव्यसनम् ?

मलयकेतुः—चन्द्रगुप्तप्रकृतीनां हि चाणक्यदोषा एव विरागहेतवः । तस्मिन्निराकृते प्रथममपि चन्द्रगुप्तानुरक्ताः प्रकृतयः इदानीं पुनः सुतरामेव तत्रानुरागं दर्शयिष्यन्ति ।

राक्षस—मैं भी कुमार से मिलना चाहता हूँ।

मलयकेतु—आर्य ! आपके दर्शनार्थ मैं ही उपस्थित हूँ।

राक्षस—(अभिनय पूर्वक देखते हुए) ओह क्या कुमार ही आ गये। (आसन से उठकर) कुमार ! यह आसन है बैठिये।

मलयकेतु—मैं बैठता हूँ, आप बैठिये (दोनों अपने-अपने आसन पर बैठ गये) आर्य ! सिरदर्द सह्य तो है ?

राक्षस—कुमार का 'महाराज कुमार' ऐसा नाम सुने बिना सिर दर्द शान्त कैसे होगा।

मलयकेतु—आर्य ने यह तो पहले ही स्वीकार कर लिया है, तब वह दुर्लभ नहीं होगा। किन्तु इस प्रकार सेना एकत्र किए हुए हम लोग शत्रु के विपत्काल की प्रतीक्षा करते हुये कब तक चुप बैठे रहेंगे ?

राक्षस—कुमार ! अब देर करने की क्या आवश्यकता है। शत्रु विजय के लिए प्रस्थान प्रारम्भ हो जाय।

मलयकेतु—अमात्य ! क्या किसी शत्रु-व्यसन की सूचना मिली है ?

राक्षस—जी हाँ मिल गई।

मलयकेतु—कैसी ?

राक्षसः—और क्या, मन्त्रि-व्यसन समझो, चाणक्य से चन्द्रगुप्त पृथक् हो गया।

मलयकेतु—अमात्य ! तो क्या केवल मन्त्रि-व्यसन ही रहा।

राक्षसः—कुमार ! और राजाओं के लिये मन्त्रि व्यसन व्यसन न हो पर चन्द्रगुप्त के लिए भी न हो ऐसी बात नहीं।

मलयकेतु—आर्य ! यह कहिये कि विशेषतः चन्द्रगुप्त के लिये ही यह विपत्ति विपत्ति नहीं।

राक्षस—चन्तगुप्त के लिए मन्त्रि-व्यसन व्यसन नहीं यह क्यों कर।

मलयकेतु—चन्द्रगुप्त की प्रजाओं के उससे विरक्त होने में निश्चय से चाणक्य के दोष ही कारण हैं। उस चाणक्य के पृथक् कर देने पर पहले से अनुरक्त प्रजा अब और अधिक चन्द्रगुप्त में अनुराग दिखायेंगी।

राक्षसः—कुमार ! नैतदेवं, इह द्विप्रकाराः प्रकृतयः—चन्द्रगुप्त-सहोत्थायिन्यो नन्दकुलानुरक्ताश्च । तत्र चन्द्रगुप्तसहोत्थायिनीनां प्रकृतीनां चाणक्यदोषा एव विरागहेतवः, न नन्दकुलानुरक्तानाम् । तास्तु खलु नन्दकुलमनेन पितृकुलभूतं कृत्स्नं कृतघ्नेन घातितमित्य-परागामर्षाभ्यां विप्रकृताः सत्यः स्वाश्रयमलभमानाश्चन्द्रगुप्तमेवानु-वर्तन्ते । त्वादृशं पुनः प्रतिपक्षोद्धरणे सम्भावितशक्तिमभियोक्तार-मासाद्य क्षिप्रमेनं परित्यज्य त्वामेवाश्रयिष्यन्ते इति । अत्र कुमारस्य वयमेव निदर्शनम् ।

मलयकेतुः—अमात्य ! किमेतदेवैकं सचिवव्यसनमभियोगकारणं चन्द्रगुप्तस्य ? आहोस्विदन्यदप्यस्ति ?

राक्षसः—कुमार ! किमन्यैः वहुभिरपि ? एतद्धि तत्र प्रधान-तमम् ।

राक्षस—कुमार ! यह ऐसा नहीं है । यहाँ दो प्रकार की प्रजायें हैं । चन्द्रगुप्त के साथ उठने-बैठने वाली और नन्दवंश में अनुरक्त । उनमें से चन्द्रगुप्त के साथ उठने-बैठने वाली प्रजाओं की ही विरक्ति के कारण चाणक्य के दोष हैं न कि नन्दवंश में अनुरक्त प्रजाओं की । वे तो इस कृतघ्न ने पितृ-वंश के समान सम्पूर्ण नन्दवंश को नष्ट कर दिया । इसलिये अपराग और क्रोध के कारण विक्षुब्ध भी उपयुक्त सहारा न पाकर चन्द्रगुप्त का ही अनुगमन कर रही हैं । फिर शत्रुओं के विनाश करने में अनुमेय शक्ति वाले आप जैसे अभियोक्ता को प्राप्त कर शीघ्र ही चन्द्रगुप्त को छोड़कर आपका ही आश्रय ग्रहण करेंगी । इस विषय में कुमार के लिये हम ही उदाहरण हैं ।

मलयकेतु– अमात्य ! क्या यह एक ही मन्त्रि-व्यसन चन्द्रगुप्त पर आक्र-मण का कारण है अथवा और कुछ दूसरा कारण भी है ।

राक्षस—कुमार ! और दूसरे अनेक कारणों से क्या प्रयोजन । प्रधान-तम कारण यही है ।

संस्कृतार्थ—राक्षस :—कुमार मलयकेतो ! भवदुक्तं न युक्तं, यतोहि अत्र पाटलिपुत्रे द्विविधाः प्रजाः सन्ति । काश्चिन्मौर्यानुरक्ताः अपराश्च नन्दानु-

रागिण्यः, तत्र नन्दकुलानुरक्तानां प्रजानां चाणक्यदोषाः नापरागकारणानि। परं चन्द्रगुप्तानुरागिणां तु चाणक्यदोषा एवापरागकारणानि। यतोहि अमुना नृशंसेन कौटिल्येन चन्द्रगुप्तेन च तासां प्रजानां पितृवंशतुल्यः नन्दवंशः समूलमुन्मूलितः। अस्माद्धेतोः समुत्पन्नाभ्यां विरागक्रोधाभ्यां विरक्तीकृताः प्रजाः स्वस्वामिनमलभमानाः चन्द्रगुप्तमेवानुगच्छन्ति। पुनः भवादृशं शत्रु-पराभवकारिणं निश्चितसामर्थ्यं प्राप्य चन्द्रगुप्तं परित्यज्य भवन्तमेव से-विष्यन्ते। अस्मिन् विषये वयं राक्षसप्रभृतयः एव दृष्टान्तभूताः स्म।

मलयकेतुः—अमात्य कथमिव प्रधानतमम्। किमिदानीं चन्द्रगुप्तः स्वकार्यधुरामन्यत्र मन्त्रिण्यात्मनि वा समासज्य स्वयं प्रतिविधातुम-समर्थः ?

राक्षसः—बाढमसमर्थः।

मलयकेतुः—किं कारणम् ?

राक्षसः—स्वायत्तसिद्धिषु तत्संभवति। चन्द्रगुप्तस्तु दुरात्मा नित्यं सचिवायत्तसिद्धावेव स्थितश्चक्षुर्विकल इवाप्रत्यक्षलोकव्यवहारः कथमिव स्वयं प्रतिविधातुं समर्थः स्यात्। कुतः ।

मलयकेतुः—अमात्य ! इसी को प्रधान कारण क्यों माना जाय। क्या इस समय चन्द्रगुप्त अपने सम्पूर्ण राज्य के कार्य-भार को किसी दूसरे मन्त्री पर रख या स्वयं धारण कर हमसे लड़ने को समर्थ नहीं।

राक्षसः—जी हाँ, समर्थ नहीं।

मलयकेतुः—क्या कारण है ?

राक्षसः—स्वायत्त सिद्धि या उभयायत्त सिद्धि राजाओं में सम्भवतः प्रती-कार करने की शक्ति हो भी सकती है। किन्तु चन्द्रगुप्त में नहीं। चन्द्रगुप्त दुष्टात्मा है और सदा सचिवायत्त सिद्धि में ही रहने वाला है। अन्धे पुरुष के समान समस्त लोक व्यवहार को नहीं जानने वाला चन्द्रगुप्त किस प्रकार प्रती-कार करने में समर्थ हो सकता है। क्योंकि—

अत्युच्छ्रिते मन्त्रिणि पार्थिवे च विष्टभ्य पादावुपतिष्ठते श्रीः।
सा स्त्रीस्वभावादसहा भरस्य तयोर्द्वयोरेकतरं जहाति ॥१३॥

प्रसङ्गः—चाणक्यादपरक्तः एकाकी चन्द्रगुप्तः स्वयं परस्मिन् सचिवे वा राज्यकार्यधुरां समासज्य तत्तत्प्रतिविधातुमसमर्थः इति सिद्धान्तयन्नाह पद्यमिदम् ।

अन्वयः—श्रीः अत्युच्छ्रिते मन्त्रिणि पार्थिवे च पादौ विष्टभ्य उपतिष्ठते । स्त्रीस्वभावात् भरस्य असहा सा तयोः द्वयोः एकतरं जहाति ।

संस्कृतार्थः—श्रीः = राज्यलक्ष्मीः, अत्युच्छ्रिते = अत्युन्नते, मन्त्रिणि = सचिवे, पार्थिवे = भूपतौ च, पादौ = चरणौ, विष्टभ्य = स्थापयित्वा, उपतिष्ठते = संयुज्यते, स्त्रीस्वभावात् = स्त्रीणां = अबलानां, स्वभावात् = प्रकृतेः, दौर्बल्यत्वात् चापल्याच्च, भरस्य = स्वशरीरभारस्य, असहा = सोढुमक्षमा, सा राज्यलक्ष्मीः, तयोः द्वयोः = सचिवनृपयोः, मध्ये एकतरं = अन्यतरं, जहाति = त्यजति ।

भावार्थः—यथा काचन नर्तकी उन्नतौ द्वौ समौ वंशस्तम्भौ समाश्रित्य सुस्थिरा तिष्ठति, तयोः वैषम्येऽसमेऽपि वा सा पतति तथैव राज्यलक्ष्मीरपि समौ मन्त्रिपार्थिवौ समाश्रित्य सुस्थिता जायते, सति वैषम्ये सा प्रच्युता भवति, एवं व्यतिकरे चाणक्येऽपगते तस्य स्थानेऽन्यस्मिन् मन्त्रिणि नियुक्ते वैषम्यं समापद्येत, तस्माच्च चन्द्रगुप्तराज्यश्रियः पतनमावश्यकमिति भावः ।

भाषार्थः—अतिशय उन्नत मन्त्री तथा राजा पर मन्त्र-शक्ति तथा प्रभु-शक्ति रूप दोनों चरणों को रखकर स्थित रहती है । पर दुर्बलता तथा चंचलता रूप स्त्री स्वभाव के कारण वह भार को सहन करने में असमर्थ होकर उन दोनों में से एक को राजा या मन्त्री को छोड़ देती है ।

टिप्पणी

व्याकरणम्—अत्युच्छ्रित = अत्यन्त ऊँचे, अति + उद् + श्रि + क्त सप्तम्येकवचनं । मन्त्रिणि = अमात्ये, मन्त्रयते मन्त्रयति वा मन्त्र् + अच् = मन्त्र + णिनि । विष्टभ्य = समाश्रित्य वि + स्तम्भ् + क्त्वा – ल्यप् षत्वं च । उपतिष्ठते = संगच्छते, = उप + स्था + लट् तिप् "उपाद्देवपूजासंगतिकरणदानेषु" से आत्मनेपदम् । कोषः—"पादा रश्म्यङ्घ्रितुर्यांशाः" इत्यमरः, अर्थात् पाद शब्द के किरण, पैर, चौथा भाग ये तीन अर्थ होते हैं । "पादः प्रत्यन्त-

पर्वतः" पाद और प्रत्यन्तपर्वत ये दो छोटी पहाड़ियों के नाम भी पाद शब्द से कहे जाते हैं। पादाग्रं प्रपदं पादः पदङ्घ्रिः चरणोऽस्त्रियाम्" पादः, पदः चरणः, अंघ्रि पैर के चार पर्याय हैं। अलंकारः—अत्र प्रस्तुतराजलक्ष्म्यां अप्रस्तुत-नर्तकीव्यवहारसमारोपणेन समासोक्तिरलंकारः। "समासोक्तिः समैर्यत्र कार्यलिङ्गविशेषणैः। व्यवहारसमारोपः प्रस्तुतेऽन्यस्य वस्तुनः॥ छन्दः—उपजाति वृत्तम्।

अपि च—

नृपोऽपकृष्टः सचिवात्तदर्पणः स्तनंधयोऽत्यन्तशिशुः स्तनादिव।
अदृष्टलोकव्यवहारमन्दधीर्मुहूर्तमप्युत्सहते न वर्तितुम्॥१४॥

प्रसङ्गः—चन्द्रगुप्तः सचिवायत्तसिद्धिः कर्तव्यविमूढोऽदृष्टलोकव्यवहारः मन्दश्चावश्यं राज्यद्भ्रश्यतीति निश्चिन्वानः वक्ति।

अन्वयः—सचिवात् अपकृष्टः तदर्पणः अदृष्टलोकव्यवहारः मन्दधीः नृपः स्तनात् अपकृष्टः अत्यन्तशिशुः स्तनन्धयः इव मुहूर्तमपि वर्तितुं न उत्सहते।

संस्कृतार्थः—सचिवात्=मन्त्रिणः, अपकृष्टः=पृथक्कृतः, तदर्पणः=सचिवायत्तसिद्धिः, अदृष्टलोकव्यवहारः=दृष्टः=अविदितः, लोकस्य=जगतः, व्यवहारः=लोकाचारः यस्य तथाभूतः अतएव मन्दधीः=अल्पबुद्धिः, नृपः=भूपतिः, स्तनात्=मातुः स्तनात्, अपकृष्टः=प्रच्युतः, अत्यन्तशिशुः=अतिबालः, स्तनन्धयः इव=दुग्धमुख इव, मुहूर्तमपि=क्षणमपि, वर्तितुं=स्थातुं न उत्सहते=क्षमते।

भावार्थः—यथा स्तनपायी शिशुः मातुः पयोधरात् प्रभृष्टोऽकिञ्चित्करोऽसहायश्च भवति, तथैव सचिवायत्तसिद्धिः अप्रत्यक्षजनाचारः अल्पबुद्धिश्च नृपः चाणक्यात्पृथग्भूतोऽधुना किमपि कर्तुं न क्षमः, तस्मात्त्वयाऽभियोक्तव्य एवासौ।

भाषार्थः—और भी मन्त्री से पृथक् हुआ सचिवायत्त सिद्धि वाला, लोकाचार व्यवहार से अनभिज्ञ अल्प बुद्धि राजा चन्द्रगुप्त स्तन से अलग हुए दुधमुंहे बच्चे के समान एकक्षण भी रहने के लिये समर्थ नहीं होता है।

टिप्पणी

व्याकरणम्—तदर्पणः=तस्मिन् सचिवेऽर्पणं राज्यभारः यस्य सः बहुव्रीहिः, तत्+ऋ–गतौ+णिच्+ल्युट् अनादेशः, पुगागमः च। स्तनन्धयः=स्तनपायी, स्तनं धयति इति स्तन+धेट्–पाने+खश्, मुमागमः। अपकृष्टः=प्रच्युतः, अप+कृष्+क्त। मन्दधीः=क्षुद्रबुद्धिः, मन्दा धीः यस्य सः बहुव्रीहिसमासः। कोषः—:'उत्तानशयो डिम्भः स्तनपः स्तनन्धयः" इत्यमरः। अलंकारः—स्तनन्धय इवेत्यत्रोपमाऽलङ्कारः। छन्दः—वंशस्थवृत्तम्

मलयकेतुः—(आत्मगतम्) दिष्ट्या न सचिवायत्ततन्त्रोऽस्मि (प्रकाशम्) अमात्य! यद्यप्येवं तथापि खलु बहुष्वभियोगकारणेषु सत्सु सचिवव्यसनमभियुञ्जानस्य शत्रुमभियोक्तुः नैकान्तिकी सिद्धिर्भवति।

राक्षसः—ऐकान्तिकीमेव सिद्धिमवमन्तुमर्हति कुमारः। कुतः?—

मलयकेतु—(मन में) भाग्य से ही मैं सचिवायत्त सिद्धि राजा नहीं हूँ (प्रकट) अमात्य! यद्यपि आपका कहना ठीक है तो भी उन बहुत से आक्रमण के कारणों के हो सकने पर भी केवल सचिव विषयक विपत्ति को देखकर आक्रमण करने वाले की फलसिद्धि निश्चयात्मक रूप से नहीं होती?

राक्षस—कुमार! ऐकान्तिक यानी अवश्यंभाविनी ही सिद्धि समझें।

त्वय्युत्कृष्टबलेऽभियोक्तरि नृपे, नन्दानुरक्ते पुरे,
चाणक्ये चलिताधिकारविमुखे, मौर्ये नवे राजनि।
स्वाधीने मयि—" (इत्यर्द्धोक्ते लज्जां नाटयन्)
"—मार्गमात्रकथनव्यापारयोगोद्यमे,
त्वद्वञ्छान्तरितानि सम्प्रति विभो! तिष्ठन्ति साध्यानि नः ॥१५॥

प्रसङ्गः—राक्षसः कुमारमलयकेतुं स्वपक्षस्यैकान्तिकीं विजयस्थितिं विज्ञापयन् केवलमुद्देश्य सिद्धौ मलयकेतोः इच्छायाः विलम्बं हेतुत्वेनोपवर्णयति।

अन्वयः—विभो! सम्प्रति उत्कृष्टबले नृपे त्वयि अभियोक्तरि पुरे नन्दानुरक्ते चाणक्ये चलिताधिकारविमुखे राजनि मौर्ये नवे मयि स्वाधीने मार्गमात्रकथनव्यापारयोगोद्यमे नः साध्यानि त्वद्वाञ्छान्तरितानि तिष्ठन्ति।

संस्कृतार्थः—विभो !=स्वामिन् !, सम्प्रति=इदानीं, उत्कृष्टबले=बलवत्सैन्ये, त्वयि=भवति मलयकेतौ, नृपे=राजनि, अभियोक्तरि=आक्रान्तुमुद्यते सति, तथा पुरे—पाटलिपुत्रे, नन्दानुरक्ते=नन्दस्नेहिनि सति, चाणक्ये=कौटिल्ये, चलितश्चासौ अधिकारः तस्माद्विमुखः तस्मिन् मन्त्रिपदच्युते सति, राजनि=नृपे, मौर्ये=चन्द्रगुप्ते, नवे=नवीने, सति, मयि=राक्षसे, स्वाधीने=स्वतन्त्रे, मार्गमात्रकथनव्यापारयोगोद्यमे=मार्गमात्रस्य=युद्धपथस्य एव कथने=निर्देशे, यो व्यापारयोगः=यत्नः स एव उद्यमः=व्यवसायो यस्य तादृशे रणपथमात्रोपदेशात्मकव्यापारोपाये यत्ने मयि सति, नः=अस्माकं, साध्यानि=वाञ्छितकार्याणि, त्वदिच्छामात्रान्तर्निहितानि, तव=मलयकेतोः, वाञ्छया, अन्तरितानि=व्यवहितानि, तिष्ठन्ति=वर्तन्ते ।

भावार्थ—राक्षसः, हे कुमारमलयकेतो ! यदा तवोत्कृष्टं सैन्यबलं विद्यते, नन्दानुरक्तं पाटलिपुत्रं वर्तते, चलिताधिकारश्च चाणक्योऽस्ति, अनुभवहीनश्च नवः नृपः चन्द्रगुप्तः, अहं खलु स्वतन्त्रयुद्धनिर्देशकः तदा यदैव वाञ्छा भवेत् तदैव चन्द्रगुप्तस्य प्राज्यं राज्यं स्वराज्यमवेहि । नात्र काचिद्विचिकित्सा कार्या ।

भाषार्थः—हे कुमार मलयकेतु ! तुम जैसे शक्ति सम्पन्न आक्रान्ता, नन्द वंश भक्त पाटलिपुत्र के प्रजाजन, पदच्युत चाणक्य, नवीन तथा अनुभवहीन राजा चन्द्रगुप्त साथ ही मैं सर्वथा स्वतन्त्र तथा मार्गदर्शक व्यक्ति के होते हुए हमारे उद्देश्य की सिद्धि में यदि तुम्हारी इच्छा का बिलम्ब नहीं तो और कैसा विलम्ब है । अर्थात् आपकी आज्ञा मात्र की प्रतीक्षा है ।

टिप्पणी

व्याकरणम्—अभियोक्तरि=अभि+युजिर्—योगे+तृच् सप्तम्यैकवचनम् । स्वाधीने=स्वतन्त्रे, अधिगतः इनः स्वामी येन सः अधीनः, स्वस्य अधीनः स्वाधीनः । अन्तरितानि+व्यवहितानि, अन्तरं सञ्जातं एषामिति अन्तर+इतच्+प्रथमाबहुवचनम् । साध्यानि=साध्—संसिद्धौ+ण्यत् तानि । वाञ्छा=अभिलाषः, भौवादिकात् वाञ्छतेः+अ+टाप् व्यापारयोगः=वि+आङ्+पृ+घञ्=व्यापारः तस्य योगः युजिर्—योगे+घञ्=

योगः। षष्ठीतत्पुरुषसमासः। कोषः—"वाञ्छा लिप्सा मनोरथः" इत्यमरः। अलंङ्कारः—अस्मिन् पद्ये वाञ्छितकार्यस्यानेककारणसत्त्वात् समुच्चयालङ्कारः। समुच्चयोऽयमेकस्मिन् सति कार्यस्य साधके खले कपोतिकन्यायात् तत्करः स्यात्परोऽपि चेत्। छन्दः—शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्।

मलयकेतुः—यद्येवमभियोगकालमार्यः पश्यति ततः किमास्यते।

मलयकेतु—अमात्य! यदि आप आक्रमण का इतना सुन्दर अवसर देखते हैं तो अब विलम्ब कैसा? देखो—

उत्तुङ्गास्तुङ्गकूल स्रुतमदसलिलाः प्रस्यन्दिसलिलं
श्यामाः श्यामोपकण्ठद्रुममतिमुखराः कल्लोलमुखरम्।
स्रोतःखातावसीदत्तटमुरुदशनैरुत्सादिततटाः
शोणं सिन्दूरशोणा मम गजपतयः पास्यन्ति शतशः ॥१६॥

प्रसङ्गः—यद्यभियोगकालः समुपस्थितः तर्हि प्रस्थातव्यमेवास्मद्बलैरिति—मलयकेतुः राक्षसाय सैन्यप्रस्थानं विज्ञापयति।

अन्वयः—मम उत्तुङ्गाः स्रुतमदसलिलाः अलिमुखराः उरुदशनैः उत्सादिततटाः श्यामाः सिन्दूरशोणाः शतशः गजपतयः तुङ्गकूलं प्रस्यन्दिसलिलं कल्लोलमुखरं स्रोतः खातावसीदत्तटं श्यामोपकण्ठद्रुमं शोणं पास्यन्ति।

संस्कृतार्थः—मम = मे, मलयकेतोः, उत्तुङ्गाः = अत्युच्चाः, स्रुतं = च्युतं, मदसलिलं = मदजलं येषां तादृशाः, स्रुतमदसलिलाः = क्षरद्दानवारयः, अलिमुखराः = अलिभिः = द्विरेफैः मुखराः = वाचालाः, भ्रमरझङ्कारवन्तः, उरुदशनैः = दीर्घदन्तैः, उत्सादितं = विनाशितं, तटं = कूलं यैस्ते उत्सादिततटाः = विध्वंसितकूलाः, श्यामाः = असितवर्णाः, सिन्दूरेण = नागसम्भवेन, शोणाः = रक्ताः, शतशः = अनेके, गजपतयः = गजेन्द्राः, तुङ्गकूलं = उन्नततटं, प्रस्यन्दिसलिलं = प्रवहमाणजलं, कल्लोलैः = वीचिभिः, मुखरं = वाचालं, स्रोतः = जलोद्गमस्थानं यस्य तथाभूतं, खातं = विशीर्णं अतएव अवसीदत् = पतत्, तटं = तीरं यस्य तथाविधं, श्यामाः = नीलवर्णाः, उपकण्ठे = समीपे, द्रुमाः = वृक्षाः यस्य तादृशं शोणं = शोणनामानं महानदं पास्यन्ति = पानेन शोषयिष्यन्ति।

भावार्थः—शोणो नाम पाटलिपुत्रप्रान्तीयः महानदः, तमेकमस्मत् शतशः गजपतयः ये उत्तुङ्गाः, दानवारिवन्तः, श्यामाः, भ्रमरैः झंकृताः, सिन्दूरेण शोणाः सन्ति ते उत्तुङ्गतटं प्रस्यन्दिसलिलं, श्यामोपकण्ठद्रुमं कल्लोलमुखरं शोणं पीत्वा कुसुमपुरं प्रवेक्ष्यन्ति जेष्यन्ति च। एतेन पाटलिपुत्रमुपरुन्धन्तु अस्माकं गजबलानि इति व्यज्यते।

भाषार्थ :—मेरे अत्यन्त उन्नताकार, टपकते हुए जल वाले, भ्रमरों से झङ्कृत शब्दायमान, विशाल दन्तों से तटों को उखाड़ देने वाले, कृष्ण वर्ण और सिन्दूर से लाल-लाल सैकड़ों गजेन्द्र ऊँचे तटों वाले, वहते हुए जलवाले, वीचियों से शब्दायमान, प्रवाह से टूटकर गिरते हुए तट वाले तथा किनारों पर स्थित काले वृक्ष वाले शोण नामक नद का पान करेंगे। इस पद्य में—यदि नदी तुङ्गतट वाली है तो हाथी भी उत्तुङ्ग हैं। यदि नदी प्रवाहित जल वाली है तो मेरे हाथी भी मदवारि को प्रवाहित करने वाले हैं इसी प्रकार शोण—श्यामवर्ण—शब्दायमानादि अनेक नद और गजों की बताई गई हैं।

टिप्पणी

व्याकरणम्—उत्तुङ्गाः=अत्युन्नताः, उत्+तुङ्ग्+घञ् विशेषणं सलिलं=सलति गच्छति निम्नं इति—सल्—गतौ+इलच्। अलिभिः मुखराः, =विशेषणम्, मुखं मुखव्यापारं एति इति खन्+अच् ङित् धातोः पूर्वं मुट् च, रा+कः। उरुदशनैः=उरु+दंश्+ल्युट् नलोपः तैः। उपकण्ठम्=उपगतः कण्ठम् उपकण्ठः तत्र द्रुमाः सुप्सुपासमासः। कोषः—"शोणो हिरण्यवाहः स्यात्। शोणः कोकनदच्छविः।" लाल कमल के समान सुर्ख। अलंकार—अत्र शोणशब्दस्य श्लिष्टत्वात् श्लेषानुप्राणितोपमाऽलङ्कारः। ओजो गुणः, गौडी रीतिः। यथासंख्यम् अलंकारः। छन्दः—सुदवना वृत्तम्। ज्ञेया सप्ताश्व-षड्भिः मरभनययुता म्लौ गः सुवदना।

अपि च।

गम्भीरगर्जितरवाः स्वमदाम्बुमिश्र—
मासारवर्षमिव शीकरमुद्गिरन्त्यः।

विन्ध्यं विकीर्णसलिला इव मेघमाला
रुन्धन्तु वारणघटा नगरं मदीयाः ।।१७।।

प्रसङ्गः—मलयकेतुः समन्तात् गजैः पाटलिपुत्रोपरोधमेव राक्षसं प्रति—अमुना पद्येन समर्थयते ।

अन्वयः = गम्भीरगर्जितरवाः स्वमदाम्बुमिश्रं शीकरं आसारवर्षमिव उद्गिरन्त्यः मदीयाः वारणघटाः विकीर्णसलिलाः मेघमाला विन्ध्यमिव नगरं रोत्स्यन्ति ।

संस्कृतार्थः—गम्भीरगर्जितरवाः = गम्भीराः = निम्नाः गभीराः इति यावत्, गर्जितरवाः = गर्जनध्वनयः येषां तथाविधाः, मदीयाः = मामकीनाः, वारणघटाः = गजपंक्तयः, विकीर्णसलिलाः = विकीर्णं = विक्षिप्तं, सलिलं = जलं याभिस्ताः मेघमालाः = जलदपंक्तयः, स्वमदाम्बुमिश्रं = स्वैः = स्वकीयैः, मदाम्बुभिः = दानजलैः, मिश्रं = सम्मिलितं, शीकरं = जलकणं, आसारवर्षमिव = वृष्टिप्रपातमिव, विन्ध्यमिव = तदाख्यपर्वतमिव, नगरं = पाटलिपुत्रं, रोत्स्यन्ति = उपरुद्धं करिष्यन्ति ।

भावार्थः—यथा गर्जन्तो मेघाः स्वशीकरैः विन्ध्याद्रिं क्लेदयन्ति उपरुन्धन्ति च समन्तात् तथैव मदीयाः मलयकेतुसम्बन्धिनः स्वमदाम्बुमिश्रं शीकरमुद्गमन्त्यः गजपंक्तयः पुरं कुसुमपुरं समन्तात् रोत्स्यन्ति ।

भाषार्थ—गम्भीर गर्जन करने वाली तथा अपने मदजल से मिश्रित जल कणों को उगलती हुई मेरी गजपंक्तियाँ पाटलिपुत्र को उसी प्रकार घेर लेंगी जिस प्रकार जलवृष्टि करती हुई मेघमालायें विन्ध्याद्रि को घेर लेती हैं ।

टिप्पणी

व्याकरणम्—उद्गिरन्त्यः = उत् + गृ + निगीर्णे + लट्, + शतृ प्रथमाबहुवचनम् । विकीर्णम् = वि + कृ – विक्षेपे + क्त । रोत्स्यन्ति = रुध् + आवरणे लृट् + स्य + अन्ति । कोषः—"आसारो धारासम्पातः" "शीकरोऽम्बुकणः स्मृतः" । अलंकारः—उपमाऽलंकारः । छन्दः—वसन्ततिलकावृत्तम् ।

(इति भागुरायणेन सह निष्क्रान्तो मलयकेतुः) ।

राक्षसः—कः कोऽत्र भोः ?

पुरुषः—(प्रविश्य) आणबेदु अमच्चो [आज्ञापयत्वमात्यः]।

राक्षसः—प्रियंवदक ! ज्ञायतां, सांवत्सरिकाणां द्वारि कस्तिष्ठति ?

प्रियंवदकः—जं अमच्चो आणबेदि (इति निष्क्रम्य क्षपणकं दृष्टवा पुनः प्रविश्य च) अमच्च! एसो क्खु संवत्सरिओ क्खवणओ—[यदमात्य आज्ञापयति) अमात्य ! एष खलु सांवत्सरिकः क्षपणकः।]

राक्षसः—(स्वगतमनिमित्तं सूचयित्वा) कथं प्रथममेव क्षपणकदर्शनम् ?

प्रियंवदकः—जीवसिद्धी (जीवसिद्धिः)

राक्षसः—(प्रकाशं) अवीभत्सदर्शनं कृत्वा प्रवेशय।

प्रियंवदकः—यदमात्य आज्ञापयति (जं अमच्चो आणबेदि)

इति निष्क्रान्तः

ततः प्रविशति क्षपणकः

क्षपणकः—

सासणमलिहन्ताणं प्पडिवज्जह मोहवाहिबेज्जाणं।
जे पढममेत्तकडुअं पच्छा पत्थं उवदिसन्ति ॥१८॥
शासनमर्हतां प्रतिपद्यध्वं मोहव्याधिवैद्यानाम्।
ये मुहूर्तमात्रकटुकं पश्चात्पथ्यमुपदिशन्ति ॥ १८ ॥

(मलयकेतु भागुरायण के साथ चला जाता है)

राक्षस—अजी ! यहाँ कौन है ?

पुरुष(प्रवेश करके) अमात्य आज्ञा दें।

राक्षस—हे प्रियंवदक ! ज्ञात करो ज्योतिषियों में से द्वार पर कौन है।

प्रियंवदक—अमात्य की जो आज्ञा (बाहर जाकर क्षपणक को देखकर पुनः प्रवेश करके) हे अमात्य ! यह ज्योतिषी क्षपणक है।

राक्षस—(मन ही मन अपशकुन सूचित करके) अरे प्रथम बार ही क्षपणक का दर्शन हुआ।

प्रियंवदक—नाम तो जीवसिद्धि है।

राक्षस—(प्रकट) निन्दित वेष से रहित करके अन्दर ले आओ।

प्रियंवदक—जो मन्त्री जी आज्ञा दें (बाहर निकल जाता है)

(तत्पश्चात् क्षपणक का प्रवेश)

प्रसङ्गः—क्षपणको जीवसिद्धिः स्वागमनं सूचयन् ब्रवीति—

अन्वयः—मोहव्याधिवैद्यानां अर्हतां शासनं प्रतिपद्यध्वम्, ये प्रथममात्र-कटुकं पश्चात् पथ्यं उपदिशन्ति ।

संस्कृतार्थः—लोकाः ! यूयं, मोहव्याधिवैद्यानां = मोहः = अज्ञानं, एव व्याधिः = रोगः तस्य वैद्यानां = चिकित्सकानां, अर्हतां = पूज्यजैनसाधूनां, शासनं = उपदेशं, ज्ञानप्रदानं, प्रतिपद्यध्वम् = लभध्वम्, ये—जैनशासकाः, प्रथममात्रकटुकं = प्राक्विरसं नीरसं पश्चात् = परिणामे, पथ्यं = कल्याणकरं हितकरं उपदिशन्ति = शिक्षयन्ति ।

भावार्थः—जीवसिद्धिः सम्प्रति स्वयमभिधास्यमानवचनस्य नीरसत्वेऽपि पश्चात् परिणामे राक्षसस्य कल्याणकरं पथ्यं च भविष्यतीति बोधयति ।

भाषार्थः—अज्ञान रूपी रोग के चिकित्सक और पूज्य जैन संन्यासियों के ज्ञानप्रदायक उपदेश का लोगों ! पालन करो । जो पहले पहल कड़ुवा पर परिणाम में पथ्यकर होता है ।

टिप्पणी

व्याकरणम्—व्याधिः = वि—आङ् + धा + कि । वैद्यः = विद्या अस्ति अस्य—विद्या + अण् । शासनम् = शासु—अनुशिष्टौ + ल्युट् । अर्हताम् = अर्ह्—पूजायां + शतृ षष्ठी बहुवचने रूपम् । पथ्यं = पथिन् + यत् + इनो लोपः । कोषः—"रोगहार्यगदङ्कारो भिषग्वैद्यः चिकित्सकः" इत्यमरः । अलङ्कार—अप्रस्तुततप्रशंसा, आर्या वृत्तम् ।

(उपसृत्य) धम्मलाहो सावका ! भोदु । धर्मलाभ उपासक ! भवतु ।

राक्षसः—भदन्त ! निरूप्यतां तावदस्मत्प्रस्थानयोग्यदिवसः ।

क्षपणकः—(नाटयेन चिन्तयित्वा) सावका ! णिलूविदे मुहुत्ते । आमज्झणादो णिव्वुत्तसत्तसकला सोहणा तिही संपुण्णचन्दा पुण्णमासी तुह्माणं उत्तला र दिसाए दक्खिणां दिसं प्पत्थिदाणं दक्खिणदुबालिओ णक्खत्तओ । उपासक ! निरूपितो मुहूर्त्तः । आमध्याह्नात् निवृत्तसप्तश-

कला शोभना तिथिः सम्पूर्णचन्द्रा पौर्णमासी, युष्माकमुत्तरस्या दिशो दक्षिणां दिशं प्रस्थितानां दक्षिणद्वारिकं नक्षत्रम्] ।

राक्षसः—भदन्त ! तिथिरेव तावन्न शुध्यति ।

क्षपणकः—सावका ! (उपासक !)

(पास में जाकर) उपासक की धर्म वृद्धि हो ।

राक्षसः—ओह भदन्त ! हमारे प्रयाण योग्य दिन तो बतावें ।

क्षपणक—(सोचने की मुद्रा में) उपासक ! मुहूर्त देख लिया । दोपहर से सम्पूर्ण चन्द्र वाली पूर्णिमा तिथि लग रही है । बड़ी शोभन और सप्तमी के अंश से सर्वथा निर्मुक्त तिथि है । उत्तर की ओर से दक्षिण की ओर प्रस्थान करने वाले आपका नक्षत्र भी सुन्दर है ।

"न गच्छेत् विष्टिभद्रायाम्, षष्ठी-अष्टमी-द्वादशीषु न गच्छेत् त्रिदिन-स्पृशि" इस ज्योतिषशास्त्र के कथनानुसार सप्तमी अंश से सहित विष्टि भद्रा वाली तिथि को यात्रा निषिद्ध है । आज मध्याह्नोत्तर प्रस्थान कल्याणकारक है । और भी—

अविग्र—अत्थाहिमुहे सूले, उदिदे संपुण्णमंडले चन्दे ।
गमणं बुहस्स लग्गे, उदिदत्थमिदे अकेदुम्मि ।।

अपिच—अस्ताभिमुखे शूरे, उदिते सम्पूर्णमण्डले चन्द्रे ।
गमनं बुधस्य लग्ने, उदितास्तमिते च केतौ ।।१९।।

प्रसङ्गः—क्षपणको नाम गणकः यात्रायाः माङ्गलिकं लग्नमुहूर्तादिकं शोधयन् राक्षसं वक्ति ।

अन्वयः—शूरे अस्ताभिमुखे, सम्पूर्णमण्डले चन्द्रे, उदिते केतौ च उदितास्तमिते बुधस्य लग्ने गमनम् ।१९

संस्कृतार्थः—शूरे = सूर्ये = आदित्ये, अस्ताभिमुखे = अस्ताचलं प्रति याते, सम्पूर्णमण्डले = सम्पूर्णं = समस्तं, मण्डलं = बिम्बं यस्य तथाविधे,-चन्द्रे = शशिनि, उदिते = उदयं गते, केतौ = केतुग्रहे, उदितास्तमिते = दृष्ट-नष्टे, आविर्भूय एव तिरोभूते सति, बुधस्य लग्ने = राशौ, गमनं = यात्रा प्रशस्ता भवति ।

भाषार्थः—सूर्य के अस्ताभिमुख होने पर सम्पूर्ण मण्डल चन्द्र के उदय

होने पर तथा केतु के उदय होकर अस्त हो जाने पर बुध लग्न में यात्रा करना शुभ होता है !

द्वितीयार्थः—शूरे=वीरे राक्षसे इत्यर्थः, अभिमुखे=चन्द्रगुप्तमन्त्रित्वाभिमुखे, सम्मुखे, सम्पूर्णमण्डले=पूर्णप्रकृतिमण्डले, चन्द्रे=चन्द्रगुप्ते, उदिते=उन्नते सति, केतौ=मलयकेतौ, उदितास्तमिते=उत्थाय एव पतिते, बुधस्य=चाणक्यस्य, लग्ने=सम्बन्धे, गमनं शोभनम् ।

द्वितीयभाषार्थः—शूर यानी राक्षस के चन्द्रगुप्त के साचिव्यरूपी अर्थ के उदित होने पर और सम्पूर्ण राष्ट्र वाले चन्द्रगुप्त के उदित होने पर बुध के लग्न में यात्रा शुभोदर्क होती है ।

भावार्थः—जीवसिद्धेरमुना कथनेनैतत्प्रतीयते यद्राक्षसो मौर्यसाचिव्यमभिमुखमभिवर्तते, चन्द्रगुप्तश्च सम्पूर्णेन राज्य-मण्डलेन सह वर्धते, मलयकेतुः यद्यपीदानीमभियोक्तुरवस्थायां वर्तते परं तथापि पश्चात्पराजयमेष्यति ।

टिप्पणी

व्याकरणम्—भदन्तः—जैन संन्यासी भन्द—कल्याणे+झञ् झस्यान्तादेशः । अथवा भानि—नक्षत्राणि दन्ताः यस्य सः । निवृत्तसप्तशकला=निवृत्तं सप्तशकलं विष्टिभद्रात्मकः सप्तमतिथ्यंशः यस्याः सा । पौर्णमासी=पूर्णो मासः पौर्णमासः तस्य इयम्—पूर्णमास+अण्+ङीप् । कोष—'शूरः सूरोऽपि चादित्यः' इत्यमरः । 'शूरो वीरश्च विक्रान्तः' इतिचामरः । अलंकारः—श्लेषालंकारः । छन्दः—आर्या वृत्तम् ।

राक्षसः—भदन्त ! तिथि तो ठीक नहीं पड़ती ।

क्षपणकः—सावकाः !—

एक्कगुणा होइ तिही चउग्गुणे होइ णक्खत्ते ।
चउसत्तिगुणे लग्गे एसे जोइसतन्तसिद्धंते ।।२०।।

[उपासक ! एकगुणा भवति तिथिश्चतुर्गुणं नक्षत्रम् ।
चतुःषष्टिगुणं लग्नमेतद्दृश्यते ज्यौतिषतन्त्रसिद्धान्ते ।।२०।।

प्रसङ्गः—अमुष्मिन् पद्ये क्षपणको जीवसिद्धिःगूढाभिसन्धिना तिथिशुद्धिं वर्णयन् राक्षसमाह ।

अन्वयः—ज्यौतिषतन्त्रसिद्धान्ते एतत् दृश्यते यत् तिथिः एकगुणा भवति, नक्षत्रं चतुर्गुणं भवति, लग्नं चतुःषष्टिगुणं भवति ।

संस्कृताथः—ज्यौतिषस्य तन्त्रं ज्यौतिषतन्त्रं तस्य सिद्धान्ते = राद्धान्ते, एतत् – इदं, दृश्यते = विलोक्यते, यत्, तिथिः = तारिका, एकगुणा = एकः गुणः यस्य तादृशी फलदायिनी भवति तिथ्यपेक्षया नक्षत्रं = तारा, चतुर्गुणं = चत्वारः गुणाः यस्य तादृशं भवति । नक्षत्रापेक्षया लग्नं = राशीनामुदयः, चतुः षष्टिगुणं = चतुः षष्टिः गुणाः यस्य तादृशं फलदायकं भवति ।

भावार्थः—यात्रायां शुभाऽशुभविवेचनायां तिथिनक्षत्र (लग्न) राशीनां तारतम्यमेवं वर्तते, चेत्तिथिरेकगुणफलदायिनी तर्हि नक्षत्रं चतुर्गुणफलदायकं जायते, पुनः राशेः चतुः षष्टिगुणं शुभं फलं भवति तिथेरपेक्षयाऽर्थात् नक्षत्रात् षोडशगुणं फलदं लग्नम् ।

भाषार्थः—क्षपणक—उपासक ! ज्योतिष शास्त्रानुसार ऐसा देखा जाता है कि तिथि यात्रा में एक गुण फल दायिनी होती है तिथि की अपेक्षा नक्षत्र चौगुना तो लग्न राशि का उदय चौंसठ गुना फलदायक होता है ।

टिप्पणी

व्याकरणम्—लग्नम् = लग् + क्त । चतुर्गुणम् = चत्वारो गुणाः यस्य तच्चतुर्गुणम्, चतुर् + गुण् + अच् । लग्नं राश्युदयः राशीनामुदयो लग्नं ते तु मेषवृषादयः । नक्षत्रम्—नक्षत्रमृक्षं भं (नपुंसके) तारा तारका उडुः स्त्रियां इत्यमरः । अलंकारः—अत्र तिथिनक्षत्रलग्नानामुत्तरोत्तरोद्दिष्टानां क्रमवर्णनात् यथासंख्यनामालङ्कारः । "यथासंख्यमनूद्देश उद्दिष्टानां क्रमेण यत्" इति लक्षणात् ।

तस्मात् । लग्गे होइ सुलग्गे कूलग्गहं पलिहलिज्जासु ।
पाविहि दीहं लाहं चन्दस्स वलेण गच्छन्ते ।।२१।।

[तस्मात् । लग्नं भवति सुलग्नं परिहर आशु।
प्राप्नुहि दीर्घं लाभं चन्द्रस्य वलेन गच्छन् ।।२१।।

प्रसङ्गः—अमुना पद्येन क्षपणको नाम गणकोऽलं लग्नादिचिन्तया सर्वमेव लग्नं चन्द्रबलेन सुलग्नं भवतीति वर्णयन्नाह ।

अन्वयः—लग्नं सुलग्नं भवति, क्रूरग्रहमाशु परिहर, चन्द्रस्य बलेन गच्छन् दीर्घं लाभं प्राप्नुहि ।

संस्कृतार्थः—लग्नं = राशीनां मेषादीनां उदयः, सुलग्नं = माङ्गलिक-फलप्रदं भवति । क्रूरग्रहं = मन्दग्रहसम्बन्धं, आशु = त्वरितं, परिहर = मुञ्च, चन्द्रस्य = शशिनः, बलेन = सम्बन्धेन गच्छन् = प्रयाणं कुर्वन् त्वं, दीर्घं = चिर-स्थायिनं, लाभं = सिद्धिं, प्राप्नुहि = लभस्व ।

द्वितीयार्थः—क्रूर = राक्षस ! ग्रहं = आग्रहं, निर्बन्धं यदहं चाणक्यम-वश्यं जेष्यामि इत्यात्मकं, परिहर = परित्यज; चन्द्रस्य = चन्द्रगुप्तस्य, बलेन = सैन्येन, सह गच्छन् = व्रजन्, त्वं दीर्घं = सुस्थिरं, लाभं = चन्द्रगुप्तसाचिव्यरूपं, प्राप्नुहि = लभस्व, एवं सति दुष्टमपि अशुभमपि ते लग्नं सुलग्नं भविष्यती-त्यर्थः ।

भावार्थः—जीवसिद्धिः राक्षसं सम्बोध्य गूढाभिसन्धिनेत्थं व्याचष्टे यद्भोः राक्षस ! त्वं क्रूरग्रहं केतुग्रहं मलयकेतुं परित्यज्य चन्द्रगुप्तसाचिव्यमङ्गीकुरु इत्थं ते क्रूरग्रहमपि सुलग्नं भविष्यतीति ।

भाषार्थः—हीन लग्न सुलग्न हो जाता है क्रूर ग्रह को छोड़ दो । चन्द्रमा के बल से जाते हुए तुम चिरस्थायी सिद्धि प्राप्त करो ।

द्वितीयार्थः—हे राक्षस ! चाणक्य को जीतने का हठ छोड़ दो, चन्द्रगुप्त की सेना के साथ जाते हुए तुम चिरकाल स्थायी लाभ प्राप्त करो । ऐसा करने से तुम्हारा दुष्ट लग्न भी शुभ फल दायक हो जायगा ।

टिप्पणी

व्याकरणम्—गच्छन् = गम् – गच्छ् + शतृ + सु प्रथमैकवचनम् । आशु = अश् – उण् । चन्द्रस्य = चदि – आह्लादे + णिच् + रक् 'इदितो नुम् धातोः' इति नुमागमः । बलेन = बल् + अच् । तृतीयैकवचनम् ।

राक्षसः—भदन्त, अपरैः सांवत्सरिकैः सह संवाद्यताम् ।

क्षपणकः—संवादेदु सावके । अहं पुनर्गमिस्सं ।

(संवादयतु श्रावकः । अहं पुनर्गमिष्यामि ।)

राक्षसः—न खलु कुपितो भदन्तः ।

क्षपणकः—ण कुबिदे तुह्माणं भदन्ते। (नकुपितो युष्माकं भदन्तः।)

राक्षसः—कस्तर्हि।

क्षपणकः—भअबं कअन्तो। जेण अत्तणो पक्खं उज्झि परपक्खं प्पमाणीकलेसि। भगवान्कृतान्तः। येनात्मनः पक्षमुज्झित्वा परपक्षं प्रमाणीकरोषि। (निष्क्रान्तः।)

राक्षसः—प्रियंवदक! ज्ञायतां का वेला वर्त्तत? इति।

प्रियंवदकः—जं अमच्चो आणवेदि। (इति निष्क्रम्य पुनः प्रविश्य च) अत्थाहिलासी भअबंसुले। यत् अमात्य आज्ञापयति। अस्ताभिलाषी भगवान् सूर्यः। (पक्षान्तरीयसंस्कृतं यथा—"अर्थाभिलाषी भगवान शूरः इति)]।

राक्षसः—(आसनादुत्थाय विलोक्य च) अये! अस्ताभिलाषी भगवान् सहस्रदीधितिः। सम्प्रति हि—

राक्षस—भदन्त दूसरे! ज्योतिषियों के साथ परामर्श कर लो।

क्षपणक—उपासक! आप परामर्श करते रहें, मैं अपने घर जाता हूँ।

राक्षस—तो क्या ज्योतिषी जी क्रुद्ध हो गये।

क्षपणक—आपका भदन्त क्रुद्ध नहीं हुआ।

राक्षस—तब कौन क्रुद्ध हुआ है?

क्षपणक—भगवान् काल, जिससे आप अपना पक्ष छोड़कर परपक्ष को प्रमाणित कर रहे हैं।

(क्षपणक चला जाता है)

राक्षस—प्रियंवदक! जानो क्या समय हुआ?

प्रियंवदक—जो आदेश मन्त्री जी, (बाहर जाकर पुनः प्रवेशकर) भगवान् भास्कर अब डूबने को हैं।

राक्षस—[आसन से उठकर और देखकर] ओह भगवान् भास्कर सहस्रांशु अस्तोन्मुख हैं। तथाहि—

आविर्भूतानुरागाः क्षणमुदयगिरेरुज्जिहानस्य भानोः

पत्रच्छायैः पुरस्तादुपवनतरवो दूरमाश्वेव गत्वा ।
एते तस्मिन्निवृत्ताः पुनरपरककुप्प्रान्तपर्यस्तबिम्बे
प्रायो भृत्यास्त्यजन्ति प्रचलितविभवं स्वामिनं सेवमानाः ।।२२।।

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे ।)

।। इति चतुर्थोऽङ्कः ।।

प्रसङ्गः—भगवन्तं भास्करमस्तोन्मुखं विलोक्य राक्षसः स्वमनसि किमपि भाविवस्तु विमृशन् व्याचष्टे पद्यमिदम् ।

अन्वय—क्षणं आविर्भूतानुरागाः एते उपवनतरवः उदयगिरेः उज्जिहानस्य भानोः पुरस्तात् पत्रच्छायैः आशु एव दूरं गत्वा पुनः अपरककुप्प्रान्तपर्यस्तबिम्बे तस्मिन् निवृत्ताः प्रायः सेवमानाः भृत्याः प्रचलितविभवं स्वामिनं त्यजन्ति ।

संस्कृतार्थ—क्षणं = किञ्चत्कालं, मुहुर्तमिति यावत्, आविर्भूतानुरागाः = प्रकटः अनुरागः = स्नेहः येषां तथाभूताः, एते = इमे, उपवनतरवः = गृहोद्यानवृक्षाः, उदयगिरेः = उदयाचलात्, उज्जिहानस्य = उद्गच्छतः, भानोः = सूर्यस्य, पुरस्तात् = पुरः, पत्रच्छायैः = पर्णानां छायाबाहुल्येन, आशु = शीघ्रं एवं दूरं = विप्रकृष्टं गत्वा पुनः = भूयः, अपराह्णकाले, अपरककुप्प्रान्तपर्यस्तबिम्बे = अपरस्याः = पश्चिमायाः, ककुभः = दिशः, प्रान्ते = सीमनि, पर्यस्तं = अवलम्बितं, बिम्बं = मण्डलं यस्य तथाभूते तस्मिन् = सूर्ये, निवृत्ताः = प्रत्यावृत्ताः = प्रायः = बाहुल्येन, सेवमानाः = परिचर्यामुपचरन्तः, भृत्याः = अनुचराः प्रचलितविभवं = क्षीणधनं, स्वामिनं = प्रभुं, त्यजन्ति = मुञ्चन्ति ।

भावार्थः—अत्रारामवृक्षच्छायादृष्टान्तेन सम्यगवबोधितं यत् को जानाति यदस्मिन् भाविनि युद्धे के के जनाः अस्मत्पक्षमवलम्ब्य स्थास्यन्ति के के वा शत्रूपजप्ताः परित्यजन्त्यस्माकं पक्षम् यतोहि क्षीणे वित्ते सेवमाना सेवकाः प्रायः प्रचलितविभवं प्रभुं परित्यज्य यान्ति इति राक्षसस्य मनसि वर्तते ।

भाषार्थः—क्षण मात्र के लिये उत्पन्न प्रीति वाले ये उद्यानपादप उदयाचल से उदित सूर्य के आगे पत्तों की छाया रूप में दूर तक जाकर शीघ्र ही पुनः पश्चिम की सीमा पर टिके हुए मण्डल वाले सूर्य के होने पर पुनः छाया रूपः

में ही लौट आये हैं, क्योकि प्रायः सेवा करते हुए भृत्यगण क्षीण ऐश्वर्य वाले स्वामी को त्याग देते हैं।

पूर्वाह्ण में वृक्षों की छाया पश्चिम की ओर फैलती है अतः स्वामी के आगे चलने वाले भृत्यगण के सदृश छाया को कहा गया है तथा अपराह्ण में सूर्य के अस्तोन्मुख होने पर उसे छोड़कर छाया पुनः वृक्ष की ओर लौट आती है उसे क्षीणविभव स्वामी को छोड़कर जाने वाले भृत्यों के समान उत्प्रेक्षित किया है।

टिप्पणी

व्याकरणम्—अस्ताभिलाषी = अस्तं अभिलषितुं शीलं अस्य इति अस्त + अभि + लष् + णिनि। उज्जिहानस्य = उत् + हा – गतौ + शानच् षष्ठ्येकवचने रूपम्। पत्रच्छायैः = पत्राणां छायेति पत्रच्छायम् "यहाँ सेना सुरा छाया शाला निशाम्" इस सूत्र से नपुंसकत्व हो गया, पत्रच्छायं च पत्रच्छायं च पत्रच्छायं इत्येकशेषद्वन्द्वसमासः। अलङ्कारः—अर्थान्तरन्यासः 'सामान्येन चतुर्थपादेन पादत्रयगतस्य विशेषस्य समर्थनात्'। छन्दःस्रग्धरा वृत्तम्।

चौथा अंक समाप्त।

पञ्चमोऽङ्कः

(ततः प्रविशति लेखमलङ्करणस्थगिकाञ्च मुद्रितामादाय सिद्धार्थकः)

सिद्धार्थकः—ही हीमाणहे ! हीमाणहे !! (आश्चर्यम् ! आश्चर्यम् !!

बुद्धिजलणिज्झरेहिं सिच्चन्ती देशकालकलसेहिं।
दंसइस्सदि कज्जफलं गुरुअं चाणक्कणीदिलदा ॥१॥
(बुद्धिजलनिर्झरैः सिच्यमाना देशकालकलसैः।
दर्शयिष्यति कार्यफलं गुरुकं चाणक्यनीतिलता ॥१॥

(सिद्धार्थक का राक्षस की मुद्रा से मुद्रित लेख तथा अभूषण वाली पेटी सहित रङ्गमञ्च पर आगमन)

सिद्धार्थक—आश्चर्य महान् आश्चर्य !

प्रसङ्गः—चाणक्यनीत्युद्यानस्य कश्चित्कर्मकरः सिद्धार्थकः, कूटनयक्षेत्रस्य कुशलो वाहीकः, महीयस्यै फलसिद्ध्यै स्पृहयन्, सर्वं यथा चिन्तितं तथा परिणमन्तं ध्यायन् प्रसन्नस्वान्तो वक्ति ।

अन्वयः—देशकालकलशैः बुद्धिजलनिर्झरैः सिच्यमाना चाणक्यनीतिलता गुरुकं कार्यफलं दर्शयिष्यति । ?

संस्कृतार्थः—देशकालकलशैः = स्थानसमयघटैः, बुद्धिजलनिर्झरैः = प्रज्ञापयःप्रवाहैः, सिच्यमाना = क्लिन्नीक्रियमाणा, चाणक्यनीतिलता = कौटिल्यकूटनयरूपा व्रतती, गुरुकं = अधिकं कार्यफलं = कार्यस्य = कर्मणः, फलं = परिणामं, दर्शयिष्यति = प्रकटयिष्यति,

भावार्थः—यथासमयं यथास्थानं तत्र प्रथमाङ्के एव चाणक्यः शकटदासनामकेन कायस्थेन लेखितलेखरूपं बीजमुप्तवान् तस्मादुप्ता चाणक्यनीतिलता राक्षसभेदात्मकमचिरं फलमुत्पादयिष्यतीति गूढाभिप्रायः ।

भाषार्थः—देश काल रूपी घड़ों से तथा बुद्धि रूपी जल-प्रवाहों से सींची हुई चाणक्य की नीति रूपी लता राक्षस के भेदात्मक फल दिखावेगी ।

टिप्पणी

व्याकरणम्—बुद्धिजलनिर्झरैः = बुद्धयः एव जलानि तेषां निर्झरैः, निर् + झृ + अप् । देशश्च कालश्चेति देशकालौ तावेव कलशौ येषां तादृशैः । गुरुरेव गुरुकम् गुरु + कन् स्वार्थे । क्रियते इति कार्यम् कृ + ण्यत् । फलम् = फल् + अच् । दर्शयिष्यति = दृश् + णिच् + लृट्, तिप् "स्यतासी लृलुटोः" स्य । कोष—"सस्ये हेतुकृते फलम्" इत्यमरः । अलंकारः—साङ्गरूपकम् । छन्दः—आर्यावृत्तम् ।

गहीदो गए अज्जचाणक्केण पढमलेहिदो लेहो, अमच्चरक्खसस्स मुद्दालंच्छिदो । तस्स ज्जेव्व मुद्दालंच्छिदा इअं आहरणपेड़िआ । चलिदेह्मि किल पाड़लिउत्तं, ता जाव गच्छह्मि । (परिक्रम्यावलोक्य च) कहं क्खवणओ आअच्छदि ? जाव मे असउणभूदं इमस्स दंसणं, ता आदित्तदंसणेण पडिहणामि । (गृहीतो मयाऽऽर्यचाणक्येन प्रथमलेखितो लेखः, अमात्यराक्षसस्य मुद्रालाञ्छितः । तस्यैव मुद्रालाञ्छि-

तेयमाभरणपेटिका। चलितोऽस्मि किल पाटलिपुत्रं, तद्यावत् गच्छामि। कथं क्षपणक आगच्छति ? यावन्मेऽशकुनभूतमस्य दर्शनं, तस्मादादित्यदर्शनेन प्रतिहन्मि।)

(ततः प्रविशति क्षपणकः)।

भावार्थः—मैंने आर्य चाणक्य द्वारा पहले ही लिखवाया गया वह कूट लेख ले लिया है। जिस पर अमात्य राक्षस की मुद्रा की छाप पड़ चुकी है। उसी की मुद्रा से मुद्रित यह आभूषणों की पेटी है। मैं पाटलिपुत्र को जा रहा हूँ (घूमकर और देखकर) क्या क्षपणक आ रहा है ? इसका दर्शन तो मेरे लिये अपशकुन है। अतः सूर्य-दर्शन से इस दोष का परिमार्जन करता हूँ।

(तत्पश्चात् क्षपणक का प्रवेश)

क्षपणकः—अलिहन्ताणं प्पणमामो जे दे गम्भीलदाए बुद्धीए।
लोउत्तलेहिं लोए सिद्धिं मग्गेहिं मग्गन्ति ॥२॥
[अर्हतां प्रणमामो ये ते गम्भीरतया बुद्धेः।
लोकोत्तरैर्लोके सिद्धिं मार्गैर्मार्गयन्ति ॥२॥

प्रसङ्गः—कौटिल्यस्य प्रणिधिः क्षपणकनामधेयः, राक्षसस्य कपटमित्रं जीवसिद्धिः चाणक्यस्यैव लोकोत्कृष्टकार्यनिष्पादकत्वं नीतिगाम्भीर्यं स्तुवन् तमेव प्रणमति।

अन्वयः—अर्हतां प्रणमामः, ये ते बुद्धेः गम्भीरतया लोके लोकोत्तरैः मार्गैः सिद्धिं मार्गयन्ति।

संस्कृतार्थः—अर्हतां = बौद्धसंन्यासिनां, प्रणमामः = नमस्कुर्मः। ये ते अर्हन्तः = मान्याः, बुद्धेः = मनीषायाः, गम्भीरतया = गहनतया, लोके = संसारे, लोकोत्तरैः = अलौकिकैः, मार्गैः = वर्त्मभिः, सिद्धिं = कार्यसफाल्यं मोक्षं वा, मार्गयन्ति = अन्वेषयन्ति साधयन्ति वेति।

भावार्थः—अर्हत्प्रणामेनात्र कौटिल्यं प्रति भक्तिः प्रदर्शिता। चाणक्य एव समीहितसिद्धिसाफल्यायोपासनीयः। स एव महासिद्धोऽन्येभ्योऽपि सिद्धिं प्रदातेति।

भाषार्थः—हम बौद्ध साधुओं को नमस्कार करते हैं। जो बौद्ध संन्यासी

(मतिश्रुतावधि मनः पर्यायकेवलेति पञ्चानां ज्ञानत्वाभ्युपगमः ।) पंचात्मक ज्ञान की गम्भीरता के कारण प्रशस्त मोक्षसाधक व्यवहारों द्वारा (षोडश भावनाओं द्वारा) मोक्ष का या कार्यसिद्धि का साधन करते हैं ।

टिप्पणी

षोडश भावनायें—दर्शनशुद्धि – विनय – शील – व्रतातिचाराभीक्ष्ण, उपयोगाभीक्ष्ण, संवेगत्याग, तप समाधि – अर्हद्भक्ति – आचार्यभक्ति, बहुश्रुतभक्ति प्रवचनभक्ति आदि । अलंकारः—अप्रस्तुतप्रशंसाश्लेषयोः संकरः । आर्या वृत्तम् ।

सिद्धार्थकः—भदन्त प्पणमामि (भदन्त प्रणमामि)

क्षपणकः—सावका ! धम्मलाहो ते होदु (सिद्धार्थकं निर्वर्ण्य) सावका ! पत्थाणसमुब्वहणे किदब्ववसाअं विअ दे हिअअं पेक्खामि)

(उपासक ! धर्मलाभस्ते भवतु । उपासक ! प्रस्थानसमुद्वहने कृतव्यवसायमिव ते हृदयं पश्यामि ।)

सिद्धार्थकः—कहं भदन्तो जाणादि ? (कथं भदन्तो जानाति ?)

क्षपणकः—सावका ! किं एत्थ जाणिदब्बं ? एसो दे मग्गादेसकुसलो सउणो करगदो लेहो अ सूचेदि । (उपासक ! किमत्र ज्ञातव्यम् ? एष ते मार्गदिशकुशलः शकुनः करगतो लेखश्च सूचयति ।)

सिद्धार्थकः—जाणिदं भदन्तेण देसन्तलं चलिदोह्मि । ता कधेदु भदन्तो कीदिसो अज्ज दिअसो ? (ज्ञातं भदन्तेन देशान्तरं चलितोऽस्मि । तत् कथयतु भदन्तः कीदृशोऽद्य दिवसः ?)

क्षपणकः—(विहस्य) सावका ! मुण्डिअमुण्डो तुमं णक्खत्ताइं पुच्छसि ? (उपासक ! मुण्डितमुण्डस्त्वं नक्षत्राणि पृच्छसि ?)

सिद्धार्थकः—भदन्त ! सम्पदं पि किं जादं ? ता कधेहि जइ अत्तणो अणुऊलं भविस्सदि, ता गमिस्सं, अण्णधा णिवत्तिस्सं [भदन्त । साम्प्रतमपि किं जातम् ? तत् कथय, यद्यात्मनोऽनुकूलं भवेत्, तदा गमिष्यामि, अन्यथा निवर्त्तिष्ये] ।

क्षपणकः—सावकाणं सम्पदं एदस्सि मलअकेदुकडए अणणऊलेण वा किं? अगहीदमुद्देण ण गच्छीअदि [उपासकानां साम्प्रतमेतस्मिन् मलयकेतुकटके अनुकूलेनाऽननुकूलेन वा किम्? अगृहीतमुद्रेण न गम्यते]।

सिद्धार्थकः—भदन्त! कहेहि कुदो क्खु अअं? [भदन्त! कथय, कुतः खल्वयम्?]।

क्षपणकः—सावका! णिसामेहि पढ़मं दाव एत्थ मलअकेदुकडए लोअस्स अणिवालिअणिक्कमणप्पवेसो आसी। दाणीं इदो पच्चासण्णे कुसुमउरे ण कोवि अमुद्दालंच्छिदो णिक्कमिदुं प्पविसिदुं वा अणुमोदीअदि। ता जइ भाउराअणस्स मुद्दालंच्छिदोसि. तदो गच्छ वासत्थो, अण्णधा णिव्वत्तिअ णिउक्कण्ठं चिट्ठ। मा तुम गुम्मट्ठाणाधिवेहिं संजमिदकलचलणो राअउलं प्पवेसीअसि। (उपासक! निशामय, प्रथमं तावदत्र मलयकेतुकटके लोकस्यानिवारितनिष्क्रमणप्रवेशावास्ताम्। इदानीमितः प्रत्यासन्ने कुसुमपुरे न कोऽप्यमुद्रालाञ्छितो निष्क्रमितुं प्रवेष्टुं वाऽनुमोद्यते। तद् यदि भागुरायणस्य मुद्रालाञ्छितोऽसि, तदा गच्छ विश्वस्तः, अन्यथा निवृत्य निरुत्कण्ठं तिष्ठ। मा त्वं गुल्मस्थानाधिपैः संयमितकरचरणो राजकुलं प्रवेश्यसे।)

सिद्धार्थक—भदन्त! प्रणाम करता हूँ।

क्षपणक—उपासक! धर्म लाभ हो। (सिद्धार्थक को देख कर) उपासक! तुम तो ऐसे प्रतीत हो रहे हो जैसे कहीं यात्रा पर जा रहे हो।

सिद्धार्थक—भदन्त! आपने कैसे जान लिया?

क्षपणक—उपासक! इसमें जानने की क्या बात है। यह तुम्हारी यात्रा का सूचक शकुन तथा हाथ में लिया हुआ लेख सूचित कर रहा है।

सिद्धार्थक—भदन्त! आपने तो जान ही लिया कि मैं परदेश जा रहा हूँ। तो भदन्त! बताओ कैसा आज दिन है?

क्षपणक—(हँस कर) उपासक! सिर मुड़ाकर नक्षत्र पूछ रहे हो।

सिद्धार्थक—अभी क्या बिगड़ा है! तो आप बतावें, अगर अपने अनुकूल होगा तो जाऊँगा अन्यथा लौट जाऊँगा।

क्षपणक—मलयकेतु के सेना-शिविर में मुहूर्त ठीक होने न होने से क्या प्रयोजन, बिना मुद्रा के कहीं नहीं जाना-आना हो सकता है।

सिद्धार्थक—भदन्त ! कहो, यह सब क्यों ?

क्षपणक—उपासक ! सुनो, पहले तो यहाँ मलयकेतु के शिविर में बिना रोक-टोक लोगों का आना-जाना होता था, अब पाटलिपुत्र के पास आ जाने पर किसी को भी बिना मुद्रा के चिह्नित हुए बाहर जाने या भीतर आने की अनुमति नहीं दी जाती है। अतः यदि भागुरायण का मुद्रा-चिह्न हो तो बिना खटके चले जाओ अन्यथा लौट कर उत्सुकताविहीन होकर रहो। जिससे शिविर के अधिकारियों द्वारा हाथ-पैर बांधकर कारागार में न डाल दिये जाओ।

सिद्धार्थकः—किं ण आणादि भदन्तो, जधा अमच्चरक्खसस्स केलिअरो अन्तिओ सिद्धत्थओ अह त्ति ? ता अमुद्दालंच्छिदं पि मं णिक्कमन्तं कस्स सत्ती णिवारेदुं ? (किं न जानाति भदन्तः, यथा अमात्यराक्षसस्य केलिकरोऽन्तिकः सिद्धार्थकोऽहमिति ? तद् अमुद्रालाञ्छितमपि मां निष्क्रामन्तं कस्य शक्तिर्निवारयितुम् ?)

क्षपणकः—सावका ! रक्खसस्स पिसाचस्स वा केलिअरो होहि। णत्थि उण दे अमुद्दालंच्छिदस्स इदो णिक्कमणोवाओ। (उपासक ! राक्षसस्य पिशाचस्य वा केलिकरो भव। नास्ति पुनस्ते अमुद्रालाञ्छितस्येतो निष्क्रमणोपायः।)

सिद्धार्थकः—भदन्त ! ण कुप्प, भण मे कज्जसिद्धी होदु त्ति (भदन्त ! न कुप्य, भण मे कार्यसिद्धिर्भवतु इति।)

क्षपणकः—सावका ! गच्छ होदु दे कज्जसिद्धी। अहंपि भागुराअणादो पाड़लिउत्तं गन्तुं मुद्दं पडिच्छेमि। (उपासक ! गच्छ, भवतु ते कार्यसिद्धिः। अहमपि भागुरायणात् पाटलिपुत्रं गन्तुं मुद्रां प्रतीच्छामि।)

(इत्युभौ निष्क्रान्तौ।)

(इति प्रवेशकः)

सिद्धार्थक—भदन्त, क्या आप नहीं जानते कि मैं अमात्य राक्षस का विनोदी

सेवक सिद्धार्थक हूँ। इसलिये बिना मुद्रा-चिह्न के भी बाहर जाते हुए मुझे रोकने की किसकी शक्ति है।

क्षपणक—उपासक ! तुम चाहे राक्षस के केलिकर हो या पिशाच के बिना आज्ञा-पट्टिका (मुद्रा) के यहाँ से बाहर नहीं निकल पाओगे।

सिद्धार्थक—भदन्त ! आप क्रोध न करें, आप आशीर्वाद दें कि मेरा कार्य सिद्ध हो।

क्षपणक—उपासक ! जाओ, तुम्हारी कार्य-सिद्धि हो। मैं भी पाटलिपुत्र जाने के लिये भागुरायण से मुद्रा लेता हूँ।

(दोनों चले जाते हैं)

(प्रवेशक समाप्त)

टिप्पणी

प्रवेशकः—प्रवेशयति सामाजिकानां हृदयेऽप्रत्यक्षानर्थान् अशक्याभिनयान् वा-यःएतादृशः वर्णनप्रकारः प्रवेशकः इति संज्ञया व्यवह्रियते। यथोक्तं—वृत्त-वर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः। प्रवेशकस्तु नाट्येऽङ्के नीचपात्र-प्रयोजितः॥ अत्र च मुद्राराक्षसे नाटके चाणक्येन प्रथमाङ्के लेखितस्य लेखस्य वृत्तभागस्य, शत्रुसंघभेदनमहाफलस्य वर्तिष्यमाणस्य च वृत्तान्तस्य सिद्धार्थक-क्षपणकाभ्यां प्राकृतकेनाऽसंस्कृतेन वाग्व्यवहारेण प्रयोजितत्वात् संगतं प्रवेशक-लक्षणमिति विदाङ्कुर्वन्तु तत्रभवन्तोऽध्येतारः।

(ततः प्रविशति पुरुषेणानुगम्यमानो भागुरायणः।)

भागुरायणः—(आत्मगतम्) अहो ! विचित्रतार्यचाणक्यनीतेः। कुतः—

मुहुर्लक्ष्योद्भेदा मुहुरधिगमाभावगहना
मुहुः सम्पूर्णाङ्गी मुहुरतिकृशा कार्यवशतः।
मुहुर्भ्रंश्यद्बीजा मुहुरपि वहुप्रापितफले-
त्यहो ! चित्राकारा नियतिरिव नीतिर्नयविदः॥३॥

[तदन्तर पुरुष द्वारा अनुगत भागुरायण का प्रवेश]

भागुरायण—(स्वगत) अहो चाणक्य की नीति बड़ी विचित्र है।

प्रसङ्गः—"चाणक्यस्य नीतिः नियतिरिव वर्तते" इति स्वमनसि स्मारं स्मारं भागुरायणः फलोन्मुखीं कौटिल्यकूटनीतिं विमृशन् वदति ।

अन्वयः—मुहुः लक्ष्योद्भेदा मुहुः अधिगमाऽभावगहना, मुहुः सम्पूर्णाङ्गी, मुहुःकार्यवशतः अतिकृशा, मुहुः भ्रश्यद्बीजा, मुहुः बहुप्रापितफला, अपि इति अहो नियतिः इव नयविदः नीतिः चित्राकारा ॥३

संस्कृतार्थः—मुहुः = पुनः पुनः, लक्ष्योद्भेदा = अनुमेयाविर्भावा, मुहुः = शश्वत्, अधिगमाऽभावगहना = अधिगमस्य = उपलब्धेः, अभावात् = विरहात्, गहना = दुर्बोधा, मुहुः = अभीक्ष्णं, सम्पूर्णाङ्गी = समृद्धावयवा, मुहुः = असकृत्, कार्यवशतः = कृत्यानुरोधात्, अतिकृशा = अतिक्षीणा, मुहुः = क्षणे क्षणे, भ्रश्यद्बीजा = भ्रश्यत् = नश्यत्, बीजं = कारणं यस्याः तादृशी, मुहुः = पुनरपि बहुप्रापितफला = बहु = अत्यधिकं यथा स्यात्तथा, प्रापितानि = लब्धानि फलानि यया सा, साफल्यमुपगता, नियतिः = दैवं, इव = यथा, नयविदः = नीतिज्ञस्य, चाणक्यस्येत्यर्थः, नीतिः = नयः, चित्राकारा = बहुविधा, अहो = आश्चर्यम् । यथा विधेः वैचित्र्यं नीतिज्ञस्य नीतेरपि बहुविधत्वम् ।

भावार्थः—कौटिल्यस्य नीतिः कदाचिदनुमेया, पुनरतिगहना, असकृदुपचितावयवा, मुहुरपचितावयवा, शश्वन्नश्यद्बीजा, अभीक्ष्णं प्रचुरफला सती भाग्यमिवानेकरूपास्तीत्यहो महदाश्चर्यम् ।

भाषार्थः—आर्य चाणक्य की नीति बड़ी विचित्र है तथा हि—कभी तो अनुमान से जानने योग्य तो कभी ज्ञानाऽभाव के कारण दुर्ज्ञेय, कभी सम्पूर्णाङ्ग से सम्पन्न, कभी कार्य के अनुरोध से अत्यन्त अल्प, कभी नष्ट बीज वाली, कभी अधिक फल वाली नीतिज्ञ चाणक्य की नीति भाग्य की तरह विचित्र है ।

टिप्पणी

व्याकरणम्—लक्ष्योद्भेदा = लक्ष्यः उद्भेदः यस्या सा बहुव्रीहिसमासः, मुखसन्धिश्च । अधिगमाऽभावगहना = अधिगमस्य अभावात् गहना प्रतिमुखसन्धिः । सम्पूर्णाङ्गी = सम्पूर्णानि प्रचितानि अङ्गानि यस्याः सा बहुव्रीहिः, विमर्शसन्धिः । नश्यद्बीजा = नश्यत् बीजं कारणं यस्याः सा बहुव्रीहिः, गर्भसन्धिः । बहुप्रापित-

फला = बहु = प्रचुरं यथा स्यात्तथा प्रापितानि फलानि यया तादृशी बहुव्रीहि-समासः, निर्वहणसन्धिः ।

१. मुहुर्लक्ष्योद्भेदा—भागुरायण का मलयकेतु की सेवा में जाना और सेवा में ले लिया जाना ।

२. अधिगमाऽभावगहना—भागुरायण के बहुत दिन तक रहने के बाद भी कोई स्पष्ट घटना न होना ।

३. सम्पूर्णाङ्गी—भद्रभटादि का मलयकेतु की सेवा में आना, शकटदास का पहुँचना, सिद्धार्थक का राक्षस का विश्वासपात्र बनना, पारितोषिक में आभूषण प्राप्त करना, तथा उनको राक्षस के पास ही रखना ।

४. अतिकृशा—कार्यवशतः धीमी गति का होना.

५. नश्यद्बीजा—स्तन कलश का ऋतुवर्णनप्रसंग में भड़काना, "नैतदुपपद्यते" यह राक्षस की उक्ति, बाद में शकटदास का उपपद्यते एवैतत् यह समाधान करना आदि ।

६. बहुप्रापितफला—करभक और राक्षस की छिपकर मलयकेतु द्वारा बातें सुनना तथा भागुरायण द्वारा मलयकेतु के मन में संशय उत्पन्न कर देना ।

कोषः—मुहुः = मुहुः पुनः पुनः शश्वत् अभीक्ष्णमसकृत् समाः इत्यमरः । अलंकारः—काव्यलिङ्गानुप्राणित 'उपमा' तथा अप्रस्तुतप्रशंसा के सम्मिश्रण से संसृष्टि अलङ्कार है । छन्दः—'शिखरिणी छन्दः । प्रसादगुणः, पाञ्चाली रीतिः ।

(प्रकाशम्) भद्र भासुरक ! न मां दूरीभवन्तमिच्छति कुमारः । अतोऽस्मिन्नेवास्थानमण्डपे विन्यस्यतामासनम् ।

पुरुषः—एदं आसनं, उपबिसदु अज्जो । (एतदासनम्, उपविशत्वार्यः ।)

भागुरायणः—(उपविश्य) भद्र भासुरक ! यः कश्चिन्मुद्रार्थी मां द्रष्टमिच्छति, स त्वया प्रवेशयितव्यः ।

पुरुषः—जं अज्जो आणबेदि । (यदार्य आज्ञापयति ।)

(इति निष्क्रान्तः)

भागुरायणः—(स्वगतम्) कष्टमेवमप्यस्मासु स्नेहवान्कुमारो मलयकेतुरतिसंधातव्य इत्यहो दुष्करम् । अथवा

भाषार्थः—(प्रकट) भद्र भासुरक ! कुमार नहीं चाहते कि मैं दूर रहूँ अतः इसी सभामण्डप में आसन बिछा दो ।

पुरुष—यह आसन बिछा दिया, आर्य बैठें ।

भागुरायण—(बैठकर) भद्र भारसुक ! जो कोई मुद्रा चाहने वाला मुझसे मिलने आये उसे तुम अन्दर लिवा लाना ।

पुरुष—जैसी आर्य की आज्ञा ।

(निकल जाता हैं)

भागुरायण—(स्वगत) अत्यन्त खेद है, मुझसे इस प्रकार स्नेह करने वाले कुमार मलयकेतु को भी धोखा दिया जाय ? यह बड़ा कठिन तथा आश्चर्य-जनक है अथवा—

कुले लज्जायाञ्चेति ४

कुले लज्जायां च स्वयशसि च माने च विमुखः
शरीरं विक्रीय क्षणिकमपि लोभाद्धनवति ।
तदाज्ञां कुर्वाणो हितमहितमित्येतदधुना
विचारातिक्रान्तः किमिति परतन्त्रो विमृशति ।।४।।

प्रसङ्गः—भागुरायणः एकतः कुमारमलयकेतोः स्नेहसौहार्दभावेनाकृष्टः अपरतः कर्तव्यबुद्ध्या समाकृष्टचेताः द्वैधीभावमापन्नः पद्यमिदं व्याचष्टे ।

अन्वयः—क्षणिकधनलाभात् लज्जायां माने च स्वयशसि च कुले च विमुखः (भूत्वा) धनवति शरीरं विक्रीय विचारातिक्रान्तः परतन्त्रः अधुना तदाज्ञां कुर्वाणः इति हितम्, एतत् अहितम् इति किं विमृशति ।

संस्कृतार्थः—क्षणिकधनलाभात् = अस्थिरसम्पदधिकात्, लज्जायां = त्रपायां, माने च = प्रतिष्ठायां च, स्वयशसि च = निजकीर्तौ च, कुले च = वंशे च, विमुखः = पराङ्मुखः, भूत्वा इति शेषः, धनवति = धनढ्ये जने, शरीरं = स्वदेहं, विक्रीय = पराधीनं विधाय, विचारातिक्रान्तः = सदसद्विवेकविरहितः, परतन्त्रः =

पराधीनः, अधुना = इदानीं, तदाज्ञां = तस्य धनवतः स्वामिनः आदेशं, कुर्वाणः = परिपालयन्, इति हितम् = एतत् पथ्यम्, एतत् = इदम्, अहितम् = अकल्याणकरम्, इति किं = इति कथं, विमृशति = विचारयति।

भाषार्थ—अस्थिर सम्पत्ति प्राप्ति के कारण, लज्जा, अपनी कीर्ति और अपने कुल से भी पराङ्मुख होकर धनी मनुष्य के हाथ अपना शरीर बेचकर ज्ञान शून्य होकर परतन्त्र हुआ तथा इस समय उस धनी की आज्ञा का पालन करता हुआ मेरे जैसा व्यक्ति यह क्यों सोचे कि यह हित है और यह अहित है।

भावार्थः—भागुरायणः स्वगतं चिन्तयति यदहं स्वल्पधनलाभवशात् स्वाभिमानं यशः त्रपां स्वशरीरञ्चापि विक्रीयाधुना कुमारमलयकेतुं प्रति—अभिसन्धानमुचितमनुचितं वेति विमृशामि तत् साम्प्रतं सर्वथाऽसाम्प्रतमिति भावः।

टिप्पणी

व्याकरणम्—विक्रीय = डुक्रीञ् द्रव्यविनमये + क्त्वा—ल्यप् विचारातिक्रान्तः = विचारं सदसद्विवेकं अतिक्रान्तः। अति + क्रमु + क्तः। विमुखः = विरुद्धमननूकूलं मुखं यस्य स बहुव्रीहिसमासः। धनवति = धनमस्यास्ति इति = धन + मतुप्, मतुप्ः वतुपादेशे तस्मिन्। शरीरम् = जडचेतनपदार्थानां कायः शॄ + ईरन्। अतिसन्धानं = प्रतारणम्, अति + सम् + धा + ल्युट् "युवोरनाकौ" इति ल्युटोरनादेशः। कोषः—मन्दाक्षं ह्रीस्त्रपाव्रीडालज्जा" इत्यमरः। अलंकारः—पदार्थहेतुकः काव्यलिङ्गालङ्कारः। 'हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गं निगद्यते'। छन्दः—शिखरिणी, प्रसादगुणः, वैदर्भी रीतिः।

(ततः प्रविशति प्रतीहार्यनुगतो मलयकेतुः।)

मलयकेतुः—(स्वगतम्) अहो! राक्षसं प्रति मे विकल्पबाहुल्यादाकुला बुद्धिर्न निश्चयमधिगच्छति। कुतः—

भक्त्या नन्दकुलानुरागदृढया नन्दान्वयालम्बिना
किं चाणक्यनिराकृतेन कृतिना मौर्येण सन्धास्यते।
स्थैर्यं भक्तिगुणस्य वा विगणयन् किं सत्यसन्धो भवे-
दित्यारूढकुलालचक्रमिव मे चेतश्चिरं भ्राम्यति ॥५॥

(तत्पश्चात् प्रतीहारी से अनुगत मलयकेतु का प्रवेश)

मलयकेतु—(मन में) आश्चर्य है, राक्षस के सम्बन्ध में इतने सन्देह मन में उत्पन्न हो गये हैं कि कुछ पता नहीं चलता कि क्या होगा। क्योंकि—

प्रसङ्गः—मलयकेतुः राक्षसविषयकं पुनः-पुनः चिन्तयन्नपि किमपि निर्णयमनवाप्य भक्त्येति पद्यं वदति।

अन्वयः—कृतिना चाणक्यनिराकृतेन नन्दान्वयालम्बिना मौर्येण नन्द-कुलानुरागदृढया भक्त्या सन्धास्यते किम्, वा भक्तिगुणस्य स्थैर्यं विगणयन् सत्यसन्धो भवेत् किम्, इति मे चेतः आरूढकुलालचक्रम् इव चिरं भ्राम्यति।

सं कृतार्थः—कृतिना = पण्डितेन, चाणक्येन = कौटिल्येन, निराकृतेन = परित्यक्तेन, नन्दान्वयम् = नन्दवंशम्, अवलम्बते = आश्रयते यः तादृशेन, मौर्येण = वृषलेन, चन्द्रगुप्तेन इति यातत्, नन्दकुलानुरागदृढया = नन्दकुले यः अनुरागः = स्नेहः तेन दृढा = स्थिरा, भक्त्या = सेवया, सन्धास्यते = सन्धिं विधास्यति किम् एष राक्षसः। अथवा भक्तिगुणस्य स्थैर्यं = भक्तिः अनुरागः एव गुणः तस्य स्थैर्यम् = स्थिरतां, विगणयन् = विचारयन्, सत्यसन्धः = सत्य-प्रतिज्ञः भवेत् किम्। अनेन प्रकारेण मे चेतः = मम मनः, आरूढकुलाल-चक्रं = आरूढं कुलालचक्रं = कुम्भकारचक्रम् येन तादृशं इव, बहुकालं = भ्राम्यति = सन्देहयुक्तं भवति।

भावार्थः—मलयकेतुः चिन्तयति यदसौ महामन्त्री राक्षसः नन्दवंशेऽनुराग-वशात् चाणक्यपरित्यक्तेन चन्द्रगुप्तेन सह सन्धिं विधास्यति आहोस्वित् मया सह सत्यप्रतिज्ञः सन् स्थास्यति इति निर्णयमनवाप्य मम मनः चिरात् सन्देहा-स्पदं भवतीत्यर्थः।

भाषार्थः—नन्द-वंश में दृढ अनुराग से उत्पन्न भक्ति के कारण विद्वान् चाणक्य से परित्यक्त नन्द-वंशी चन्द्रगुप्त से वह राक्षस सन्धि कर लेगा अथवा स्वामिभक्त होकर मेरा साथ देगा, सत्यप्रतिज्ञ रहेगा यह बात सोचते हुए मेरा मन कुम्हार के चाक पर चढ़े हुए के समान चिरकाल से घूम रहा है।

टिप्पणी

व्याकरणम्—भक्त्या = भज् सेवायां + क्तिन् + टा तृतीयैकवचनम्। अनुरागः = अनु + रञ्ज् + भावे घञ्। दृढया = दृह् + क्त + टाप् + टा तृतीयैक-

वचनम् । अन्वयः = अनु + इ + अच् । स्थैर्यम् = स्थिर + ष्यञ् "अचो ञ्णिति" इति वृद्धिः । विगणयन् = वि + गण + णिच् + शतृ प्रथमविभक्तैकवचनम् । कृतिना = कृत + इनि + टा । कोषः—धीमान् सूरिः कृती कृष्टिः लब्धवर्णो विचक्षणः इत्यमरः । अलंकारः—कुलालचक्रारूढमिव यहाँ उत्प्रेक्षा अलङ्कार हैं। कृतिना आदि साभिप्राय विशेषणों के कारण परिकर अलङ्कार है । किं एवं वादि शब्दों के कारण विकल्प अलङ्कार है । इन सब का सङ्कर अलङ्कार है । छन्दः—शार्दूलविक्रीडित छन्द है ।

(प्रकाशम्) विजये ! क्व भागुरायणः !

प्रतीहारी—कुमार ! एसो क्खु कड़आदो णिक्कमिदुकामाणं मुद्दासंपदाणं अणु चिट्ठदि । (कुमार ! एष खलु कटकान्निष्क्रमितुकामानां मुद्रासम्प्रदानमधितिष्ठति ।)

मलयकेतुः—विजये ! मुहूर्त्तं निभृतपदसञ्चारा भव, यावदस्य पराङ्मुखस्यैव पाणिभ्यां नयने पिदधामि ।

प्रतीहारी—जं कुमारो आणबेदि ! (यत् कुमार आज्ञापयति ।)

भासुरकः—(प्रविश्य) अज्ज ! एसो क्खु क्खवणओ मुद्दाणिमित्तं अज्जं पेक्खिदुमिच्छदि । (आर्य ! एष खलु क्षपणको मुद्रानिमित्तमार्यं प्रेक्षितुमिच्छति ।)

भागुरायणः—प्रवेशय ।

भासुरकः—जं अज्जो आणबेदि । (यदार्य आज्ञापयति ।)

(इति निष्क्रान्तः ।)

क्षपणकः—(प्रविश्य) सावकाणं धम्मविद्धी होदु । (उपासकानां धर्मवृद्धिर्भवतु ।)

भागुरायणः—(नाट्येनावलोक्य स्वगतम्) अये ! राक्षसस्य मित्रं जीवसिद्धिः । (प्रकाशम्) भदन्त ! न खलु राक्षसस्य प्रयोजनमेव किञ्चिदुद्दिश्य गम्यते ?

भाषार्थः—(प्रकट) विजये ! भागुरायण कहाँ है ?

प्रतीहारी—छावनी से बाहर जाने वालों को वे इस समय मुद्रा दे रहे हैं।

मलयकेतु—विजये ! थोड़ी देर के लिये अपने चरणों का सञ्चार बन्द कर दो जब तक मैं इनके बिना जाने इनकी आँखें बन्द कर दूं।

प्रतीहारी—जैसी कुमार की आज्ञा (चली जाती है)

भासुरक—(प्रवेशकर) क्षपणक मुद्रा लेने की इच्छा से आर्य को देखना चाहता है।

भागुरायण—बुलाओ।

भासुरक—जैसी आर्य की आज्ञा (बाहर चला जाता है।)

क्षपणक—(प्रवेशकर) उपासकों के धर्म की वृद्धि हो।

भागुरायण—(देखने का अभिनय कर स्वगत) अरे यह तो राक्षस का मित्र जीवसिद्धि है। (प्रकट) भदन्त ! राक्षस के प्रयोजन से जा रहे हो क्या।

क्षपणकः—(कर्णौ पिधाय) सन्तं, पाबं, सन्तं पावं। साबका ! तहिं ज्जेव गमिस्सं जहिं रक्खसस्स पिसाचस्स वा णामं पि ण सुणीअदि। (शान्तं पापं शान्तं पापम्। उपासक ! तत्रैव गमिष्यामि, यत्र राक्षसस्य पिशाचस्य वा नामापि न श्रूयते।)

भागुरायणः—भदन्त ! बलीयांस्ते सुहृदि प्रणयकोपः। तत् किमपराद्धं राक्षसेन भदन्तस्य ?

क्षपणकः—सावका ! ण मम किं पि रक्खसेण अवलद्धं, सअं ज्जेव्व मन्दभाओ अत्तणो कम्मसु लज्जामि। (उपासक ! न मे किमपि राक्षसेनापराद्धं, स्वयमेव मन्दभाग्य आत्मनः कर्मसु लज्जे।)

भागुरायणः—भदन्त ! वर्धयसि मे कुतूहलम्।

मलयकेतुः—(स्वगतम्) मम च।

भागुरायणः—श्रोतुमिच्छामि।

मलयकेतुः—(स्वगतम्) अहमपि।

क्षपणकः—सावका ! किं एदिणा असुणिदब्बेण सुदेण। (श्रावक, किमनेनाश्रोतव्येन श्रुतेन।)

भागुरायणः—यदि रहस्यं तत्तिष्ठतु।

क्षपणकः—सावका ! ण हि रहस्सं। (उपासक ! न हि रहस्यम्।)

भागुरायणः—तर्हि कथ्यताम् ।

क्षपणकः—सावका ! णत्थि एदं, तधावि ण कधइस्सं अदिणिसंसं । (उपासक । नास्तीदं, तथापि न कथयिष्याम्यतिनृशंसम् ।)

भागुरायणः—भदन्त ! अहमपि मुद्रां न दास्यामि ।

क्षपणक—(कानों को बन्द करके) पाप शान्त हो, पाप शान्त हो, मैं वहाँ जाऊँगा जहाँ राक्षस या पिशाच का नाम भी न सुना जाता हो ।

भागुरायण—मित्र के ऊपर आपका बड़ा भारी क्रोध है । तो राक्षस ने भदन्त का क्या अपराध किया है ।

क्षपणक—उपासक, राक्षस ने मेरा कुछ नहीं बिगाड़ा, मैं अभागा स्वयं अपने काम से लज्जित हूँ ।

भागुरायण—भदन्त, तुम मेरे कौतूहल को बढ़ा रहे हो ।

मलयकेतु—(स्वगत) मेरा भी ।

भागुरायण—सुनना चाहता हूँ ।

मलयकेतु—(स्वगत) मैं भी ।

क्षपणक—उपासक ! उस न सुनने योग्य बात के सुनने से क्या लाभ ?

भागुरायण—यदि गोपनीय हो तो न कहिये ।

क्षपणक—उपासक, गोपनीय नहीं है ।

भागुरायण—तो कहिये ।

क्षपणक—उपासक, यह गोपनीय नहीं है, फिर भी यह कठोर बात है, मैं न कहूँगा ।

भागुरायण—भदन्त, तो मैं भी मुद्रा न दूँगा ।

टिप्पणी

व्याकरणम्—क्षपणकः = क्षप् + ल्युट् + स्वार्थे कन्, बौद्ध या जैन साधु जो नग्न रहते हैं । नग्नः क्षपणके देशे रजकः किं करिष्यति ।

उपासकः—उप + आस् + ण्वुल् "युवोरनाकौ" अकादेशः । स्वगतम्—"अश्राव्यं स्वगतं मतम्" दशरूपक । (स्वगत) को ही "आत्मगतम्" कहते हैं । स्वगतं स्वहृदि स्थितम् ।

क्षपणकः—(स्वगतम्) युक्तमिदानीमर्थिने कथयितुम् । (प्रकाशम्) का गदी ? एसे णिवेदेमि सुणादु सावको । अत्थि दाव हगे अधण्णो पढ़मं पाड़लिउत्ते णिवसमाणो रक्खसस्स मित्तत्तणं उवगदे । तहिं अवसले रक्खसेण गूढं विसकण्णाप्पओअं समुप्पादिअ घादिदे देवे पब्बदीसले । (का गतिः ? एष निवेदयामि श्रृणोतु उपासकः । अस्ति तावदहमधन्यः प्रथमं पाटलिपुत्रे निवसन् राक्षसस्य मित्रत्वमुपगतः । यस्मिन्नवसरे राक्षसेन गूढं विषकन्याप्रयोगं समुत्पाद्य घातितो देवः पर्वतेश्वरः ।)

मलयकेतुः—(सवाष्पमात्मगतम्) कथं राक्षसेन घातितस्तातो न चाणक्येन ?

भागुरायणः—भदन्त ! ततस्ततः ?

क्षपणकः—तदो हगे रक्खसस्स मित्तं कदुअ चाणक्कहदएण सणिकालं णअरादो णिव्वासिदो । दाणीं पि रक्खसेण अणेअकज्जकुसलेण किंपि तादिसं आलहीअदि, जेण हगे जीअलोआदो णिक्कासिज्जेमि । (ततोऽहं राक्षसस्य मित्रं कृत्वा चाणक्यहतकेन सनिकारं नगरान्निर्वासितः । इदानीमपि राक्षसेनानेकार्यकुशलेन किमपि तादृशमारभ्यते, येनाहं जीवलोकान्निष्कासिष्ये ।)

भागुरायणः—भदन्त ! प्रतिश्रुतराज्यार्धमयच्छता चाणक्यहतकेनेदमकार्यमनुष्ठितं न राक्षसेनेति श्रुतमस्माभिः ।

क्षपणकः—(कर्णौ पिधाय) सन्तं पावं । सावका ! चाणक्को विसकण्णाए णामपि ण जाणादि । तेण ज्जेव दुट्ठबुद्धिणा रक्खसेण एसा अकज्जसिद्धी किदा । (शान्तं पापम् । उपासक ! चाणक्यो विषकन्याया नामापि न जानाति । तेनैव दुष्टबुद्धिना राक्षसेनैषाऽकार्यसिद्धिः कृता ।)

भागुरायणः—भदन्त ! कष्टमिदमियं मुद्रा दीयते, एहि कुमारं संश्रावयावः ।

भाषार्थः—क्षपणक—(मन में) इस समय इस प्रार्थी को सुनाना या कहना उचित होगा। (प्रकट) और क्या गति है, तो सुनाता हूँ, सुनिये। मैं अभागा पाटलिपुत्र में रहता हुआ राक्षस का मित्र बन गया। उसी समय राक्षस ने विषकन्या का प्रयोग करके देव पर्वतेश्वर को मरवा दिया।

मलयकेतु—(साश्रु मन में) क्या राक्षस ने पिताजी को मरवाया चाणक्य ने नहीं ?

भागुरायण—भदन्त तब क्या हुआ ?

क्षपणक—तब मैं राक्षस का मित्र होने के कारण दुष्ट चाणक्य के द्वारा अपमान पूर्वक नगर से बाहर निकाल दिया गया। अभी भी अनेक प्रकार के कुकर्मों में निपुण राक्षस ने कुछ ऐसा काम प्रारम्भ कर दिया है जिससे मैं संसार से निकाल दिया जाऊँ।

भागुरायण—भदन्त ! हम लोगों ने सुना है कि आधा राज्य देने की प्रतिज्ञा करके दुष्ट चाणक्य ने जो अब राज्य नहीं देना चाहता है यह कुकर्म करवाया है।

क्षपणक—(कानों को बन्द करके) पाप शान्त हो, उपासक ! चाणक्य तो विषकन्या का नाम भी नहीं जानता। उसी दुष्ट बुद्धि वाले राक्षस के द्वारा यह कुकर्म किया गया।

भागुरायण—भदन्त ! यह तो दुःख की बात है, यह मुद्रा देता हूँ। चलो हम दोनों यह बात कुमार को सुनावें।

टिप्पणी

व्याकरणम्—घातितः = हन् + णिच् + क्त। सनिकारम् = निकारेण सह वर्तमानं सनिकारं—सापमानम्, नि + कृ + घञ्। निकारः विप्रकार इत्यमरः। निर्वासितः = निर् + वस् + णिच् + क्तः। प्रतिश्रुतराज्यार्धम् = प्रतिश्रुतं प्रतिज्ञातं च तद्राज्यार्द्धं राज्यार्धभागम्। प्रति + श्रु + क्त। राज्ञो भावः कर्म वा राजन् + यत् नलोपः।

मलयकेतुः—(उपसृत्य)

श्रुतं सखे श्रवणविदारणं वचः
सुहृन्मुखाद्रिपुमधिकृत्य भाषितम्।

पितुर्वधव्यसनमिदं हि येन मे
चिरादपि द्विगुणमिवाद्य वर्धते ।।६।।

मलयकेतुः—(आगे बढ़कर)

प्रसङ्गः—"पिता पर्वतेश्वरः राक्षसेन घातितः" इति कर्णाकुहरीकृत्य विक्षिप्तचित्तः विलपन् पद्यमिदं व्याचष्टे ।

अन्वयः—सखे ! रिपुमधिकृत्य भाषितं श्रवणविदारणं वचः सुहृन्मुखात् श्रुतम् येन इदं मे पितुर्वधव्यसनं चिरादपि अद्य द्विगुणमिव वर्धते ।

संस्कृतार्थः—सखे = हे मित्र !, रिपुं = शत्रुं, अधिकृत्य = उद्दिश्य, भाषितं = उक्तं, श्रवणविदारणं = कर्णभेदकं, वचः = वचनं सुहृन्मुखात् = सुहृदः = मित्रस्य जीवसिद्धेः, मुखात् = लपनात्, श्रुतम् = आकर्णितम्, येन = आकर्णनेन, इदं = अनुभूतं, मे = मम मलयकेतोः, पितुः = जनकस्य, वधस्य = नाशस्य, व्यसनं = दुःखं, चिरादपि = चिरकालजातमपि, अद्य = अस्मिन् दिवसे, द्विगुणमिव = द्विरावृतमिव, वर्द्धते = एधते ।

भावार्थः—अद्य राक्षसस्य मित्रजीवसिद्धेः मुखात् पितुः महाराजपर्वतेश्वरस्य निधनकारणं श्रुत्वा बहुकालव्यतीतेऽपि तद्दुःखं पुनर्नवमिव द्विगुणमिवानुभवामीति भावः ।

भाषार्थः—मलयकेतु—मित्र शत्रु को लक्ष्य करके श्रोत्रपुट को विदीर्ण करने वाला वचन उसके मित्र के मुंह से सुनकर मेरे पितृ-वध का दुःख पर्याप्त समय बीत जाने पर भी आज मानों दूना हो रहा है ।

टिप्पणी

व्याकरणम्—विदारणम् = वि + दृ + णिच् + ल्युट् कर्तरि बाहुलकात् । श्रवणयोः विदारणं षष्ठीतत्पुरुषः । अधिकृत्य = अधि + कृ + क्त्वा (ल्यप्) पितुः = पाति रक्षति इति पिता तस्य = पा + तृच् + ङस् षष्ठी-एकवचने रूपम् । व्यसनम् = वि + अस् (क्षेपणे) + ल्युट् । कोष—"व्यसनं विपदि भ्रंशे दोषे कामजकोपजे" इत्यमरः । अलंकारः—उत्प्रेक्षाऽलंकारः द्विगुणमिव इत्यत्र । छन्दः—रुचिरा, लक्षणं यथा—जभौ सजौ गिति रुचिरा चतुर्ग्रहैः ।

क्षपणकः—(स्वगतम्) अये श्रुतं मलयकेतुहतकेन !! कृतार्थोऽस्मि ।

(इति निष्क्रान्तः ।)

मलयकेतुः—(प्रत्यक्षवदाकाशे लक्ष्यं वद्ध्वा) राक्षस ! युक्तमिदम् ।

क्षपणक—(मन में) अभागे मलयकेतु ने सुन लिया । मैं सफल हो गया (बाहर चला जाता है)

मलयकेतु—आकाश की ओर देखता हुआ मानो राक्षस की ही ओर देख रहा है । राक्षस ठीक है ।

मित्रं ममायमिति निर्वृतचित्तवृत्ति
विश्रम्भतस्त्वयि निवेशितसर्वकार्यम् ।
तातं निपात्य सह बन्धुजनाक्षितोयै-
रन्वर्थतोऽपि ननु राक्षस ! राक्षसोऽसि ।।७।।

प्रसङ्गः—मलयकेतुः राक्षसमुद्दिश्य स्वगतं वदति यद्भोः राक्षस ! न केवलं नाम्ना परं कर्मणाऽपि त्वं राक्षस एवेति यतः त्वं पर्वतेश्वरेण सह विश्वासघातमकरोः इति प्रसङ्गे पद्यमिदमुपवर्णितम् ।

अन्वयः—ननु राक्षस ! अयं मम मित्रं इति विश्रम्भतः त्वयि निवेशितसर्वकार्यम् निर्वृतचित्तवृत्ति तातं बन्धुजनाक्षितोयैः सह निपात्य अन्वर्थतोऽपि राक्षसोऽसि ।

संस्कृतार्थः—ननु राक्षस !=भोः राक्षस ! अयं=राक्षसः, मम=मे पर्वतेश्वरस्य, मित्रं=सुहृत्, इति=एवं, विश्रम्भतः विश्वासात्, त्वयि=राक्षसे, निवेशितं=समर्पितं, सर्वकार्यं समस्तं राज्यतन्त्रं येन तादृशं, निर्वृतचित्तवृत्ति=निर्वृता=स्वस्था, चित्तवृत्तिः=मनोव्यापारः यस्य तादृशं, तातं=जनकं, बन्धुजनाक्षितोयैः=बन्धुजनानां=आत्मीयजनानां, अश्रुतोयैः=नेत्रजलैः, सह=साकं, निपात्य=हत्वा, अन्वर्थतः=वस्तुतः, अपि=निर्धारणे, राक्षसः=पिशिताशनः, असि, न केवलं त्वं नाम्ना राक्षसः परं कर्मणाऽपि त्वं राक्षसः संवृत्तोऽसि ।

भावार्थः—भोः राक्षस ! यद्यपि त्वं नाम्ना राक्षसोऽसि परं पर्वतेश्वरस्य हननात् यथानाम तथा गुणः राक्षसः पिशिताशनोऽसि असुरोऽसि ।

भाषार्थः—मेरे पिता यह समझकर कि तुम उनके मित्र हों अतः तुम पर विश्वास करके सम्पूर्ण कार्यभार तुम्हें सौंपकर वे निश्चिन्त थे । उन पिताजी को बन्धुओं के आँसुओं के साथ धराशायी करके तुम नाम के ही नहीं प्रत्युत वास्तव में भी राक्षस हो ।

टिप्पणी

व्याकरणम्—निपात्य = प्राणैः वियोज्य, नि + पत् + णिच् + क्त्वा — ल्यप् । अन्वर्थतः = वस्तुतः अनुगतः अर्थं अन्वर्थः तेन तसिः प्रत्ययः । विश्रम्भतः = वि + श्रम्भ् + घञ् = विश्रम्भः तस्मात् पञ्चम्याः तसिल् प्रत्ययः । राक्षसः = रक्षसः इदं रक्षस् + अण् । कोषः—"समौ विश्रम्भविश्वासौ" इत्यमरः । विस्रम्भोऽपि विश्वासवाचकः । अलंकारः—अतिशयोक्तिमूलक सहोक्ति अलङ्कार । छन्दः—वसन्ततिलका छन्द "उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौगः" ।

भागुरायणः—(स्वगतम्) रक्षणीया राक्षसस्य प्राणा इत्यार्यादेशः । भवत्वेवं तावत् । (प्रकाशम्) कुमार ! अलमावेगेन । आसनस्थं कुमारं किञ्चिद्विज्ञापयितुमिच्छामि ।

मलयकेतुः—(उपविश्य) सखे ! किमसि वक्तुकामः ?

भागुरायणः—कुमार ! खल्वर्थशास्त्रव्यवहारिणामर्थवशादरिमित्रोदासीनव्यवस्था न लौकिकानामिव स्वेच्छावशात् । यतस्तस्मिन् काले सर्वार्थसिद्धिं राजानमिच्छतो राक्षसस्य चन्द्रगुप्तादपि बलीयस्तया सुगृहीतनामा देवः पर्वतेश्वर एवार्थपरिपन्थी महानरातिरासीत् । तस्मिंश्च काले राक्षसेनेदमनुष्ठितमिति नातिदोषमत्र पश्यामि । पश्यतु कुमारः ।

भागुरायणः—(मन में) आर्य चाणक्य का आदेश है, राक्षस के प्राणों की रक्षा की जाय । तब तक ऐसा हो (प्रकट) कुमार क्रोध न करें । आप आसन पर बैठ जायं तो कुछ कहना चाहता हूँ ।

मलयकेतु—(बैठकर) मित्र ! क्या कहना चाहते हो ?

भागुरायण—कुमार ! नीति-शास्त्र को मानने वाले, साधारण जनों की भाँति किसी को अपना मित्र या शत्रु अथवा तटस्थ नही बनाते । उनकी व्यवस्था मनमानी नहीं होती प्रत्युत प्रयोजनवश होती है । क्योंकि उस समय सर्वार्थसद्धि को राजा बनाने की इच्छा करते हुए राक्षस के लिये चन्द्रगुप्त से भी बलवान् प्रातः स्मरणीय महाराज पर्वत ही स्वार्थ में बाधक लग रहे थे । उस समय राक्षस ने यह पर्वतेश्वर का वध किया, अतः इसमें उसका कोई अधिक दोष नही है । कुमार देखें ।

टिप्पणी

व्याकरणम्—अर्थशास्त्रव्यवहारिणाम् = अर्थशास्त्रेण व्यवहर्तुं शीलमेषां इति अर्थशास्त्र + वि + अव + हृ + णिनि तेषां । अर्थवशात् = अर्थस्य प्रयोजनस्य वशात्, अरिमित्रोदासीनव्यवस्था = अरयश्च मित्राणि च उदासीनाः चेति तेषां व्यवस्था – वि + अव + स्था + अङ् द्वन्द्वसमासः तत्पुरुषश्च । लौकिकानां – लोके भवाः लौकिकाः, लोक + ठञ् "ठस्येकः" ।

मित्राणि शत्रुत्वमिवानयन्ती
मित्रत्वमर्थस्य वशाच्च शत्रून् ।
नीतिर्नयत्यस्मृतपूर्ववृत्तं
जन्मान्तरं जीवत एव पुंसः ॥८॥

प्रसङ्गः—भागुरायणः राजनीतिमाश्रित्य पर्वतकवधरूपं राक्षसकृतापचारं समादधानः वक्ति मित्राणीति पद्यम् ।

अन्वयः—अर्थस्य वशात् नीतिः अस्मृतपूर्ववृत्तं मित्राणि शत्रुत्वं शत्रून् च मित्रत्वं इव आनयन्ती जीवतः एव पुंसः जन्मान्तरं नयति ।

संस्कृतार्थः—अर्थस्य कार्यस्य, वशात्—अनुरोधात्, नीतिः = नयव्यवहारः, अस्मृतपूर्ववृत्तम् = न स्मृतं अस्मृतं = स्मृतिपथमनारूढं, = पूर्ववृत्तं = पूर्वकृततत्कार्यं यस्मिन् कर्मणि तत्, मित्राणि = सुहृदः, शत्रुत्वं = अमित्रत्वं, शत्रून् = अरींश्च, मित्रत्वं = सुहृत्त्वम्, इव, आनयन्ती = कुर्वन्ती, जीवतः एव = अमृतान् एव, पुंसः = पुरुषान्, जन्मान्तरं = अन्यत् जन्म, नयति = प्रापयति ।

भावार्थः—नीतिज्ञः पुरुषः प्रयोजनानुरोधात् मित्रस्य मित्रतां विस्मृत्य शत्रु-

मिव तं पश्यति, एवं शत्रोश्च शत्रुतां विस्मृत्य मित्रमिव पश्यति। एवं यदि राक्षसः तदा मित्रं पर्वतकेऽमित्रवदाचरितवान् सः दोषः नयप्रयोगस्य न राक्षसस्येति विचारयतु कुमारमलयकेतुः।

भाषार्थः—राजनीति के अनुसार प्रयोजन वश होकर मित्र शत्रु हो जाते हैं और शत्रु मित्र बन जाते हैं। वे इस जन्म की स्मृतियों को इस प्रकार भूल जाते हैं मानों उन्होंने शरीर ही बदल लिया हो।

टिप्पणी

व्याकरणम्—अस्मृतं = न स्मृतं अस्मृतं, नञ् + स्मृ + क्त। आनयन्ती = आ + नी (नय्) शतृ + ङीप्। जीवतः = जीव् – शतृ + शस् द्वितीया बहुवचनम्। अन्यत् जन्म = जन्मान्तरम्। मित्राणि = सुहृदः क्लीबे, मित्रः पुंसि सूर्यवाचकः। कोषः—"अथ मित्रं सखा सुहृत्" इत्यमरः। मित्रः सूर्यः, मित्रं सुहृत्। अलङ्कारः—शत्रुत्वमिव, अत्रोत्प्रेक्षालंकारः। छन्दः—इन्द्रवज्रा "स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः" इति लक्षणात्।

तदत्र वस्तुनि नोपालम्भो राक्षसः, आ नन्दराज्यलाभादनुग्राह्यश्च। परतस्तस्य परिग्रहे परित्यागे वा कुमारः प्रमाणम्।

मलयकेतुः—एव भवतु। सखे! सम्यक् दृष्टवानसि। अमात्यस्य वधे प्रकृतिक्षोभः स्यात् एवञ्च सन्दिग्धो विजयः स्यात्।

पुरुषः—(प्रविश्य) जेदु कुमारो। अअं अज्जस्स गुम्मट्ठाणाधिकिदो दीहचक्खू अज्जं विण्णवेदिएसो क्खु अह्मे हिं कड़आदो णिवकमन्तो अग्गहीदमुद्दो सलेहो पुरिसो गहीदो, ता पच्चक्खीकरेदु णं अज्जो त्ति। (जयतु कुमारः। अयमार्यस्य गुल्मस्थानाधिकृतो दीर्घचक्षुरार्यं विज्ञापयति—एष खल्वस्माभिः कटकान्निष्क्रामन्नगृहीतमुद्रः सलेखः पुरुषो गृहीतस्तत प्रत्यक्षीकरोत्वंनमार्य इति।

भागुरायणः—भद्र! प्रवेशय।

पुरुषः—जं अज्जो आणबेदि। (यदार्य आज्ञापयति।) (इति निष्क्रान्तः।)

भाषार्थः—तो इस विषय में राक्षस को भला-बुरा न कहना चाहिये। जब तक नन्द का राज्य नहीं मिल जाता तव तक तो उसे मिलाकर ही रखना ठीक है। तत्पश्चात् उसे रखना या निकालना कुमार की इच्छा पर हे।

कुमार—ऐसा ही सही ? मित्र ! अच्छा सोचा। अमात्य के वध करने से प्रजा में विद्रोह उठ खड़ा हो जायगा और हमारी विजय भी सन्देहयुक्त हो जायगी।

पुरुष—(प्रवेश करके) कुमार की विजय हो। आर्य के प्रधान शिविर-पाल दीर्घचक्षु आर्य से निवेदन करते हैं कि विना मुद्रा के कटक से निकलते हुए, पत्र सहित इस व्यक्ति को हमने पकड़ा है, अतः आर्य इसे देखें।

भागुरायण—भद्र ! उसे अन्दर ले आओ।

पुरुष—जैसी आर्य की आज्ञा (चला जाता है)

(पुरुष से अनुगम्यमान बँधा हुआ सिद्धार्थक प्रवेश करता है)

टिप्पणी

व्याकरणम—उपालम्भः—उप+आ+लभ्+यत्। अनुग्राह्य=अनु+ग्रह्+ण्यत् ! प्रमाणम् = प्रा+मा+ल्युट् "युवोरनाकौ" ल्युटः अनादेशः णत्वं च। परिग्रहः=परि+ग्रह् (उपादाने)+अप्। सन्दिग्धः=सम्+दिह्+क्त। अगृहीतमुद्रः=न गृहीता मुद्रा येन सः बहुव्रीहिसमासः। प्रविश्य=प्र+विश्+क्त्वा (ल्यप्)। "युवराजस्तु कुमारो भर्तृदारकः" "आर्यस्तु मारिषः" अपने से श्रेष्ठ या सूत्रधार के पार्श्ववर्ती के प्रयोग में आर्य तथा मारिष शब्द का प्रयोग आता है।

(ततः प्रविशति पुरुषेणाऽनुगम्यमानः संयतः सिद्धार्थकः)। सिद्धार्थकः—(स्वगतम्)—

तिप्पन्तीए गुणेसुं दोसेसुं परं मुहं करन्तीए।
अह्मारिसजणणीए प्पणमामो सामिभत्तीए ॥६॥
[तृप्यन्त्यै गुणेषु, दोषेषु पराङ्मुखं कुर्वन्त्यै।
अस्मादृशजनन्यै प्रणमामः स्वामिभक्त्यै] ॥६॥

सिद्धार्थक—(स्वगत)

तृप्यन्त्यै गुणेषु इति ६

प्रसङ्गः—संयतदेहः सिद्धार्थकः स्वकार्यानुष्ठानं स्वामिभक्तिं च मनसि कृत्य पद्यमिदमाह।

अन्वयः—गुणेषु तृप्यन्त्यै दोषेषु पराङ्मुखं कुर्वन्त्यै अस्मादृशजनन्यै स्वामिभक्त्यै प्रणमामः।

संस्कृतार्थः—गुणेषु = साहसादिकृत्येषु, तृप्यन्त्यै = सन्तुष्टायै, दोषेषु = अवगुणेषु, पराङ्मुखं = विमुखं, कुर्वन्त्यै = विदधत्यै, अस्मादृशानां = मद्विधानां गूढप्रणिधीनां, जनन्यै = मात्रे इव परिरक्षिकायै, स्वामिभक्त्यै = राजसेवायै, प्रणमामः = नमस्कुर्मः।

भावार्थः—यथा जननी अन्नदानादिपोषणकर्मभिः परिपालयति तथैव स्वामिभक्तिरपि, तस्मात्तां प्रणमामि किञ्च यथा जनन्याः गुणाः एव ग्राह्याः दोषाः उपेक्ष्याः एवं राजभक्तेरपि तथा। तत् राजभक्त्या प्रेरितः सदोषमपि राक्षसवञ्चनकर्माद्याहं करिष्ये।

भाषार्थ—स्वामिभक्ति को प्रणाम, हम सेवकों की जननी रूप स्वामिभक्ति को प्रणाम ! हमारी सफलताओं में अपने को कृतार्थ मानने वाली किंवा विफलताओं में स्वयं लज्जित होने वाली उस माँ स्वरूप स्वामिभक्ति को प्रणाम।

टिप्पणी

व्याकरणम्—गुणेषु अत्र विषयाधिकरणे सप्तमी। तृप्यन्त्यै = तृप् + शतृ + ङीप् चतुर्थ्येकवचनम्। स्वामिभक्त्यै = स्वामिनः भक्तिः तस्यै। अत्र "क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः" इत्यनेन सूत्रेण चतुर्थी। वस्तुतः "स्वामिभक्तिं प्रणमामः" इत्येव साधुप्रयोगः। कोषः—"मौर्व्यां द्रव्याश्रिते सत्त्वशौर्यसन्ध्यादिके गुणः" अर्थात् धनुष की डोरी, रूप रसादि न्यायोक्त २४ गुण, सत्त्व – रजः तमः ये तीन गुण, वीरता धीरतादि गुण, सन्धि – विग्रह – यान – आसन – संश्रय – द्वैधभावः ये ६ गुण—यथा सन्ध्यादि राजनीतिक गुण ही अपेक्षित हैं। अलंकारः—निरङ्ग रूपक। छन्दः—आर्या छन्द।

पुरुषः—(उपसृत्य) अज्ज ! अअं सो पुरिसो । (आर्य ! अयं स पुरुषः ।)

भागुरायणः—(नाट्येनावलोक्य) भद्र ! किमयमागन्तुकः, आहोस्विदिहैव कस्यचित्परिग्रहः ?

सिद्धार्थकः—अज्ज ! अहं क्खु अमच्चरक्खसस्स सेवओ । (आर्य ! अहं खल्वमात्यराक्षसस्य सेवकः ।)

भागुरायणः—भद्र ! तत् किमर्थमगृहीतमुद्रः कटकान्निष्क्रामसि ?

सिद्धार्थकः—अज्ज ! कज्जगोरबेण तुवराविदोह्मि । (आर्य ! कार्यगौरवेण त्वरायितोऽस्मि ।)

भागुरायणः—कीदृशं तत्कार्यगौरवं, यद्राजशासनमुल्लङ्घयसि ?

मलयकेतुः—सखे भागुरायण ! लेखमुपानय ।

सिद्धार्थकः—(भागुरायणाय लेखमर्पयति ।)

भागुरायणः—सिद्धार्थकहस्ताल्लेखं गृहीत्वा मुद्रां दृष्ट्वा) कुमार ! अयं लेखः, राक्षसनामाङ्कितेयं मुद्रा ।

मलयकेतुः—मुद्रां परिपालयन्नुद्घाट्य दर्शय ।

भागुरायणः—(तथा कृत्वा दर्शयति ।)

मलयकेतुः—(गृहीत्वा वाचयति ।) 'स्वस्ति, यथास्थानं कुतोऽपि, कोऽपि, कमपि, पुरुषविशेषमवगमयति । अस्मद्विपक्षं निराकृत्य दर्शिता कापि सत्यता सत्यवादिना । साम्प्रतमेषामपि प्रथममुपन्यस्तसन्धीनामस्मत्सुहृदां, पूर्वप्रतिज्ञातसन्धिपरिपणवस्तुप्रतिपादनप्रोत्साहनेन सत्यसन्धः, प्रीतिमुत्पादयितुमर्हति । एते ह्येवमनुगृहीताः सन्तः स्वाश्रयविनाशेनैवोपकारिणमाराधयिष्यन्ति । अविस्मृतमप्येतत्—सत्यवतः स्मारयामः । एतेषां मध्ये केचिदरेः कोषदन्तिभ्यामर्थिनः, केचिद् विषयेणेति । अस्मान् प्रत्यलङ्कारत्रयञ्च, यत् सत्यवताऽनुप्रेषितं तदुपगतम् । अस्माभिरपि, लेखस्याशून्यार्थं किञ्चिदनुप्रेषितं तदुपगमनीयं, वाचिकञ्चाप्ततमात् सिद्धार्थकाच्छ्रोतव्यम्' इति ।

भाषार्थ—पुरुष—(समीप में जाकर) आर्य ! यह वही व्यक्ति है।

भागुरायण—(देखने का अभिनय करके) भद्र (आप कौन हैं) क्या आप कोई आगन्तुक हैं, या कहीं किसी के सेवक हैं।

सिद्धार्थक—आर्य ! मैं अमात्य राक्षस का सेवक हूँ।

भागुरायण—तब तुम बिना मुद्रा के शिविर के बाहर क्यों जा रहे हो ?

सिद्धार्थक—आर्य !।कार्य की गुरुता के कारण शीघ्रता में था।

भागुरायण—वह कैसा आवश्यक कार्य है, जिसके कारण राज-शासन का उल्लंघन कर रहे हो ?

मलयकेतु—मित्र भागुरायण, लेख-पत्र तो लाओ।

सिद्धार्थक—भागुरायण को लेखपत्र देता है।

भागुरायण—(सिद्धार्थक के हाथ से लेख लेकर और मुद्रा देखकर) कुमार ! यह पत्र तो राक्षस की मुहर से अंकित है।

मलयकेतु—मुहर ज्यों की त्यों रहे, पत्र खोलो और दिखाओ।

भागुरायण—(वैसा करके दिखाता है)

मलयकेतु—(पत्र लेकर पढ़ता है) यथा स्थान कहीं से कोई किसी को विशिष्ट पुरुष को निवेदन करता है। हमारे शत्रु पक्ष को निकालकर सत्यवादी आपने सत्यता का परिचय दिया है। अब हमारे इन मित्रों को भी जिनके साथ पहले से ही सन्धि हो चुकी है पूर्वप्रतिज्ञात सन्धि के मूल्यस्वरूप वस्तु देने के प्रोत्साहन के द्वारा सत्यप्रतिज्ञ आप उन्हें प्रसन्न करने योग्य हैं। जब इन पर ऐसा अनुग्रह हो जायगा तो अपने आश्रय के विनाश होने के कारण उपकारी आपकी सेवा करने लगेंगे। सत्यवादी आपको यह बात भी स्मरण करा रहे हैं, यद्यपि यह भुलाई नहीं गई है। इनमें कुछ तो ऐसे हैं जो शत्रु के हाथी व धन के इच्छुक हैं और कुछ राज्य के। सत्यवादी आपने हमारे लिये जो तीन आभूषण भेजे थे वे मिल गये हैं, हमने भी पत्र की रिक्तता को हटाने के लिये कुछ भेजा है उसे स्वीकार करिये और मौखिक सन्देश को विश्वासपात्र सिद्धार्थक से सुन लें।

प्रसङ्गः—एतत्तत्पत्रं यत्प्रथमाङ्के चाणक्यः सिद्धार्थकेन शकटदासहस्तात् अलेखयत् ।

संस्कृतार्थ—यथास्थानं = उचितस्थानं, कुतोऽपि = कस्मादपि स्थानात्, कमपि पुरुषविशेषं = विशिष्टजनं, अवगमयति = निवेदयति । अस्मद्विपक्षं = मम शत्रुं, निराकृत्य = निष्कास्य, अमात्यपदात् पृथक्कृत्येत्यर्थः चाणक्यमिति शेषः । सत्यवादिना = सत्यभाषिणा भवता चन्द्रगुप्तेन, कापि = लोकोत्तरा, सत्यता = दर्शिता = प्रकटिता । साम्प्रतं = इदानीं, एषामपि = प्रथमं = प्राक्, उपन्यस्त-सन्धीनां = उपन्यस्तः = कृतः, सन्धिः = सम्मेलनं भवता चन्द्रगुप्तेन सह यैः तथा-विधानां, अस्मत्सुहृदां = अस्मन्मित्राणां, पूर्वं = प्राक्, प्रतिज्ञातस्य = प्रतिश्रुतस्य, सन्धेः = मित्रतायाः, परिपणः = मूल्यभूतं यद्वस्तु, तस्य प्रतिपादनं = समर्पणं तेन प्रोत्साहनेन, सत्यसन्धः = सत्यप्रतिज्ञः, भवान्, प्रीतिं = मुदं, उत्पादयितुं = जन-यितुं, अर्हति । एते = कौलूतप्रभृतयः, एवं = अनेन प्रकारेण, अनुगृहीताः = अनुकम्पिताः, सन्तः स्वाश्रयविनाशेन = स्वाश्रयनाशात्, उपकारिणं = हितैषिणं, त्वां चन्द्रगुप्तमिति शेषः, आराधयिष्यन्ति = आश्रयिष्यन्ति । अविस्मृतं अपि एतत् भवतः सत्यवतः = सत्यवादिनः पुनः स्मारयामः = स्मृतिपथमानयामः, एतेषां मध्ये = एषु, केचित् अरेः = शत्रोः, मलयकेतोरित्यर्थः, कोषदन्तिभ्यां = धनगजाभ्यां, अर्थिनः = अभिलाषुकाः, केचित् = कियन्तश्च जनाः विषयेण = राज्यस्य अर्थिनः सन्ति । अस्मान् = अस्मभ्यं, अलंकारत्रयं = त्रीणि भूषणानि, सत्यवता = भवता, अनुप्रेषितं = प्रहितं, तदुपगतम् = उपलब्धम् । अस्माभिरपि = मयापि, लेखस्याशू-न्यार्थं = पत्रस्य अनतिरिक्तार्थं, किमपि वस्तु प्रहितं तत् उपगमनीयं = अंगीकार्यम् । वाचिकं = मौखिकं सन्देशं, आप्ततमात् = अतिविश्वसनीयात् सिद्धार्थकादित्यर्थः, श्रोतव्यम् = आकर्णनीयम् ।

मलयकेतुः—भागुरायण ! कीदृशो लेखः ?

भागुरायणः—भद्र सिद्धार्थक ! कस्यायं लेखः ?

सिद्धार्थकः—अज्ज ! ण आणामि । (आर्य ! न जानामि ।)

भागुरायणः—हे धूर्त्त ! लेखो नीयते, न च ज्ञायते कस्यायमिति । सर्वं तावत्तिष्ठतु । वाचिकं त्वत्तः केन श्रोतव्यम् ?

सिद्धार्थकः—(भयं नाटयन्) तुह्मेहिं। (युष्माभिः।)

भागुरायणः—किमस्माभिः ?

सिद्धार्थकः—मिस्सेहिं गहीदो, ण आणामि, किं भणामि त्ति। (मिश्रैर्गृहीतो न जानामि किं भणामीति।)

भागुरायणः—(सक्रोधम्) एष ज्ञास्यसि। भद्र भासुरक ! बहिर्नीत्वा ताड्यतां तावत् यावत् सर्वमनेन कथितं भवेत्।

भासुरकः—जं अज्जो आणवेदि। (यदार्य आज्ञापयति।)

(इति सिद्धार्थकेन सह निष्क्रान्तः)

(पुनः प्रविश्य) अज्ज ! इअं तस्स ताड़ीअमाणस्स कक्खादो णाममुद्दालंच्छिदा आहरणपेडिआ णिवडिदा। (आर्य ! इयं तस्य ताड्यमानस्य कक्षतः नाममुद्रालाञ्छिताऽऽभरणपेटिका निपतिता।)

टिप्पणी

व्याकरणम्—परिग्रहः = परि + ग्रह् उपादने + अप्। उद्घाट्य = उत् + घट् (चेष्टायां) + णिच् = क्त्वा (ल्यप्) यथास्थानम् = स्थानमनतिक्रम्य अव्ययीभावः। सत्यवतः स्मारयामः = यहाँ "अधीगर्थदयेशाम् कर्मणि" से षष्ठी हुई है। कोषदन्तिभ्याम्—यहाँ षष्ठी के अर्थ में "प्रकृत्यादिभ्यः उपसंख्यानम्" से तृतीया हुई है। पत्रस्याशून्यार्थम् = राजा से खाली हाथ नहीं मिलना चाहिये अतः पत्र के साथ कुछ भेज रहे हैं "रिक्तपाणिः न पश्येत्तु राजानं भिषजं गुरुम्" इत्युक्तेः। वाचिकम् = मौखिक सन्देश। वाच् + ठक् "ठस्येकः" से इक आदेश हुआ।

भाषार्थः—मलयकेतु—भागुरायण ! कैसा पत्र है ?

भागुरायण—भद्र सिद्धार्थक ! यह किसका लेख है ?

सिद्धार्थक—आर्य ! नहीं जानता।

भागुरायण—अरे धूर्त ! पत्र तो ले जा रहे हो और यह नहीं जानते कि किसका लेख है। और सब जाने दो, यह बताओ मौखिक सन्देश किसको सुनाना है।

सिद्धार्थक—(भय का अभिनय करते हुये) आप लोगों को।

भागुरायण—क्या हमको ?

सिद्धार्थक—आपसे पकड़ा हुआ मैं नहीं जानता कि क्या कह रहा हूँ।

भागुरायण—(क्रोध से) अभी जानोगे। भद्र भासुरक ! बाहर ले जाकर इसे तब तक पीटो जब तक यह सब कुछ न बता दे।

भासुरक—आर्य की जैसी आज्ञा (सिद्धार्थक के साथ बाहर चला जाता है। (पुनः प्रवेश करके) आर्य ! जब यह पीटा जा रहा था तो उसकी काँख से इस नाम की मुहर से मुद्रित यह आभूषणों की पेटी गिर पड़ी।

भागुरायणः—(विलोक्य) कुमार ! इयमपि राक्षसमुद्राङ्कितैव।

मलयकेतुः—अयं लेखस्याशून्यार्थो भविष्यति। इमामपि मुद्रां परिपालयन्नुद्घाट्य दर्शय।

भागुरायणः—(तथा कृत्वा दर्शयति।)

मलयकेतुः—(विलोक्य) अये ! तदिदमाभरणं यन्मया स्वशरीरादवतार्य राक्षसाय प्रेषितम्। व्यक्तं चन्द्रगुप्तस्यायं लेख।

भागुरायणः—कुमार ! एष निर्णीयते संशयः। भद्र ! पुनरपि ताड्यताम्।

पुरुषः—जं अज्जो आणवेदि। (यदार्य आज्ञापयति।) (इति निष्क्रम्य पुनः प्रविश्य च) अज्ज ! एसो क्खु ताड़ीअमाणो विण्णवेदि—कुमारस्स स्सअं ज्जेव णिवेदेमि त्ति। (आर्य ! एष खलु ताड्यमानो विज्ञापयति—कुमारस्य स्वयमेव निवेदयामीति।)

मलयकेतुः—प्रवेशय।

पुरुषः—जं कुमालो आणवेदि। (यत् कुमार आज्ञापयति।)

(इति निष्क्रम्य सिद्धार्थकेन सह पुनः प्रविशति।)

सिद्धार्थकः—(पादयोर्निपत्य) अभएण मे कुमालो प्पसादं करेदु। (अभयेन मे कुमारः प्रसादं करोतु।)

मलयकेतुः—भद्र ! भद्र !! अभयमेव परायत्तजनस्य, तन्निवेद्यतां यथाऽवस्थितम्।

सिद्धार्थकः—णिसामेदु कुमालो, अहं क्खु अमच्चरक्खसेण इमं

लेहं देइअ चन्दउत्तसआसं प्पेसिदोह्मि [निशामयतु, कुमारः, अहं खल्वमात्यराक्षसेनेमं लेखं दत्त्वा चन्द्रगुप्तसकाशं प्रेषितोऽस्मि]।

भाषार्थः—भागुरायणः—(देखकर) कुमार ! इस पर भी राक्षस की मुहर लगी है।

मलयकेतु—यह इस पत्र की रिक्तता को पूरा करने वाला उपहार होगा। मुहर को बचाते हुए इसे भी खोलकर दिखाओ।

भागुरायण—(मुहर खोलकर दिखाता है)

मलयकेतु—यह तो वही आभरण हैं जो मैंने अपने शरीर पर से उतार कर राक्षस के लिये भेजे थे। निश्चय ही यह पत्र चन्द्रगुप्त के लिए है।

भागुरायण—कुमार ! अभी यह सन्देह दूर कर लिया जाता है। भद्र ! इसे फिर पीटो।

पुरुष—जैसी आर्य की आज्ञा (बाहर जाकर फिर प्रवेश कर) आर्य मारे जाने पर यह कह रहा है कि मैं कुमार को खुद ही बताऊँगा।

मलयकेतु—उसे अन्दर ले आओ।

पुरुष—जैसी कुमार की आज्ञा।

(बाहर जाकर पुनः सिद्धार्थक के साथ प्रवेश करता है।

सिद्धार्थक—(पैरों पर पड़कर) कुमार ! मुझे अभयदान दें।

मलयकेतु—भद्र ! पराधीन पुरुष के लिये अभयदान ही है। अतः जो बात है उसे बताओ।

सिद्धार्थक—कुमार सुनें। यह लेख देकर अमात्य राक्षस ने मुझे चन्द्रगुप्त के पास भेजा है।

मलयकेतु—भद्र ! अब वह मौखिक सन्देश सुनना चाहता हूँ।

टिप्पणी

व्याकरणम्—विलोक्य = वि + लोक् दर्शन + क्त्वा (ल्यप्)। भद्र = भद्रमस्य अस्ति इति भद्रः तत्सम्बोधने हे भद्र ! भद्र + अच् अर्शआदित्वात्। मौखिक = मुख + ठञ् आदिवृद्धि, ठस्येक आदेश। व्यक्तम् वि + अञ्ज् + क्त, —

स्पष्टमित्यर्थः । संशयः=सम्+शी+अच् संशय्यते असौ इति विग्रहः । अभयेन=भयस्य अभावः अभयं तेन, अव्ययीभावसमासः ।

सिद्धार्थकः—कुमाल ! संदिट्टोह्मि अमच्चरक्खसेण, जहा—'एदे मम प्पिअवअस्सा पञ्च राआणो तुए सह प्पढ़मसमुप्पण्णसन्धाणा । जहा—कुलूदाहिवो चित्तवम्मा, मलअजणवदाहिवो सिंहणादो, कस्सीरदेसणाहो पुक्खरक्खो, सिन्धुराओ सिन्धुसेणो, पारसीआधिवदी मेहक्खो त्ति । एत्थ ज्जेव पढ़मभणिदा तिणि राआणो मलअकेदुणो विसअं अहिलसन्ति, इदरे दुवे कोसं हत्थिवलं अ त्ति । ता जहा चाणक्कं णिराकरिअ महाराएण, मम प्पीदी उप्पादिआ, तहा एदाणं पि प्पढ़मभणिदो अत्थो संपादइदव्वो' त्ति एत्तिओ वाआसन्देसो त्ति । (कुमार ! सन्दिष्टोऽस्म्यमात्यराक्षसेन, यथा—'एते मम प्रियवयस्याः पञ्च राजानस्त्वया सह प्रथमसमुत्पन्नसन्धानाः । यथा—कुलूताधिपश्चित्रवर्मा, मलयजनपदाधिपः सिंहनादः, काश्मीरदेशाधिपः पुष्कराक्षः, सिन्धुराजः सिन्धुसेनः, पारसीकाधिपतिर्मेघाक्ष इति । अत्रैव प्रथमभणितास्त्रयो राजानः मलयकेतोर्विषयमभिलषन्ति, इतरौ द्वौ कोषं हस्तिवलञ्चेति । तद्यथा चाणक्यं निराकृत्य महाराजेन मम प्रीतिरुत्पादिता, तथैतेषामपि प्रथमभणितोऽर्थः संपादयितव्यः' इत्येतावान् वाक्सन्देश इति ।)

मलयकेतुः—(स्वगतम्) कथ चित्रवर्मादयोऽपि मामभिद्रुह्यन्ति, अत एवैतेषां राक्षसे निरतिशया प्रीतिः । (प्रकाशम्) विजये ! अमात्यराक्षसं द्रष्टुमिच्छामि ।

प्रतीहारी—जं कुमालो आणवेदि । (यत् कुमार आज्ञापयति ।) इति निष्क्रान्ता ।)

(ततः प्रविशत्यासनस्थः स्वभवनगतः पुरुषेणानुगम्यमानः सचिन्तो राक्षसः)

राक्षसः—(स्वगतम्) सम्पूर्णमस्मद्बलं चन्द्रगुप्तबलैरिति यत् सत्यं न मे मनसः शुद्धिरस्ति । कुतः ?—

भाषार्थः—सिद्धार्थक—कुमार, अमात्य राक्षस ने सन्देश भेजा है। ये मेरे प्रिय मित्र पांच राजा पहले ही सन्धि कर चुके हैं। यथा कुलूत देश का राजा चित्रवर्मा, मलय प्रान्त का राजा सिंहनाद, काश्मीर देश का राजा पुष्कराक्ष, सिन्धु देश का राजा सिन्धुसेन, फारस देश का राजा मेघाक्ष। इनमें पहले तीन राजा मलयकेतु का राज्य चाहते हैं, और शेष दो कोष तथा हाथी चाहते हैं। तो जैसे चाणक्य को निकालकर महाराज ने मुझे (राक्षस को) प्रसन्न किया है उसी प्रकार इन लोगों का उपर्युक्त मनोरथ पूरा कर देना चाहिये। बस इतना ही मौखिक सन्देश हैं।

मलयकेतु—(मन में) तो चित्रवर्मा आदि भी मुझसे द्वेष करते हैं इसीलिये राक्षस से इनका इतना प्रेम है। (प्रकट) विजये! अमात्य राक्षस से मिलना चाहता हूँ।

प्रतीहारी—जैसी कुमार की आज्ञा (बाहर जाती है) (तदनन्तर अपने भवन में आसन पर विराजमान चिन्तामग्न राक्षस एक पुरुष के साथ प्रवेश करता है)

राक्षस—(स्वगत) हमारी सम्पूर्ण सेना चन्द्रगुप्त की सेनाओं से भर चुकी है यह बिल्कुल सत्य बात है। इसलिये मेरे मन में शान्ति नहीं है। क्योंकि—

राक्षसस्य मौखिकसन्देशः—महाराज चन्द्रगुप्त! मम परमप्रियाणि पंच मित्राणि पूर्वमेव कृतसन्धीनि वर्तन्ते भवता सह। येषु कुलूताधिपश्चित्रवर्मा, मलयजनपदाधिपः सिंहनादः, तृतीयश्च काश्मीरदेशीयः पुष्कराक्षः एते त्रयः मलयकेतोः राज्यमभिलषन्ति अन्यौ द्वौ कोषं हस्तिबलञ्चाभिलषतः। यथा चाणक्यं बहिष्कृत्य मम प्रियं साधितं भवता तथैवैतेषामपि मनोरथः सम्पादयितव्यः।

टिप्पणी

व्याकरणम्—प्रियवयस्याः—प्रियाश्च ते वयस्याः कर्मधारयसमासः। वयसा तुल्याः इति वयस्याः वयस् + यत् प्रथमा-बहुवचनम्। मामभिद्रुह्यन्ति—अत्र चतुर्थ्यर्थे "क्रुधद्रुहोरुपसृष्टयोः" इस सूत्र से सोपसर्ग द्रुह् धातु के

योग में द्वितीया हुई। द्रष्टुम् = दृश् + तुमुन्। सचिन्तः = चिन्तया सह वर्तते यः सः बहुव्रीहिः सहस्य सादेशः।

साध्ये निश्चितमन्वयेन घटितं बिभ्रत् सपक्षे स्थितिं
व्यावृत्तञ्च विपक्षतो भवति यत् तत् साधनं सिद्धये।
यत् साध्यं स्वयमेव तुल्यमुभयोः पक्षे विरुद्धञ्च यत्
तस्याङ्गीकरणेन वादिन इव स्यात् स्वामिनो निग्रहः ॥१०॥

प्रसङ्गः—अमात्यराक्षसः स्वसैन्यं शत्रूणां सैन्यैः सम्पूर्णं जातमिति ध्यायं ध्यायं स्वपक्षस्य पराजयमाशंसमानो साध्ये निश्चितमिति पद्यं व्याचष्टे।

अन्वयः—यत् साधनं साध्ये निश्चितं सपक्षे स्थितिं बिभ्रत् अन्वयेन घटितं विपक्षतः व्यावृत्तं च तत् सिद्धये भवति। यत् साध्यं स्वयमेव उभयोः तुल्यं यच्च पक्षे विरुद्धं तस्य अङ्गीकरणेन वादिनः इव स्वामिनः निग्रहः स्यात्।

संस्कृतार्थः—(वादिपक्षे) यत् साधनं = धूमादिहेतुः, साध्ये = वह्न्यादौ, निश्चितं = असन्दिग्धं, सपक्षे = महानसादौ, स्थितिं = सत्तां, बिभ्रत् = धारयत्, अन्वयेन = यत्सत्त्वे यत्सत्त्वमित्यादि अन्वयव्याप्त्या, घटितं = सम्भृतं, विपक्षतः = जलह्रदादेः, व्यावृत्तं = पृथग्भूतं तत् = साधनं, सिद्धये = वह्न्यनुमानाय, भवति = जायते। यत् साधनं = यो हेतुः, स्वयमेव साध्यं = हेत्वन्तरेणानुमेयं, उभयोः = सपक्षविपक्षयोः, तुल्यं = सदृशं, यच्च = साधनं, पक्षे = पर्वतादौ, विरुद्धं = विपरीतं, तस्य = तथाविधस्य साधनस्य, अङ्गीकारेण = स्वीकारेण, वादिनः = तार्किकस्य, निग्रहः = पराजयः स्यात्। (स्वामिपक्षे) एवं साध्ये = अरिविनाशे, निश्चितं = निर्णीतं, यत् साधनं = सैन्यम्, अन्वयेन = वंशपरम्परया, घटितं = प्राप्तं, सपक्षे = निजवर्गे, स्थितिं = अवस्थानं, बिभ्रत् = दधत्, विपक्षतः = शत्रुवर्गात्, व्यावृत्तं = पराङ्मुखं, तत् = सैन्यं, सिद्धये = कार्यसिद्धये भवति। यत् = सैन्यं, स्वयमेव = आत्मना एव, साध्यं = सम्पाद्यं, उभयोः = पक्षविपक्षयोः, तुल्यं = समानम्, यच्च पक्षे स्ववर्गे, विरुद्धं = विपरीतं, तस्य अङ्गीकारेण वादिनः इव स्वामिनः निग्रहः स्यात्।

भावार्थः—यो हेतुः सपक्षे विपक्षे समानः यथा न साध्यसिद्धये जायते तादृशस्य हेतोः प्रयोक्ताऽवश्यं निग्रहस्थानं प्राप्नोति, तथैव यत्सैन्यं उभयपक्षे

स्वपक्षे परपक्षे च सम्भृतं तेन विजयलाभोऽसम्भवः राक्षसस्यायमभिप्रायः यदस्माकं सेनायां चन्द्रगुप्तस्य सैनिकाः सम्भृताः सन्ति तस्मादस्माकं विजयोऽसम्भवः ।

भाषार्थः—जो हेतु सर्वथा अपने पक्ष का पूर्ण रूपेण समर्थन करे प्रत्येक अवस्था में समन्वित और अनुकूल हो अपने समान पक्ष में अवस्थित साथ ही विपक्ष के सर्वथा प्रतिकूल वह साध्य की सिद्धि के लिये होता है । और जो हेतु सपक्ष विपक्ष दोनो में समान लागू हो और जो पक्ष के विरुद्ध हो उससे जैसे वादी निग्रह-स्थान में आ जाता है उसी प्रकार जो सेना अपने पक्ष से विपरीत है और अपने पक्ष तथा शत्रु पक्ष से समान प्रेम रखती है उस सेना से हार अवश्यंभावी है ।

टिप्पणी

व्याकरणम्—साधनम्—जिससे कोई पक्ष सिद्ध किया जाय अर्थात् हेतुः । साध् + ल्युट् "युवोरनाकौ" अनादेशः । साध्ये = जो सिद्ध करना है यथा पर्वतो वह्निमान् धूमात् महानसवत् इस अनुमान में वह्निमत्त्व साध्य है । साध् + ण्यत् । सपक्ष—निश्चितसाध्यवान् सपक्षः । अन्वयः—तत्सत्त्वे तत्सत्त्वम्, अनु + इ + अच् । घटितम्—घट् चेष्टायां + णिच् + क्त । व्यावृत्तम् = वि + आ + वृत् (वर्तने) + क्त । निग्रहः = नि + ग्रह् (उपादाने) + अप् । कोषः—"अभिजनान्वयौ, वंशोऽन्ववायः" इत्यमरः । अलंकारः—श्लेष और उपमा अलंकार हैं । छन्दः—शार्दूलविक्रीडितम् ।

अथवा तैस्तैर्विज्ञातापरागहेतुभिः प्राक्परिगृहीतोपजापैरापूर्णमिति न विकल्पयितुमर्हामि । (प्रकाशम्) प्रियंवदक ! उच्यन्तामस्मद्वचनात् कुमारानुयायिनो राजानः—सम्प्रति दिने दिने प्रत्यासीदति कुसुमपुरम् । अतः परिकल्पितविभागैर्भवद्भिः प्रयाणे प्रस्थातव्यम् । कथमिति ?

भाषार्थ—अथवा (चन्द्रगुप्त के प्रति) जिनके विराग के कारणों को जान लिया गया है ऐसे तथा पहले से हमारे भेदों को जाने हुए उन भद्रभटादिकों से व्याप्त है—इस प्रकार सन्देह करने योग्य नहीं हूँ । (प्रकट) प्रियंवदक !

मेरी ओर से कुमार के अनुयायी राजाओं से कहो—अब दिनों दिन पाटलिपुत्र समीप आता जा रहा है। अतः विभाग बनाकर आप लोगों को चलना चाहिये। किस प्रकार ?

प्रस्थातव्यं पुरस्तात् खसमगधगणैर्मामनुव्यूह्य सैन्यै-
र्गान्धारैर्मध्ययाने सयवनपतिभिः संविधेयः प्रयत्नः।
पश्चाद् गच्छन्तु वीराः शकनरपतयः सवृताश्चेदिहूणैः
कौलूताद्यश्च शिष्टः पथि परिवृणुयाद्राजलोकः कुमारम ॥११॥

प्रसङ्गः—अस्मिन् पद्येऽमात्यो राक्षसः सेनायाः सन्निवेशं प्रतिपादयति, यत्केन कुत्र स्थातव्यम्।

अन्वयः—पुरस्तात् व्यूह्य मामनु खसमगधगणैः सैन्यैः प्रस्थातव्यम्। मध्ययाने सयवनपतिभिः गान्धारैः प्रयत्नः संविधेयः। पश्चात् चेदिहूणैः संवृताः वीराः शकनरपतयः गच्छन्तु। शिष्टः च कौलूताद्यः राजलोकः पथि कुमारं परिवृणुयात्।

संस्कृतार्थः—पुरस्तात्=अग्रभागे, व्यूह्य=व्यूहं=सेनासन्निवेशं विरच्य, मामनु=मम पृष्ठतः, खसमगधगणैः खसानां मगधानां गणैः=सैन्यैः=बलैः, प्रस्थातव्यम्=गन्तव्यम्, मध्ययाने=सैन्यमध्यगमने, सयवनपतिभिः=यवन-सेनानायकैः, समं=साकं, गान्धारैः=गान्धारदेशवासिभिः सैन्यैः, प्रयत्नः विधेयः=योद्धव्यम्। पश्चात्=अनन्तरं, चेदिहूणैः=चेदिदेशवास्तव्यैः म्लेच्छैः, संवृताः=सम्मिलिताः, वीराः=पराक्रमशालिनः, शकनरपतयः=शकदेशीय-राजानः, गच्छन्तु=प्रयान्तु। शिष्टः=अवशिष्टः च, कौलूताद्यः=कुलूतराज-प्रमुखः, राजलोकः=भूपतिवर्गः, पथि=मार्गे, कुमारं=मलयकेतुं, परि=परितः, वृणुयात्=संव्यूह्य गच्छेत्।

भावार्थः—श्लोके "मामनुव्यूह्य" इत्यनेन पुरस्तान्नायकः इति कौटिल्योक्त-दिशा "दुर्जयाख्यं व्यूहं" विरच्य, किञ्च सयवनपतिभिः गान्धारैः मध्ययाने प्रयत्नः विधेयः, इत्यनेन व्यामिश्राख्यं व्यूहं विरच्य "चक्रान्तेषु हस्तिनः" इति नियमानुसारं गजाधिपाः गजसैन्येन योद्धुमुद्यताः भवेयुरिति राक्षसस्य सेनासन्नि-वेशविषयेऽभिप्रायः।

भाषार्थः—सामने व्यूह बनाकर मेरे पीछे खस और मगध देश की सेना चले। मध्य भाग में यवन सैनिकों के साथ गान्धार सैनिकों को चलना चाहिये। इसके पीछे चेदि और हूणों के साथ वीर शकराजा लोग चलें और अवशिष्ट कौलूत आदि राजाओं का समूह मार्ग में कुमार को घेर कर चले।

टिप्पणी

व्याकरणम्—विज्ञातापरागहेतुभिः = अपरागस्य हेतवः अपरागहेतवः विज्ञाताः अपरागहेतवः येषां तैः बहुव्रीहिसमासः। प्राक्परिगृहीतोपजापैः = प्राक् परिगृहीतः उपजापः यैः तथोक्तैः। परिकल्पितविभागैः = परिकल्पितः विभागः यैस्तथोक्तैः बहुव्रीहिः। मामनु = यहाँ अनु की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से द्वितीया विभक्ति है। मध्ययाने = मध्यं च तत् यानं तस्मिन् इति कर्मधारय अथवा मध्ये यानमिति सुप्सुपासमासः। व्यूह्य—यह प्रयोग चिन्तनीय है क्योंकि वि + ऊह् + क्त्वा (ल्यप्) इस विग्रह में "उपसर्गात्ह्रस्वः ऊहतेः" सूत्र से ह्रस्व होकर "व्युह्य" ऐसा रूप होगा, व्यूह् + णिच् + क्त्वा ऐसी व्युत्पत्ति करने पर बिना पूर्व पद में उपसर्ग के ल्यप् नहीं होगा। कोषः—"व्यूहस्तु बलविन्यासः" मोर्चाबन्दी को व्यूह कहते हैं। व्यूह का लक्षण—मुखे रथा हयाः पृष्ठे तत्पृष्ठे च पदातयः। पार्श्वयोश्च गजाः कार्याः व्यूहोऽयं परिकीर्तितः। अलङ्कारः—स्वभावोक्तिः। छन्दः—स्रग्धरा।

प्रियंवदकः—जं अमच्चो आणबेदि। (यदमात्य आज्ञापयति।) (इति निष्क्रान्तः।)

प्रतीहारी—(प्रविश्य) जेदु जेदु अमच्चो। अमच्च! इच्छदि तुमं कुमालो प्पेक्खिदुं। (जयतु जयत्वमात्यः। अमात्य! इच्छति त्वां कुमारः प्रेक्षितुम्।)

राक्षसः—भद्रे! मुहूर्त्तं तिष्ठ। कः कोऽत्र भोः?

पुरुषः—(प्रविश्य) आणबेदु अमच्चो। (आज्ञापयत्वमात्यः।)

राक्षसः—भद्र! उच्यतां शकटदासः यथा परिधापिता वयमाभरणं कुमारेण, तन्न युक्तमिदानीमस्माभिरनलंकृतैः कुमारदर्शनमनु-

भवितुम्, अतो मदलङ्करणत्रयं क्रीतं तन्मध्यादेकं दीयतामिति ।

पुरुषः—जं अमच्चो आणवेदि । (यदमात्य आज्ञापयति ।) (इति निष्क्रम्य पुनः प्रविश्य च) अमच्च ! इदं तं अलङ्करणं । (अमात्य ! इदं तदलङ्करणम् ।)

राक्षसः—(नाट्येनावलोक्यात्मानमलंकृत्योत्थाय च) भद्रे ! राजकुलगामिनं मार्गमादेशय ।

प्रतीहारी—एदु एदु अमच्चो । (एतु एत्वमात्यः ।)

राक्षसः—(स्वगतम्) अधिकारपदं नाम निर्दोषस्यापि पुरुषस्य महदाशङ्कास्थानम् । कुतः ?—

भाषार्थः—प्रियंवदक—जैसी अमात्य की आज्ञा (निकल जाता है)

प्रतीहारी—(प्रवेश करके) अमात्य की जय हो, आपको कुमार देखना चाहते हैं ।

राक्षस—भद्रे ! क्षण भर ठहरो । अरे यहाँ कौन है ?

पुरुष—(प्रवेश करके) अमात्य आज्ञा दें ।

राक्षस—भद्र ! शकटदास से कहो कि कुमार ने जो आभूषण हमें पहना दिये हैं सो इस समय विना आभूषण पहने हमें कुमार का दर्शन करना उचित नहीं । इसलिये जो तीन अलंकार खरीदे गये हैं उनमें से एक दे दो ।

पुरुष—जो अमात्य की आज्ञा (बाहर जाकर और फिर प्रवेश कर) अमात्य यह है वह आभूषण ।

राक्षस—(देखने का अभिनय करके अपने को अलंकृत कर तथा उठकर) भद्रे, राजा के पास जाने का मार्ग बताओ ।

प्रतीहारी—अमात्य ! पधारिये ।

राक्षस—(मन में) अधिकार का स्थान निर्दोष पुरुष के लिये भी महती आशङ्का का स्थान होता है । क्योंकि—

टिप्पणी

व्याकरणम—परिधापितः = परि + धा + णिच् + पुक् + क्त । प्रेक्षितुम् = प्र + ईक्ष् + तुमुन् ।

अलङ्करणम् = अलम् + कृ + ल्युट् "ल्युटः अनादेशः" राजकुलगामिनम् = राजकुलं गच्छतीति राजकुल + गम् + णिच् + णिनि द्वितयैकवचनम् । अधिकार-पदम् = अधिकारस्य पदं, अधि + कृ + घञ् । पद् गतौ + अच् = पदम् । अमात्य = अमा, समीपार्थेऽव्ययपदं + त्यक् । राजा के पास रहने वाला ।

भयं तावत् सेव्यादभिनिविशते सेवकजनं
ततः प्रत्यासन्नाद् भवति हृदयेष्वेव निहितम् ।
ततोऽध्यारूढानां पदमसुजनद्वेषजननं
मतिः सोच्छ्रायणां पतनमनुकूलं कलयति ।।१२।।

प्रसङ्गः—कुमारमलयकेतुनाऽऽहूतोऽमात्यराक्षसः सन्देहाविष्टचित्तः चिन्त-यति यदधिकारपदं नाम निर्दोषस्यापि पुरुषस्य महदाशङ्कास्थानम् । तथाहि भयं तावदिति ।

अन्वयः—सेवकजनं तावत् भयं सेव्यात् अभिनिविशते । ततः प्रत्यासन्नात् हृदयेषु निहितमेव भवति । ततः अध्यारूढानां पदं असुजनद्वेषजननम् । सोच्छ्रा-यानां मतिः अनुकूलं पतनं कलयति ।

संस्कृतार्थः—तावत् = सर्वप्रथमं, सेव्यात् = स्वामिनः, भयं = भीतिः त्रासः इति यावत्, सेवकजनं = दासं, अनुचरमिति वा, अभिनिविशते = हृदयं अभिव्याप्य स्थितिं करोति । ततः = तदनन्तरं, प्रत्यासन्नात् = प्रभुसहस्थायिनः जनात्, हृदयेषु = सेवकजनानां स्वान्तेषु, निहितमेव = अधिष्ठितमेव, भवति = जायते । ततः = तस्मादेव कारणात्, अध्यारूढानां = अधिकारवतां, पदं = स्थानं, असुजन-द्वेषजननं = दुष्टजनद्वेषोद्दीपकं भवतीति शेषः । सोच्छ्रायाणां = महतां पुरुषाणां, मतिः = बुद्धि, अनुकूलं = उचितं, पतनं = अधिकारात् प्रच्यवनं, कलयति = अव-गच्छति विचिकित्सते इत्यर्थः ।

भावार्थः—उच्चपदाधिकारिणां राजभृत्यानां मनसि सततमेतद्भयं विद्यते यदहं स्वोच्चपदात्प्रच्युतो भविष्यामि तत्सत्यं तस्यैतत्कारणं यत्सर्वं प्रथमं तावत् निर्दोषोऽपि सेवकः राज्ञाहूतः स्वामिनः एव स्वभावाद्बिभेति, पुनः राजवल्लभेभ्यो बिभेति, पुनः दुर्जनद्वेषकारणात् राजसेवकस्य चित्तं भयाकुल-मेव वर्तते ।

भाषार्थः—सर्वप्रथम सेवक के हृदय में स्वामी का भय स्थान पाता है, तत्पश्चात् राजा के निकटवर्ती लोगों के कारण हृदय में भय बना रहता है। तदनन्तर उच्चपद प्राप्त अधिकारियों का पद दुष्टों के द्वेष का हेतु बनता है। अतः उच्च पदाधिकारी इसी चिन्ता में पड़े रहते हैं कि अब गये तब गये।

टिप्पणी

व्याकरणम्—अभिनिविशते="नेर्विशः" सूत्र से आत्मनेपद हो गया। सेव्यात्=स्वामिनः सेव्+ण्यत्+ङसि पञ्चम्येकवचनम्। प्रत्यासन्नात्=प्रति+आ+सद्+क्त+ङसि पञ्चमी। अध्यारूढानाम्=अधि+आ+रुह्+क्त षष्ठीबहुवचने। सोच्छ्रायाणाम्=सह (स)+उत्+श्रि+अच्—षष्ठीबहुवचने। निहितम्=नि+धा+क्त। कोषः—नगाद्यारोहः उच्छ्रायः, उत्सेधश्चोच्छ्रयश्च सः" इत्यमरः। अलङ्कारः—काव्यलिङ्गं, अर्थान्तरन्यासः दो अलङ्कार हैं। छन्दः—शिखरिणी।

प्रतीहारी—(परिक्रम्य) अमच्च! अअं कुमालो चिट्ठदि, ता उपसप्पदु णं अमच्चो। (अमात्य! अयं कुमारस्तिष्ठति तदुपसर्पत्वेनममात्यः।)

राक्षसः—(नाट्येनावलोक्य) अये! अयं कुमारस्तिष्ठति। य एषः—

पादाग्रे दृशमवधाय निश्चलन्तीं
शून्यत्वादपरिगृहीततद्विशेषाम्।
वक्त्रेन्दुं वहति करेण दुर्वहाणां
कार्याणां कृतमिव गौरवेण नम्रम् ॥१३॥

प्रतीहारी—(घूमकर) अमात्य, यह कुमार बैठे हैं, अतः अमात्य इनके पास जायँ।

राक्षस—(अभिनयपूर्वक देखकर) यह कुमार है, जो यह

प्रसङ्गः—राक्षसः चिन्ताविष्टं मलयकेतुमवलोक्य तद्विषयकं किञ्चिद्विमृशन् व्याहरति पादाग्रे दृशमिति पद्यम्।

अन्वयः—शून्यत्वात् अपरिगृहीततद्विशेषाम् निश्चलन्तीं दृशं पादाग्रे

अवधाय दुर्वहाणां कार्याणां गौरवेण इव नम्रं कृतं वक्त्रेन्दुं करेण वहति ।

संस्कृतार्थः—शून्यत्वात्=मनोव्यापारहीनत्वात्, अपरिगृहीततद्विशेषां=न परिगृहीताः=न ज्ञाताः, तस्य=पादाग्रस्य, विशेषाः=अगुंष्ठकनिष्ठिकादयः तत्तद्भागाः यया तादृशीं, निश्चलन्तीं=स्थिरां, दृष्टिं=दृशं, पादाग्रे=चरणांगुलीषु, अवधाय=संस्थाप्य, दुर्वहाणां=सोढुमशक्यानां, कार्याणां=कृत्यानां, गौरवेण=गुरुत्वेन, इव नम्रं=अवनतं, कृतं=विहितं, वक्त्रेन्दुं=मुखचन्द्रं, करेण=हस्तेन, वहति=धारयति ।

भावार्थः—अयं मलयकेतुः निर्व्यापारेण मनसा निश्चलां दृष्टिं पादाग्रेषु संस्थाप्यैकाग्रेण मनसा किञ्चिद्विचारयति । मन्ये महतां कार्याणां गौरवेणानतं मुखं कराभ्यां काठिन्येन धारयति ।

भाषार्थः—यह मलयकेतु शून्य मन होने के कारण पैर की कनिष्ठिका अंगुष्ठ आदि को न जानने वाली निश्चल दृष्टि को पैर के अग्र भाग पर रख कर महान् कार्यों की गुरुता के कारण मानों झुके हुए मुखचन्द्र को हाथ से धारण कर रहे हैं ।

टिप्पणी

व्याकरणम्—शून्यत्वात्—शून्य+त्व "भावे त्वतलौ" पञ्चम्येकवचनम् । निश्चलन्तीम्—निस्+चल्+शतृ+ङीप् । ववत्रेन्दुम्=वक्त्रमिन्दुरिव उपमितकर्मधारयसमासः । अवधाय=अव+धा+क्त्वा (ल्यप्) । न परिगृहीतः अपरिगृहीतः तस्य विशेषः कनिष्ठिकांगुष्ठादयः यया तादृशीं नञ् गर्भित बहुव्रीहिसमासः । गौरवम्=गुरोर्भावः गुरु+अण् । कोषः—भय, अमृत, अनृत, शकृत्, वक्त्रं, वस्तु, चाप, आभरण वाचक सभी शब्द नपुंसक लिङ्ग होते । वक्त्रं मुखमाननं लपनं वदनं यथा । अलंङ्कारः—वक्त्रेन्दुम् यहाँ रूपक अलङ्कार है । कृतमिव गौरवेण नम्रम् में उत्प्रेक्षाऽलङ्कार है । छन्दः—प्रहर्षिणी लक्षणं यथा—"त्र्याशाभिर्मनजरगाः प्रहर्षिणीयम्', तीन और दशवें वर्ण पर यति होती है, मगण नगण जगण रगण तथा गुरु कुल १३ अक्षर एकपाद में हो ।

(उपसृत्य) विजयतां कुमारः ।

मलयकेतुः—आर्य, अभिवादये। इदमासनमास्यताम्।

राक्षसः—(उपविशति)

मलयकेतुः—अमात्य ! चिरदर्शनेनार्यस्य वयमुद्विग्नाः।

राक्षसः—कुमार ! प्रयाणे प्रतिविधानमनुतिष्ठता मया कुमारादयमुपालम्भोऽधिगतः।

मलयकेतुः—अमात्य ! प्रयाणे कथं प्रतिविहितमिति श्रोतुमिच्छामि।

राक्षसः—कुमार ! एवमादिष्टाः कुमारस्यानुयायिनो राजानः।

(प्रस्थातव्यमित्यादिश्लोकं पुनः पठति।)

मलयकेतुः—(स्वागतम्) विज्ञायते, कथं य एव मद्विनाशेन चन्द्रगुप्तमाराधयितुमुद्यताः त एव मां परिवृण्वन्ति (प्रकाशम्) आर्य ! अस्ति कश्चित् यः कुसुमपुरं प्रति गच्छति तत आगच्छति वा ?

राक्षसः—कुमार ! अवसितमिदानीं गतागतप्रयोजनम्। ननु पञ्चषैरहोभिर्वयमेव तत्र गन्तास्मः।

मलयकेतुः—(स्वगतम्) विज्ञायते। (प्रकाशम्) यद्येवं, तत् किमयमार्येण सलेखः पुरुषः कुसुमपुरं प्रस्थापितः ?

राक्षसः—(विलोक्य) अये सिद्धार्थकः, भद्र किमिदम् ?

सिद्धार्थकः—(सवाष्पं लज्जां नाटयन्।) प्पसीददु प्पसीददु अमच्चो अमच्च ! अतिताड़ीअन्तेण मए ण पारिदं अमच्चस्स रहस्सं धारिदुं। (प्रसीदत्वमात्यः। अमात्य ! अतिताड्यमानेन मया न पारितममात्यस्य रहस्यं धारयितुम्।)

राक्षसः—भद्र ! कीदृशं तत् रहस्यम् ? न खल्ववगच्छामि।

(पास जाकर) कुमार की विजय हो।

मलयकेतु—आर्य नमस्कार करता हूँ। यह आसन है, बैठिये।

राक्षस—बैठता है।

मलयकेतु—अमात्य बहुकाल पश्चात् आपका दर्शन होने से हम व्याकुल हैं।

राक्षस—कुमार, आक्रमण की तैयारी करते हुये मुझे यह उपालम्भ मिला है।

मलयकेतु—प्रयाण के लिये कैसी तैयारी की है, यह मैं जानना चाहता हूँ।

राक्षस—कुमार, कुमार के अनुयायी राजाओं को इस प्रकार आदेश दे दिया गया है।

(प्रस्थातव्य इत्यादि श्लोक पढ़ता है)

मलयकेतु—(मन में) समझता हूँ, जो मेरा विनाश करके चन्द्रगुप्त की सेवा करना चाहते हैं, वे ही मुझे घेर कर चलेंगे। (प्रकट) आर्य ! क्या कोई ऐसा है जो कुसुमपुर से आ रहा हो या वहाँ जाता हो ?

राक्षस—कुमार अब जाने-आने का प्रयोजन समाप्त हो गया है। पांच छः दिन में हमी लोग वहाँ पहुँच जायेंगे।

मलयकेतु—(मन में) समझ गया (प्रकट) यदि ऐसी बात है तो पत्र लेकर इस पुरुष को पाटलिपुत्र क्यों भेजा है ?

राक्षस—(देखकर) अरे सिद्धार्थक ! भद्र, यह क्या ?

सिद्धार्थक—(आँसू के साथ लज्जा का अभिनय करता है) अमात्य ! प्रसन्न हो, अमात्य ! जब मैं बहुत पीटा गया तो अमात्य के रहस्य को न छिपा सका।

राक्षस—भद्र, वह कैसा रहस्य है, समझ में नहीं आ रहा है।

टिप्पणी

व्याकरणम्—प्रतिविधानम् = व्यवस्था, प्रति + वि + धा + ल्युट्। अवसितम् = समाप्तम्, अव + सो + क्त। पञ्चषैः = पांच या छः पञ्च वा षट् वा परिमाणं येषां तैः बहुव्रीहिसमासः। पञ्चषष् + डच् प्रत्ययः। प्रस्थापितः = प्र + स्था + णिच् + क्त पुगागमः। ताड्यमानेन = तड् + णिच् + शानच् तृतीयै-क वचनम्।

सिद्धार्थकः—ननु विण्णबेमि, ताड़ीअन्तेण मए—'। (ननु विज्ञापयामि, ताड्यमानेन मया—') इत्यर्धोक्ते सभयमधोमुखस्तिष्ठति)।

मलयकेतुः—भागुरायण ! स्वामिनः पुरस्ताद् भीतो लज्जितश्च नैष कथयिष्यति, अतः स्वयमेवार्याय कथय।

भागुरायणः—यदाज्ञापयति कुमारः। अमात्य ! एष कथयति, यथा—'अहममात्यराक्षसेन लेखं दत्त्वा वाचिकञ्च सन्दिश्य चन्द्रगुप्तसकाशं प्रेषितः' इति।

राक्षसः—भद्र सिद्धार्थक ! अपि सत्यम् ?

सिद्धार्थकः—(लज्जां नाटयन्)·····एब्बं अतिताड़ीअन्तेण मए णिबेदिदं। (·····एवमतिताड्यमानेन मया निवेदितम्।)

राक्षसः—कुमार ! अनृतमेतत् ताड्यमानः किं न ब्रूयात् ?

मलयकेतुः—भागुरायण ! दर्शय लेखं, वाचिकञ्चायमस्मै स्वभृत्यः कथयिष्यति।

भागुरायणः—अमात्य, अयं लेखः।

राक्षसः—(वाचयित्वा) कुमार, शत्रोः प्रयोग एषः।

मलयकेतुः—लेखस्याशून्यार्थमार्येणेदमाभरणमनुप्रेषितमिति तत् कथं शत्रोः प्रयोग एष स्यात् ? (इत्याभरणं दर्शयति।)

राक्षसः—(आभरणं निर्वर्ण्य) कुमार ! नैतन्मयानुप्रेषितम्, एतद्धि कुमारेण मह्यं दत्तं; मया च परितोषस्थाने सिद्धार्थकाय दत्तम्।

भागुरायणः—भो अमात्य ! ईदृशस्याभरणविशेषस्य, विशेषतः कुमारेण स्वगात्रादवतार्य दत्तस्येयं परित्यागभूमिः ?

मलयकेतुः—वाचिकमप्याप्ततमात्सिद्धार्थकाच्छ्रोतव्यमिति लिखितमार्येण।

राक्षसः—कुतो वाचिकम् ? कस्य वा लेखः ? अयमेवास्मदीयो न भवति।

मलयकेतुः—इयं तर्हि कस्य मुद्रा ?

राक्षसः—कुमार ! कपटमुद्रामप्युत्पादयितुं शक्नुवन्ति धूर्ताः ।

भागुरायणः—कुमार ! सम्यगमात्यो विज्ञापयति । सिद्धार्थक ! केनायं लिखितो लेखः ?

सिद्धार्थकः—(राक्षसमुखमवलोक्य तूष्णीमधोमुखस्तिष्ठति ।)

सिद्धार्थक—कह तो रहा हूँ कि पीटा जाता हुआ मैं । (ऐसा आधा कहने पर भयपूर्वक मुंह नीचे करके खड़ा हो जाता है ।)

मलयकेतु—भागुरायण, स्वामी के सामने लज्जित और भयभीत यह नहीं कहेगा । अतः स्वयं आर्य को वता दो ।

भागुरायण—कुमार की जैसी आज्ञा । अमात्य ! यह कह रहा है कि अमात्य राक्षस ने लेख देकर तथा मौखिक सन्देश देकर चन्द्रगुप्त के पास भेजा है ।

राक्षस—सिद्धार्थक, क्या यह सत्य है ?

सिद्धार्थक—(लज्जा का अभिनय करके) वहुत मारे जाने पर मैंने ऐसा कहा है ।

राक्षस—कुमार, यह असत्य है, पीटा जाता हुआ व्यक्ति क्या नहीं कह देगा ।

मलयकेतु—भागुरायण ! यह लेख दिखा दो, मौखिक सन्देश तो इनका यह भृत्य कहेगा ।

भागुरायण—अमात्य ! यह लेख है ।

राक्षस—(पढ़कर) कुमार ! यह शत्रु की चाल है ।

मलयकेतु—पत्र को पूरा करने के लिये आर्य ने यह आभूषण भेजा है । तब यह शत्रु की चाल कैसे हैं (आभूषण दिखाता है) ।

राक्षस—(आभूषण देखकर) कुमार, मैंने नहीं भेजा है । यह तो कुमार ने मुझे दिया था और मैंने इनाम के रूप में सिद्धार्थक को दे दिया था ।

भागुरायण—हे अमात्य ! ऐसे विशिष्ट आभूषण का विशेष करके

कुमार के द्वारा अपने शरीर से उतार कर दिये हुए का यह होने का स्थान है।

मलयकेतु—आर्य ने यह भी लिखा है कि अति विश्वास पात्र सिद्धार्थक से मौखिक सन्देश भी सुनना चाहिये।

राक्षस—कहाँ मौखिक सन्देश और किसका पत्र। यह पत्र ही मेरा नहीं।

मलयकेतु—तो यह किस की मुहर है?

राक्षस—कुमार! धूर्त लोग जाली मुद्रा भी बना सकते हैं।

भागुरायण—कुमार, अमात्य ठीक कहते हैं। सिद्धार्थक! यह पत्र किसने लिखा है।

सिद्धार्थकः—(राक्षस का मुंह देखकर चुपचाप मुंह नीचा करके खड़ा रहता है।)

भागुरायणः—अलं पुनरात्मानं ताडयित्वा। कथय।

सिद्धार्थकः—अज्ज, सअड़दासेण। (आर्य, शकटदासेन)

राक्षसः—कुमार, यदि शकटदासेन लिखितस्तर्हि मयैव लिखितः।

मलयकेतुः—विजये, शकटदासं द्रष्टुमिच्छामि।

प्रतीहारी—जं कुमालो आणबेदि। (यत् कुमार आज्ञापयति।)

भागुरायणः—(स्वगतम्) न खल्वनिश्चितार्थमार्यचाणक्यप्रणिधयोऽभिधास्यन्ति। आगत्य शकटदासो वा 'सोऽयं लेखः' इति प्रत्यभिज्ञाय पूर्ववृत्तं प्रकाशयेत्। एवं सति सन्दिहानो मलयकेतुरस्मिन् प्रयोगे श्लथादरो भवेत्। (प्रकाशम्) कुमार! न कदाचिदपि शकटदासोऽमात्यराक्षसस्याग्रतो 'मया लिखितः' इति प्रतिपत्स्यते, अतोऽन्यलिखितमस्यानीयतां, यतो वर्णसंवाद एवैतत् सर्वं विभावयिष्यति।

मलयकेतुः—विजये! एवं क्रियताम्।

भागुरायणः—कुमार! मुद्रामप्यानयत्वियम्।

मलयकेतुः—उभयमप्यानीयताम्।

प्रतीहारी—जं कुमालो आणबेदि। (यत् कुमार आज्ञापयति।) (इति निष्क्रम्य पुनः प्रविश्य) कुमाल! इदं क्खु तं सअड़दासेण स्सहत्थलिहिदं पत्तअं मुद्दा अ। (कुमार! इदं खलु तत् शकटदासेन स्वहस्तलिखितं पत्रं मुद्रा च।)

मलयकेतुः—(उभयमपि नाट्येनावलोक्य) आर्य!

राक्षसः—(स्वगतम्) संवदन्त्यक्षराणि, "शकटदासस्तु मम मित्र" मिति च विसंवदन्त्यक्षराणि। तत् किं शकटदासेन लिखितम्?

भागुरायण—क्यों मार खाते हो, कहो।

सिद्धार्थक—आर्य शकटदास ने।

राक्षस—कुमार, यदि शकटदास ने लिखा है तो मैंने ही लिखा है।

मलयकेतु—विजये! मैं शकटदास से मिलना चाहता हूँ।

प्रतीहारी—जो कुमार आज्ञा दें।

भागुरायण—(मन में) आर्य चाणक्य के दूत बिना सोचे समझे तो कुछ कहेंगे नहीं। आकर शकटदास यदि पहचान कर यह कह दे कि "यह वही लेख है" और सभी पुरानी बातें खोल दे तो इस चाल का मलयकेतु पर प्रभाव नष्ट हो जायगा। (प्रकट) कुमार, अमात्य राक्षस के सामने शकटदास यह कभी नहीं कहेगा कि यह मेरा लेख है। इसलिये उसकी कोई दूसरी लिखावट मंगा लें उससे सब बातों का पता चल जायगा।

मलयकेतु—विजये, ऐसा ही करो।

भागुरायण—कुमार, मुद्रा भी मँगा लीजिये।

मलयकेतु—दोनों वस्तुएँ लाई जायँ।

प्रतीहारी—जैसी कुमार की आज्ञा। (जाकर तथा पुनः प्रवेश कर) कुमार, यह है शकट दास का हस्तलिखित पत्र और यह है मुद्रा।

मलयकेतु—(दोनों को देखने का अभिनय करके) अमात्य, लिखावट तो दोनों की मिलती-जुलती प्रतीत होती है।

राक्षस—(मनमें) अक्षर तो मिलते-जुलते हैं, पर यह सोचकर कि शकट-

दास मेरा मित्र है भला कैसे मिल सकते हैं, तो क्या सचमुच शकटदास ने लिखा है।

टिप्पणी

व्याकरणम्—प्रत्यभिज्ञाय = प्रति + अभि + ज्ञा + क्त्वा (ल्यप्)। प्रणिधयः = प्र + नि + धा + कि प्रथमाबहुवचनम्। अलं पुनरात्मानं ताडयित्वा यहाँ "अलंखल्वोः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वा" इस सूत्र से क्वा प्रत्यय। वर्णसंवादः = वर्णानां संवादः = अक्षरसादृश्यम् सम् + वद् + घञ्। विभावयिष्यन्ति = वि + भू + णिच् + लृट् प्रथमपुरुषएकवचन। संवदन्ति = मिलते-जुलते हैं।

स्मृतं स्यात् पुत्रदाराणां विस्मृताः स्वामिभक्तयः।
चलेष्वर्थेषु लुब्धेन न यशःस्वनपायिषु ॥१४॥

प्रसङ्गः—प्रश्नप्रतिप्रश्नाभ्यां निगृहीतः राक्षसः मलयकेतुना स्मृताय पुत्रदाराणां शकटदासाय बुद्धिस्थाय भृशं कुप्यन् पद्यमिदमाह—

अन्वयः—चलेषु अर्थेषु लुब्धेन न अनपायिषु यशः सु (लुब्धेन) स्वामिभक्तयः विस्मृताः, पुत्रदाराणां स्मृतं स्यात्।

संस्कृतार्थः—चलेषु = अस्थिरेषु, अर्थेषु = धनेषु, लुब्धेन = लोलुपेन, न, अनपायिषु = चिरस्थायिषु, यशःसु = कीर्तिषु, तृष्णया शकटदासेन, स्वामिभक्तयः = प्रभुविषयकाः अनुरागाः, विस्मृताः = विगतस्मृतिपथं नीताः परित्यक्ताः इत्यर्थः। पुत्रदाराणां = पुत्रकलत्राणां, स्मरणं कृतं स्यात्।

भावार्थः—राक्षसः स्वमनसि एतच्चिन्तयति यत् शकटदासेन स्वपुत्रदाराणां कारागारात् विमोक्षणं विचार्य पत्रमेतत् स्वामिभक्तिं विस्मृत्य चन्द्रगुप्ताय लिखितं स्यात् यतो हि अक्षराणि तु तस्यैव प्रतिभान्ति।

भाषार्थः—अरे अस्थिर धन के लोभ से चिरस्थायी कीर्ति को खो देने वाले शकटदास को क्या बाल-बच्चों का स्मरण हो आया और स्वामिभक्ति सब भूल गई।

टिप्पणी

व्याकरणम्—पुत्रदाराणाम् = पुत्रश्च दाराश्च इति पुत्रदाराः तेषां द्वन्द्व

समासः। दार शब्द स्त्रीवाचक होते हुए भी पुंल्लिङ्ग है तथा नित्य बहुवचनान्त है। तथा "अधीगर्थदयेशां कर्मणि" इस सूत्र से षष्ठी विभक्ति हुई। लुब्धेन = दिवादि, परस्मैपदी लुभ्धातु से लुभ्यति इति लुब्धस्तेन। कोषः—"भार्याजायाऽथ पुंभूम्निदाराः" इत्यमरः। अलंकारः—परिसंख्या अलङ्कार है। छन्दः—अनुष्टुप्।

अथवा, कः सन्देहः ?

मुद्रा तस्य कराङ्गुलिप्रणयिनी सिद्धार्थकस्तत्सुहृत्
तस्यैवाऽपरलेख्यसूचितमिदं पत्रं प्रयोगाश्रयम्।
सुव्यक्तं शकटेन भेदपटुभिः सन्धाय सार्द्धं परै-
र्भर्तृस्नेहपराङ्मुखेन कृपणं प्राणार्थिना चेष्टितम् ॥१५॥

प्रसङ्गः—स्वमुद्रांकितेन स्वपुत्रकलत्राणां प्राणार्थिना शकटदासेन पत्रमेतन्नूनं लिखितं नान्येनेति स्वमनसि निश्चिन्वानः राक्षसः स्वमनसि तत्र हेतूनुपन्यसति मुद्रा तस्येति।

अन्वयः—प्राणार्थिना भर्तृस्नेहपराङ्मुखेन शकटेन भेदपटुभिः परैः सार्द्धं सन्धाय कृपणं चेष्टितं इति सुव्यक्तम्। यतः मुद्रा तस्य कराङ्गुलिप्रणयिनी, प्रयोगाश्रयम् अपरलेख्यसूचितं इदं पत्रं तस्यैव, सिद्धार्थकः तत्सुहृत्।

संस्कृतार्थः—प्राणार्थिना = स्वसुतस्त्रीप्रभृतीनां जीवनाभिलाषुकेन, भर्तृस्नेहपराङ्मुखेन = भर्तुः = स्वामिनः, स्नेहः = प्रेम, तस्मात् पराङ्मुखेण = विमुखेन, शकटेन = शकटदासेन, भेदपटुभिः = उपजापनिपुणैः, परैः = अरिभिः, सार्द्धं = सह, सन्धाय = मैत्रीं विधाय, कृपणं = महदकार्यं, चेष्टितम् = आचरितम्, इति सुव्यक्तम् = सुस्पष्टम्। यतः = यस्मात् कारणात्, मुद्रा = अङ्गुलीयकं तस्य = शकटदासस्य, कराङ्गुलिप्रणयिनी = हस्ताङ्गुलिवर्तिनी, प्रयोगाश्रयम् = प्रयोगः = शत्रुविहितभेदोपायः, आश्रयः = आधारः यस्य तथाभूतं, अपरलेख्यसूचितं = अपरेण = अन्येन, लेख्येन = लेखेन, सूचितं = प्रकटितं, इदं = दृश्यमानं, पत्रं तस्यैव = शकटदासस्यैव, सिद्धार्थः तस्य सुहृत् = शकटदासमित्रम्।

भावार्थः—राक्षसश्चिन्तयति, यदेतत्पत्रं शकटदासस्यैवास्ति, यतः इयं मुद्रा

तस्य शकटदासस्य कराङ्गुलिगता नान्यलभ्या वर्तते। एतान्यक्षराणि तल्लेखसंवादीनि सन्ति। एष सिद्धार्थकः तस्य परमं मित्रं, अतः एतत्सर्वं कपटकौतुकं पुत्रकलत्राणां प्राणरक्षां वाञ्छता शकटदासेनैव कृतमिति सुनिश्चितम्।

भाषार्थ—अथवा, क्या सन्देह है ?

अपने स्त्री पुत्र के प्राणों के रक्षणेच्छुक तथा स्वामिभक्ति से विमुख शकटदास ने भेदनीति में पटु शत्रुओं से मिल कर हीन चेष्टा की है। यह बात स्पष्ट है। क्योंकि यह मुद्रा उस शकटदास के हाथ की अंगुली से प्रेम करने वाली है। कूटनीतिक प्रयोग पर आधारित तथा मिलते-जुलते लेख से यह सूचित होता है कि यह पत्र शकटदास का है और सिद्धार्थक उसका मित्र है।

टिप्पणी

व्याकरणम्—प्राणार्थिना—प्र+अन् (प्राणने)+घञ्=प्राणाः तान् अर्थयते इति अर्थ+इनि अर्थी तेन, अर्थ=ऋ+थन्। भर्तृस्नेहपराङ्मुखेन=भर्तुः स्नेहः भर्तृस्नेहः तत्र तस्मात् वा पराङ्मुखेन विमुखेन, पराक् मुखमस्य इति पराङ्मुखः तेन, परा+अञ्चु (गतिपूजनयोः)+क्विन्=पराक्। प्रयोगाश्रयम्=प्रयोगः=साम, दानम्, दण्डः, भेदः एषु यः कश्चित् आश्रयः आधारः। लेख्यम्=लिख्+ण्यत्। कोषः—असु और प्राण दोनों शब्द पुंल्लिग तथा बहुवचनान्त होते हैं "पुंसि भूम्न्यसवः प्राणाः" इत्यमरः। अलङ्कारः—काव्यलिङ्गम्, समुच्चयः। छन्दः—शार्दूलविक्रीडितम्।

मलयकेतुः—आर्य ! 'अलङ्कारत्रयं श्रीमता यदनुप्रेषितं, तदुपगतम्' इत्यार्येण यल्लिखितं, तन्मध्यादेकं किमिदम् ? (निर्वर्ण्यात्मगतम्) कथं तातेन धृतपूर्वमिदमाभरणम् ? (प्रकाशम्) आर्य, कुतोऽयमलङ्कारः ?

राक्षसः—वणिग्भ्यः क्रयादधिगतः।

मलयकेतुः—विजये ! अपि प्रत्यभिजानाति भवती भूषणमिदम् ?

प्रतीहारी—(निर्वर्ण्य सवाष्पम्) कुमाल ! कहं ण पच्चभिआणिस्सं ? इमं क्खु सुगिहीदणामधेएण देएण पब्बदीसरेण धारिदपुब्बं।

(कुमार ! कथं न प्रत्यभिज्ञास्यामि ? इदं खलु सुगृहीतनामधेयेन देवेन पर्वतेश्वरेण धारितपूर्वम् ।)

मलयकेतु—आर्य, आपने लिखा है कि श्रीमान् ने जो तीन आभूषण भेजे थे वे प्राप्त हुए । यह उन्हीं में से एक है ? (भलीभाँति देखकर मन में) पहले पिता जी से धारण किये गये ये ही आभूषण हैं (प्रकट) आर्य, यह अलङ्कार आपको कहाँ से मिला ?

राक्षस—बनिये से खरीद कर प्राप्त किया ।

मलयकेतु—विजये, क्या तुम इस आभूषण को पहचानती हो ?

प्रतीहारी—(भली प्रकार देखकर आँसू के साथ) कुमार, क्यों न पहचानूंगी । प्रातः स्मरणीय देव पर्वतेश्वर पहले इसको धारण करते थे ।

मलयकेतु—(आँसू के साथ) हाय पिता जी !

मलयकेतुः—(सवाष्पम्) हा तात,

एतानि तानि तव भूषणवल्लभस्य
गात्रोचितानि कुलभूषण भूषणानि ।
यः शोभितोऽसि मुखचन्द्रकृतावभासो ।
नक्षत्रवानिव शरत्समयप्रदोषः ।।१६।।

प्रसङ्गः—मलयकेतुराभूषणानि पश्यन् स्मृतस्वपितृवियोगः तप्यमानमनाः भूषणशरीरसंयोगसौन्दर्यं स्मरति पद्येनामुना ।

अन्वयः—कुलभूषण ! भूषणवल्लभस्य तव गात्रोचितानि एतानि तानि भूषणानि यैः शोभितः मुखचन्द्रकृतावभासः नक्षत्रवान् शरत्समयप्रदोष इव असि ।

संस्कृतार्थः—हे कुलभूषण = हे वंशावतंस, भूषणवल्लभस्य = प्रियभूषणस्य, तव = महाराजस्य, गात्रोचितानि = शरीरयोग्यानि, एतानि = इमानि, तानि = अनुभूतानि, भूषणानि = अलङ्काराणि, यैः शोभितः = अलंकृतः, मुखचन्द्रकृतावभासः = मुखचन्द्रेण = चन्द्रसदृशेन मुखेन, कृतः = सम्पादितः, अवभासः = प्रकाशः येन तथाविधः किञ्च मुखे = आरम्भे, चन्द्रेण = चन्द्रगुप्तेन, कृतः अवभासः = प्रकाशः यस्य तादृशः, नक्षत्रवान् = तारामण्डितः, शरत्समय-

प्रदोष इव=शारदीयसन्ध्यासमय इव, शोभितोऽसि ।

भावार्थः—मलयकेतुः सशोकं भूषणानि विलोक्य जनकस्य स्मरन् वदति । सतारागणः यथा शरत्सन्ध्यासमयः शोभते तथैव मुखचन्द्रेण शोभायमानस्त्वं एभिर्भूषणैः पुराऽलंकृत आसीः ।

भाषार्थः—हे कुलभूषण ! आभूषण-प्रेमी आपके शरीर के योग्य ये वे आभूषण हैं जिनसे सुशोभित होकर अपने चन्द्र सदृश मुख से प्रकाश करते हुए आप नक्षत्रों से युक्त शरत्कालीन सन्ध्या समय के समान लगते थे ।

टिप्पणी

व्याकरणम्—भूषणवल्लभस्य=भूषणानि वल्लभानि यस्य सः तस्य । मुखचन्द्रकृतावभासः=मुखचन्द्रेण कृतः अवभासः येन तादृशः । उभयत्र बहुव्रीहिसमासः । अवभासः=अव+भास्+घञ् । चमक-दमक । गात्रम्=गै+त्रन्, गातुरिदं वा अण् । कोषः—तातस्तु जनकः पिता । गात्रं वपुः संहननमित्यमरः । अलंकारः- नक्षत्रवानिव यहाँ उपमा है, मुखचन्द्र में रूपक है । छन्दः—वसन्ततिलका ।

राक्षसः—(स्वगतम्) कथं पर्वतेश्वरधृतपूर्वाणीत्याह ? (प्रकाशम्) व्यक्तमेतान्यपि तेन चाणक्यप्रयुक्तेन वणिग्जनेनास्मासु विक्रीतानि ।

मलयकेतुः—आर्य ! तातेन धृतपूर्वाणामाभरणविशेषाणां विशेषतश्चन्द्रगुप्तहस्तगतानां वणिग्भ्यः क्रयादधिगम इति न युज्यते, अथवा युज्यत एवैतत्—

राक्षस—(मनमें) यह कैसे कहा कि पहले पर्वतेश्वर इसे धारण करते थे । प्रकट स्पष्ट है कि ये आभूषण भी चाणक्य के द्वारा नियुक्त बनियों ने हमारे हाथ बेच दिये हैं ।

मलयकेतु—आर्य, पिता जी द्वारा पहले धारण किये गये और विशेष कर चन्द्रगुप्त के हाथ में गये हुए विशिष्ट आभूषणों का बनियों से खरीदना ठीक नहीं जंचता है । अथवा यह ठीक ही है ।

चन्द्रगुप्तस्य विक्रेतुरधिकं लाभमिच्छतः ।
कल्पिता मूल्यमेतेषां क्रूरेण भवता वयम् ।।१७।।

प्रसङ्गः—अस्मिन् "चन्द्रगुप्तस्य" इत्यादि पद्ये मलयकेतुः अमात्यराक्षसं सामर्षमभिभाषते ।

अन्वयः—अधिकं लाभं इच्छतः विक्रेतुः चन्द्रगुप्तस्य क्रूरेण भवता वयं एतेषां मूल्यं कल्पिताः ।

संस्कृतार्थः—अधिकं = विशेषं, लाभं = प्राप्तिं, इच्छतः = अभिलषतः, विक्रेतुः = विक्रयमाणस्य, चन्द्रगुप्तस्य = मौर्यस्य, क्रूरेण = नृशंसेन, भवता = त्वया राक्षसेन इत्यर्थः, वयं = अहं मलयकेतुः, एतेषां = आभूषणानां, मूल्यं = अर्घः, कल्पिताः = निरूपिताः ।

भावार्थः—भोः राक्षस ! राक्षसेन त्वया चन्द्रगुप्तस्य कृते अहमेव एतेषां भूषणानां अर्घः कल्पितोऽस्मि । नैतदुचितमित्यर्थः ।

भाषार्थः—अधिक लाभ चाहने वाले विक्रेता चन्द्रगुप्त मौर्य के लिये निर्दयी आपने मुझे ही इन आभूषणों का मूल्य बनाया है अर्थात् मुझे तुमने चन्द्रगुप्त के हाथों में सौंप दिया है ।

टिप्पणी

व्याकरणम्—वयम् = अहं इस अर्थ में "अस्मदो द्वयोश्च" इस सूत्र से बहुवचन हो गया है । प्रतिनिधित्व करने वाले या बड़े लोग एकवचन के स्थान में बहुवचन का प्रयोग कर सकते हैं । विक्रेतुः = वि + क्री + तृच् षष्ठी-एकवचन का रूप है । इच्छतः = इष् (इच्छादेश) शतृ षष्ठीएकवचन का रूप है । कोषः—"कर्कशं, कठिनं, क्रूरं, कठोरं, निष्ठुरं, दृढम्" इत्यमरः । अलंकारः—परिवृत्तिः "परिवृत्तिः विनिमयोक्तः" आभूषणानां कृते मलयकेतोः दानं परिवृत्तिः । छन्दः—अनुष्टुप् वृत्तम् ।

राक्षसः—(आत्मगतम्) अहो ! सुश्लिष्टोऽयमभूच्छत्रुप्रयोगः । कुतः ?—

लेखोऽयं न ममेति नोत्तरमिदं मुद्रा मदीया यतः

सौहार्दं शकटेन खण्डितमिति श्रद्धेयमेतत् कथम् ?
मौर्ये भूषणविक्रयं नरपतौ को नाम सम्भावयेत् ?
तस्मात् सम्प्रतिपत्तिरेव हि वरं न ग्राम्यमत्रोत्तरम् ।।१८।।

राक्षस—(मन में) ओह शत्रुओं की चाल कैसी सफल हो गई ।

प्रसङ्गः—राक्षसः शत्रुप्रयोगस्य सुसंश्लिष्टतां मुहुर्मुहुः विचारयन् स्वगतं निगृहीतोऽस्मि अतः सर्वेषामाक्षेपाणां स्वीकृतिरेवोचिता, इत्यस्मिन् प्रसङ्गे पद्यमिदमुद्धृतम् ।

अन्वयः—अयं लेखः मम न इति इदं न उत्तरम्; यतः मुद्रा मदीया । शकटेन सौहार्दं खण्डितं इति एतत् कथं श्रद्धेयम् ? नरपतौ मौर्ये को नाम भूषणविक्रयं सम्भावयेत् । तस्मात् अत्र सम्प्रतिपत्तिरेव हि वरं, ग्राम्यं उत्तरं न वरम् ।

संस्कृतार्थः—अयं लेखः, इदं पत्रं वा, मम - मदीयः, न = अहि, इति उत्तरं = इति प्रतिवचनं, न उचितं = न युक्तम् । यतः = यस्मात् कारणात्, मुद्रा = मुहर इति भाषायां मदीया = मामकीना । शकटेन = शकटदासेन, सौहार्दं = मित्रता खण्डितं = भग्नम्, इति = एतत् वचः, कथं = केन प्रकारेण, श्रद्धेयम् = विश्वसनीयम्, नरपतौ = नृपे, मौर्ये = चन्द्रगुप्ते, को नाम = को जनः, भूषणानां = अलंकाराणां, विक्रयं = पणनं, सम्भावयेत् = विश्वसेत्, तस्मात् = तस्मात् कारणात्, अत्र = अस्मिन् विषये, सम्प्रतिपत्तिरेव = दोषस्वीकरणमेव, वरं = श्रेष्ठम्, ग्राम्यं = जानपदं, उत्तरं = प्रतिवचनं, न वरं = न श्रेष्ठम् ।

भावार्थः—अयं लेखः, इदं पत्रम्, इयञ्च मुद्रा न सन्ति इति सर्वथा अविश्वनीयं किञ्च । चन्द्रगुप्तमौर्यः भूषणानि विक्रीणीते राक्षसः च तानि क्रीणाति इति कोऽपि नाङ्गीकर्तुं शक्तः, तस्मात् निर्दोषताघोषणं न श्रेयस्करम् ।

भाषार्थ—यह लेख मेरा नहीं है इस प्रकार कहना यह कोई उत्तर नहीं है । क्योंकि मुहर मेरी ही है । शकटदास ने मित्रता तोड़ दी यह कैसे विश्वास के योग्य हो सकता है । और कौन राजा चन्द्रगुप्त के आभूषण बेचने की सम्भावना ही कर सकता है । इसलिये इस विषय में दोष स्वीकार कर लेना ही श्रेष्ठ है । अयुक्त उत्तर देना उचित नहीं है ।

मलयकेतुः—एतदार्यं पृच्छामि ।

राक्षसः—(सवाष्पम्) कुमार, य आर्यस्तं पृच्छ, वयमिदानीमनार्याः संवृत्ताः ।

टिप्पणी

व्याकरणम्—सौहार्दम् = सुहृदः भावः इति सुहृद् + अण् "हृद्भगसिन्ध्वन्तेः पूर्वपदस्य" इस नियम से उभयपद वृद्धि हुई । सम्प्रतिपत्तिः = सम् + प्रति + पद् + क्तिन्, स्वीकार कर लेना । ग्राम्यः = विशेषणपदं ग्राम + यत् । वरम् = वृ + अप्, श्रेष्ठ । कोषः—"भूषणं स्यादलङ्क्रिया, अलङ्कारस्त्वाभरणं" इत्यमरः । अलंकारः—काव्यलिङ्ग और परिसंख्या अलङ्कार हैं । छन्दः—शार्दूलविक्रीडितम् ।

मलयकेतु—यह आर्य से पूछता हूँ ।

राक्षस—(आँसू के साथ) कुमार, जो आर्य है उसे पूछो, हम इस समय अनार्य हो गये हैं ।

मलयकेतुः—

मौर्योऽसौ स्वामिपुत्रं परिचरणपरो मित्रपुत्रस्तवाहं
दाता सोऽर्थस्य तुभ्यं स्वमतमनुगतस्त्वन्तु मह्यं ददासि ।
दास्यं सत्कारपूर्वं ननु सचिवपदं तत्र ते स्वाम्यमत्र
स्वार्थे कस्मिन् समीहा पुनरधिकतरे त्वामनार्यं करोति ॥१९॥

प्रसङ्गः—अस्मिन् पद्ये मलयकेतुः "स्वाम्यत्र, दास्यं तत्र, पुनः न जाने कस्मिन् स्वार्थे समीहा त्वामनार्यं करोति" इति राक्षसं सोल्लुण्ठं कथयति ।

अन्वयः—तव असौ मौर्यः स्वामिपुत्रः, अहं परिचरणपरः मित्रपुत्रः । सः तुभ्यं अर्थस्य दाता, त्वं तु स्वमतमनुगतः मह्यं ददासि । तत्र ते सचिवपदं सत्कारपूर्वं दास्यं ननु, अत्र स्वाम्यम् । पुनः अधिकतरे कस्मिन् स्वार्थे समीहा त्वां अनार्यं करोति ।

संस्कृतार्थः—तव—ते राक्षसस्य, असौ = एषः, मौर्यः - चन्द्रगुप्तः, स्वामिपुत्रः = प्रभोः नन्दस्य पुत्रः, अहं = मलयकेतुः, परिचरणपरः = सेवायां संलग्नः, मित्रपुत्रः = सुहृत्सुतः । सः = चन्द्रगुप्तः, तुभ्यं = भवते राक्षसाय, अर्थस्य =

धनस्य, दाता = दायकः, त्वं तु = त्वं पुनः, स्वमतं = स्वामिरुचिं, अनुगतः = अनुसृतः, मह्यं = मलयकेतवे, ददासि = प्रयच्छसि, तत्र ते सचिवपदं = तत्र ते साचिव्याधिकारग्रहणं, सत्कारपूर्वं = आदरपूर्वं, दास्यं = भृत्यकर्मैव, अत्र = इह मलयकेतुसमीपे, स्वाम्यं = प्रभुता नतु दास्यम्, पुनः = भूयः, अधिकतरे = इतोऽप्यधिके, कस्मिन् स्वार्थे = कस्मिन् प्रयोजने, समीहा = अभिलाषः, त्वां = राक्षसं, अनार्यं = अश्रेष्ठं, करोति = विदधाति ।

भावार्थः—कस्मात् स्वाम्यं परित्यज्य दास्यं ग्रहीतुमिच्छसि, इति मुहुर्मुहुः विचार्यापि तव मनसः पारं नैव प्राप्तम् । महान् कृतघ्नस्त्वमिति भावः ।

भाषार्थः—मौर्य तुम्हारे स्वामी का पुत्र है । मैं सेवा में संलग्न मित्र का पुत्र हूँ । वह तुम्हें धन देने वाला है और यहाँ तुम अपनी इच्छा के अनुरूप मुझे देते हो । वहाँ तुम्हारा मन्त्री पद आदरपूर्वक दासता ही है और यहाँ तुम्हारा स्वामित्व है । फिर इससे और अधिक किस स्वार्थ के विषय में कामना तुम्हें अनार्य बना रही है ।

टिप्पणी

व्याकरणम्—अनार्यः = न आर्यः नञ् तत्पुरुषः । आर्यलक्षणं यथा—कर्तव्यमाचरन् काममकर्तव्यमनाचरन् । तिष्ठति प्रकृताचारे स वा आर्यः इति-स्मृतः । आर्य = ऋ – गतौ, गतिश्च ज्ञानं गमनं प्राप्तिश्च एवं ऋ + ण्यत् । स्वामिपुत्रः – मित्रपुत्रः उभयत्र षष्ठीतत्पुरुषः । दास्यम् = दास + ष्यञ् समीहा = सम् + ईह् + अ + टाप् । परिचरणः = परि + चर् + ल्युट् ल्युटोरनादेशः णत्वम् । कोषः—महाकुलकुलीनार्यः सभ्यसज्जनसाधवः । अलकारः—यथासंख्य प्रथम द्वितीय तृतीय पाद में । छन्दः—स्रग्धरावृत्तम् ।

राक्षसः—कुमार ! एवमयुक्तव्याहारिणा भवतैव मे निर्णयो दत्तः । कुतः ?—('मौर्योऽसौ स्वामिपुत्रः' इति युष्मदस्मदोर्व्यत्ययेन पठति ।)

मलयकेतुः—(लेखमलङ्करणस्थगिकाञ्च विनिर्दिश्य) इदमिदानीं किम् ?

राक्षसः—(सवाष्पम्) विधेर्विलसितमिदं, कुतः ?

राक्षस—इस प्रकार अनुचित बात कह कर आपने ही मेरा निर्णय कर दिया है क्योंकि "मौर्योऽसौ स्वामिपुत्रः" इत्यादि, इस श्लोक में युष्मद् और अस्मद् शब्दों को परस्पर बदल कर पढ़ता है। तथाहि

मौर्योऽसौ स्वामिपुत्रः परिचरणपरो मित्रपुत्रो मम त्वम्
दाता सोऽर्थस्य मह्यं स्वमतमनुगतोऽहं तु तुभ्यं ददामि।
दास्यं सत्कारपूर्वं ननु सचिवपदं तत्र मे स्वाम्यमत्र
स्वार्थे कस्मिन् समीहा पुनरधिकतरे मामनार्यं करोति॥

मलयकेतु—(पत्र और आभूषणों की पेटी को बताकर) सम्प्रति यह क्या है।

राक्षस—(आंसू के साथ) यह भाग्य की लीला है। क्योंकिः—

भृत्यत्वे परिभावधामनि सति स्नेहात् प्रभूणां सतां
पुत्रेभ्यः कृतवेदिनां कृतधियां येषामभिन्ना वयम्।
ते लोकस्य परीक्षकाः क्षितिभृतः पापेन येन क्षताः
तस्येदं विपुलं विधेर्विलसितं पुंसां प्रयत्नच्छिदः॥२०॥

प्रसङ्गः—पद्येऽस्मिन् मलयकेतुना सोल्लुण्ठमधिक्षिप्तः स्वदुर्भाग्यमेवापवदति राक्षसः।

अन्वयः—कृतधियां कृतवेदिनां येषां सतां प्रभूणां वयं परिभावधामनि भृत्यत्वे सति स्नेहात् पुत्रेभ्यः अभिन्नाः, ते लोकस्य परीक्षकाः क्षितिभृतः येन पापेन क्षताः तस्य पुंसां प्रयत्नच्छिदः विधेः इदं विपुलं विलसितम्।

संस्कृतार्थः—कृतधियां=पण्डितानां, कृतवेदिनां=कृतज्ञानां, येषां, सतां=सज्जनानां, प्रभूणां=स्वामिनां, वयं=अहं राक्षसः, परिभावस्य=तिरस्कारस्य, धामनि=आस्पदे, भृत्यत्वे=दासत्वे, सति, स्नेहात्=प्रेम्णः, पुत्रेभ्यः=सुतेभ्यः, अभिन्नाः=नान्याः स्म, ते=तादृशाः लोकस्य=पुरुषस्य संसारस्य वा, परीक्षकाः=निर्णायकाः क्षितिभृतः=भूपालाः येन पापेन=येन दुराचारेण विधिना, क्षताः=विनाशिताः, तस्य=तादृशस्य, पुंसां=जनानां, प्रयत्नच्छिदः=

उद्योगघातिनः, विधेः=दैवस्य, इदं=एतत्, विपुलं=बृहत्, विलसितम्=विलासकार्यं लीलेति यावत् ।

भावार्थः—येषां कैंकर्ये वर्तमानेऽपि सेवकानुरागादेव हेतोः सुतनिर्विशेषाः एव संजाताः, ते कृतधियः मनस्विनः कृतज्ञाः यस्य विधे; दुर्विलासेन नामशेषं गताः तस्यैव दुर्भाग्यस्येदं लेखालङ्कारादिरूपं दुर्घटनं विपुलं किमपि विलसितमस्ति ।

भाषार्थः—वे न्यायपरायण उपकार को जानने वाले श्रेष्ठ राजाओं के अपमानास्पद सेवक पद पर होने पर भी मैं स्नेह के कारण पुत्रों से भिन्न नहीं समझा जाता था । वे संसार के परीक्षक राजा जिस क्रूर भाग्य के द्वारा नष्ट कर दिये गये, उस पुरुष-प्रयत्नों के घातक भाग्य का ही यह लेख अलंकारदि मञ्जूषा कार्य है ।

टिप्पणी

व्याकरणम्—कृतधियां=कृता सफला धीः बुद्धिः येषां ते कृतधियः तेषां, बहुव्रीहिसमासः । कृतवेदिनां=कृतं वेत्तुं शीलमेषां इति कृत+विद्+णिनि ताच्छील्यार्थे । परिभावधामनि=परि+भू+घञ्=परिभावः तस्य धामनि, धा+मनिन् तस्मिन् । प्रभवतीति प्रभुः तेषां प्र-भु+डु प्रत्ययः आदरार्थे बहुवचनम् । प्रयत्नच्छिदः=प्रयत्नं छिनत्ति इति प्रयत्न+छिद्+क्विप्=प्रयत्नछित्, तस्य । कोषः—"विधिर्विधाने दैवेऽपि" इत्यमरः । अर्थात् विधि के विधान-कानून, और भाग्य दो अर्थ है । अलंकारः—अतिशयोक्तिः । छन्दः—शार्दूलविक्रीडितम् ।

मलयकेतुः—(सक्रोधम्) कथमद्यापि निह्नूयते विधेर्विलसितमिदं, न ममेति ? अनार्य !

कन्यां तीव्रविषप्रयोगविषमां कृत्वा कृतघ्न ! त्वया
विस्रम्भप्रवणः पुरा मम पिता नीतः कथाशेषताम् ।
सम्प्रत्याहितगौरवेण भवता मन्त्राधिकारे रिपोः
प्रारब्धाः प्रणयाय मांसवदहो ! विक्रेतुमेते वयम् ॥२१॥

मलयकेतु—(क्रोध से) क्यों अब भी छिपा रहे हो और कहते हो यह सब

भाग्य का किया हुआ है। मैंने कुछ नहीं किया। अनार्य !

प्रसङ्गः—पद्येऽस्मिन् मलयकेतुः राक्षसकृतापचाराणि गणयन् अमात्यं निर्भरं निर्भत्सयन् वक्ति।

अन्वयः—कृतघ्न ! पुरा त्वया तीव्रविषप्रयोगविषमां कन्यां कृत्वा विस्रम्भप्रवणः मम पिता कथाशेषतां नीतः। सम्प्रति अहो रिपोः मन्त्राधिकारे आहितगौरवेण भवता प्रणयाय एते वयं मांसवत् विक्रेतुं प्रारब्धाः।

संस्कृतार्थः—कृतघ्न !=अकृतज्ञ !, पुरा=प्रथमं, त्वया=भवता राक्षसेन, तीव्रविषप्रयोगविषमां=तीव्रस्य=तीक्ष्णस्य, विषस्य=गरलस्य, प्रयोगेण=सेवनेन, विषमां=भयङ्करां, कन्यां=कुमारीं, कृत्वा=विधाय, तीव्ररसदानेन जीवहन्त्रीं कन्यां विषकन्यां विधायेत्यर्थः। विस्रम्भप्रवणः=अतिविश्वस्तः, मम=मे मलयकेतोः पिता=जनकः पर्वतेश्वरः, कथाशेषतां नीतः=घातितः। अधुना, अहो=खेदस्य विषयः, रिपोः=शत्रोः चन्द्रगुप्तस्येत्यर्थः, मन्त्राधिकारे=साचिव्ये, आहितगौरवेण=आहितं=धारितं, गौरवं=महत्त्व यस्मिन् तथाविधेन, भवता=त्वया राक्षसेन, प्रणयाय=स्नेहार्थं, एते=विश्वस्ताः, वयं=मलयकेतुप्रभृतयः मांसवत्=क्रव्यमिव, विक्रेतुं=पणितुं, प्रारब्धाः=प्रकान्ताः स्म।

भावार्थः—अरे यथार्थनामधेय राक्षस ! पुरा विषकन्याप्रयोगेण भवता अतिविश्वस्तः महाराजपर्वतेश्वरः घातितः, अधुना च मौर्यस्य महामन्त्रिपदमाप्तुकामेन भवता वयमेते भवद्वशंवदाः मांसवत् विक्रेतुं प्रारब्धाः स्म इत्यहो महदाश्चर्यम्।

भाषार्थः—राक्षस ! पहले तुमने तीक्ष्ण विष के नित्य सेवन के कारण घातक कन्या का निर्माण करके अत्यन्त विश्वस्त मेरे पिता पर्वतेश्वर को मरवा दिया। आश्चर्य है और अब शत्रु के महामन्त्रि पद को महत्त्व देने वाले तुमने चन्द्रगुप्त की प्रीति के लिये हमें मांस के समान बेचना प्रारम्भ कर दिया है।

टिप्पणी

व्याकरणम्—कृतघ्न !=कृतं हन्ति इति कृत+हन्+अच् तत्सम्बोधने

कृतघ्नः। प्रणयाय = यहाँ "क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः" इस सूत्र से चतुर्थी, प्र + नी + अच् = प्रणयः। विक्रेतुम् = वि + क्री + तुमुन्। कन्या = कन् + यक् + टाप्। विस्रम्भप्रवणः = विस्रम्भेण प्रवणः प्र + वण् + अच्। कोषः— प्रणयः "प्रश्रयप्रणयौ समौ" इत्यमरः। अलङ्कारः—पूर्णोपमा। छन्दः— शार्दूलविक्रीडितम्।

राक्षसः—(स्वगतम्) अयमपरो गण्डस्योपरि विस्फोटः। (प्रकाशं कर्णौ पिधाय) शान्तं पापं, शान्तं पापम्। नाहं विषकन्या-मारोपितवानपापोऽहं पर्वतेश्वरे।

मलयकेतुः—केन तर्हि व्यापादितस्तातः ?

राक्षसः—दैवमत्र प्रष्टव्यम्।

मलयकेतुः—(सक्रोधम्) दैवमत्र प्रष्टव्यं, न क्षपणको जीव-सिद्धिः ?

राक्षसः—(स्वगतम्) कथं जीवसिद्धिरपि चाणक्यप्रणिधिः ? हन्त ! हृदयमपि मे रिपुभिः स्वीकृतम्।

मलयकेतुः—(सक्रोधम) भासुरक ! आज्ञाप्यतां शिखरसेनः सेनापतिः—'ये एतेन राक्षसेन सह सौहार्दमुत्पाद्यास्मच्छरीरद्रोहेण चन्द्रगुप्तमाराधयितुकामाः पञ्च राजानः, तद्यथा—'कौलूतः चित्र-वर्मा, मलयनरपतिः सिंहनादः, काश्मीरः पुष्कराक्षः, सिन्धुराजः सुषेणः, पारसीकाधिराजो मेघाक्ष इति। तेषु त्रयः प्रथमा मदीयां भूमिं कामयन्ते, ते गम्भीरश्वभ्रमुपनीय पांशुभिः पूर्यन्ताम्, इतरौ तु द्वौ हस्तिबलकामौ हस्तिनैव घात्येतामि' ति।

पुरुषः—जं कुमारो आणवेदि। (यत् कुमार आज्ञापयति।) इति निष्क्रान्तः।)

मलयकेतुः—(सकोधम्) राक्षस ! राक्षस ! नाहं विस्रम्भघाती राक्षसो, मलयकेतुः खल्वहं, तद गच्छ, समाश्रीयतां सर्वात्मना चन्द्रगुप्त इति,—

राक्षसः—(मन में) यह मर्म-स्थान के फोड़े पर दूसरा फोड़ा है। अर्थात् एक विपत्ति पर दूसरी विपत्ति है। (प्रकट कानों को ढक कर) पाप शान्त हो, मैंने पर्वतेश्वर पर विषकन्या का प्रयोग नहीं किया। मैं पर्वतेश्वर का अपराधी नहीं हूँ।

मलयकेतु—तो पिता जी को किसने मारा ?

राक्षस—भाग्य से पूछो।

मलयकेतु—(क्रोध से) दैव से पूछा जाय न कि इस क्षपणक जीवसिद्धि से।

राक्षस—(मन में) ओह ! तो क्या जीवसिद्धि भी चाणक्य का गुप्तचर निकला। हाय तब तो शत्रुओं ने मेरे हृदय पर भी अधिकार कर लिया।

मलयकेतु—(क्रोध से) भासुरक, सेनापति शिखरसेन को आज्ञा दो कि ये जो मेरे शरीर से द्रोह करने वाले राक्षस के साथ मित्रता करके चन्द्रगुप्त की सेवा करने के इच्छुक पाँच राजा हैं जिनके नाम हैं—कुलूत का चित्रवर्मा, मलय देश का राजा सिंहनाद, काश्मीर का पुष्कराक्ष, सिन्धुराज सुषेण, फारस का राजा मेघाक्ष—इनमें पहले तीन मेरी भूमि चाहते हैं उन्हें गहरे गड्ढे में ले जाकर मिट्टी से दबा दो और गज-सेना चाहने वाले अन्य दो को हाथी से ही मरवा डालो।

पुरुष—जैसी कुमार की आज्ञा (चला जाता है)

मलयकेतु—(क्रोध से) राक्षस, राक्षस, मैं विश्वासघाती राक्षस नहीं हूँ। मैं मलयकेतु हूँ। इसलिये जाओ और हर प्रकार से चन्द्रगुप्त का आश्रय लो

विष्णुगुप्तञ्च मौर्यञ्च सममप्यागतौ त्वया।
उन्मूलयितुमीशोऽहं त्रिवर्गमिव दुर्नयः ॥२२॥

प्रसङ्गः—पद्यमिदं मलयकेतुरमात्यं राक्षसं भृशं तर्जयति, आदिशति च चन्द्रगुप्तं समाश्रयणाय।

अन्वयः—त्वया समं अपि आगतौ विष्णुगुप्तं च मौर्यं च अहं त्रिवर्गं दुर्नय इव उन्मूलयितुं ईशः।

संस्कृतार्थः—त्वया=भवता राक्षसेन, समम्=सार्द्धं अपि=समुच्चये, आगतौ=समायातौ, विष्णुगुप्तं च=चाणक्यं च, मौर्यं च=वृषलं च, अहं=मलयकेतुः, त्रिवर्गं=धर्मार्थकामान्, दुनर्य इव=कुनीतिरिव, उन्मूलयितुं=नाशयितुं, ईशः=समर्थः अस्मि ।

भावार्थः—भोः राक्षस ! यथा दुर्नयः धर्मार्थकामान् समूलमुन्मूलयति तथैवाहं चाणक्यचन्द्रगुप्ताभ्यां सह समागतं भवन्तमपि सहैवोन्मूलयितुं क्षमोऽस्मि । गच्छ, अधुना स्वाश्रय प्रदातारम् ।

भाषार्थः—तुम्हारे साथ आये हुए विष्णुगुप्त चाणक्य को और मौर्य चन्द्रगुप्त को विनष्ट करने में उसी प्रकार समर्थ हूँ जैसे दुर्नीति धर्म-अर्थ और काम को नष्ट कर देती हैं ।

टिप्पणी

व्याकरणम्—दुर्नयः=दुष्टो नयः प्रादिसमासः । यहाँ दुर्णय ऐसा प्रयोग नहीं होगा क्योंकि णत्व का निषेध—"दुरः षत्वणत्वयोरुपसर्गत्वप्रतिषेधः" इस नियम से होगा । विस्रम्भघाती=विस्रम्भ+हन्+णिनि ताच्छील्ये । विस्रम्भं हन्तुं शीलमस्येति । कोषः—त्रिवर्गः—"त्रिवर्गो धर्मकामार्थश्चतुर्वर्गः समोक्षकैः" । क्षयः स्थानं च वृद्धिश्च त्रिवर्गो नीतिवेदिनाम् ।। अमरः । अलङ्कारः—त्रिवर्गमिव दुर्नयः इस अंश में श्रौती पूर्णोपमा है । छन्दः—अनुष्टुप् ।

भागुरायणः—कुमार ! कृतं कालहरणेन । शीघ्रमेव कुसुमपुरोपरोधाय प्रतिष्ठाप्यन्तामस्मद्वलानि,—

भागुरायण—कुमार, समय बिताना व्यर्थ है । शीघ्र ही हमारी सेना पाटलिपुत्र को घेरने के लिये प्रयाण कर दे ।

गौडीनां लोध्रधूलीपरिमलवहलान् धूम्रयन्तः कपोलान्
क्लिश्नन्तः कृष्णिमानं भ्रमरकुलरुचः कुञ्चितस्यालकस्य ।
पांशुव्यूहा वलानां तुरगखुरपुटक्षोदलब्धात्मलाभाः
शत्रूणामुत्तमाङ्गे गजमदसलिलच्छिन्नमूलाः पतन्तु ।।२३।।

(इति सपरिजनो निर्गतो मलयकेतुः ।)

प्रसङ्गः—साधितस्वकृत्यः भागुरायणः परं प्रहृष्टः, अमात्यराक्षसोचितामाज्ञां सेनायै स्वयमेवाघोषयन् व्याहरति ।

अन्वयः—बलानां तुरगखुरपुटक्षोदलब्धात्मलाभाः पांशुव्यूहाः गजमदसलिलच्छिन्नमूलाः सन्तः गौडीनां लोध्रधूलीपरिमलबहलान् कपोलान् धूम्रयन्तः भ्रमरकुलरुचः कुञ्चितस्य अलकस्य कृष्णिमानं क्लिशनन्तः शत्रूणां उत्तमाङ्गे पतन्तु ।

संस्कृतार्थः—बलानां = सैन्यानां, तुरगखुरपुटक्षोदलब्धात्मलाभाः = तुरगाणां = अश्वानां, खुरपुटैः = शफैः यः क्षोदः = चूर्णं तेन लब्धः = प्राप्तः, आत्मलाभः = जन्म, यैः तथाभूताः पांशुव्यूहाः = धूलिसमूहाः, गजमदसलिलच्छिन्नमूलाः = गजानां = करिणां मदाः एव सलिलानि = दानवारीणि, तैः छिन्नं = नाशितं, मूलं = व्रध्नः येषां तथाभूताः सन्तः, गौडीनां = गौडदेशीयानां स्त्रीणां, लोध्रधूलीपरिमलबहलान् = लोध्राणां = गालवानां, धूली = परागः, तस्य परिमलः = सुगन्धः, तेन कहलान् = व्याप्तान्, कपोलान् = गण्डस्थलानि, धूम्रयन्तः = मलिनयन्तः, भ्रमरकुलरुचः = भ्रमरकुलानां = मधुपवृन्दानां, रुक् = कान्तिः इव कान्तिः यस्य तथाभूतस्य, कुञ्चितस्य = वक्रस्य, अलकस्य = केशपाशस्य, कृष्णिमानं = कृष्णत्वं, क्लिशनन्तः = तिरस्कुर्वन्तः, शत्रूणां = रिपूणाम्, उत्तमाङ्गे = शिरसि, पतन्तु = अवरोहन्तु ।

भावार्थः—भागुरायणकथनस्यायमभिप्रायः यदस्माकं सेनोद्धता धूलिः मगधवर्तिनीनां गौडनारीणां गालवपरिमलबहलान् कपोलान् मलिनीकरोतु । तथा च कृष्णकुटिलकेशपाशस्य कालिमानं क्लिश्न्ती प्रतिबलानां शिरसु सत्वरं पततु, सत्वरं च पाटलिपुत्रमभिषेणयतु ।

भाषार्थः—हमारी सेनायें ऐसी धूल उड़ा दें—कि सेना के घोड़ों के खुरों से उठती हुई तथा हाथियों के मदजल से सिंची हुई धूल उड़कर गौड़ देश की रमणियों के लोध के फूलों के पराग से सुगन्धित कपोलों को मलिन करती हुई और उनके भ्रमर सदृश कृष्ण केशकलाप को श्वेत बनाती हुई शत्रुओं के शिर पर गिरे ।

टिप्पणी

व्याकरणम्—गौडीनाम् = गौड + अण् + ङीप् षष्ठीबहुवचने रूपम्। घूम्रयन्तः = घूम्र + णिच् + लट् + शतृ प्रथमाबहुवचनम्। कृष्णिमानम् = कृष्णस्य भावः इति कृष्ण + इमनिच् = कृष्णिमा तं द्वितीयान्तम्। क्लिश्नन्तः = क्लिश्नाति इति क्लिश् + (क्र्या) + शतृ प्रथमाबहुवचनम्। अलङ्कारः—तद्गुण दूसरे को अपना रूप बना देना, रूपक, लुप्तोपमा स्वभावोक्ति आदि अलकारों का सङ्कर है। छन्दः—स्रग्धरा वृत्तम् "म्रन्नैर्यानां त्रयेण त्रिमुनियतियुता स्रग्धरा कीर्तितेयम्। सात-सात अक्षरों पर जिसमें यति हो तथा मगण रगण भगण नगण यगण यगण यगण ये सात गण होते हैं।

राक्षसः—(सावेगम्) हा धिक् कष्टम्! तेऽपि हतास्तपस्विनश्चित्रवर्मादयः!! तत् कथं सुहृन्नाशाय राक्षसश्चेष्टते, न रिपुविनाशाय? तत् किमिदानीं करवाणि मन्दभाग्यः?

किं गच्छामि तपोवनम्? न तपसा शाम्येत् सवैरं मनः
किं भर्तॄननुयामि जीवति रिपौ? स्त्रीणामियं योग्यता।
किं वा खड्गसखः पताम्यरिबले? नेदं न युक्तं भवेत्
चेतश्चन्दनदासमोक्षरभसं रुन्ध्यात् कृतघ्नं न चेत् ॥२४॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे।)

॥इति पञ्चमोऽङ्कः॥

राक्षस—(आवेग के साथ) धिक्कार है, कष्ट है, वे विचारे चित्रवर्मा आदि भी मारे गये। तो क्या मित्रों के नाश के लिये राक्षस प्रयत्न करता है, शत्रुओं के विनाश के लिये नही। तो अब मैं अभागा क्या करूँ।

प्रसङ्गः—भृशं दूयमानचित्तः राक्षसः स्वभविष्यविषये चिन्तयन्नाह।

अन्वयः—तपोवनं गच्छामि किम्, सवैरं मनः तपसा न शाम्येत्, रिपौ जीवति भर्तॄन् अनुयामि किम्? इयं स्त्रीणां योग्यता, वा खड्गसखः अरिबले पतामि किम्? न इदं युक्तं न भवेत्, चन्दनदासमोक्षरभसं चेतः रुन्ध्यात्, चेत् न कृतघ्नं भवेत्।

संस्कृतार्थः—तपोवनम् = तपस्तप्तुमरण्यं, गच्छामि किम् = व्रजामि किम् ? सवैरं मनः = सामर्षं स्वान्तं, तपसा = तपस्यया, न शाम्येत् नहि शान्तिमाप्नुयात्। रिपौ = अरौ, जीवति = प्राणान् धारयति, भर्तॄन् = स्वामिनः, अनुयामि = अनुगच्छामि किम् ? इयं = एषा, स्त्रीणां = रमणीनां, योग्यता = विधानम्, यन्मृते भर्तरि स्त्री तमनुगच्छेत्। अथवा = उत, खड्गसखः = कृपाणसहायः, अरिबले = रिपुसेनायां, पतामि किम् = प्रविशामि किम् ? नेदं युक्तम् = नैतत्—समीचनं स्यात्, यतो हि चन्दनदासमोक्षरभसं = चन्दनदासस्य मोक्षे = मोचने, रभसः = त्वरा यस्य तादृशं चेतः = मामकीनं मनः, रुन्ध्यात् = प्रतिबध्नीयात्, चेत् = यदि एवं न कुर्यात् तदा मे मनः कृतघ्नं = अकृतज्ञं, भवेत्।

भावार्थः = उद्विग्ने मनसि तपोवनगमनं निरर्थकम्, स्वामिनमनुमरणमपि पुंसां न युक्तम् खड्गमादाय रणस्थलाश्रयणमपि न युक्तं तर्हि किं करवाणीति राक्षसः किं कर्तव्यविमूढः इव पद्यमिदं व्याचष्टे।

भाषार्थः—क्या मैं तपोवन में चला जाऊँ। पर वहाँ भी प्रतिशोध की भावना वाला मन शान्त नहीं होगा। क्या शत्रु के जीवित रहते हुए मृत स्वामी का अनुगमन करूँ। यह तो स्त्रियों को ही शोभा देता है। क्या तलवार लेकर शत्रुदल में कूद पड़ूँ। परन्तु यह भी ठीक न होगा। क्योंकि चन्दनदास को छुड़ाने में संलग्न मेरा मन ऐसा नहीं होने देगा। यदि मन ऐसा नहीं करता तो कृतघ्न होगा।

टिप्पणी

व्याकरणम्—खड्गसखः = खड्गः सखा यस्य सः बहुव्रीहि समासः। चन्दनदासमोक्षरभसम् = चन्दनदासस्य मोक्षे रभसः यस्य तादृशं मनः। सवैरं = वैरेण सह वर्तमानमिति मनसः विशेषणम्, भर्तॄननुयामि किं = अनोः कर्मप्रवचनीयत्वात् भर्तॄन् यहाँ द्वितीया हुई। योग्यता = योगमर्हति इति युज् + ण्यत् + योग्यः, योग्यस्य भावः योग्य + तल् + टाप् = योग्यता। अरिबले = अरीणां बलं तस्मिन् तत्पुरुषसमासः। कोषः—बलम्—"वरूथिनी बलं सैन्यं चक्रं चानीकमस्त्रियाम्" इत्यमरः। अलंकारः—दीपकं "प्रस्तुताऽप्रस्तुतयोः एकधर्माभि-

सम्बन्धः दीपकम् । काव्यलिङ्गञ्च द्वयोः संकरः । छन्द—"शार्दूलविक्रीडितम्" वृत्तम् ।

(सब बाहर चले जाते हैं)

॥पाँचवाँ अंक समाप्त ॥

———

षष्ठोऽङ्कः

(ततः प्रविशत्यलङ्कृतः सहर्षः सिद्धार्थकः)

सिद्धार्थकः—

जअदि जलदणीलो केसवो केसिघादी
जअदि अ जणदिठ्टे चन्दमा चन्दउत्तो ।
जअदि जअणसज्जं जा अकाऊण सेण्णं
पड़िहदपरपक्खा अज्जचाणक्कणीदी ॥१॥

(जयति जलदनीलः केशवः केशिघाती
जयति च जनदृष्टेश्चन्द्रमाश्चन्द्रगुप्तः ।
जयति जयनसज्जं या अकृत्वा च सैन्यं
प्रतिहतपरपक्षा आर्यचाणक्यनीतिः ॥१॥)

(अलङ्कारों से सुसज्जित प्रसन्न सिद्धार्थक प्रवेश करता है)

सिद्धार्थक—

प्रसङ्गः—मलयकेतुप्रभृतिषु रङ्गान्निष्क्रान्तेष्वलङ्कारैरलङ्कृतः प्रसन्नमुद्रः प्रविशन् सिद्धार्थकोऽतिक्रान्तकेशवपराक्रमं—आर्यचाणक्यं स्तौति ।

अन्वयः—जलदनीलः केशिघाती केशवः जयति । जनदृष्टेः चन्द्रमाः चन्द्र-

गुप्तश्च जयति। आर्यचाणक्यनीतिश्चजयति । या जयनसज्जं सैन्यं अकृत्वा प्रतिहतपरपक्षा विद्यते ।

भाषार्थः—मेघ सदृश नीलवर्ण, केशी राक्षस के हन्ता श्रीकृष्ण की जय हो। जनदृष्टि के लिये चन्द्र तुल्य चन्द्रगुप्त की जय हो। आर्य चाणक्य की नीति की जो युद्धार्थ तैयार सेना के विना ही शत्रुपक्ष को नष्ट करने वाली है—की जय हो।

संस्कृतार्थः—जलदनीलः = घनश्यामः, केशिघाती = तदाख्यराक्षसविनाशकः, केशवः = कृष्णः, जयति = सर्वोत्कर्षेण वर्तते। जनदृष्टेः = लोकलोचनस्य, चन्द्रमाः = चन्द्रः, चन्द्रगुप्तः = मौर्यः, जयति = विजयते । आर्यचाणक्यनीतिः = कौटिल्यनयः जयति, या नीतिः जयनसज्जं – जयनं = युद्धं तदर्थं सज्जा = वेशो यस्य तादृशं, सैन्यं = वरूथिनीं, अकृत्वा = असम्पाद्य, सेनां विनैवेत्यर्थः, प्रतिहतपरपक्षा = प्रतिहतः = विनाशितः, परपक्षः = शत्रुपक्षः यया तादृशी चाणक्यनीतिः, जयति = विजयते ।

भावार्थः—अस्मिन् पद्ये केशवस्य जयोच्चारणे यः प्रहर्षः सिद्धार्थकस्य ततोऽप्यधिकः चाणक्यस्य जयोद्घोषणे। यतः केशवः करचरणप्रहारैः केशिनं जघान, चाणक्यनीतिस्तु वस्तुतोऽनन्यसाधनाप्रतिहतपरपक्षाऽतः का तुलना कृष्णचाणक्ययोरिति भावः ।

टिप्पणी

व्याकरणम्—जलदनीलः = जलं ददाति इति जलदः मेघः तद्वन्नीलः उपमितकर्मधारयसमासः । जयनसज्जम् = जीयतेऽनेनेति जयनं, जि + ल्युट् ल्युटोरनादेशः। "युवोरनाकौ" इस सूत्र से। प्रतिहतपरपक्षा = प्रतिहतः परपक्षः यया सा बहुव्रीहिः। कोषः—"जयने जयः" इत्यमरः अलंकारः लुप्तोपमा, विभावना च। छन्दः—मालिनी—"ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः" इति लक्षणात्।

ता जाब चिरस्स कालस्स प्पिअवअस्सं सुसिद्धत्थअं पेक्खामि। (परिक्रम्यावलोक्य च) अअं उण प्पिअवअस्सओ सुसिद्धत्थओ इदो

ज्जेव आअच्छादी ता जाव उवसप्पामि । (तद्यावच्चिरस्य कालस्य प्रियवयस्यं सुसिद्धार्थकं पश्यामि । अयं पुनः प्रियवयस्यः सुसिद्धार्थक इत एवागच्छति, तद्यावदुपसर्पामि ।)

(ततः प्रविशति सुसिद्धार्थकः ।)

सुसिद्धार्थकः—

सन्ताबेन्ता आवाणेसुं महूसबेसुं रुआबेन्ता ।
हिअअच्छिआ अवि विहवा विरहे मित्ताणं दुम्मणाअन्ते ।।२।।
(सन्तापयन्तः आपानेषु महोत्सवेषु रुजायन्तः ।
हृदयस्थिता अपि विभवा विरहे मित्राणां दुर्मनायन्ते ।।२।।)

भाषार्थः—तो बहुत काल पश्चात् प्रिय मित्र सुसिद्धार्थक को देख रहा हूँ । (घूमकर और देखकर) अरे प्रिय मित्र सिद्धार्थक तो इधर ही आ रहा है । तो इसके पास चलूँ ।

(सुसिद्धार्थक का प्रवेश)

सुसिद्धार्थकः—

प्रसङ्गः—सिद्धार्थकमनुरङ्गस्थलं प्रविशन् सुसिद्धार्थकः चन्द्रगुप्तस्य साम्राज्याधिरोहणसमये प्रियवयस्यं राज्यस्य कृतकार्यं सिद्धार्थकमनुपस्थितं पश्यन् खिन्नमना व्याचष्टे पद्यमिदम् ।

अन्वयः—मित्राणां विरहे विभवाः हृदयस्थिता अपि आपानेषु सन्तापयन्तः महोत्सवेषु रुजायन्तः दुर्मनायन्ते ।

भाषार्थः—मित्रों के वियोग में ऐश्वर्य हृदय में विद्यमान रहने पर भी पान-गोष्ठियों में टीस उत्पन्न करते हुए और महोत्सवों में रोग उत्पन्न करते हुए आनन्द-शून्य हो जाते हैं ।

संस्कृतार्थः—मित्राणां=वयस्यानां, विरहे=वियोगे; विभवाः=सम्पत्तयः, हृदयस्थिता अपि=अन्तःकरणवर्तिनोऽपि, आपानेषु=पानगोष्ठीषु, सन्तापयन्तः=दुःखमुत्पादयन्तः, महोत्सवेसु=नृत्यगीतादिषु महासमारम्भेषु, रुजायन्तः=रोगं जनयन्तः, दुर्मनायन्ते=आनन्दरहिताः जायन्ते ।

भावार्थः—महोत्सवाः अपि मित्ररहिताः नानन्ददायकाः भवन्ति, परं

निरानन्दाः जायन्ते, धनानि ऐश्वर्याणिः अपि रुजायन्ते, मित्राणां वियोगः सर्वथा ऽसह्यः ।

टिप्पणी

व्याकरणम्—रुजायन्तः = रुजा + णिच् + शतृ प्रथमाबहुवचनम् । दुर्मनायन्ते = दुर्मनस् + क्यङ् + सलोपः लट् + झ "भृशादिभ्यो भुव्यच्वेः लोपश्च हलः ।" सन्तापयन्तः = सम् + तप् + घञ् = सन्ताप + सम् + तप् + णिच् + शतृ प्रथमाबहुवचनम् । मित्राणां, मित्रः पुंल्लिग सूर्य का वाचक हैं । मित्रम् — नपुंसकलिङ्ग सुहृद् का वाचक । कोषः—आपानेषु "आपानं पानगोष्ठिका" इत्यमरः । अलंकारः—दीपक और काव्यलिङ्ग । छन्दः—आर्यावृत्तम् । यस्याः प्रथमे पादे द्वादशमात्रास्तथातृतीयेऽपि अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश सार्या ।

सुदञ्च मया—मलयकेदुकड़आदो प्पिअवअस्सओ सिद्धात्थओ आअदोत्ति । ता जाव णं अराणेसामि (परिक्रम्योपसृत्य च) एसो सिद्धत्थओ । (श्रुतञ्च मया यथा मलयकेतुकटकात्प्रियवयस्यः सिद्धार्थक आगतः इति । तद्यावदेनमन्विष्यामि । एष सिद्धार्थकः)

सिद्धार्थकः—(विलोक्य) कधं इदो ज्जेब प्पिअवअस्सओ सुसिद्धत्थओ । (उपगम्य) अवि सुहं प्पिअवअस्सस्स ? (कथमित एव प्रियवयस्यः सुसिद्धार्थकः । अपि सुखं प्रियवयस्यस्य ?

(उभावन्योन्यमालिङ्गतः)

सुसिद्धार्थकः—अह वअस्स ! कुदो मे सुहं जस्स तुमं चिरआलप्पवासपच्चागदोबि, अआणिअ बुत्तन्तं, अण्णदो गदोसि ? त्ति (अहो वयस्य ! कुतो मे सुखम् यस्य त्वं चिरकालप्रवासप्रत्यागतोऽप्यज्ञापयित्वा वृत्तान्तमन्यतो गतोऽसीति)

सिद्धार्थकः—प्पसीददु प्पिअवअस्सो । अहं क्खु दिट्ठमेत्तो ज्जेब्ब अज्जचाणक्केण आणत्तो, जधा—"सिद्धत्थअ गच्छ, एदं प्पिअं बुत्तन्तं प्पिअदंसणस्स देअस्स चन्दसिरिणो णिबेदेहि" त्ति । तदा तस्स तं णिबेदिअ, एब्बं अणुभूदपात्थिवप्सादो अहं प्पिअवअस्सं प्पेक्खिदं

तुह गेहं चलिदोह्मि (प्रसीदतु प्रियवयस्यः । अहं खलु दृष्टमात्र एवार्यचाणक्येनाज्ञप्तो यथा—

सिद्धार्थक ! गच्छ, इमं प्रियं वृत्तान्तं प्रियदर्शनस्य देवस्य चन्द्रश्रियो निवेदयेति । ततस्तस्य तन्निवेद्य एवमनुभूतपार्थिवप्रसादोऽहं प्रियवयस्यं तव गेहं चलितोऽस्मि ।)

सुसिद्धार्थकः—बअस्स ! जदि मए एदं सुणिदब्बं भोदि, ता मं पि सुणाबेहि, किं ते प्पिअं पिपअदंसणस्स चन्दसिरिणो णिबेदिदं त्ति ।

(वयस्य ! यदि मयेदं श्रोतव्यं भवति, तन्मामपि श्रावय, किं तत् प्रियं प्रियदर्शनस्य चन्द्रश्रियो निवेदितमिति)

सिद्धार्थकः—प्पिअवअस्स ! तुह वि किं असुणिदब्बं अत्थि ? ता णिसामेहि । अत्थि दाब, अज्जचाणक्कणीदिमोहिदमदिणा मलअकेदुहदएण णिराकरिअ रक्खसं, हदा चित्तवम्मप्पमुहा प्पहाणा पंच पात्थिवा; तदो असमिक्खकारी एसो दुराआरो त्ति कदुअ, उज्झिअ मलअकेदुकड़अभूमिं, णिअभूमिकुसलदाए भअविलोलसेण्णतणूवि दसेसपरिवारेसुं सकं सकं विसअं अभिप्पत्थिदेसु पात्थिवेसु भद्रभट-पुरुदत्त-हिङ्गुरात-वलउत्त-रांअसेण--भागुराअण-रोहिदक्खविजअवम्मप्पमुहेहिं संजमिदो मलअकेदू । (प्रियवयस्य ! तवापि किमश्रोतव्यमस्ति ? तन्निशामय—अस्ति तावदार्यचाणक्यनीतिमोहितमतिना मलयकेतुहतकेन निराकृत्य राक्षसं, हताश्चित्रवर्मप्रमुखाः प्रधानाः पञ्च पार्थिवाः । ततोऽसमीक्ष्यकारी एष दुराचार इत्युज्झित्वा मलयकेतुकटकभूमिं निजभूमिकुशलतया भयविलोलसैन्यतनूकृतशेषपरिवारेषु स्वकं स्वकं विषयमभिप्रस्थितेषु पार्थिवेषु, भद्रभट-पुरुषदत्त-हिङ्गुरात-बलगुप्त-राजसेन-भागुरायण-रोहिताक्ष-विजयवर्मप्रमुखैः संयमितो मलयकेतुः ।

भाषार्थ—मैंने सुना है कि मलयकेतु के कटक से प्रियमित्र सुसिद्धार्थक आ गया है । तो अब उसे खोजूं । (घूमकर और पास जाकर) अरे सिद्धार्थक तो यह है ।

सिद्धार्थक—(देखकर) अरे प्रिय मित्र सुसिद्धार्थक तो इधर ही आ रहा है। (पास जाकर) प्रिय मित्र कुशल तो है ?

दोनों परस्पर गले मिलते हैं)

सुसिद्धार्थक—अहो मित्र, कुशल कहाँ हो सकता है। जिसके तुम चिर-काल से प्रवास से लौटकर बिना हाल-चाल बताये दूसरी ओर चले गये।

सिद्धार्थक—प्रिय मित्र, प्रसन्न हो। मुझे तो देखते ही आर्य चाणक्य ने आज्ञा दी कि "सिद्धार्थक, जाओ यह प्रिय समाचार प्रियदर्शन महाराज चन्द्रगुप्त को बता दो"। तब वह समाचार उनको देकर और इस प्रकार राजा की कृपा का अनुभव करके मैं प्रियमित्र को देखने के लिये तुम्हारे घर की ओर चल पड़ा हूँ।

सुसिद्धार्थक—मित्र मेरे सुनने योग्य हो तो मुझे भी सुनाओ कि वह कैसा प्रिय समाचार है। जो प्रियदर्शन चन्द्रगुप्त को सुनाया है।

सिद्धार्थक—प्रिय मित्र क्या कोई ऐसी भी बात है जो तुम्हारे सुनने योग्य न हो। तो सुनो, चाणक्य की नीति से किंकर्त्तव्यविमूढ़ होकर अभागे मलय-केतु ने राक्षस को निकालकर चित्रवर्मा प्रभृति पाँच मुख्य राजाओं को मरवा डाला। तब अन्य राजाओं ने यह समझकर कि यह मलयकेतु दुराचारी और बिना विचार कर काम करने वाला है, मलयकेतु की सेना को छोड दिया और अपने-अपने अधिकार की रक्षा करने लगे। भय से व्याकुल होकर सेना के अल्प हो जाने पर वे राजा अपने-अपने देश को चले गये। तब भद्रभट, पुरुषदत्त, बलगुप्त, राजसेन भागुरायण, रोहिताक्ष, विजय वर्मा आदि ने मलयकेतु को कैद कर लिया।

टिप्पणी

संस्कृतार्थः—प्रियदर्शनस्य=प्रियं दर्शनं यस्य स तस्य बहुव्रीहिः। असमीक्ष्यकारी=न समीक्ष्य असमीक्ष्य कर्तुं शीलमस्य इति न+सम्+ईक्ष्+क्त्वा (ल्यप्) कृ+णिनि। निराकृत्य=निर्+आ+कृ+क्त्वा। चाणक्य-नीतिमोहितमतिना=चाणक्यस्य नीत्या मोहिता मतिः यस्य सः तेन बहु-व्रीहिः। पार्थिव=पृथिवी+अण्। विषयः=विषिण्वन्ति सम्बध्नन्ति विषयिण-

मिति विषयः—वि+सि+अच् षत्वं च रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, शब्दः पञ्चविषयाः ।

सुसिद्धार्थकः—बअस्स ! भद्दभटप्पमुहा किल देअस्स चन्दसिरिणो अवरत्ता मलअकेदुं समास्सिदा त्ति लोए मन्तीअदि । ता किं णिमित्तं एदं कुकविणाडअस्स बिअ अण्णं मुहे अण्णं णिब्बहणे त्ति ? (वयस्य! भद्रभटप्रमुखाः किल देवस्य चन्द्रश्रियोऽपरक्ता मलयकेतुं समाश्रिता इति लोके मन्त्यते । तत् किं निमित्तमेतत् कुकविनाटकस्येवान्यन्मुखेऽन्यन्निर्वहण इति ?)

सिद्धार्थकः—बअस्स ! सुणु दाव, दैवगदीए बिअ असुणिदगदीएणमो अज्जचाणक्कणीदीए । (वयस्य ! शृणु तावत्, देवगत्यै इवाश्रुतगत्यै नम आर्यचाणक्यनीत्यै ।)

सुसिद्धार्थकः—बअस्स ! तदो तदो ? (वयस्य ! ततस्ततः ?)

सिद्धार्थकः—बअस्स ! तदो प्पहुदि, सारसाहणसमुदएण इदो णिक्कमिअ अज्जचाणक्केण पड़िवण्णं अराअलोअं असेसराअबलं । (वयस्य ! ततः प्रभृति, सारसाधनसमुदयेनेतो निष्क्रम्य आर्यचाणक्येन प्रतिपन्नमराजलोकमशेषराजबलम् ।)

सुसिद्धार्थक—बअस्स ! कहिं ? (वयस्य ! कुत्र ?)

सुसिद्धार्थक—मित्र, सुना जाता है कि भद्रभट आदि सम्राट् चन्द्रगुप्त से रुष्ट होकर मलयकेतु से मिल गये हैं। तो क्या कारण है कि किसी कुकवि के बनाए हुये नाटक की तरह मुखसन्धि अर्थात् प्रारम्भ में कुछ और तथा निर्वहण सन्धि यानी अन्त में कुछ और होता जा रहा है।

सिद्धार्थक—अरे मित्र, सुनते जाओ। यह सब तो आर्य चाणक्य की नीति की महिमा है। जो ब्रह्मा की गति-विधि के समान अगम्य है। उस गति को नमस्कार है।

सुसिद्धार्थक—मित्र, तो क्या हुआ ?

सिद्धार्थक—इसके पश्चात् उत्कृष्ट सेना के साथ आर्य चाणक्य ने निकल

कर राजाओं से रहित सारी सेना को वश में कर लिया।

सुसिद्धार्थक –मित्र कहाँ।

टिप्पणी

व्याकरणम्—निर्वहणे =निरुह्यते इतस्ततः आदाय एकार्थीक्रियते अस्मिन् इति, निर् + वह् + ल्युट् = निर्वहण। अश्रुतगत्यै = नश्रुता अश्रुता गतिः यस्याः सा तस्यै। आर्यचाणक्यनीत्यै नमः=यहाँ नीत्यै में नमः के योग में "नमः स्वस्तिस्वाहास्वधा" से चतुर्थी हुई। निष्क्रम्य=निस् + क्रमु + क्त्वा (ल्यप्)।

सिद्धार्थकः—वअस्स ! जहिं एदे,—(वयस्य ! यत्रैते,—)

अदिसअगुरुएणं दाणदप्पेण दन्ती
सजलजलदलीलां उब्बहन्तो णदन्ति।
कसपहरभएणं जादकम्पा तुरन्तो
गहिदजअणसज्जा संपदन्ते तुलंगा ॥३॥

(अतिशयगुरुकेण दानदर्पेण दन्तिनः
सजलजलदलीलामुद्वहन्तो नदन्ति।
कशाप्रहारभयेन जातकम्पास्त्वरयन्तः
गृहीतजयनसज्जाः सम्पद्यन्ते तुरङ्गाः ॥३॥

सिद्धार्थक—मित्र ! जहाँ ये—

अतिशय इति—

प्रसङ्गः—सिद्धार्थकः रणाङ्गणे गजाश्वयोः पुनः सैन्यसज्जां वर्णयति।

अन्वयः—गृहीतजयनसज्जाः दन्तिनः अतिशयगुरुकेण दान-दर्पेण सजल-जलदलीलामुद्वहन्तः नदन्ति। तुरङ्गाः कशाप्रहारभयेन जातकम्पाः त्वरयन्तः सम्पद्यन्ते।

भाषार्थः—युद्ध के वेश को धारण किये हुए हाथी अत्यन्त बढ़े हुए मद के अभिमान से जल से भरे हुए बादल की लीला करते हुए चिंघाड़ रहे हैं। और

घोड़े चाबुक की मार के डर से काँपते हुए शीघ्रता करते दिखाई दे रहे हैं।

संस्कृतार्थः—गृहीतजयनसज्जाः = गृहीतः = अंगीकृतः धृतः इति वा जयनस्य = जन्यस्य, सज्जः = वेषभूषा यैः तादृशाः, दन्तिनः = गजाः, अतिशय-गुरुकेण = अतिप्रबलेन, दानदर्पेण = मदजलाहंकारेण, सजलजलदलीलां = जलेन सहितानां, जलदानां = मेघानां, लीलां = चरितं, उद्वहन्तः = धारयन्तः, नदन्ति = गर्जन्ति। तुरङ्गाः = वाजिनः, कशाप्रहारभयेन = कशायाः = अश्व-ताडन्याः, प्रहारः = आघातः तस्मात् यद्भयं = भीतिः, तेन जातकम्पाः = जातः = उत्पन्नः, कम्पः = वेपनं येषां तादृशाः अश्वाः, त्वरयन्तः = शीघ्रतां कुर्वन्तः, सम्पद्यन्ते = सन्नद्धाः भवन्ति।

भावार्थः—"आर्यचाणक्येन प्रतिपन्नमराजलोकमशेषराजबलम् क्व" इति सुसिद्धार्थकप्रश्नस्योत्तरम्। यद्यत्र गजाः अश्वाश्च युद्धाय सन्नद्धाः वर्तन्ते अर्थात् युद्धस्थले चाणक्येनारिबलं परिगृहीतम्।

टिप्पणी

व्याकरणम्—अतिशयगुरुकेण = अतिशयः चासौ गुरुकः इति अतिशय-गुरुकः तेन, गुरुरेव गुरुकः स्वार्थे कन् प्रत्ययः। अशेषराजबलम् = न शेषं अशेषं, राज्ञां बलं राजबलं, अशेषं च तत् राजबलम्। कर्मधारयसमासः। जात-कम्पः = जन् + क्त, कम्प् + घञ्। जलदः = जलं ददाति जलदः, जल + दा + कः। कोषः—दन्ती दन्तावलो हस्ती द्विरदोऽनेकपः द्विपः इत्यमरः। अलंकारः—उपमा रूपकञ्च। छन्दः—मालिनी "ननमयययुतेयं मलिनी भोगिलोकैः।"

सुसिद्धार्थकः—वअस्स ! एदं सव्वं दाबं चिट्ठदु, तहा सव्वलो-अप्पच्चक्खं उज्झिआहिआरो भविअ कहं अज्जचाणक्को पुणो वि तं ज्जेव मन्तिपदं आरूढो ? (वयस्य ! एतत् सर्वं तावत् तिष्ठतु। तथा सर्वलोकप्रत्यक्षमुज्झिताधिकारो भूत्वा कथमार्यचाणक्यः पुनरपि तदेव मन्त्रिपदमारूढः ?)

सिद्धार्थकः—वअस्स ! अदिमुद्धो दाणीं सि तुमं, जो अमच्चरक्ख-सेण अणवगाहिदपुव्वं अज्जचाणक्कबुद्धिं अवगाहिदुं इच्छसि ?

(वयस्य ! अतिमुग्ध इदानीमसि त्वं, योऽमात्यराक्षसेनागृहीतपूर्वामार्यचाणक्यबुद्धिमवगाहितुमिच्छसि ।)

सुसिद्धार्थकः—वअस्स ! अध अमच्चरक्खसोदाणीं कहिं ? (वयस्य ! अथाऽमात्यराक्षस इदानीं कुत्र ?)

सिद्धार्थकः—वअस्स ! सोक्खु तस्सिं प्पलअकोलाहले वढ्ढमाणे मलअकेदुकड़आदो णिक्कमिअ उन्दुरणामहेएण चरेण अणुसरन्तो इमं ज्जेव कुसुमउरं आगदो त्ति अज्जचाणक्कस्स णिवदिदं । (वयस्य ! स खलु तस्मिन् प्रलयकोलाहले वर्धमाने मलयकेतुकटकात् निष्क्रम्योन्दुरनामधेयेन चरेणानुश्रियमाण इदमेव कुसुमपुरमागत इत्याचाणक्यस्य निवेदितम् ।)

सुसिद्धार्थकः—वअस्स ! तहा णाम अमच्चरक्खसो णन्दरज्जप्पच्चणअणे क्किदव्वसाओ णिक्कमिअ सम्पदं अकिदत्थो पुणो वि कहं इमं ज्जेव कुसुमउरं आअदो ? (वयस्य ! तथा नाम अमात्यराक्षसो नन्दराज्यप्रत्यानयने कृतव्यवसायो निष्क्रम्य साम्प्रतमकृतार्थः पुनरपि कथमिदमेव कुसुमपुरमागतः ?)

सिद्धार्थकः—वअस्स ! तक्केमि, चन्दणदासस्स सिणेहेण त्ति । (वयस्य ! तर्कयामि, चन्दनदासस्य स्नेहेनेति ।)

सुसिद्धार्थकः—वअस्स ! सच्चं चन्दणदासस्स सिणेहेण त्ति ? अध चन्दणदासस्स मोक्खं प्पेक्खसि ? (वयस्य ! सत्यं चन्दनदासस्य स्नेहेनेति ? अथ चन्दनदासस्य मोक्षं प्रेक्षसे ?

सिद्धार्थकः—वअस्स ! कुदो से अधण्णस्स मोक्खो ? सो क्खु सम्पदं अज्जचाणक्कस्स आणतीए दुवहिं पि अह्मेहिं वज्झट्ठाणं प्पवसिअ वावादइदव्वो । (वयस्य ! कुतोऽस्याधन्यस्य मोक्षः ? स खलु साम्प्रतमार्यचाणक्यस्याऽऽज्ञप्त्या द्वाभ्यामप्यावाभ्यां वध्यस्थानं प्रवेश्य व्यापादयितव्यः ।)

सुसिद्धार्थकः—(सक्रोधम्) वअस्स ! किं अज्जचाणक्कस्स घाद-

अजणो अणो णत्थि, जेण अह्मे ईदिसे णिसंसे कम्मे णिजुज्जीअदि (वयस्य ! किमार्यचाणक्यस्य ? घातकः जनोऽन्यो नास्ति, येनावामीदृशे नृशंसे कर्मणि नियुज्यावहे ?)

सिद्धार्थकः—बअस्स ! को जीवलोए जीविदुकामो अज्जचाणक्कस्स आणत्तिं पड़िऊलेदि ता एहि, चंडालबेसधारिणा भविअ चन्दणदासं वज्झट्ठाणं णेह्म। (वयस्य ! को जीवलोके जीवितुकामः आर्यचाणक्यस्याज्ञप्तिं प्रतिकूलयति ? तदेहि चण्डालवेशधारिणौ भूत्वा चन्दनदासं वध्यस्थानं नयावः।)

(इत्युभौ निष्क्रान्तौ।)

प्रवेशकः

सुसिद्धार्थक—मित्र, ये सब बातें रहने दो। बताओ तो सबके सम्मुख चाणक्य ने अधिकार का त्याग कर फिर मन्त्री पद किस प्रकार ग्रहण किया।

सिद्धार्थक—मित्र, इस समय तुम नितान्त अनभिज्ञ हो जो कि आर्य चाणक्य की बुद्धि को जिसे पहले अमात्य राक्षस भी न समझ पाये समझना चाहते हो।

सुसिद्धार्थक—मित्र, अमात्य राक्षस इस समय कहाँ है ?

सिद्धार्थक—मित्र, जब प्रलयकालीन शोर मलयकेतु के शिविर में बढ़ने लगा तो वह वहाँ से निकलकर उन्दुर नामक गुप्तचर से पीछा किया जाता हुआ इसी कुसुमपुर में आया। यह बात आर्य चाणक्य को बता दी गई है।

सुसिद्धार्थक—मित्र, यह कैसे हो सकता है कि जो अमात्य राक्षस नन्दराज्य की पुनः स्थापना में इतना प्रयत्नशील रहा है वह निष्फल प्रयत्न होने पर इसी पाटलिपुत्र में चला आयेगा जहाँ से वह चला गया था।

सिद्धार्थक—मित्र, मैं समझता हूँ कि चन्दनदास के प्रेम से वह यहाँ आया है।

सुसिद्धार्थक—तो क्या यह सच है कि चन्दनदास का स्नेह उसे यहाँ खींच लाया है। क्या तुम चन्दनदास के छुटकारे की आशा कर रहे हो।

सिद्धार्थक—मित्र, उस अभागे का छुटकारा कहाँ। उसे तो इस समय हम दोनों आर्य चाणक्य की आज्ञा से वध्य स्थान में ले जाकर मार डालेंगे।

सुसिद्धार्थक—क्रोध से, मित्र, क्या आर्य चाणक्य को दूसरा वधिक नहीं मिला जो हम लोगों को ऐसे क्रूर कर्म में लगा दिया।

सिद्धार्थक—मित्र, इस संसार में ऐसा कौन व्यक्ति है जो जीने की इच्छा रखता हुआ आर्य चाणक्य की आज्ञा का उल्लंघन करे। तो आओ, चाण्डाल का वेष बनाकर चन्दनदास को वध्यभूमि में ले चलें।

(दोनों चले जाते हैं।)

प्रवेशक समाप्त।

(ततः प्रविशति रज्जुहस्तः पुरुषः।)

पुरुषः—

छग्गुणसंजोअदिढ़ा उवाअपरिवाडिघडिदपासमुही।
चाणक्कणीदिरज्जू रिउसंजमणउजुआ जअदि ॥४॥
(षड्गुणसंयोगदृढा उपायपरिपाटीघटितपाशमुखी।
चाणक्यनीतिरज्जू रिपुसंयमनऋजुका जयति ॥४॥)

(रस्सी हाथों में लिये हुये पुरुष का प्रवेश)

प्रसङ्गः—सम्पूर्णे राजबले वशीकृतेऽपि राक्षसवशीकरणमन्तरा मौर्य-राज्यमस्थिरं खलु इति मन्यमानः चाणक्यनीतिमनुसरन् तच्चरः मनसि मोद-मानः वक्ति पद्यमिदम्।

अन्वयः—षड्गुणसंयोगदृढा उपायपरिपाटीघटितपाशमुखी रिपुसंय-मनऋजुका चाणक्यनीतिरज्जुः जयति।

भाषार्थ—सन्धि विग्रह यान आसन संश्रय द्वैधीभाव इन छः गुणों के संयोग से सुदृढ़ और साम दान दण्ड भेद इन उपाय चतुष्टय से सर्वथा संगठित पाश रूपी मुख वाली और शत्रु के बन्धन से सीधी चाणक्य की नीति रूपी रस्सी विजय को प्राप्त होती है।

संस्कृतार्थः—षड्गुणसंयोगदृढा = षण्णां गुणानां = सन्धिविग्रहयाना-ऽऽसनसंश्रयद्वैधीभावानां संयोगेन दृढा = दुर्भेद्या उपायपरिपाटीघटितपाश-

मुखी = उपायानां = सामदानदण्डभेदानां उपायचतुष्टयानां, परिपाट्या = क्रमेण, घटितः = निर्मितः, यः पाशः = जालं, मुखे = सम्मुखे यस्याः तादृशी, रिपुसंयमनऋजुका = रिपोः = शत्रोः, यत् संयमनं = बन्धनं, तेन ऋजुका = ऋज्वी सरलेति यावत्, चाणक्यनीतिरज्जुः = चाणक्यस्य = कौटिल्यस्य, नीतिः = नयः रज्जुः = दाम सा, पक्षे चाणक्यनीतिः इवः रज्जुबन्धनदाम, जयति = सर्वोत्कर्षेण वर्तते ।

भावार्थः—पद्यमिदं श्लेषालंकारेणोपनिबद्धं नीतिपक्षे रज्जुपक्षे च । यथा नीतिः सन्धिविग्रहादि षण्णां गुणानां संयोगेन दृढा दुर्भेद्या भवति सामाद्युपायचतुष्टयेन च क्रमेण रचिता शत्रुं बध्नाति वशीकरोति, तथैव षण्णां सूत्राणां संयोगेनोपनिबद्धा दृढा विविधैरुपायैः कलाकौशलैः निर्मिता बन्धने सरला रज्जुः विजयते ।

टिपप्णी

व्याकरणम्—दृढा = दृह् + क्त + टाप् । परिपाट्या = परिभागेन पाटिः पाटनं गतिः यस्याः सा तया प्रादिबहुव्रीहिसमासः, परिपाटि + ङीष् । ऋजुका = अर्जयति गुणान्, अर्ज् + उ + कन् + टाप् । संयमन = सम् + यमु (उपरमे) + ल्युट् ल्युटोरनादेशः । अलंकारः—श्लेषः । छन्दः—आर्यावृत्तम् ।

(परिक्रम्यावलोक्य च) एसो सौ अज्जचाणक्कस्स उन्दुरएण चरेण कधिदो प्पदेसो, जहि मए अज्जचाणक्काणत्तोए अमच्चरक्खसो प्पेक्खिदब्बो । (विलोक्य) कहं एसो क्खु अमच्चरक्खसो किदसीसावगुण्ठणो इदो ज्जेव आअच्छदि । ता जाव इमेहिं जिण्णुज्जाणपादबेहिं अधवारिदसरीरो प्पेक्खामि, कहिं आसणपरिग्गहं करेदि । (एष स आर्यचाणक्याज्ञाप्त्याऽमात्यराक्षसः प्रेक्षितव्यः । कथमेव खल्वमात्यराक्षसः कृतीशीर्षावगुण्ठन इत एवागच्छति, तद्यावदेभिर्जीर्णोद्यानपादपैरपवारितशरीरः प्रेक्षे, कुत्रासनपरिग्रहं करोतीति ?) (इति परिक्रम्य तथा स्थितः)

भाषार्थः—(घूमकर और देखकर) अरे यह तो वही स्थान है जिसके विषय में गुप्तचर उन्दुरक ने आर्य चाणक्य को बताया है । यहीं पर आर्य

चाणक्य की आज्ञा से मुझे राक्षस से भेंट करनी है। (देखकर) अरे तो क्या अमात्य राक्षस यही हैं जो सिर को ढके इधर ही आ रहे हैं। अच्छा इस पुराने बगीचे के पेड़ों के झुरमुट में छिप कर देखूं कि ये कहाँ बैठते हैं (घूमकर वृक्षों के झुरमुट में खड़ा हो जाता है)

टिप्पणी

व्याकरणम्—कृतशीर्षावगुण्ठनः=कृतं शीर्षस्य अवगुण्ठनं येन सः अन्तरितशरीरः=अन्तरितं शरीरं येन सः दोनों पदों में बहुव्रीहि समास है। पादपः=पादैः मूलैः पिवतीति पद+घञ्+पा+कः। जीर्णः=जृ+क्त। प्राचीन। परिक्रम्य=परि+क्रम्+क्त्वा (ल्यप्)।

(ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टः राक्षसः।)

राक्षसः—(सवाष्पम्) कष्टं, भोः कष्टम्!!

उत्सन्नाश्रयकातरेव कुलटा गोत्रान्तरं श्रीर्गता
तामेवानुगता गतानुगतिकास्त्यक्तानुरागाः प्रजाः।
आप्तैरप्यनवाप्तपौरुषफलैः कार्यस्य धूरुज्झिता
किं कुर्वन्त्वथवोत्तमाङ्गरहितैर्नागैरिव स्थीयते ॥५॥

शस्त्र हाथ में लिये हुए उपर्युक्त वर्णित अवस्था में राक्षस का प्रवेश)

राक्षस—(आँसू के साथ) बड़े कष्ट की बात है।

प्रसङ्गः—चाणक्यनीतिविमूढेन कुमारेण मलयकेतुना निराकृतः नैराश्याविष्टः राक्षसः यद्भूतं यच्च भावि तत्सर्वं मम नीतिनैष्फल्यमिति मत्वा पूर्वं राजलक्ष्मीं निन्दति।

अन्वयः—श्रीः उत्सन्नाश्रयकातरा कुलटा इव गोत्रान्तरं गता। गतानुगतिकाः प्रजाः त्यक्तानुरागाः तां एव अनुगताः। अनवाप्तपौरुषफलैः आप्तैः अपि कार्यस्य धः उज्झिता। अथवा किं कुर्वन्तु, उत्तमाङ्गरहितैः नागैः इव स्थीयते।

भाषार्थ—आश्रम के नष्ट हो जाने पर लक्ष्मी व्याकुल होकर कुलटा स्त्री के समान दूसरे गोत्र में चली गई। लकीर की फकीर प्रजा अनुराग छोड़कर उसी लक्ष्मी के पीछे-पीछे चली गई। पुरुषार्थ का फल न प्राप्त कर विश्वास पात्रों

ने भी कार्य भार छोड़ दिया। अथवा वे क्या करें वे तो सिर रहित हाथियों की तरह जीवन बिता रहे हैं।

संस्कृतार्थः—श्रीः=लक्ष्मीः उत्सन्नाश्रयकातरा=उत्सन्नः=नष्टः, आश्रयः=अवलम्बः, यस्याः सा चासौ कातरा=किंकर्तव्यविमूढा कुलटा इव=पुंश्चली स्त्रीव, गोत्रान्तरं=नन्दभिन्नराजवंशं, अन्यत् गोत्रम्, गता=प्रयाता, गतानुगतिकाः=मेषगतिकाः, प्रजाः=प्रकृतयः, त्यक्तानुरागाः=त्यक्तः=मुक्तः, अनुरागः=स्नेहः याभिः तथाभूतः, ताम्=लक्ष्मीं, एव=अवधारणे, गता=प्रयाता। अनवाप्तपौरुषफलैः=अनवाप्तं=अलब्धं, पौरुषस्य=उद्योगस्य, फलं=परिणामः, यैः तादृशैः आप्तैः=विश्वासपात्रैः, अपि, कार्यस्य=कर्मणः, धूः=भारः, उज्झिता=त्यक्ता। अथवा=आहोस्वित्, ते=आप्ताः अपि, किं कुर्वन्तु=किं विदधतु, उत्तमाङ्गरहितैः=मस्तिष्करहितैः, नागैः=गजैः, इव=यथा तैः=आप्तैः, स्थीयते वर्त्यते।

भावार्थः—कुमारमलयकेतुना बहिष्कृतः तिरस्कृतो वा राक्षसः स्वनीतिनैपुण्यं निष्फलं मन्वानः किंकर्तव्यविमूढः लक्ष्मीं निन्दति। कथयति च यल्लक्ष्मीः नन्दं परित्यज्य कुलटेव चन्द्रगुप्तमाश्रिता, प्रजाः अपि तमेवानुगताः, विश्वस्तपुरुषाः अपि कार्यं नानुतिष्ठन्ति, आधुनाहं किं करोमि। नायकवैकल्यात् शक्तिमन्तो ऽपि आप्ताः कार्यं कर्तुमक्षमाः जाताः।

टिप्पणी

व्याकरणम—उत्सन्नः=उत्+सद्=क्तः। कुलटा=उत्कुला कुलानि अटति इति अट् (गतौ)+अच्+टाप्। कुल+अटा शकन्ध्वादिपाठात् पररूपम्। गतानुगतिकाः=गतस्य अनुगतं अस्ति यासां शीलत्वेन इति गतानुगत+ठन् "ठस्येकः" मत्वर्थीयः। प्रजाः=प्र+जन् (प्रादुर्भावे)+ड "जनेर्डः" सूत्र से। उत्तमाङ्गैः=शरीरस्योत्तमैः अङ्गैः उद्+तमप्+अङ्ग+अच् तृतीया बहुवचनम्। कोषः—"उत्तमाङ्गं शिरः शीर्षं मूर्धा ना मस्तकोऽस्त्रियाम्" इत्यमरः। अलंकारः—काव्यलिङ्ग, उपमा द्वयोः सङ्करः। छन्दः—शार्दूलविक्रीडितम् वृत्तम्। गौडी रीतिः प्रसादो नाम गुणः।

अपि च—

पतिं त्यक्त्वा देवं भुवनपतिमुच्चैरभिजनं
गता च्छिद्रेण श्रीर्वृषलमविनीतेव वृषली ।
स्थिरीभूता चास्मिन् किमिह करवाम स्थिरमपि
प्रयत्नं नो येषां विफलयति दैवं द्विषदिव ।।६।।

प्रसङ्गः—स्वनीतिवैफल्यात् निर्मथ्यमानमना राक्षसः लक्ष्मीं विनिन्द्य प्रजाः उत्क्रोश्य, आप्तानुपालम्भ्याधुना दैवं द्वेष्टि ।

अन्वयः—श्रीः उच्चैरभिजनं भुवनपतिं देवं त्यक्त्वा अविनीता वृषली इव छिद्रेण वृषलं गता अस्मिन् स्थिरीभूता च । इह किं करवाम येषां नः स्थिरमपि प्रयत्नं द्विषदिव दैवं विफलयति ।

भाषार्थ—और भी राजलक्ष्मी महाकुलीन सम्राट् नन्द सदृश पति को छोड़ कर दुश्चरित्रा शूद्रा के समान छल से मौर्य के पास चली गई और उसमें स्थिर हो गई । इस विषय में क्या करें । हमारे बड़े-बड़े उपायों को भी भाग्य शत्रु के समान व्यर्थ बना देता है ।

संस्कृतार्थ—श्रीः = लक्ष्मीः, उच्चैरभिजनं = उच्चकुलोत्पन्नं, भुवनपतिं = स्वामिनं, देवं = नन्दं, त्यक्त्वा = मुक्त्वा, अविनीता = विनयविरहिता, वृषली इव = शूद्रा इव छिद्रेण = रन्ध्रेण, महताच्छलेन इत्यर्थः, वृषलं = चन्द्रगुप्तं, गता = समाश्रिता, अस्मिन् = वृषले, स्थिरीभूता च = अचला जाता च । इह = अस्मिन् विषये, किं करवामः = किं = विदधामः वयम् । येषां, नः = अस्माकं, स्थिरमपि = दृढमपि, प्रयत्नं = प्रयासं, द्विषदिव = अरिरिव, दैवं = भाग्यं, विफलयति = निष्फलीकरोति ।

भावार्थः—यथाऽविनीता वृषली – उच्चवंशोद्भवं पूर्वपतिं परित्यज्य छलेनाकुलीनं पुरुषान्तरं स्वीकरोति, तथैव लक्ष्मीः नन्दनृपतिमुच्चकुलोद्भवं पूर्वपतिं विहाय पुरुषान्तरमकुलीनं वृषलं पतिमाश्रितवती स्थैर्यञ्च तत्रांगीचकार नात्र विषये किमपि कर्तुं शक्यते, यतः भाग्यं शत्रुवदस्माकमुद्योगं व्यर्थयति । अर्थात् एतत्कारणे दैवमेव हेतुः न चाणक्यः इति भावः ।

व्याकरणम्—उच्चैरभिजनम् = अभिजायते अस्मिन् इति अभिजनः तं अभि + जन् + क । उच्चैः अभिजनः यस्य तं बहुव्रीहिः । विफलयति = विफल +

णिच्+लट्-तिप् नामधातुः। वृषली=वृषल+ङीप्। पितुर्गृहे च या नारी रजः पश्यत्यसंस्कृता। भ्रूणहत्या पितुस्तस्याः सा कन्या वृषली स्मृता॥ अलंकारः—उपमा तथा अतिशयोक्तिः। छन्दः—शिखरिणी। वैदर्भी रीतिः, प्रसादो गुणः।

मया हि—देवे गते दिवमतद्विधमृत्युयोग्ये
शैलेश्वरं तमधिकृत्य कृतः प्रयत्नः।
तस्मिन् हते तनयमस्य, तथाप्यसिद्धि—
र्दैवं हि नन्दकुलशत्रुरसौ न विप्रः॥७॥

प्रसङ्गः—सर्वतः सर्वथा च विफलप्रयत्नः राक्षसः चाणक्यं शत्रुं न मन्यमानः नन्दकुलशत्रुः वस्तुतः दैवं हि इति मन्यते तथाहि—

अन्वयः—अतद्विधमृत्युयोग्ये देवे दिवं गते तं शैलेश्वरं अधिकृत्य प्रयत्नः कृतः। तस्मिन् हते अस्य तनयं (अधिकृत्य प्रयत्नः कृतः) तथापि असिद्धिः। दैवं-हि नन्दकुलशत्रुः असौ विप्रः न।

भाषार्थ—महाराज नन्द जो तथाविध मृत्यु के अयोग्य थे—के स्वर्ग चले जाने पर उस पर्वतेश्वर का आश्रय लेकर प्रयत्न किया। उस पर्वतेश्वर के भी दिवंगत हो जाने पर उसके पुत्र मलयकेतु का सहारा लेकर प्रयत्न किया गया पुनरपि असफलता रही। नन्द-कुल का शत्रु तो उसका भाग्य है न कि वह ब्राह्मण चाणक्य।

संस्कृतार्थः—अतद्विधमृत्युयोग्ये = अतादृशपामरजनोचिते मृत्युयोग्ये, आत्मा-ननुरूपमरणे, अराजोचितमरणे, देवे = महाराजनन्दे, दिवंगते = पञ्चत्वं गते, तं शैलेश्वरं = पर्वतेश्वरं, अधिकृत्य = समाश्रित्य, प्रयत्नः = उपायः, नन्दराज्यो-द्धरणरूपः, कृतः = विहितः। तस्मिन् = शैलेश्वरे, हते = चाणक्येन घातिते, अस्य तनयं = पर्वतराजपुत्रं, मलयकेतुमित्यर्थः अधिकृत्य, प्रयत्नः कृतः, तथापि असिद्धिः = असफलतैव तत् मन्ये, दैवं = भाग्यमेव, नन्दकुलशत्रुः = नन्दपक्ष-विपक्षः, असौ विप्रः = सः ब्राह्मणः, चाणक्यः न शत्रुः।

भावार्थः—नन्दकुलविनाशे भाग्यस्यैव प्राबल्यं न कौटिल्यस्य। अन्यथा द्विधा कृतेऽपि प्रयत्ने कथमसिद्धिरिति राक्षसकथनस्याभिप्रायः।

टिप्पणी

व्याकरणम्—अतद्विधमृत्युयोग्ये = तद्विधः मृत्योः योग्यं न भवति तस्मिन् । तस्य विधा इव विधा अस्य इति तद्विधः, न तद्विधः इति अतद्विधः मृत्युयोग्यः तस्मिन् । दैवम्—देव + अण् । प्रयत्नः = प्र + यत् + नङ् प्रत्ययः । असिद्धिः = न सिद्धिः नञ् तत्पुरुषः, न + सिध् + क्तिन् । मृत्युः = मृ + त्युक् । कोषः— "दैवं दिष्टं भागधेयं भाग्यं स्त्री नियतिर्विधिः" इत्यमरः । अलंकारः:—काव्यलिङ्गं, परिसंख्या, अतिशयोक्तिः इति संसृष्टिः । छन्दः—वसन्ततिलका वृत्तम्, वैदर्भीरीतिः, प्रसादगुणः ।

यो नष्टानपि बीजनाशमधुना शुश्रूषते स्वामिन-
स्तेषां वैरिभिरक्षतः कथमसौ संधास्यते राक्षसः ।
एतावद्धि विवेकशून्यमनसा म्लेच्छेन नालोचितं
दैवेनोपहतस्य बुद्धिरथवा सर्वा विपर्यस्यति ॥८॥

प्रसङ्गः—मलयकेतुकर्तृकं स्वतिरस्कारं निकारञ्च मनसि विमृशन् भूयो भूयो राक्षसः दुर्दैवमेवं दुरालोचयति ।

अन्वयः—यः अधुना अपि जीवनाशं नष्टान् स्वामिनः शुश्रूषते असौ राक्षसः अक्षतः सन् तेषां वैरिभिः कथं सन्धास्यते । इत्थं वस्तुविवेकमूढमतिना म्लेच्छेन न आलोचितम्, अथवा दैवेन उपहतस्य बुद्धिः पूर्वं विपर्यस्यति ।

भावार्थः—जो अब भी पूर्ण रूप से नाश को प्राप्त स्वामियों की सेवा कर रहा है । वह राक्षस कुशल से रहते हुए उन स्वामियों के शत्रुओं के साथ कैसे मिल सकता है । यवन मलयकेतु ने जिसकी बुद्धि विषयों को समझने में असमर्थ है यह नहीं सोचा अथवा भाग्य से मरे हुए की बुद्धि पहले ही से विपरीत हो जाती है ।

संस्कृतार्थः— यः = राक्षसः, अधुनापि = इदानीमपि, जीवनाशं = समूलघातं, नष्टान् = घातितान्, स्वामिनः = नन्दभूपान्, शुश्रूषते = सेवितुमिच्छति, असौ राक्षसः = सः अमात्यः, अक्षतः सन् = स्वस्थगात्रः सन्, तेषां = स्वामिनां, वैरिभिः—अरिभिः सह = साकं, कथं = केन प्रकारेण, सन्धास्यते = सन्धिं विधास्यति । इत्थं = एतत्, वस्तुविवेकमूढमतिना = वस्तुनः = वस्तुस्थितेः, विवेकः =

ज्ञानं, तत्र मूढा = मोहमुपगता, मति = बुद्धिः यस्य तेन म्लेच्छेन = मलयकेतुना, न आलोचितम् = न विचारितम्, अथवा = आहोस्वित्, दैवेन = भाग्येन, उपहतस्य = विनाशितस्य, बुद्धिः = मतिः, पूर्वं = प्रागेव, विपर्यस्यति = विपरीता जायते ।

भावार्थः—भाग्येनोपहतस्य जनस्य सर्वस्यैवाविवेकशालिनी बुद्धिर्जायते, इत्थमेव म्लेच्छहतकस्य मलयकेतोरपि मतिः विपरीता जातेति भावः ।

टिप्पणी

व्याकरणम्—जीवनाशं = जीव + नश् + णमुल् । शुश्रूषते = श्रोतुमिच्छति इति इच्छार्थे सनि "ज्ञाश्रुस्मृदृशां सनः" इत्यनेनात्मनेपदम् । विपर्यस्यति = वि + परि + अस् + लट् तिप् । स्वामिनः = स्व + अस्त्यर्थे मिनि दीर्घश्च, स्वमस्ति अस्येति विग्रहः । मूढः = मुह् + क्त । जडीभूतः इत्यर्थः । कोषः—बुद्धिः, मनीषा, धिषणा, धीः, प्रज्ञा, शेमुषी, मतिः । इत्यमरः । अलङ्कारः—अर्थान्तरन्यासः । छन्दः—शार्दूलविक्रीडितम्, वैदर्भीरीतिः प्रसादो गुणः ।

तदिदानीमपि तावदरातिहस्तगतो विनश्येद्राक्षसो, नतु चन्द्रगुप्तेन सह सन्धिं कुर्यादिति; अथवा मम काममसत्यसन्ध इति वरमयशः न पुनः शत्रुवञ्चनपरिभूतिः (समान्तादवलोक्य सास्रम्) एतास्ता देवस्य पादक्रमणपरिचयपवित्रीकृतरथ्याः कुसुमपुरोपकण्ठभूमयः ।

अब भी राक्षस शत्रु के हाथ में पड़कर नष्ट हो जायगा परन्तु चन्द्रगुप्त के साथ सन्धि न करेगा । अथवा यह अयश कि "मैं प्रतिज्ञा को पूरा करने वाला नहीं हूँ" ठीक है परन्तु शत्रु के दल से पराजित होना ठीक नहीं है । (चारों ओर देखकर आँखों में आँसू भर कर ।)ओह पाटलिपुत्र के वही ये प्रान्त भाग हैं जिनके मार्ग कभी महाराज नन्द के चलने फिरने से अनेकों बार पवित्र किये जा चुके हैं । यहाँ—

इह हि—

शार्ङ्गज्याकृष्टिमुक्तप्रशिथिलकविकाप्रग्रहेणात्र देशे
देवेनाकारि चित्रं प्रजवततुरगं बाणमोक्षश्चलेषु ।
अस्यामुद्यानराजौ स्थितमिह कथितं राजभिस्तैर्विनेत्यं

सम्प्रत्यालोक्यमानाः कुसुमपुरभुवो भूयसा दुःखयन्ति ॥९॥

प्रसङ्गः—चिरकालानन्तरं पाटलिपुत्रे प्रविष्टोऽमात्यराक्षसः भावसञ्चितान् तान् तान् विषयान् भूयोभूयोऽक्षिलक्ष्यीकुर्वन् स्मारं स्मारं च नन्दमहाराजं आत्मनि दुख्यन्नाह पद्यमिदम् ।

अन्वयः—अत्र देशे शार्ङ्गज्याकृष्टिमुक्तप्रशिथिलकविकाप्रग्रहणदेवेन चलेषु प्रजवितुरगं चित्रं बाणमोक्षः अकारि, अस्यां उद्यानराजौ स्थितिम्, इह राजभिः कथितम्, सम्प्रति तैः विना इत्थम् आलोक्यमानः कुसुमपुरभुवः भूयसा दुःखयन्ति ।

भाषार्थः—यहाँ पर कभी महाराज नन्द धनुष की ज्या में फँसे हुए ढीली बागडोर दौड़ाते हुए घोड़ों पर भागते हुए निशाने पर आश्चर्य जनक ढंग से बाण छोड़ा करते थे । ये वे उपवन श्रेणी हैं जहाँ पर वे कभी बैटते थे । यहीं पर वह राजाओं से बैठकर बातें करते थे । पर अब तो उनके बिना इस प्रकार देखी जाती हुई पाटलिपुत्र की भूमियाँ अत्यन्त दुःख दे रही हैं ।

संस्कृतार्थः—अत्र देशे = अस्मिन् भूभागे, शार्ङ्गस्य = धनुषः, ज्या = मौर्वी, तस्याः आकृष्ट्या = आकर्षणेन, मुक्तः = त्यक्तः, अतएव प्रशिथिलः = अतिश्लथः, कविकायाः = खलीनस्य, प्रग्रहः = रश्मिः यस्य तथाविधेन देवेन = नन्देन, चलेषु = चञ्चलेषु, लक्ष्येषु इत्यर्थः, प्रजवितुरगं, प्रजवितः = प्रवृद्धवेगः, तुरगः = अश्वः, यस्मिन् कर्मणि तत् यथा स्यात्तथा अतएव चित्रं = विचित्रं, बाणमोक्षः = शरत्यागः, कृतः = विहितः । अस्यां = एतस्यां, उद्यानराजौ = उपवनपंक्तौ, स्थितम् = विभ्रान्तम् । इह = अमुष्मिन् प्रदेशे, राजभिः = भूपतिभिः साकं, कथितम् = किमपि किमपि आलपितम् । सम्प्रति = अधुना, तैः = नन्दप्रभृतिभिः राजभिः, विना = अन्तरा, इत्थं = एवं, आलोक्यमानाः, = कुसुमपुरभुवः = पाटलिपुत्रभूभागाः, भूयसा = बाहुल्येन, दुःखयन्ति = खेदयन्ति ।

तत् क्व खलु तच्छामि मन्दभाग्यः ? (विलोक्य) भवतु दृष्टमेतज्जीर्णोद्यानम्, अत्र प्रविश्य कुतश्चिच्चन्दनदासस्य वृत्तान्तमुपलप्स्ये । (परिक्रम्य स्वगतम्) अहो ! अलक्षितोपनिपाताः पुरुषाणां समविषमदशाविभागपरिणतयो भवन्ति कुतः ?—

भावार्थः—राक्षसः पाटलिपुत्रभूभागान् शून्यान् दर्शं-दर्शं खिद्यते कथयति च यत्पुराऽत्र नन्दः मृगयां चिकीर्षुः लक्ष्येषु शरान् चिक्षेप, अत्र करं प्रदातुमागतैः राजभिः सहोपविष्टवान् आलपितवांश्च परमधुना तस्य प्रदेशस्य रिक्तत्वात् क्लेशाधिक्यं जायते ।

टिप्पणी

व्याकरणम्—प्रजवितः = प्रवृद्धवेगः, प्रकृष्टः जवः वेगः इति प्रजवितः प्रादिसमासः । सः सञ्जातः अस्य इति "तारकादिभ्य इतच्" इस सूत्र से प्रजव + इतच् । तुरगः = तुरेण वेगेन गच्छति इति तुर + गम् + ड "गमेर्डः" शार्ङ्ग = शृङ्ग + अण् सींग का बना हुआ । आकृष्टिः = आ + कृष् + क्तिन् । कविका = लगाम, कवि + कन् + स्त्रियां टाप् । उद्यानम् = उत् + या + ल्युट् कोषः—"कविका तु खलीनोऽस्त्री" अलङ्कारः—अत्र विनाशब्दोपादानात् विनोक्तिः । सूक्ष्मवस्तु स्वभावस्य यथावद्वर्णनात् "स्वभावोक्तिः" । एकस्य नन्दस्य कर्तृकारकस्यानेकासु क्रियासु सम्बन्धात् दीपकालङ्कारः । छन्दः—स्रग्धरा वृत्तम्, गौडीरीतिः, ओजोनाम गुणः ।

भाषार्थः—तो मैं अभागा कहाँ जाऊँ (देखकर) यह जीर्ण उद्यान दिखाई देता है । इसके अन्दर जाकर किसी प्रकार चन्दनदास का वृत्तान्त जानूँ । (घूम कर मन में) ओह कौन जान सकता है कि सुख-दुःख की अनुकूल प्रतिकूल परिस्थितियाँ कब किस प्रकार आया-जाया करती हैं ।

टिप्पणी

व्याकरणम्—मन्दभाग्यः = अदृष्टहीनः अहं राक्षसः । मन्द् + अच् = भज् + ण्यत् । जीर्ण + उद्यान गुण सन्धिः । जृ + क्त = जीर्ण, उत् + या + ल्युट् । समविषमदशाविभागः = समाश्च विषमाश्चेति इतरेतरद्वन्द्वः । समविषमाश्च ताः दशाः तासां विभागः । वि + भज् + घञ् = विभाग । अलक्षितोपनिपाताः = न लक्षितः अलक्षितः उपनिपाताः यासां ताः बहुव्रीहिः । कुतः—

पौरैरङ्गुलिभिर्नवेन्दुवदहं निर्दिश्यमानः शनैः
यो राजेव पुरा पुरान्निरगमं राज्ञां सहस्रैर्वृतः ।
भूयः सम्प्रति सोऽहमेव नगरे तत्रैव बन्ध्यश्रमो
जीर्णोद्यानकमेष तस्कर इव त्रासाद् विशामि द्रुतम् ॥१०॥

प्रसङ्गः—अस्मिन् पद्ये राक्षसः जीर्णोद्यानं पश्यन् आत्मानं चानुपश्यन् अलक्षितोपनिपाताः पुरुषाणां समविषमदशाविभागपरिणतयः भवन्ति कुतः तदेव दर्शयति ।

अन्वयः—यः अहं पुरा राज्ञां सहस्रैः वृतः राजा इव पौरैः अङ्गुलिभिः नवेन्दुवत् निर्दिश्यमानः शनैः पुरात् निरगमम् । स एव वन्ध्यश्रमः अहं सम्प्रति भूयः तत्रैव नगरे तस्कर इव त्रासात् द्रुतं जीर्णोद्यानकं एव विशामि ।

भाषार्थ—जो मैं पहले सैकड़ों राजाओं से घिरा हुआ राजा के समान नगर से बाहर निकलता था और मेरे निकलते समय नागरिक लोक नवोदित चन्द्रमा के समान मेरी ओर अङ्गुलियों से इशारा करते थे वह निष्फल प्रयास वाला मैं फिर उसी नगर में चोर की तरह भय से जल्दी से जीर्ण उद्यान में प्रवेश कर रहा हूँ ।

संस्कृतार्थः—यः अहं = राक्षसः, पुरा = पूर्वं, राज्ञां सहस्रैः = नृपतीनां दशशतैः, वृतः = परिवृतः, राजा इव = नृप इव, पौरैः = कुसुमपुरीयैः प्रजाजनैः, अङ्गुलिभिः = करशाखाभिः, नवेन्दुवत् = नवोदितचन्द्र इव, निर्दिश्यमानः = संकेतितः अयमसौ महामात्यः इत्थं निर्दिष्टः शनैः = मन्दं मन्दं, पुरात् = नगरात् पाटलिपुत्रादित्यर्थः, निरगमम् = बहिरागच्छम्, स एव वन्ध्यश्रमः = निष्फलप्रयत्नः, अहं = राक्षसः, भूपः = पुनः, तत्रैव नगरे = तस्मिन्नेव पुरे कुसुमपुरे इत्यर्थः, तस्कर इव = चौर इव त्रासात् = भयात्, द्रुतं = शीघ्रं, जीर्णोद्यानकं = पुराणोपवनं, विशामि = प्रविशामि ।

भावार्थः—यस्य मे राक्षसस्य पुरा यत्र पाटलिपुत्रे नृपस्येव सत्कारः आसीत् तस्य मे साम्प्रतं दस्योरिवात्मानं पिधायोपवनप्रवेशः इत्यहो मेऽदृष्टपरिवर्तनम् ।

टिप्पणी

व्याकरणम्—अलक्षितोपनिपाताः = न लक्षितः अलक्षितः उपनिपताः = उप – नि + पत् + घञ् । जीर्णोद्यानकम् = जीर्णं च तत् उद्यानकं, कुत्सितं उद्यानं उद्यान + कन् । तस्करः = तत् पापकं करोति इति तस्करः । यहाँ निपातन से तत् के ककार का लोप तथा सुट् का आगम हो जाता है । कोषः—"दरः

त्रासो भीति "भीतिः साध्वसं भयम्" इत्यमरः। अलङ्कारः—उपमा तथा पर्याय अलंकार हैं। "पर्यायोक्तं यदा भंग्या गम्यमेवाभिधीयते" छन्दः—शार्दूल-विक्रीडितं वृत्तम्।

अथवा, येषां प्रसादादिदमासीत् ते एव न सन्ति। (नाट्येन प्रविश्य विलोक्य च) अहो! जीर्णोद्यानस्य नाभिरमणीयता। अत्र हि—

भाषानुवाद—अथवा जिनकी कृपा से यह सब कुछ था वे ही नहीं हैं (अभिनय पूर्वक प्रवेक करके और देखकर) हाय! जीर्णोद्यान में सौन्दर्य कहाँ? यहाँ तो

विपर्यस्तं सौधं कुलमिव महारम्भरचनं
सरः शुष्कं साधोर्हृदयमिव नाशेन सुहृदः।
फलैर्हीना वृक्षा विगुणविधियोगादिव नया-
स्तृणैश्छन्ना भूमिर्मतिरिव कुनीत्या ह्यविदुषः ॥११॥

प्रसङ्गः—जीर्णोद्याने प्रविशन् राक्षसः तदीयं भूतपूर्वं परमरामणीयकं नष्टप्रायं पश्यन् दुःखञ्चानुभवन् ब्रवीति—

अन्वयः—महारम्भरचनं सौधं कुलमिव विपर्यस्तम्। सरः सुहृदः नाशेन साधोः हृदयमिव शुष्कम्। वृक्षाः विगुणविधियोगात् नयाः इव फलैः हीनाः। भूमिः कुनीत्या अविदुषः मतिरिव हि तृणैः छन्ना।

भाषार्थः—महान् प्रयत्न से निर्माण किया हुआ यह भवन नन्दवंश के समान ध्वस्त हो गया। सरोवर मित्र के विनाश से सज्जन के हृदय के समान सूख गया। वृक्ष प्रतिकूल भाग्य के कारण नीतियों के समान फलशून्य हो गये। भूमि कुनीति से मूर्ख की बुद्धि के समान तिनकों से ढक गई है।

संस्कृतार्थः—महारम्भरचनं = महता वस्तुसम्भारेण रचितं, सौधम् = हर्म्यम्, कुलमिव = नन्दवंश इव, विपर्यस्तम् = विध्वस्तम्, सरः = जलाशयः, सुहृदः = मित्रस्य, नाशेन = विध्वंसेन, साधोः = सज्जनस्य, हृदयमिव = स्वान्त-मिव, शुष्कम् = निर्जलं जातं। वृक्षाः = पादपाः, विगुणविधियोगात् =

विगुणः = प्रतिकूलः, यो विधिः = भाग्यं तस्य योगात् = संयोगात्, नयाः इव = नीतय इव, फलैः = प्रसूतिभिः, हीनाः = रहिताः जाताः । भूमिः = उपवनस्थली, अपि = समुच्चये, कुनीत्या = दुर्नयेन, अविदुषः = मूर्खस्य, मतिरिव = बुद्धिरिव, तृणैः = कुशकाशादिभिः, छन्ना = आवृता ।

भावार्थः—अस्मिन् पद्ये सौधकुलादीनामुपमया नन्दवंशक्षयः, तेन निजचित्तदैन्यं, मलयकेतुसम्पर्कादात्मनीत्यसाफल्यम्, भागुरायणप्रभृत्यसदुपदेशेन अनीतिविन्मलयकेतुमतिमोहकता व्यज्यते इति भावः ।

टिप्पणी

व्याकरणम्—शुष्कम् = शुष् + क्त "शुषः कः" इस सूत्र से क्त के त को क हुआ । विगुण = विगताः गुणाः अस्य इति प्रादि बहुव्रीहि समासः । कुनीत्या = कुत्सिता नीतिः कुनीतिः तया कु + नी + क्तिन् । वृक्षः = वृश्च्यते छिद्यते इति वृक्षः, ओ व्रश्चू छेदने + क्स । तृणम् = तृह्यते हिंस्यते इति तृणम् तृह् + क्न हकारलोपश्च । तृह् – हिंसार्थः तौदादिकः । कोषः—सरः "कासारः सरसी सरः" इत्यमरः । अलंकारः—श्रौती पूर्णोपमा, मालोपमा वा । छन्दः—शिखरिणी वृत्तम्, वैदर्भी रीतिः, प्रसाद गुणः ।

अपि च अत्र—

क्षताङ्गानां तीक्ष्णैः परशुभिरुदग्रैः क्षितिरुहां
रुजा कूजन्तीनामविरतकपोतोपरुदितैः ।
स्वनिर्मोकच्छेदैः परिचितपरिक्लेशकृपया
स्वसन्तः शाखानां व्रणमिव निबध्नन्ति फणिनः ॥१२॥

प्रसङ्गः—निर्वेदस्य परां काष्ठां प्राप्तः राक्षसः आत्मानं एकाकिनं असहायञ्च विभावयन् न केनाप्याश्वास्यमानं च पश्यन्नाह ।

अन्वयः—तीक्ष्णैः उदग्रैः परशुभिः क्षताङ्गानां क्षितिरुहां रुजा अविरतकपोतोपरुदितैः कूजन्तीनां शाखानां व्रणं फणिनः परिचितपरिक्लेशकृपया श्वसन्तः स्वनिर्मोकच्छेदैः निबध्नन्ति इव ।

भाषार्थ—तेज तथा जोर से प्रहार वाली कुल्हाड़ियों से काटे हुए अंगों वाले वृक्षों की पीड़ा से निरन्तर कबूतरों के शब्दों से मानों विलाप करती हुई,

शाखाओं के घाव को सर्प परिचितों की वेदना से उत्पन्न करुणा के कारण आह भरते हुए अपनी कञ्चुली रूपी वस्त्रों के टुकड़ों से मानों बाँध रहे हैं।

संस्कृतार्थः—तीक्ष्णैः = निशितैः, उदग्रैः = उत्तोलिताग्रभागैः, परशुभिः = कुठारैः, क्षताङ्गानां = छिन्नशरीराणां, क्षितिरुहाम् = वृक्षाणां, रुजा = पीडया, अविरतं = सततं, कपोतोपरुदितैः = कपोतानां = पारावतानां, उपरुदितैः = कूजितैः, कूजन्तीनां = रुदन्तीनां, शब्दं कुर्वन्तीनां शाखानां, व्रणं = क्षतं, फणिनः = सर्पाः, परिचितानां = सहवासिनां, परिक्लेशेन = दुःखेन, सञ्जाता या कृपा तया अनुकम्पया श्वसन्तः, निःश्वासं कुर्वन्तः, स्वस्य = निजस्य, निर्मोकच्छेदैः = कञ्चुक-खण्डैः, निबध्नन्ति इव = व्रणविरोपणाय निबध्नन्ति इव = उत्प्रेक्षायाम्।

भावार्थः—चिन्ताव्यग्रमानसो राक्षसः कस्यचित् मित्रस्य समवेदनमर्थयते-तथाहि कुठारच्छिन्नासु शाखासु अवलम्बिनां सर्पनिर्मोकखण्डानां दर्शनेन जीर्णेऽ-स्मिन्नुपवने तत्तज्जीवजातानि परस्परं दुःखं संवेदयन्ते। सुहृत्संविभक्तं हि दुःखं सोढुमलं नान्यथेति भावः।

टिप्पणी

व्याकरणम—तीक्ष्णैः उदग्रैः परशुभिः = तेज और जोर से मारे हुए कुल्हाड़ों से, तीक्ष्ण = तिज् (निशाने) + क्स्न दीर्घश्च। उदग्रम् – उद्गतं अग्रं यस्य तत् बहुव्रीहिसमासः, परशुभिः—परान् शृणन्ति हिंसन्ति इति परशवः पर + शृ + डु तृतीयान्तबहुवचनम्। रुजा = रुज् + क्विप् = रुक् तया, व्रणः व्रणम् वा = व्रण् + अच् तौदादिकः व्रण्धातुः। कोपः—"व्रणः इर्मम् अरुः" ये तीन नाम घाव या व्रण के हैं। अलंकारः—उत्प्रेक्षा और अपह्नुति अलं-कार हैं। अविरुतकपोतविरुतैः इत्यत्र सततकपोतरुदितव्याजेनेत्यर्थादपह्नुतिः। रुजा कूजन्तीनामिव में उत्प्रेक्षा। द्वयोः संसृष्टिः। छन्दः—शिखरिणी वृत्तम्। प्रसादाख्योगुणः। गौडी च रीतिः।

अन्तःशरीरपरिशोषमुपाश्रयन्तः
कीटक्षतिश्रुतिभिरस्रमिवोद्वमन्तः।
छायावियोगमलिना व्यसने निमग्ना
वृक्षाः श्मशानमुपगन्तुमिव प्रवृत्ताः॥१३॥

प्रसङ्गः—दुःखसागरे पतितः राक्षसः भूयोऽपि स्वगतं चिन्तयति यदस्मिन् जीर्णोद्याने निःसम्वेदनेष्वपि काचन समदुःखता परिस्फुरति तथाहि—

अन्वयः—अन्तःशरीरपरिशोषम् उपाश्रयन्तः, कीटक्षतिश्रुतिभिः अस्रम् उद्वमन्तः इव छायावियोगमलिनाः व्यसने निमग्नाः वृक्षाः श्मशानं उपगन्तुं प्रवृत्ता इव।

भाषार्थ—शरीर के अन्दर शुष्कता को प्राप्त करते हुए कीड़ों से किये गये छेदों से बहने वाले द्रव के रूप में आँसू बहाते हुए अपनी पत्रछाया की शोभा से सर्वथा रहित दीन मलिन, शोक में मग्न ये वृक्ष ऐसे लग रहे हैं मानों मरघट में जाने की तैयारी कर रहे हैं।

ससंकृतार्थः—अन्तःशरीरपरिशोषम् - शरीरस्य अन्तः इति अन्तःशरीरं यः परिशोषः = सेचनाद्यभावेन शोषणम्, तत् उपाश्रयन्तः = प्राप्नुवन्तः, कीटक्षतिस्रुतिभिः = कीटैः कृताभ्यः क्षतिभ्यः = रन्ध्रेभ्यः, स्रुतिभिः = क्षरणैः, अस्रम् = अश्रु, उद्वमन्त इव = त्यजन्त इव, छायावियोगमलिनाः छायायाः = अनातपस्य, वियोगेन = अपगमेन, मलिनाः = विहतकान्तयः, व्यसने = विपदि, निमग्नाः = पतिताः, वृक्षाः = पादपाः, श्मशानम् = पितृवनम्, उपगन्तुम् = उपयातुं मर्तुमित्यर्थः, प्रवृत्ताः इव = उद्युक्ता इव।

भावार्थः—अस्मिन् जीर्णोद्याने परलोकगतस्य महाराजनन्दस्य विरहमसहनशीलाः तरवः तमनुगन्तुं कृतप्रयासा इव बुध्यन्ते अर्थात् जडवृक्षाः अपि भर्तुं विरहानलं सोढुमक्षमाः मर्तुकामाः इव लक्ष्यन्ते।

टिप्पणी

व्याकरणम्—उपाश्रयन्तः = उप – आ + श्रि + शतृ प्रथमाबहुवचनं उद्वमन्तः = उद् + वम् + शतृ प्रथमाबहुवचनम्। परिशोषम् = परि + शुष् + घञ्। अस्रम् – आँसू, रक्त, अस्रः = केश, किनारा। असु (क्षेपणे) + रन् = अस्रः। कोषः—"अस्राः कचाः अपि" "चास्रु नेत्राम्बु रोदनं चास्रमश्रु च" अमरः। अलंकारः—उत्प्रेक्षा। छन्दः—वसन्ततिलकं वृत्तम्, पाञ्चाली रीतिः, प्रसादो गुणः।

यावदस्मिन् विषमदशापरिणामसुलभे भग्नाग्रशिलातले मुहूर्तमुपविशामि। (उपविश्याकर्ण्य च) अये ! किमयमाकस्मिकः शङ्खपटहविमिश्रो नान्दीनादः श्रूयते ? य एषः—

तो अब मैं टूटे हुए अग्र भाग वाले शिला-खण्ड पर क्षण भर बैठता हूँ। जो हमारी इस बुरी दशा के परिणाम योग्य है। (बैठकर और सुनकर) अरे यह शङ्ख और नगाड़े के महानिनाद से भरा हुआ आकस्मिक स्तुतिपाठध्वनि सुनाई पड़ रही है। जो यह

प्रकुर्वन् श्रोतॄणां श्रुतिपथमसारं गुरुतया
बहुत्वात् प्रासादैः सपदि परिपीतोज्झित इव।
असौ नान्दीनादः पटुपटहशङ्खध्वनिमहान
दिशां दैर्घ्यं द्रष्टुं प्रसरति सकौतूहल इव ॥१४॥

प्रसङ्गः—शत्रुप्रहर्षसूचकेन पटुपटहशङ्खध्वनिना जागरितामर्षः अमात्यराक्षसः रणवाद्यानां ध्वनिं वर्णयति।

अन्वयः—गुरुतया श्रोतॄणां श्रुतिपथं असारं प्रकुर्वन् बहुत्वात् प्रासादैः सपदि परिपीतोज्झित इव पटुपटहशंखध्वनिमहान् असौ नान्दीनादः सकौतूहल इव दिशां दैर्घ्यं द्रष्टुं प्रसरति।

भाषार्थः—अपनी गम्भीरता के कारण सुनने वालों के कर्णकुहरों को तुच्छ बनाता हुआ और अधिकता के कारण एक प्रकार से राजभवन से शीघ्रता में पीया हुआ और बाद में उगलकर फेंका हुआ बड़े-बड़े नगाड़ों और शङ्खों के महारव से सतत बढ़ता ही जाता हुआ यह आनन्द का महानाद ऐसा प्रतीत हो रहा है मानों दिशाओं की दूरी नापने के लिये फैलता जा रहा है।

संस्कृतार्थ—गुरुतया = महत्तया, श्रोतॄणां = शृण्वतां जनानां श्रुतिपथं = कर्णकुहरं, असारं = शक्तिहीनं, प्रकुर्वन् = विदधत्, बहुत्वात् = आधिक्याद्धेतोः नादपूरोत्पीडस्येति शेषः, सपदि = सत्वरं, प्रासादैः = हर्म्यैः भवनैरिति यावत्, परिपीतोज्झित इव पूर्वं परिपीतः = निगीर्णः, पश्चात् उज्झितः = उद्वान्त इव, पटुपटहशंखध्वनिमहान् = पटु यथा स्यात्तथा पटहानां = रणवाद्यानां, शंखानां = जयघोषकाणां च ये ध्वनयः = शब्दाः तैः महान् = अतिप्रवृद्धः, असौ नान्दी-

नादः = एष शत्रुप्रहर्षसूचकः ध्वनिः, सकौतूहल इव = कौतुकाक्रान्त इव, दिशां = आशानां, दैर्घ्यं = विस्तारं, द्रष्टुं = अवलोकयितुम्, प्रसरति = सर्वतः धावति ।

भावार्थः—यथा कौतुकवान् पुरुषः स्वेष्टकार्यं सम्पादयितुमितस्ततः धावति तथैवैष नान्दीनादोऽपि इतस्ततः सर्वतः दिक्षु धावतीति भावः ।

टिप्पणी

व्याकरणम्—असारम् = अविद्यमानः सारः अस्य इति असारः । तथाविधं नञ्बहुव्रीहिसमासः । परिपीतोज्झितः = पूर्वं परिपीतः पश्चात् उज्झितः "पूर्वकालैक" इत्यादि सूत्र से समास । परि + पा + क्त, उत् + हा + (ओहाक्—त्यागे) + क्त उज्झितः । गुरुतया — गुरोर्भावः गुरुता तस्य भावः तत्ता तया । दैर्घ्यम् = दीर्घ + ष्यञ् । पटुपटहशंखध्वनिमहान् = पटुश्चासौ पटहः इति पटुपटहः, पटुपटहश्च शङ्खश्च इति पटुपटहशङ्खौ तयोः ध्वनयः तैः महान् । द्रष्टुम् = दृश् + तुमुन् । कोषः—प्रासादः "हर्म्यादि धनिनां वासः, प्रासादो देवभूभुजाम्" । "सपदि सद्यः तत्क्षणे" इत्यमरः । अलंङ्कारः—उत्प्रेक्षाऽलङ्कारः । छन्दः—शिखरिणी वृत्तम्, प्रसादो गुणः, वैदर्भी रीतिः ।

(विचिन्त्य) आं, ज्ञातम् । एष हि मलयकेतुसंयमनसञ्जातो राजकुलस्य । (इत्यर्धोक्ते सासूयम्) मौर्यकुलस्याधिकपरितोषं पिशुनयति । (सबाष्पम्) कष्टं भोः ! कष्टम् !!

(सोचकर) आह समझ गया, यह मलयकेतु के पकड़े जाने से उत्पन्न राजकुल का (ऐसा आधा कहकर ईर्ष्या के साथ ।) यह मौर्य कुल की अधिक प्रसन्नता को सूचित करता है (आँसू के साथ) कष्ट महान् कष्ट ।

श्रावितोऽस्मि श्रिय शत्रोरभिनीय च दर्शितः ।
अनुभावयितुं मन्ये यत्नः सम्प्रति मां विधेः ।।१५।।

प्रसङ्गः—उपनिपतिष्यमाणं स्ववशीकारं शत्रुकर्तृकं ध्यायतोऽमात्यराक्षसस्योक्तिरियम् ।

अन्वयः—शत्रोः श्रियं श्रावितः अस्मि, अभिनीय च दर्शितः मन्ये सम्प्रति माम् अनुभावयितुं विधेः यत्नः ।

भाषार्थः—शत्रु की राजलक्ष्मी मुझको सुनाई गई है और समीप लाकर दिखाई भी गई है। मैं समझता हूँ कि इस समय मुझे अनुभव कराने के लिये भाग्य का यह प्रयत्न है।

संस्कृतार्थ.—शत्रोः = अरेः, श्रियं = लक्ष्मीं, श्रावितः = आकर्णितः अस्मि। अभिनीय = समीपं आनीय च, दर्शितः = साक्षात् कारितः, अस्मि। मन्ये = शङ्के, सम्प्रति = इदानीं, माम् = राक्षसम्, अनुभावयितुं = तामेव श्रियं स्वीकारयितुं, विधेः = भाग्यस्य, यत्नः = उद्यमः विद्यते।

भावार्थः—विधिना सर्वपूर्वं मौर्यस्य सम्पत्ति श्रावितः, तदनु समीपमानीय दर्शितः, सम्प्रत्यवसाने साक्षात्कारितश्चास्मि।

टिप्पणी

व्याकरणम्—श्रियं = सम्पत्ति अत्र "गतिबुद्धि" इत्यादि सूत्रेण कर्मसंज्ञा, द्वितीया च। अनुभावयितुम्—अनु + भू + णिच् + तुमुन्। दर्शितः = दृश् + णिच् + क्त। यत्नः = यत् + नङ्। अभिनीय = अभि + नी + क्त्वा + ल्यप्। श्रावितः = श्रु + णिच् + क्त। कोषः—दैवं दिष्टं भागधेयं भाग्यं स्त्री नियतिर्विधिः। अलङ्कारः—उत्प्रेक्षा। उत्प्रेक्षावाचकशब्दाः। "मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायः नूनमित्येवमादयः। उत्प्रेक्षा वाचकाः शब्दाः इव शब्दोऽपि तादृशः॥ छन्दः—अनुष्टुप् वृत्तम्।

पुरुषः—आसीणो अअं। ता जाव अज्जचाणक्कस्स आणत्तिं संपादेमि। (आसीनोऽयम्। तद्यावदार्यचाणक्यस्याज्ञप्तिं सम्पादयामि।) (राक्षसमपश्यन्निव तस्याग्रतो रज्जुपाशेन कण्ठमुद्बध्नाति।)

राक्षसः—(विलोक्य स्वगतम्) अये! कथमयमात्मानमुदबध्नाति? नन्वयमहमिव दुःखितस्तपस्वी भवतु, पृच्छाम्येनम्। (उपसृत्य प्रकाशम्) भद्र भद्र! किमिदमनुष्ठीयते?

पुरुषः—(सवाष्पम्) अज्ज! जं प्पिअवअस्सविणासदुःखिदो अह्मादिसो मन्दभाओ जणो अणुचिट्ठदि। (आर्य! यत् प्रियवयस्यविनाशदुःखितोऽस्मादृशो मन्दभाग्यो जनोऽनुतिष्ठति।)

राक्षसः—(स्वगतम्) प्रथममेव मया ज्ञातं, नूनमहमिवायमार्तस-

पस्वीति । भवतु, पृच्छाम्येनम् (प्रकाशम्) भद्र ! व्यसनसब्रह्मचारिन् ! यदि न गुह्यं, नातिभारिकं वा, ततः श्रोतुमिच्छामि किं ते प्राणपरित्यागकारणम् ?

पुरुषः—(निरूप्य) अज्ज ! ण रहस्सं, ण वा अतिगुरुअं, किन्तु ण सक्कणोमि प्पिअवअस्सविणासदुक्खिदहिअओ एत्तिअमत्तम्पि मरणस्स कालहरणं कादुं । (आर्य ! न रहस्यं, न वाऽतिगुरुकं, किन्तु न शक्नोमि प्रियवयस्यविनाशदुःखितहृदय एतावन्मात्रमपि मरणस्य कालहरणं कर्तुम् ।

राक्षसः—(निःश्वस्याऽऽत्मगतम्) कष्टमेतेषु सुहृद्व्यसनेषु परवदुदासीनाः प्रत्यादिश्यामहे वयमनेन । (प्रकाशम्) भद्र ! यदि न रहस्यं, नाऽतिगुरुकं वा, तत् पुनः श्रोतुमिच्छामि । कथ्यतां का गतिः दुःखस्येति ?

पुरुष—अब यह राक्षस बैठ गया है । तो अब आर्य चाणक्य की आज्ञा का पालन करूँ । (राक्षस को मानो न देखता हुआ उसी के सामने रस्सी का फन्दा गले में डाल लेता है ।)

राक्षस—(देखकर अपने मन में) अरे यह तो फाँसी लगाना चाहता है । मेरे समान यह बेचारा भी कोई दुःखिया है । अच्छा । इससे पूछता हूँ (पास जाकर प्रकट) अरे भले आदमी ! यह क्या कर रहे हो ।

पुरुष—(आँसू के साथ) आर्य ! वही कर रहा हूँ जो अपने प्रिय मित्र के विनाश से दुःखी कोई मेरे समान अभागा व्यक्ति कर सकता है ।

राक्षस—(मन में) मैं पहले ही समझ गया कि मेरी तरह यह बेचारा भी कोई दुःखी है । अब इसे पूछता हूँ । (प्रकट) क्यों भाई (मेरे व्यसन के साथी) अगर बहुत गुप्त न हो अथवा बहुत दुःखमय न हों तो मैं सुनना चाहता हूँ कि प्राण त्यागने का तुम्हारा क्या कारण है ।

पुरुष—(देखभाल कर) आर्य, इसमें न तो कुछ गोपनीय है और न दुःखदायी किन्तु अपने प्रिय मित्र के विनाश से संतप्त हृदय वाला मैं मरने के समय को इतना भी गँवाने के लिये समर्थ नहीं हूँ ।

राक्षस—(आहें भरकर मन में) हाय, मित्र की इन विपत्तियों में दूसरे मनुष्यों के समान उदासीन हम इसके द्वारा शिक्षा दिये जा रहे हैं। (प्रकट) भद्र ! अगर यह गुप्त बात नहीं है या अत्यन्त महान् नहीं है तो मैं पुनः सुनना चाहता हूँ। कहो दुःख का क्या कारण है ?

पुरुषः—अहो ! णिब्बन्धो अज्जस्स, का गदी एसो णिबेदेमि, अत्थि एत्थ णअरे मणिआरसेट्ठी जिण्णुदासो णाम । (अहो ! निर्बन्ध आर्यस्य, का गतिरेष निवेदयामि । अस्त्यत्र नगरे मणिकार-श्रेष्ठी जिष्णुदासो नाम ।)

राक्षसः—(स्वगतम्) अस्ति जिष्णुदासश्चन्दनदासस्य परं मित्रम् । (प्रकाशम्) किं तस्य ?

पुरुषः—सो मम प्पिअवअस्सो । (स मम प्रियवयस्यः ।)

राक्षसः—(सहर्षमात्मगतम्) अये ! प्रियवयस्य इत्याह । अत्यन्त-सन्निकृष्टः सम्बन्धः । हन्त !! ज्ञास्यति चन्दनदासस्य वृत्तान्तम् । (प्रकाशम्) भद्र ! किं तस्य ?

पुरुषः—(सवाष्पम्) संपदं सो दीणअणदिण्ण विहवो ज्वलणं प्पविसिदुकामो णअरादो णिक्कन्तो । ता अहं पि जाव तस्स प्पिअव-अस्सस्स असुणिदब्बं ण सुणेमि, ताव अत्ताणं उब्बन्धिअ वावादेमि त्ति इमं जिण्णुज्जाणं आअदो । (साम्प्रतं स दीनजनदत्ताविभवो ज्वलनं प्रवेष्टुकामो नगरान्निष्क्रान्तः । तदहमपि यावत्तस्य प्रियवयस्यास्या-श्रोतव्यं न शृणोमि तावदात्मानमुद्बध्य व्यापादयामीतीदं जीर्णोद्यान-मागतः ।)

राक्षसः—भद्र ! अथाग्निप्रवेशे तव सुहृदः को हेतुः ? किमौषध-पथातिगैरुपहतो महाव्याधिभिः ?

पुरुषः—अज्ज ! णहि णहि । (आर्य ! नहि नहि ।)

राक्षसः—किमग्निविषकल्पया नरपतेर्निरस्तः क्रुधा ? ।

पुरुषः—अज्ज ! सन्तं पाबं, सन्तं पाबं, चन्दउत्तस्स जणवदेसु

अणिसंसा पडिवत्ती। (आर्य ! शान्तं पापं, शान्तं पापम्। चन्द्रगुप्तस्य जनपदेष्वनृशंसा प्रतिपत्तिः।)

राक्षसः—अलभ्यमनुरक्तवान् किमयमन्यनारीजनम् ?

पुरुषः—(कर्णौ पिधाय) अज्ज ! सन्तं पावं, सन्तं पावं। अभूमी क्खु एसो विणअणिधाणस्स सेट्ठिजणस्स, विसेसदो जिष्णुदासस्स। (आर्य ! शान्तं पापं, शान्तं पापम्। अभूमिः खल्वेष विनयनिधानस्य वणिग्जनस्य विशेषतो जिष्णुदासस्य।)

राक्षसः—किमस्य भवतो यथा सुहृद एव नाशोऽवशः ? ।।१६।।

पुरुष—ओह ! आर्य का ऐसा आग्रह। क्या उपाय है। अब बताता हूँ। इस नगर में जिष्णुदास नामक एक सेठ जौहरी है।

राक्षस—(मन में) जिष्णुदास चन्दनदास का परममित्र है। (प्रकट) उसको क्या हुआ है ?

पुरुष—वह मेरा प्रिय मित्र हैं'

राक्षस—(प्रसन्नता से स्वगत) अरे "प्रिय मित्र है" यह कहा। बड़ा समीप का सम्बन्ध है। हाय, तो यह चन्दनदास का हाल जानता होगा। (प्रकट) भद्र उसको क्या हुआ।

पुरुष—(आँसू के साथ) इस समय गरीबों को अपना धन-विभव देकर यह आग में जलने के लिये नगर से बाहर निकल गया है। इसलिये जब तक मैं उस प्रिय मित्र की न सुनने योग्य बात यानी मृत्यु नहीं सुनता हूँ तब तक अपने को फाँसी लगाकर मार डालता हूँ। इसलिये इस जीर्ण उपवन में आया हूँ।

राक्षस—भद्र, क्या कारण है कि तुम्हारे मित्र आग में जल मरना चाहते हैं ? क्या उन्हें कोई ऐसी बीमारी तो नहीं लगी है जिसका औषध से उपचार असम्भव हो गया हो।

पुरुष– आर्य, नहीं ऐसी बात नहीं है।

राक्षस—क्या आग और विष के समान भयङ्कर राजा के क्रोध के शिकार तो नहीं है ?

पुरुष—आर्य पाप शान्त हो, पाप शान्त हो, (ऐसी बात नहीं) चन्द्रगुप्त के राज्य में क्रूर प्रवृत्ति नहीं है।

राक्षस—तो क्या कहीं किसी ऐसी पराई स्त्री पर तो आसक्त नहीं हैं जो उन्हें मिल न सके।

पुरुष—(कान बन्द करके) आर्य, पाप शान्त हो, अत्यन्त विनीत वणिग्जाति विशेष करके जिष्णुदास के लिये अयोग्य बात है।

राक्षस—क्या आपकी तरह मित्र का विनाश ही इनके विनाश का कारण है।

उपयुक्तस्य वृत्तान्तस्यायं सारः

किमौषधपथातिगैरुपहतो महाव्यधिभिः
किमग्नि विषकल्पया नरपतेः निरस्ता क्रुधा।
अलभ्यमनुरक्तवान् किमयमन्यनारीजनम्
किमस्य भवतो यथा सुहृद एव नाशोऽवशः ॥१६॥

किमौषधपथातिगैः व्याधिभिः उपहतः ? किमग्निविषकल्पया नरपतेः क्रुधा निरस्तः ? किमयमलभ्यनारीजनं अनुरक्तवान् ? किं भवतो यथा सुहृदः अवशः नाश एव।

पुरुषः—अज्ज ! अध इँ ? (आर्य ! अथ किम् ?)

राक्षसः—(सवेगमात्मगतम्) चन्दनदासोऽस्य सुहृदः प्रियसुहृत्, तस्य प्रियसुहृद्विनाश एवाग्निप्रवेशहेतुरिति यत्सत्यं महाकुलिन एवाऽस्मि सुहृत्स्नेहपक्षपातिना हृदयेन। (प्रकाशम्) भद्र ! तस्यापि तव सुहृदः सुचरितं विस्तरेण श्रोतुमिच्छामि।

पुरुषः—अज्ज ! अदो अवरं ण सक्कणोमि मन्दभाओ मरणस्स विग्घमुप्पादेदुं। (आर्य ! अतोऽपरं न शक्नोमि मन्दभाग्यो मरणस्य विघ्नमुत्पादयितुम।)

राक्षसः—श्रवणीयां कथां कथयतु भद्रमुखः।

पुरुषः—का गदी ? एसो क्खु णिवेदेमि, णिसामेदु अज्जो। (का गतिः ? एष खलु निवेदयामि, निशामयत्वार्यः।)

राक्षसः—भद्र ! दत्तावधानोऽस्मि।

पुरुषः—अत्थि, जाणादि अज्जो, एत्थ णअरे मणिआरसेट्ठी चन्दणदासो णाम। (अस्ति, जानात्यार्यः, इह नगरे मणिकारश्रेष्ठी चन्दनदासो नाम।)

राक्षसः—(सविषादमात्मगतम्) एतत्तदपावृतमस्मद्विनाशदीक्षाप्रकाशद्वारं दैवेन। हृदय ! स्थिरीभव, किमपि ते कष्टतरमाकर्णनीयम्। (प्रकाशम्) भद्र ! श्रूयते मित्रवत्सलः स साधुः। किं तस्य ?

पुरुषः—सो एदस्स जिण्णुदासस्स प्पिअवअस्सो होदि। (स एतस्य जिष्णुदासस्य प्रियवयस्यो भवति।)

राक्षसः—(स्वगतम्) अयमभ्यर्णः शोकवज्रपातो हृदयस्य (प्रकाशम्) ततस्ततः ?

पुरुषः—तदो जिण्णुदासेण प्पिअवअस्सस्स सिणेहसरिसं अज्ज विण्णत्तो चन्दउत्तो। (ततो जिष्णुदासेन प्रियवयस्यस्य स्नेहसदृशमद्य विज्ञप्तश्चन्द्रगुप्तः।)

राक्षसः—कथय किमिति ?

पुरुषः—देव ! अत्थि मे गेहे कुडुम्बभरणपज्जत्तो अत्थो। तस्स विणिमएण मुञ्चिज्जदु मे प्पिअवअस्सो चन्दणदासो त्ति। (देव ! अस्ति मे गृहे कुटुम्बभरणपर्याप्तोऽर्थः तस्य विनिमयेन मुच्यतां मे प्रियवयस्यश्चन्दनदास इति।)

भाषार्थ—पुरुष—आर्य और क्या (अर्थात् यही बात है)

राक्षस—(आवेग के साथ मन में) चन्दनदास इसके मित्र का प्रिय मित्र है और उसके प्रिय मित्र का विनाश ही इसके अग्नि में प्रवेश करने का हेतु है। इसलिये मित्र-स्नेह से मैं व्याकुल हो रहा हूँ। (प्रकट) भद्र, तुम्हारे उस मित्र का भी हाल विस्तार से सुनना चाहता हूँ।

पुरुष—आर्य, इसके आगे कहकर मैं अपने मरने में विघ्न नहीं डाल सकता।

राक्षस—भाई, अपने मित्र की बातें बताओ, वे सुनने योग्य होंगी।

पुरुष—क्या उपाय है। कहता हूँ। सुनिए।

राक्षस—भद्र, मैं ध्यान दे रहा हूँ।

पुरुष—आर्य जानते होंगे कि इस नगर में एक जौहरी सेठ चन्दनदास है।

राक्षस—(विषाद के साथ मन में) अब तो दुर्दैव ने हमारे लिये, हमें विनाश की दीक्षा देने के लिये अपना मुख्य द्वार खोल दिया है। हृदय, दृढ़ बनो। अभी तो तुमको कोई कष्टतर बात सुननी पड़ेगी। (प्रकट) भद्र, सुना है कि वह सज्जन मित्र का प्रेमी है। उनका क्या हुआ ?

पुरुष—वह इस जिष्णुदास का प्रिय मित्र है।

राक्षस—(मन में) अब तो हृदय पर शोकरूपी वज्रपात हुआ ही चाहता है (प्रकट) तब

पुरुष—तब आज इस जिष्णुदास ने प्रिय मित्र के स्नेह के योग्य बात चन्द्रगुप्त से कही।

राक्षस—कहो क्या कहा।

पुरुष—महाराज ! मेरे घर में कुटुम्ब के पालन-पोषण के लिये पर्याप्त धन है। उसको लेकर मेरे मित्र चन्दनदास को छोड़ दिया जाय।

राक्षसः—(स्वगतम्) साधु जिष्णुदास ! साधु !! अहो ! दर्शितो मित्रस्नेहः। कुतः ?—

पितॄन् पुत्राः पुत्रान् परवदभिहिंसन्ति पितरो
यदर्थं सौहार्दं सुहृदि च विमुञ्चन्ति सुहृदः।
प्रियं मोक्तुं तद्यो व्यसनमिव सद्यो व्यवसितः
कृतार्थोऽयं सोऽर्थस्तव सति वणिक्त्वेऽपि वणिजः ॥१७॥

राक्षस—(स्वगत) धन्य हो जिष्णुदास। तुमने मित्रप्रेम दिखा दिया।

प्रसङ्गः—जिष्णुदासस्य सौहार्दम्, मुहुर्मुहुः समालोचयतः, अथात्मानं च मित्रद्रोहिणं चिन्तयतः राक्षसस्य हृदयोद्गारोऽस्मिन् पद्ये दृग्गोचरीक्रियते।

अन्वयः— यदर्थं पुत्राः पितॄन्, पितरः पुत्रान् परवत् अभिहिंसन्ति, सुहृदः सुहृदि सौहार्दं विमुञ्चन्ति च। सः अयं अर्थः वणिजः तव वणिक्त्वे सति अपि कृतार्थः, यः त्वं तत्प्रियं व्यसनमिव सद्यः मोक्तुं व्यवसितः।

भाषार्थः—जिस धन के लिये पिता पुत्रों को और पुत्र पिता को पराया जान कर मार डालते हैं, जिसके लिये मित्र अपने मित्रों की मित्रता को त्याग देते हैं। उसी धन को तुम वनिया होते हुए भी ऐसे छोड़ने को तैयार हो जैसे कोई महासंकट से छुटकारा पा रहा हो। वह धन अब कृतार्थ हो गया।

संस्कृतार्थः—यदर्थं = यस्मै धनाय निमित्तं, पुत्राः = सुताः, पितॄन् = जनकान्, पितरः = जनकाः, पुत्रान् = सुतान्, परवत् = शत्रुः इव, अभिहिंसन्ति = निघ्नन्ति। सुहृदः = मित्राणि, सुहृदि = मित्रे, सौहार्दं = मैत्रीं, विमुञ्चन्ति = परित्यजन्ति। सः अयं = सर्वोत्कृष्टः अर्थः = धनं, वणिजः = पण्यजीविनः, तव = भवतः, वणिक्त्वे, सत्यपि = विद्यमानेऽपि, कृतार्थः = सफलः, यः – त्वं, तत्प्रियं = वाञ्छनीयं धनं, व्यसनमिव दुःखमिव, सद्यः = तत्क्षणम्, मोक्तुं = हातुं, व्यवसितः = समुद्युक्तः।

भावार्थः—यस्यार्थस्य लोभात् पितृपुत्रयोः परस्परं विरोधः जायते, यस्य च लोभात् मित्रमित्रयोः विरोधः सञ्जायते, तस्यार्थस्य सुहृद्विपदुद्धरणाय व्ययीकरणात् साफल्यं विहितं भोः जिष्णुदास त्वया।

टिप्पणी

व्याकरणम्—सौहार्दम् = सुहृदो भावः इति सुहृत्+अण्। "हृद्भगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च" इस सूत्र से उभयपदवृद्धिः। पुत्रः—पुन्नाम्नो नरकाद्यस्मात् त्रायते पितरं सुतः। तस्मात्पुत्र इति प्रोक्तः स्वयमेव स्वयंभुवा॥ (मनुः ९।१३८)। पुत् + त्रै + कः = पुत्रः। पितॄन् = पाति रक्षति इति पा+तृच् पितृ, तान्। सुहृदः = सुष्ठु हृदयं यस्य सः सुहृद् तस्य। सु+हृदय हृदयस्य हृदादेशः। वणिक् = पणायते व्यवहरति इति पण्+इञि पस्य वः। यथोक्तं "यस्यागमः केवलजीविकायै तं ज्ञानपण्यं वणिजं वदन्ति। कोषः—"हिरण्यं द्रविणं द्युम्नमर्थरैविभवा अपि। अमरः। अलङ्कारः—उपमा, काव्यलिङ्गम्। छन्दः—शिखरिणी।

(प्रकाशम्) ततस्तथाऽभिहितेन सता किं प्रतिपन्नं मौर्येण।

पुरुषः—अज्ज, तदो एवं भणिदेण चन्दउत्तेण प्पडिभाणदो सेट्ठी जिण्णुदासो—"जिण्णुदास, ण मए अत्थस्स कालणेण सेट्ठी चन्दणदासो संजमिदो, किंदु प्पच्छदिदो अणेण अमच्चरक्खसस्स घरअणं समप्पेदि, तदो अत्थि से मोक्खो आणधा प्पाणहरो मे दण्डो, त्ति भणिअ बज्झट्ठाणं आणीदो चन्दणदासो। तदो जाव प्पिअवअस्सस्स चन्दणदासस्स असुणिदव्वं ण सुणेमि तावज्जेव अत्ताणं वाबादेमि त्ति ज्जलणे प्पविसिदुकामो सेट्ठी जिण्णुदासो णअरादो णिग्गदो। वि

जाब ण्पिअवअस्सस्स जिण्णुदासस्स असुणिदव्वं ण सुणेमि, ताव उव्वन्धिअ अत्ताणं वावादेमि, त्ति इमं जिण्णुज्जाणं आगदो ह्मि। (आर्य ! तत एव भणितेन चन्द्रगुप्तेन प्रतिभणितः श्रेष्ठी जिष्णुदासः—'जिष्णुदास ! न मयाऽर्थस्य कारणेन श्रेष्ठी चन्दनदासः संयमितः, किन्तु प्रच्छादितोऽनेनामात्यराक्षसस्य गृहजनः, वहुशो याचितेनाऽपि न समर्पित इति। तद्यद्यमात्यराक्षसस्य गृहजनं समर्पयति, ततोऽस्त्यस्य मोक्षः, अन्यथा प्राणहरोऽस्य दण्ड' इति भणित्वा वध्यस्थानमानीतश्चन्दनदासः। ततो 'यावत् प्रियवयस्यस्य चन्दनदासस्याश्रोतव्यं न शृणोमि, तावदेवात्मानं व्यापादयामि' इति ज्वलने प्रवेष्टुकामः श्रेष्टी जिष्णुदासो नगरान्निर्गतः। अहमपि यावत् प्रियवयस्यस्य जिष्णुदासस्याश्रोतव्यं न शृणोमि, तावदुद्वध्यात्मानं व्यापादयामि, इतीदं जीर्णोद्यानमागतोऽस्मि।

राक्षस—(प्रकट) तब ऐसा कहे जाने पर मौर्य ने क्या किया ?

पुरुष—आर्य, तब चन्द्रगुप्त इस प्रकार कहे जाने पर सेठ जिष्णुदास से बोला "जिष्णुदास, मैंने धन के लिये चन्दनदास को नहीं कैद किया है प्रत्युत इसने अमात्य राक्षस के परिवार को छिपाया है और वार-वार मांगने पर भी उन्हें समर्पण नहीं किया, तो यदि यह अमात्य राक्षस के परिवार को मुझे दे दे तो इसे छोड़ दूंगा। नहीं तो इसकी सजा-फाँसी होगी" ऐसा कह कर चन्दन दास को वध्य भूमि में लाया गया है। तो जब तक प्रिय मित्र चन्दनदास की न सुनने योग्य वात मृत्यु नहीं होती तब तक आत्महत्या कर लेता हूँ। ऐसा सोचकर आग में जल मरने की कामना से सेठ जिष्णुदास नगर से बाहर निकल गया है। मैं भी जब तक जिष्णुदास की मृत्यु नहीं सुन पाता तब तक फाँसी लगाकर अपनी हत्या कर लेता हूँ। इसलिये इस जीर्णोद्यान में आया हूँ।

टिप्पणी

व्याकरणम्—प्राणहरः दण्डः = प्राणान् हरतीति प्राणहरः, प्राण + हृ + अच्। आनीतः = आ + नी + क्त। संयमितः = सम् + यम् + णिच् + क्त।

राक्षसः—न खलु व्यापादितश्चचन्दनदासः ?

पुरुषः—अज्ज ! ण दाव वावादीअदि। सो क्खु संप्पदं पुणो पुणो

अमच्चरक्खसस्स घरजणं जाचीअदि । ण सो मित्तवच्छलदाए जाचीअन्तो वि तं समप्पेदि । ता एदिणा कालणेण होदि से मरणस्स कालहलणं । (आर्य ! न तावत् व्यापाद्यते । स खलु साम्प्रतं पुनः पुनरमात्यराक्षसस्य गृहजनं याच्यते । न स मित्रवत्सलतया याच्यमानोऽपि तं समर्पयति । तदेतेन कारणेन भवत्यस्य मरणस्य कालहरणम् ।)

राक्षसः—(सहर्षमात्मगतम्) साधु वयस्य चन्दनदास ! साधु साधु !—

शिवेरिव समुद्भूतं शरणागतरक्षया ।
निचीयते त्वया साधो ! यशोऽपि सुहृदा विना ।।१८।।

राक्षस—चन्दनदास मारा तो नहीं गया ।

पुरुष—आर्य, वह मारा नहीं गया है । अभी उनसे वार-वार अमात्य राक्षस का परिवार माँगा जा रहा है । वह मित्र-स्नेह के कारण माँगने पर भी समर्पण नहीं कर रहे हैं । इस प्रकार उनके मरने का समय टलता जा रहा है ।

राक्षस—(प्रसन्नता से मन में) मित्र चन्दनदास, शावाश, शावाश,

प्रसङ्गः—प्रियवयस्यं चन्दनदासं चिन्तयन् स्मरंश्च तस्य लोकोत्तराणां गुणानां विषये इदं पद्यं वक्ति राक्षसः ।

अन्वयः—साधो ! शरणागतरक्षया समुद्भूतं शिवेः यश इव त्वया सुहृदा विनापि निचीयते ।

भावार्थ—हे साधो ! शरणागत की रक्षा करने से राजा शिवि के यश की तरह उज्ज्वल यश को तुम मित्र के परोक्ष में ही प्राप्त करते हो ।

संस्कृतार्थः—हे साधो = परोपकारिन् ! शरणमागतः शरणागतः तस्य रक्षा इति शरणागतरक्षा तया, शरणं आगतस्य कपोतस्य, रक्षया = त्राणेन, समुद्भूतं = समुत्पन्नम्, शिवेः = उशीनरदेशाधिपतेः, यशः इव = कीर्तिः इव, त्वया = भवता चन्दनदासेन इत्यर्थः, सुहृदा = मित्रेण, शरणागतेन मित्रेण विनैव, निचीयते = सम्पाद्यते ।

भावार्थः—शिविः शरणागतस्य समक्षे एव आत्मविनाशमुपगतः । त्वं तु मित्र चन्दनदास ! शरणागतस्य मम राक्षसस्याऽसमक्षेऽपि विनाशमुपगमिष्यसि इति शिवेरपेक्षया तवोत्कर्षः इति भावः ।

टिप्पणी

व्याकरणम्—सुहृदा विना=अत्र विना योगे तृतीया। समुद्भूतम्=सम्+उत्+भू+क्त। शरणागतस्य=शृ+ल्युट्=शरण, आ+गम्+क्त षष्ठी एक वचनं। रक्षया=रक्ष्+अभावार्थे+टाप्=रक्षा, तया।

अवान्तरकथा—शरण में आये हुए कपोत रूप अग्नि की श्येन रूप इन्द्र से अपना माँस देकर राजा शिवि ने रक्षा की थी।

अलङ्कारः—उपमा, व्यतिरेक "उपमानात् उपमेयस्याधिक्यवर्णनम्" छन्दः—अनुष्टुप् वृत्तम्।

(प्रकाशम्) भद्र, भद्र ? गच्छ शीघ्रमिदानीं जिष्णुदासं ज्वलन-प्रवेशान्निवारय। अहमपि चन्दनदासं मरणान्मोचयामि।

पुरुषः—अधकेण उण उवाऐण अज्जो चन्दणदासं मरणादो मोचेदि ? (अथ केन पुनरुपायेनार्यश्चन्दनदासं मरणान्मोचयति)

राक्षसः—(खड्गमाकृष्य नन्वनेन व्यवसायमहासुहृदा निस्त्रिंशेन। ननु पश्य—

निस्त्रिंशोऽयं विगतजलदव्योमसङ्काशमूर्ति-
र्युद्धश्रद्धापुलकित इव प्राप्तसख्यः करेण।
सत्त्वोत्कर्षात् समरनिकषे दृष्टसारः परैर्मे
मित्रस्नेहाद्विवशमधुना साहसे मां नियुङ्क्ते ॥१९॥

राक्षस—(प्रकट) भद्र, जाओ। इस समय शीघ्र ही जिष्णुदास को आग में प्रवेश करने से रोको। मैं भी चन्दनदास को मौत से बचाता हूँ।

पुरुष—आर्य ! आप किस प्रकार चन्दननास को मृत्यु से बचायेंगे।

राक्षस—(तलवार खींच कर) पुरुषार्थरूपी परम मित्र इस तलवार से।

प्रसङ्गः—राक्षसः स्वमित्रस्य चन्दनदासस्य मोक्षाय त्वरमाणमनाः वीरमदोन्मत्तः स्वहस्तधृतं खड्गं उपतिष्ठते निस्त्रिंशोऽयमित्यादि पद्येन।

अन्वयः—विगतजलदव्योमसङ्काशमूर्तिः समरनिकषे परैः दृष्टसारः सत्त्वोत्कर्षात् युद्धश्रद्धापुलकित इव करेण प्राप्तसख्यः अयं मे निस्त्रिंशः मित्रस्नेहात् विवशं मां अधुना साहसे नियुंक्ते।

भाषार्थ—बादल रहित आकाश के समान रूप वाली (चमकीली) युद्ध-रूपी कसौटी पर शत्रुओं से देखे गये बल वाली, बल की अधिकता के कारण

युद्ध में श्रद्धा से रोमाञ्चित मेरे हाथ से मित्रता रखने वाली, मेरी यह तलवार मित्रस्नेह के कारण विवश मुझको साहसिक कार्य में नियुक्त कर रही है।

संस्कृतार्थः—विगतजलदव्योमसङ्काशा = विगतजलदेन = मेघरहितेन, व्योम्ना = आकाशेन, सङ्काशा = तुल्या, मूर्तिः = स्वरूपशोभा यस्यैवंभूतः, यः = योऽसौ, मे = मम राक्षसस्य, निस्त्रिंशः = खड्गः, समरनिकषे = समरः = संग्रामः, एव, निकषः = परीक्षणग्रावा तस्मिन् युद्धस्थले इत्यर्थः, परैः = शत्रुभिः, दृष्टसारः = ज्ञातबलः; सत्त्वोत्कर्षात् = बलाधिक्यात्, युद्धश्रद्धापुलकित इव = युद्धे = जन्ये या श्रद्धा तथा श्रद्धया पुलकित इव = रोमांचित इव, करेण = हस्तेन, प्राप्तसख्यः = जातानुरागः इव, मित्रस्नेहात् = सुहृदः प्रेम्णः, विवशं = व्यग्रं, मां = राक्षसं, अधुना = इदानीं, साहसे = साहसिकव्यापारे, नियुंक्ते = प्रेरयति।

भावार्थः—किमपि पुरानुभूतं खड्गविषयकं विचारयतः राक्षसस्य, अथ च करिष्यमाणं किमपि साहसकार्यं निश्चिन्वानस्य राक्षसस्य मनोदशा वर्णिता कविनाऽस्मिन् पद्ये।

टिप्पणी

व्याकरणम्—निस्त्रिंशेन = तलवार से, निर्गतः त्रिंशतः अङ्गुलिभ्यः इति बहुव्रीहि समास निर् + त्रिंशत् + डच्। साहसे = सहसा कृतं साहसम् तस्मिन् "हिताहितानपेक्षं यत्कर्म तत्साहसं विदुः"। सहसा + अण् सहसा बलेन निर्वृत्तम्। सङ्काशः — सम् + काश् + अच् सदृशः। निकषः = नि + कष् + घ कसौटी। सत्त्वोत्कर्षात् = सत्त्वस्य उत्कर्षः तस्मात्, उत् + कृष् + घञ्। कोषः—खड्गेतु निस्त्रिंशं 'चन्द्रहासासिरिष्टयः" अमरः। अलंकारः—प्रथमपादे उपमा, द्वितीयपादे उत्प्रेक्षा, तृतीयपादे रूपकम् इत्येषां संसृष्टिः। छन्दः—मन्दाक्रान्ता वृत्तम्।

पुरुषः—अज्ज ! एवं सेट्ठिचन्दणदासजीविदं होदि त्ति सुणिदं, विसमदसाविभाअपरिणामपड़िदो ण सक्कणोमि णिच्चिदपदं पड़िवत्तुं। (विलोक्य पादयोर्निपत्य) अध सुगिहीदणामधेआ अमच्चरक्खसपादा तुह्मे त्ति, ता करेहि मे प्पसादं संदेहणिण्णएण। (आर्य ! एवं श्रेष्ठिचन्दनदासजीवितं भवतीति श्रुतं, विषमदशाविभागपरिणा-

मपतितो न शक्नोमि निश्चितपदं प्रतिपत्तुम् । अथ सुगृहीतनामधेया अमात्यराक्षसपादा यूयमिति, तत कुरु मे प्रसादं सन्देहनिर्णयेन ।)

राक्षसः—भद्र ! सोऽहमनुभूतभर्तृवंशविनाशः सुहृद्विनाशहेतुरनार्यो दुर्गृहीतनामा यथार्थो राक्षसः ।

पुरुषः—(सहर्षं पुनः पादयोर्निपत्य) प्पसीदध, प्पसीदध । हीमाणहे ! दिट्ठिआ कदत्थोह्मि । (प्रसीदत, प्रसीदत । आश्चर्यम् ! दिष्ट्या कृतार्थोऽस्मि ।)

राक्षसः—भद्र ! उत्तिष्ठोत्तिष्ठ, कृतमिदानीं कालहरणेन, निवेद्यतां जिष्णुदासाय, यथैष राक्षसः चन्दनदासं मरणान्मोचयति । (इति 'निस्त्रिंशोऽयम्' इत्यादि पठन् आकृष्टखड्गः परिक्रामतः ।)

पुरुष—आर्य, यह तो सुन लिया कि सेठ चन्दनदास के प्राण इस प्रकार बच जायँगे । पर इस दुर्दशाग्रस्त परिस्थिति में यह नही समझ पा रहा हूँ कि आप कौन हैं । (देखकर और पैरों पर गिर कर) क्या प्रातः स्मरणीय अमात्य राक्षस आप ही हैं । तो मेरे सन्देह को दूर करने की कृपा करें ।

राक्षस—भद्र, स्वामी के वंश के नाश का अनुभव करने वाला, मित्रों के विनाश का कारण, नाम न लिये जाने योग्य, यथार्थनामा मैं ही राक्षस हूँ ।

पुरुष—(प्रसन्नता से फिर पैरों पर गिरकर) महाराज प्रसन्न हों, प्रसन्न हों, आश्चर्य है । भाग्य से मैं कृतार्थ हो गया ।

राक्षस—भद्र, उठो, उठो, अब समय न बिताओ । जिष्णुदास से कह दो कि यह राक्षस चन्दनदास को मरने से बचायेगा । (ऐसा कहकर निस्त्रिंशोऽयं श्लोक १९ को पढ़ता हुआ तलवार खींच कर घूमता है) ।

पुरुषः—(पादयोर्निपत्य) प्पसीदन्तु प्पसीदन्तु अमच्चरक्खसपादाः । अत्थि दाव एत्थ णअरे प्पढमं चन्दउत्तहदएण अज्जसअड़दासस्स वधो आणत्तो । सो अ केणावि वज्झट्ठाणादो अवहरिअ, देसन्तरं अववाहिदो । तदो चन्दउत्तहदएण कीस प्पमादो किदो त्ति अज्जसअड़दासवधवञ्जणाए समुज्जलिदो रोसग्गो घादअजणवधजलेण णिब्बाविदो । तदो पहुदि घादआ जं कं पि गहीदसत्थं अपुव्वं पुरुसं

अग्गदो पच्चादो वा पेक्खन्ति, तदो अद्धबधे ज्जेव अत्तणो जीविदं परिरक्खन्तो अप्पमत्ता एदे अवाप्तवज्झट्ठणं वज्झं वावदेन्ति। ता एव्वं गहोदसत्थेहिं अमच्चपादेहिं तहिं गच्छन्तेहिं सेट्ठिचन्दणदासस्स बहो तुवराइदो होदि। (प्रसीदन्तु प्रसीदन्त्वमात्यराक्षसपादाः। अस्ति तावदत्र नगरे प्रथमं चन्द्रगुप्तहतकेनाऽऽर्यशकटदासस्य वध आज्ञप्तः। स च केनापि वध्यस्थानादपहृत्य देशान्तरमपवाहितः। ततश्चन्द्रगुप्त हतकेन 'कस्मात् प्रमादः कृतः?' इति आर्यशकटदासवधवञ्चनया समुज्ज्वलितो रोषाग्निर्घातकजनवधजलेन निर्वापितः। ततः प्रभृति घातका यं कमपि गृहीतशस्त्रम् अपूर्वं पुरुषमग्रतः पश्चाद्वा प्रेक्षन्ते, तदार्धपथे एवात्मनो जीवितं परिरक्षन्तोऽप्रमत्ता एतेऽप्राप्तवध्यस्थानं वध्यं व्यापादयन्ति। तस्मादेवं गृहीतशस्त्रैरमात्यपादैस्तत्र गच्छद्भिः श्रेष्ठिचन्दनदासस्य वधस्त्वरायितो भवति।)

(इति निष्क्रान्तः।)

पुरुष—(पैरों पर गिर कर) महामात्य, महामन्त्रिवर, राक्षस प्रसन्न हों। अभी कुछ दिन पहले इस नगर में पापी चन्द्रगुप्त के द्वारा आर्य शकटदास का वध करने की आज्ञा दी गई। पर उस शकददास को वध्य भूमि से हटा कर किसी ने दूसरे देश में पहुँचा दिया। इसके बाद उस दुष्ट चन्द्रगुप्त ने "यह असावधानी कैसे हुई" यह कह कर पूज्य शकटदास के वध में हुई अपनी वञ्चना से धधकती अपनी क्रोधाग्नि को ही हत्या रूपी जल से बुझा डाला। उसी दिन से वधिक लोग शस्त्र धारण किये हुए जब किसी अजनवी व्यक्ति को देख लेते हैं तो उस समय अपने जीवन की रक्षा करते हुए पूरी सावधानी दिखाते हुए वधिक लोग रास्ते में ही (बिना वध्यभूमि में पहुँचे ही) प्राण-दण्डित पुरुष को मार डालते हैं। इसलिये इस प्रकार शस्त्र धारण करके वहाँ जाते हुए अमात्य चरणों द्वारा चन्दनदास का वध शीघ्र ही करा दिया जायगा।

संस्कृतार्थः—पादयोः=चरणयोः, निपत्य=पतित्वा नमस्कृत्य, प्रथमं=प्राक्, चन्द्रगुप्तहतकेन=पापीयसा मौर्येण, आर्यशकटदासस्य, वधः=हननं,

आज्ञप्तः=समादिष्टः। स च शकटदासः, केनापि=अज्ञातपुरुषेण, वध्यस्थानात्=वध्यभूमेः, अपहृत्य=आच्छिद्य, देशान्तरं=अन्यदेशं, अपवाहितः=प्रापितः। ततः=तदन्तरं, चन्द्रगुप्तहतकेन कस्मात् कारणात्, प्रमादः=असावधानता, कृतः=विहितः इति=एतत्, कथयित्वा, आर्यशकटदासस्य वञ्चनया=प्रतारणया, समुज्ज्वलितः=प्रदीप्तः, क्रोधाग्निः=कोपानलः, घातकजनवधजलेन=घातकपुरुषहत्यावारिणा, निर्वापितः=शान्तिं नीतः। ततः प्रभृति=ततः आदाय, घातकाः=वधिकाः, यं कमपि, गृहीतशस्त्रं=शस्त्रधारिणं, अपूर्वं=नवीनं पुरुषं, प्रेक्षन्ते=अवलोकयन्ति, तदा अर्धपथे एव=मार्गमध्ये एव, आत्मनः=स्वस्य, जीवितं=प्राणान्, परिरक्षन्तः=परित्रायमाणाः, अप्रमत्ताः=सावधानाः, एते=घातकाः, अप्राप्तवध्यस्थानम्=वध्यभूमिमगत्वैव, वध्यं=पुरुषं, व्यापादयन्ति=तस्मात्=कारणात्, एवं=अनेन प्रकारेण, गृहीतशस्त्रैः=आत्तास्त्रैः, अमात्यपादैः मन्त्रिभिः भवद्भिः, गच्छद्भिः, श्रेष्ठिचन्दनदासस्य वधः, त्वरायितः=शीघ्रमेव, भवति।

(निकल जाता है)

राक्षसः—(स्वगतम्) अहो ! दुर्बोधश्चाणक्यवटोर्नीतिमार्गः। कुतः ?—

यदि स शकटो नीतः शत्रोर्मतेन ममान्तिकं
किमिति निहतस्तेन क्रोधाद् वधाधिकृतो जनः ?।
अथ न कृतकं तादृक्कष्टं कथं नु विभावये-
दिति मम मतिस्तर्कारूढा न पश्यति निश्चयम् ॥२०॥

राक्षस—(मन में) इस दुष्ट चाणक्य की नीति का मार्ग समझना कठिन है, क्योंकि—

प्रसङ्गः—कूटनीतिज्ञस्य चाणक्यस्य कूटनयं ध्यायं ध्यायं स्मारं स्मारं च तस्य तत्तत्नीतिमार्गान् तरन्तथापि किञ्चिदनिश्चिन्वानस्य राक्षसस्य चिन्तनमिदम्।

अन्वयः—सः शकटः यदि शत्रोः मतेन ममान्तिकं नीतः तर्हि क्रोधात् वधा-

धिकृतः जनः किमिति निहतः। अथ कृतकं न, तादृक् कष्टं कथं नु विभावयेत्, इति मम मतिः तर्कारूढा निश्चयं न पश्यति।

भाषार्थः—यदि यह शकटदास शत्रु की अनुमति से ही मेरे पास लाया गया तो पुनः वधिकों को क्रोधवश क्यों मार डाला गया। और यदि यह (शकटदास सम्बन्धित बात) बनावटी नहीं है तो वैसा दुःखदायी कार्य (कूटलेख, मुद्रादि लगाना) क्यों सोचा। इस प्रकार मेरी मति तर्क-वितर्क करती हुई निश्चय पर नहीं पहुँच रही है।

संस्कृतार्थः—स शकटः = शकटदासः, यदि = चेत्, शत्रोः = अरेः चाणक्यस्य, मतेन = आदेशेन, ममान्तिकं = मत्समीपं, नीतः = प्रापितः, तदा तेन शत्रुणा = अरिणा चाणक्येन, क्रोधात् = कोपात् वधाधिकृतः = चाण्डालः वधिकः जनः = प्राणी, किमिति = कथं, निहतः = व्यापादितः। अथ कृतकं न = असत्यं न परं यथार्थमेव, तर्हि = तदा, तादृक् = तथाविधं, कष्टं = द्रोहरूपं पापकर्म, कथं नु शकटदासो विभावयेत् = चिन्तयेत्। इति = एवं, मे = मम राक्षसस्य, मतिः = बुद्धिः, तर्कारूढा = पुनः पुनः तर्कयन्ती, निश्चयं = निर्णयं, न पश्यति = नाभिजानाति।

भावार्थः—चाणक्यः अनेन कर्मणा किं कर्तुकामः, एतेन च किं इति भूयो भूयः विचार्यमाणेऽपि सन्देहाकुलैव मे मतिः वर्तते, अतः चाणक्यनीतिमार्गः अतिदुर्बोधः इति भावः।

टिप्पणी

व्याकरणम्—तर्कारूढा = तर्कमारूढा इति तर्क + आ + रुह् + क्त + टाप्। वधाधिकृतः = वधे अधिकृतः तत्पुरुषः। कृतकं = कृत्रिमं, कृत + कन्। कष्टं = अनिष्टकरं, कष् + क्त। मतिः = मन्यते अवबुध्यतेऽनया सा मतिः मन् + क्तिन्। कोषः—तर्कः "अध्याहारः, तर्कः, ऊहः" इत्यमरः। अलंकारः—वाक्यार्थहेतुकः काव्यलिङ्गालंकारः। छन्दः—शिखरिणी वृत्तम्।

(विचिन्त्य) तस्मात्—

नायं निस्त्रिंशकालः प्रथममिह कृते घातकानां विघाते
नीतिः कालान्तरेण प्रकटयति फलं किं तया कार्यमत्र ?

औदासीन्यं न युक्तं प्रियसुहृदि गते मत्कृते चातिघोरां
व्यापत्तिं ज्ञातमस्य स्वतनुमहमिमां निष्क्रयं कल्पयामि ।।२१।।
(इति निष्क्रान्ताः सर्वे ।)
।। इति षष्ठोऽङ्कः ।।

प्रसङ्गः—नायं युद्धस्य न च निस्त्रिंशकालः परमात्मसमर्पणस्यैव समयः अतः स्वात्मसमर्पणमेव चन्दनदासमोक्षोपायं मन्वानस्य राक्षसस्येयमुक्तिः ।

अन्वयः—इह प्रथमं घातकानां विघाते कृते अयं निस्त्रिंशकालः न । नीतिः कालान्तरेण फलं प्रकटयति, अत्र तया किं कार्यम्, प्रियसुहृदि मत्कृते अतिघोरां व्यापत्तिं गते औदासीन्यं च न युक्तम् । ज्ञातम्—अहं इमां स्वतनुं अस्य निष्क्रयं कल्पयामि ।

भाषार्थः—(सोच कर) इसलिये जब बधिक मेरे हाथ में तलवार देखते ही चन्दनदास का वध कर देंगे तो यह समय तलवार उठाने का नहीं है । नीति समय पाकर फल देती है । यहाँ उससे क्या प्रयोजन ? परन्तु जब मेरा प्रिय मित्र मेरे ही लिये अति दारुण विपत्ति में पड़ गया है तो उदासीन रहना भी ठीक नहीं । अब समझ गया । मैं चन्दनदास को छुड़ाने का मूल्य अपना शरीर बनाता हुँ ।

संस्कृतार्थः—इह=अस्मिन् चन्दनदासस्य मोक्षे, प्रथमं=पूर्वं, घातकानां=वधिकजनैः चन्दनदासस्य, विघाते कृते=वधे सम्पाद्यमाने, अयं निस्त्रिंशकालः=एष कृपाणसमयः, न । नीतिः=नयः, कालान्तरेण=बहुकालान्तरं, फलं=परिणामं,=प्रकटयति=साधयति इति हेतोः, अत्र=अस्मिन् शीघ्रं विधीयमाने कार्ये, तया—नीत्या, किं कार्यम्=किं प्रयोजनम् अर्थात् न किमपि प्रयोजनम् । प्रियसुहृदि=प्रियमित्रे मम कृते=मदर्थं, अतिघोरां=अतिदारुणाम्, विपत्तिं=विपदं, गते=प्राप्ते, औदासीन्यं=नैराश्यमपि, न युक्तं=नोचितम् । आः ज्ञातम्=अवबुद्धं करणीयं, अहं=राक्षसः, इमां=एतां, स्वतनुम्=स्वशरीरं, अस्य=चन्दनदासस्य, निष्क्रयं=मोचनशुल्कं, कल्पयामि=सम्पादयामि ।

भावार्थः—राक्षसः चिन्तयति यत् नीतिस्तावत् बहुकालानन्तरं फलदा जायते तस्मान्नायं कालो नयस्य, अधुना तु चन्दनदासस्य मृत्युकालः शिरसि वर्तते। अतः सत्वरं निजशरीरदानमेव तन्मोचनमूल्यम्, अतः स्वदेहदानेन सुहृदं मोचयामीति भावः।

टिप्पणी

व्याकरणम—निष्क्रीयतेऽनेनेति निष्क्रयः तं, निस्—क्री+अच्। कल्पयामि—अत्र भविष्यत्सामीप्ये लट् लकारः। औदासीन्यम्=उदासीनस्य भावः उदासीन+ष्यञ्। घातकानाम् घातकैरित्यर्थः अत्र कृद्योगे कर्तरि षष्ठी। तया में किं कार्यं, किं प्रयोजनं के योग में तृतीया है। कोषः—स्वर्ग याग अद्रि मेघ अब्धि द्रु काल असि शर अरि ये और इनके पर्यायवाचक शब्द सभी पुंल्लिग होते हैं। अलंकारः—शरीरदानेन सुहृन्मोचनादत्र विनिमयात् परिवृत्ति नामालङ्कारः। छन्दः—स्रग्धरा वृत्तम्।

इति राक्षसनिर्वेदो नाम षष्ठोऽङ्कः

———

सप्तमोऽङ्कः

(ततः प्रविशति चाण्डालः।)

चाण्डालः—ओसलध अज्जा! ओसलध, अबेध माणहे! अबेध—(अपसरत आर्याः! अपसरत, अपेत मान्याः! अपेत—)

जइ लक्खिदुं मणद्धं प्पाणे, विहबे, कुल कलत्ते अ।
पलिहलध ता विसं बिअ लाआपत्थं प्पअत्तेण ॥१॥
(यदि रक्षितुं मन्यध्वं प्राणं, विभवं, कुलं, कलत्रं च।
परिहरत तस्माद विषमिव राजापथ्यं प्रयत्नेन ॥१॥

तत्पश्चात् चाण्डाल का प्रवेश

चाण्डाल—आर्य लोगों हटो, आदरणीय जनो हटो।

प्रसङ्गः—चाण्डालवेषधारी सिद्धार्थकः तदन्यः सुहृत् चन्दनदासं वध्यभूमिं नयन् जनसम्मर्दं तद्दर्शनार्थमागतं राजमार्गात्समुत्सारयन् ब्रूते।

अन्वयः—यदि प्राणं विभवं कुलं कलत्रं च रक्षितुं मन्यध्वम्, तस्मात् प्रयत्नेन विषमिव राजाऽपथ्यं परिहरत।

भाषार्थ—चाण्डाल—आर्य लोग हटें, आदरणीय सज्जन लोग हट जायँ, यदि प्राण, धन, कुल, स्त्री की रक्षा करना चाहते हैं तो विष के समान राजद्रोह को त्याग दो यत्नपूर्वक राजद्रोह से बचो।

संस्कृतार्थः—यदि प्राणान्=जीवितानि, विभवं=धनं, कुलं=वंशं, कलत्रं च=दारांश्च, रक्षितुं=परित्रातुं, मन्यध्वम्=यूयं इच्छत, तस्मात्—प्रयत्नेन=उद्यमेन, विषमिव=गरलमिव, राजाऽपथ्यं=राजविरोधं, परिहरत=परित्यजत।

भावार्थः—विषभक्षणात् केवलमेकस्यैव भक्षयितुरेव सोऽपि कादाचित्कः नावश्यं भावेन सर्वथा विनाशः भवति। परं राज्ञोऽपथ्यकरणात् सपुत्र-कलत्र-धनधान्यादीनां सर्वेषां विनाशः जायते, तस्मात् नृपाहितं विरोधो वा सर्वथा प्राणपणेनापि परित्याज्यः।

टिप्पणी

व्याकरणम्—प्राणम्—प्र+अन् प्राणने+घञ्। प्राण शब्द नित्य बहुवचनान्त होता है। यतः प्राण पाँच माने गये हैं। प्राण—अपान—समान—व्यान और उद्यान। कलत्रम्=यद्भर्तुरेव हितमिच्छति तत्कलत्रम्। नित्य नपुं० गड्+अत्रन्; गकारस्य ककारः डलयोरभेदः कलत्रम्। मन्यध्वम्=मन्यते रात्मनेपदं लटि मध्यमपुरुषबहुवचनम्। प्रयत्ने=प्र+यत्+नङ् तेन। अपथ्यम्=न पथ्यं नञ् तत्पुरुषः, पथिन्+यत् इनः लोपः। कोषः—विषम्—"क्ष्वेडस्तु गरलं विषम्" इत्यमरः। संस्कृत में विष का अर्थ जहर और जल है। अलंकारः—विषरूपोपमानात् राजापथ्यस्याधिक्यवर्णनात् व्यतिरेकः। यथोक्तं—आधिक्यमुपमेयस्योपमानान्यूनताऽथवा व्यतिरेकः। छन्दः—आर्या-

वृत्तम् । चारों चरणों में क्रमशः १२, १८, १२, १५, मात्रा हों उसे आर्यावृत्त कहते हैं ।

अवि अ—होदि पुलिसस्स ब्वाही मलणं वा सेविदे अपत्थेवि ।
लाआपत्थे उण सेविदे सअलं वि कुलं मलदि ।।२।।

अपि च—(भवति पुरुषस्य व्याधिर्मरणं वा सेविते अपथ्येऽपि ।
राजापथ्ये पुनः सेविते हि सकलमपि कुलं म्रियते ।।२।।)

प्रसङ्गः—भंग्यन्तरेण वधिकवेषधारी सिद्धार्थकः ब्रूते--राजापथ्यकारिणः सकलमपि कुलं नश्यति केवलमपथ्यकारिणः केवलं तस्यैव एकस्य व्याधिर्वा मरणं वा जायते ।

अन्वयः—अपथ्ये अपि सेविते पुरुषस्य व्याधिः वा मरणं भवति, पुनः राजापथ्ये सेविते हि सकलमपि कुलं म्रियते ।

भाषार्थः—कुपथ्य वस्तु का सेवन करने से मनुष्य को बीमारी या मृत्यु हो जाती है । परन्तु राजा का अहित करने से सारा कुल नष्ट हो जाता है ।

संस्कृतार्थः—अपथ्ये = अहितकरे, विषादौ, सेविते = भक्षिते सति, पुरुषस्य = जनस्य, व्याधिः = रोगः, मरणं = मत्युः, वा = अथवा भवति = जायते । पुनः, राजापथ्ये = राजविद्रोहरूपे वस्तुनि सेविते सति, सकलमपि = सम्पूर्णमपि, कुलम् – वंशः, म्रियते = प्राणैः वियुज्यते, पञ्चत्वमुपगच्छति ।

भावार्थः—दैनिकव्यवहारे भक्ष्याऽभक्ष्येऽपथ्यभक्षात् भक्षयितुरेकाकिनः एव व्याधिः आहोस्वित् मृत्युः जायते, परं राजाऽपथ्यसेवनात् सकलमपि कुलमामूलचूलं विनश्यति इति भावः ।

टिप्पणी

व्याकरणम्—व्याधिः—वि + आ + धा + कि । मरणम् = मृ (मरणे) + ल्युट् । सकलम् = कलया कलेन वा सहितः बहुव्रीहि समासः । कोषः—"रुक् रुजा चोपतापरोगव्याधिगदामयाः" इत्यमरः । व्याधि "कूठ"ओषधि को भी कहते हैं । अलङ्कारः—सामान्योऽपथ्यात् राजापथ्यस्याधिक्योक्त्या व्यतिरेकाऽलङ्कारः । छन्दः—आर्या वृत्तम् । यथोक्तम्—यस्याः प्रथमे पादे द्वादश,

मात्रास्तथा तृतीयेऽपि । अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश सार्या ॥

ता जइ ण प्पत्तिआअध, तदा पेक्खध एणं लाआपत्थकालिणं सेट्ठिचन्दणदासं बज्झट्ठाणं आणीअमाणं सपुत्तकलत्तं । (आकाशे) अज्जा ! किं भणाध ? अत्थि किं चन्दनदासस्स मोक्खोवाओ त्ति ? कुदो से अधणस्स मोक्खोवाओ ? एद उण अत्थि—सो जइ अमच्चरक्खसस्स घरअणं समप्पेदि (पुनराकाशे) किं भणाध ? एसे सलणागदवच्छले अत्तणो जीविदस्स कालणेण ईरिसं अकज्जं ण कलिस्सदि त्ति ? अज्जा । जई एव्वं त्तेण हि अवधाणेध से सुभगदिं किं दाणिं तुह्माणो प्पडीआलविआरेण (तद्यदि न प्रत्ययध्वं तदा प्रेक्षध्वमेनम् राजापथ्यकारिणं श्रेष्ठिचन्दनदासं वध्यस्थानमानीयमानम् सपुत्रकलत्रम् । आर्याः किं भणथ ? अस्ति किं चन्दनदासस्य मोक्षोपाय इति ? कुतोऽस्याधन्यस्य मोक्षोपायः एतत् पुनरस्ति—स यद्यमात्यराक्षसस्य गृहजनं समर्पयति ? किं भणथ ? एष शरणागतवत्सल आत्मनो जीवितस्य कारणेनेदृशमकार्यं न करिष्यतीति । आर्या; यद्येवं तेन ह्यवधत्तास्य शुभगतिम् । किमिदानीं युष्माकं प्रतीकारविचारेण ?)

भाषार्थ—तो यदि विश्वास नहीं हो रहा है तो इस राजद्रोही चन्दनदास को देख लो पुत्र कलत्र सहित वध्य भूमि को ले जाया जा रहा है । (आकाश की ओर देखकर) क्या कहा ? क्या चन्दनदास के बचने का कोई उपाय नहीं है । इस भाग्यहीन का छुटकारा किस उपाय से हो सकता है ? हाँ, इसका एक उपाय है, वह यह है कि चन्दनदास अमात्य राक्षस के परिवार को सौंप दे । (फिर आकाश की ओर देखकर) क्या कहा कि यह शरणागतवत्सल चन्दनदास अपने प्राण बचाने के लिये यह नीच काम न करेगा । यदि यह बात है तो चन्दनदास की सद्गति मनाओ, छुटकारा पाने का उपाय पूछने से क्या ?

संस्कृतार्थः—यन्मया कथितं तन्न विश्वसितं तर्हि भूपतेरनिष्टकारिणं वध्यस्थलं नीयमानं सपुत्रं सस्त्रीकं श्रेष्ठिनं चन्दनदासं पश्यत । आर्याः ! किं पृच्छत यच्चन्दनदासः कथं मुक्तो भविष्यति । अस्य भाग्यहीनस्य बन्धनात् मुक्तिः क्व,

एष उपायः पुनरस्ति, यदि असौ श्रेष्ठी अमात्यराक्षसस्य परिवारं समर्पयेत् । किमुच्यते एष शरणागतप्रियः स्वजीवनस्य हेतोः एतादृशं कुत्सितं कार्यं करिष्यति । यदि न समर्पयति तर्हि चिन्तयतास्य शुभां गतिम् । किमिदानीं मोक्षोपायविचारेणेति ।

टिप्पणी

व्याकरणम्—मोक्षोपायः—मोक्षस्य उपायः षष्ठीतत्पुरुषः, गुणसन्धिश्च । मोक्ष+घञ्, उपायः—उप+इ (गतौ)+घञ् । श्रेष्ठी—श्रेष्ठं धनादिकमस्त्यस्येति इनिप्रत्ययः । श्रेष्ठः—अतिशयेन प्रशस्यः, इष्ठन् प्रत्ययः, श्रादेशः । आर्याः—ऋ+ण्यत् बहुवचनम् । जीवितस्य—जीव्+शतृ+ङस् षष्ठीएकवचन ।

(ततः प्रविशति द्वितीयचाण्डालानुगतो वध्यवेशधारी शूलं स्कन्धेनादाय कुटुम्बिन्या पुत्रेण चानुगम्यमानश्चन्दनदासः ।)

चन्दनदासः—हद्धी ! हद्धो ! ! अह्मारिसाणं वि कधं णित्तचारित्तभङ्गभीरुणं चोरजणोचिदं मलणं पत्तं त्ति । णमो किदन्तस्स । अहवा ण णिसंसाणं उदासीणेसु इदरेसु वा विसेसो अत्थि । तधा हि—(हा धिक्, हा धिक् ! ! अस्मादृशानामपि कथं नित्यचारित्रभङ्गभीरूणां चौरजनानामिव मरणं प्राप्तमिति । नमः कृतान्तस्य । अथवा न नृशंसानामुदासीनेष्वितरेषु वा विशेषोऽस्ति । तथा हि—)

भाषार्थ—तदनन्तर दूसरे चाण्डाल के साथ वध के योग्य वेश धारण किये हुये कन्धे पर शूल रखकर स्त्री और पुत्र से अनुगम्यमान चन्दनदास प्रवेश करता है ।

चन्दनदास—धिक्कार है, हमारे समान निरन्तर चरित्र दोष से डरते रहने वाले की चोर की भांति मृत्यु । यमराज को नमस्कार है । अथवा नृशंस लोगों का अपराधी या निरपराधी जनों में कोई भेद नहीं होता तथाहि—

मौहूण आमिसाइं मलणभएण तिणेहि जीवन्तम् ।
बाहाणं मुद्धहरिणं हन्तुं को णाम णिब्बन्धो ? ।।३।।

मुक्त्वा आमिषाणि मरणभयेन तृणैर्जीवन्तम् ।
व्याधानां मुग्धहरिणं हन्तुं को नाम निर्बन्धः ।।३।।)

प्रसङ्गः—चन्दनदासः निरपराधिनं आत्मानं प्राणदण्डेन दण्ड्यमानं विलोक्य नृशंसाननुशोचति ।

अन्वयः—मरणभयेन आमिषाणि मुक्त्वा तृणैः जीवन्तं मुग्धहरिणं हन्तुं व्याधानां को नाम निर्बन्धः ।

संस्कृतार्थः—मरणभयेन = मृत्योः भीत्या, आमिषाणि = मांसानि, मुक्त्वा = परित्यज्य, तृणैः = घासादिभिः, जीवन्तं = प्राणान् धारयन्तं, मुग्धहरिणं = सरलस्वभावं मृगादिकं, हन्तुं = प्राणैर्वियोजयितुं, व्याधानां = मृगयूणां, कोनाम = कीदृशः, निर्बन्धः = दुराग्रहः ।

भावार्थः—यया निर्दोषहरिणव्यापादकः व्याधस्तथा निर्दोषव्यापादकः चाणक्यः, तस्मात् पापिनो व्याधापेक्षया चाणक्यस्य को विशेषः, महान् पापिष्ठोऽसौ खलु कौटिल्यः इति भावः ।

टिप्पणी

व्याकरणम्—मरणभयेन—जन्तूनां हिंसात्रासेन, मृज् + ल्युट्—मरणम्, आमिषाणि = मांसानि, अम + टिषच् दीर्घश्च । जीवन्तं = जीव् + शतृ, द्वितीयैकवचनं, अत्र जातौ एकवचनम् । व्याधानाम् = व्यध्—ताडने दिवादिगणीयः व्यध् + ण, णित्त्वाद्वृद्धिः, षष्ठीबहुवचनम् । भयेन—बिभेत्यस्मात् भी + अच् अपादानार्थे भयं तेन । कोषः—आमिषम् "पिशितं तरसं मांसं पललं क्रव्यमामिषम्" मांस अर्थ के अतिरिक्त आमिष का अर्थ उपादान यानी रिस्वत घूस अर्थ भी होता है । "उपादानेऽप्यामिषं स्यात्" इति कोषप्रमाणम् । अलङ्कारः—अप्रस्तुतप्रशंसा तथा दृष्टान्त दोनों का संकर । छन्दः—आर्यावृत्तम् ।

(समन्तादवलोक्य) भो प्पिअवअस्स जिण्णुदास ! कधं प्पड़िवअणं वि मे ण प्पड़िवज्जसि त्ति । अधवा दुल्लहा क्खु पुरिसा, जे इमस्सि काले दिट्ठिवधे वि चिट्ठन्ति । (सवाष्पम्) एदे अह्मप्पिअवअस्सा अस्सुवादमेत्ताकेण किदप्पदीआरा कहं विणिवत्तमाणा परिबड्ढ-

माणसोअदीणवदणा वाप्फगरुआए दिट्ठीए मं अणुगच्छन्दि। (भो प्रियवयस्य जिष्णुदास ! कथं प्रतिवचनमपि मे न प्रतिपद्यसे इति। अथवा दुर्लभाः खल्वेते पुरुषाः येऽस्मिन् काले दृष्टिपथेऽपि तिष्ठन्ति। एतेऽस्मत्प्रियवयस्या अश्रुपातमात्रेण कृतप्रतीकाराः निवर्तमानाः परिवर्धमानशोकदीनवदना वाष्पगुर्व्या दृष्ट्या मामनुगच्छन्ति।) (इति परिक्रामति।)

चण्डालौ—(परिक्रम्यावलोक्य च) अज्ज चन्दणदास ! आगदोसि वज्झट्ठाणं। ता विसज्जेहि पणिअणं। (आर्य चन्दनदास ! आगतोऽसि वध्यस्थानम्। तत् विसर्जय परिजनम्।

चन्दनदासः—अज्जे ! कुटुम्बिणि ! णिवत्तस्स तुमं सपुत्ता। वज्झट्ठाणं क्खु एदं, अदो अवरं अभूमि क्खु अणुगच्छिदुम्। (आर्ये! कुटुम्बिनि ! निवर्तस्व त्वं सपुत्रा। वध्यस्थानं खल्वेतत्, अतोऽपरभूमिः खल्वनुगन्तुम्।)

कुटुम्बिनी—(सबाष्पम्) परलोअं प्पत्थिदो अज्जो, ण उण देसन्तरं ता अज्जोग्गो दाणीं कुलजणस्स णिवत्तिदुं। (परलोकं प्रस्थितः आर्यो न पुनर्देशान्तरं, तदयोग्यमिदानीं कुलजनस्य निवर्तितुम्।)

चन्दनदासः—अज्जे ! सच्चं, मित्तकज्जेण मम विणासो, न पुरिसदोसेण। ता किं हरिसट्ठाणे बि रोइसि त्ति ? (आर्ये ! सत्यं; मित्रकार्येण मम विनाशो, न पुरुषदोषेण; तत् कि हर्षस्थानेऽपि रोदिषि इति ?)

कुटुम्बिनी—अज्ज ! जइ एव्वं, ता अणुचिदं दाणीं कुलजणेण णिवत्तिदुं। (आर्य ! यद्येवं, तदनुचितमिदानीं कुलजनेन निवर्तितुम्।)

भाषार्थ—(चारों ओर देखकर) ऐ मित्र जिष्णुदास, मुझे उत्तर भी नहीं देते हो। अथवा ऐसे लोग दुर्लभ हैं जो ऐसे अवसर पर दिखाई भी दे सकें। (आँसू भरकर) ये हमारे प्रिय मित्र केवल आँसू गिराकर प्रतीकार करने वाले तथा बढ़ते हुए शोक से मलिन मुख अश्रुपूर्ण नेत्रों से मेरा अनुसरण कर रहे हैं। (यह कहकर घूमता है)

चाण्डाल—(घूम कर और देखकर) आर्य चन्दनदास, अब आप वध्य-स्थान पर आ गये हैं। इसलिये परिजनों को लौटा दीजिये।

चन्दनदास—अये घर वाली ! तुम पुत्र सहित लौट जाओ। यह फाँसी देने का स्थान है। इसके आगे मेरे साथ चलना ठीक नहीं।

कुटुम्बिनी—(आँसू के साथ) आर्य, आप परलोक जा रहे हैं न कि विदेश की यात्रा कर रहे हैं। तो इस समय परिजनों का लौटाना ठीक नहीं है।

चन्दनदास—आर्ये ! सत्य है। मेरा नाश मित्र कार्य के लिये हो रहा है न कि मेरे किसी अपराध से। तो अब हर्ष के समय क्यों रोती हो।

कुटुम्बिनी—आर्य, यदि ऐसा है तो कुलजनों का लौटाना अनुचित है।

संस्कृतार्थः—समन्तादिति – सर्वतो दृष्ट्वा, हे प्रिय बन्धो ! जिष्णुदास ! प्रत्युत्तरमपि कथं न ददासि। अथवा ते जनाः दुष्प्रायाः ये दुःखावसरे चक्षुर्विषयमायान्ति। एते मम प्रियबान्धवाः रुदन्तः परिवर्द्धमानशोकाः म्लानमुखाः अश्रुपूर्णनेत्रैः मामनुसरन्ति।

टिप्पणी

व्याकरणम्—प्रियवयस्यः = प्रियश्चासौ वयस्यः, वयसा तुल्यः वयस्यः, वयस् + यत्। दुर्लभाः = दुःखेन लब्धुं शक्याः इति दुर् + लभ् + खल्। पुरुषाः = पुरि देहे शेते, शीङ् + ड पृषोदरादित्वात्साधु। कृतप्रतीकाराः—कृतः प्रतीकारः यैः तथाभूताः, प्रतीकारः उपायः। परिवर्द्धमानः—परि + वृध् (वृद्धौ) + शानच् मुक् आगम। प्रतिवचनम् = प्रत्युत्तरं, प्रति + वच् (परिभाषणे) + ल्युट्, अनादेशः। वाष्पगुर्व्या = वाष्पैः गुर्वी तया, गृ—विज्ञाने, गारयते वेदयते इति गृ + कु उत्वम् = गुरु + ङीप्।

चन्दनदासः—अध इं ब्बवसिदं अज्जाए (अथ किं व्यवसितमार्यया ?)

कुटुम्बिनी—(सवाष्पम्) भत्तुणो चलणमणुगच्छन्तीए अप्पाणुग्गहो होदि त्ति। (भर्तुश्चरणमनुगच्छन्त्या आत्मानुग्रहो भवति इति।)

चन्दनदासः—अज्जे ! दुब्ववसिदं एदं दे, ता दाणीं अज्जाए अअं असुणिदलोअव्ववहारो कुमारो अणुगेह्णिदव्वो त्ति । (आर्ये ! दुर्व्यवसितमिदं ते, तदिदानीमार्ययाऽयमश्रुतलोकव्यवहारः कुमारोऽनुग्रहीतव्य इति ।)

कुटुम्बिनी—अणुगेह्णन्तु णं प्पसण्णाओ कुलदेवदाओ । जाद ! पुत्तअ ! प्पणम अपच्चिमस्स पिदुणो पाएसुं । (अनुगृह्णन्त्वेनं प्रसन्नाः कुलदेवताः । जात ! पुत्रक ! प्रणम अपश्चिमस्य पितुः पादयोः ।)

पुत्रः—(पादयोर्निपत्य) ताद ! मए तादविरहिदेण किं अणुचिट्ठिदव्वं (तात ! मया तातविरहितेन किमनुष्ठातव्यम् ?

चन्दनदासः—पुत्त ! चाणक्कविरहिदे देसे वसिदव्वं । (पुत्र ! चाणक्यविरहिते देशे वस्तव्यम् ।)

चाण्डालौ—अज्ज ! चन्दणदास ! णिखादे शूले, ता दाणीं सज्जो होहि । (आर्य ! चन्दनदास ! निखातः शूलः, तदिदानीं सज्जो भव ।)

कुटुम्बिनी—अज्जा ! पलित्ताअध पलित्ताअध । (आर्याः ! परित्रायध्वं परित्रायध्वम् ।)

चन्दनदासः—भद्दमुह ! मुहुअत्तं चिट्ठ । अइ जीविदवच्छले ! किं एत्थ आक्कंदसि ? सग्गं गदा क्खु ते देवा णन्दा, जे दुक्खिदं इत्थीजणं अणुकम्पन्ति । (भद्रमुख ! मुहूर्तं तिष्ठ । अयि जीवितवत्सले ! किमत्राक्रन्दसि स्वर्गं गताः खलु ते देवाः नन्दाः, ये दुःखितं स्त्रीजनं प्रतिदिनमनुकम्पन्ते ।)

चन्दनदास—श्रीमती जी ! तुमने क्या निश्चय किया है ?

कुटुम्बिनी—(अश्रुपूर्ण नेत्रों से) आपके चरणों का अनुसरण करने से कृतार्थ हो जाती ।

चन्दनदास—आर्ये ! यह विचार युक्त नहीं । यह तुम्हारे लिये अनुचित है । इस समय इस कुमार पर दया करो जो संसार के व्यवहार से अनभिज्ञ है ।

कुटुम्बिना—इस पर तो प्रसन्न हुए कुल देवता कृपा करें। पुत्र, सदा के लिये विदा होने वाले पिता के पैरों में प्रणाम करो।

पुत्र—(पिता के दोनों चरणों में प्रणाम करके) पिताजी, आपसे रहित मैं क्या करूँ।

चन्दनदास—पुत्र, वहाँ जाकर रहना जहाँ चाणक्य न पहुँच पाये।

दोनों चाण्डाल—आर्य चन्दनदास, शूली गड़ गई है, अब तैयार हो जाओ।

कुटुम्बिनी—अरे बचाओ, बचाओ।

चन्दनदास—भद्रमुख! थोड़ी देर ठहर जाओ, अरी प्राणप्रिये! क्यों रो रही हो। हमारे राजा नन्द अब स्वर्ग चले गये हैं, जो दुःखी स्त्रियों पर सदा दया करते थे।

टिप्पणी

व्याकरणम्—व्यवसितम् = निश्चितम्, स्थिरीकृतं वा। आत्मानुग्रहः = आत्मनि अनुग्रहः, अपने पर कृपा, क्योंकि "पतिचरणानुगमनशीलाः स्त्रियः स्वर्गे लोके च महीयन्ते। अश्रुतलोकव्यवहारः = न श्रुतः अश्रुतः = अज्ञातः, लोकस्य व्यवहारः = लोकव्यवहारः, अश्रुतः लोकव्यवहारः येन सः बहुव्रीहि समास।

व्यवहारः—वि + अव + हृ + घञ्। पुत्रकः = पुत् नाम नरकं ततः त्रायते इति पुत्रः, पुत्र एव पुत्रकः, पुत्र + कन्। अनुगृह्णन्तु = अनु + ग्रह् (उपादाने) + श्ना + लोट् + झि। अनुष्ठातव्यम् = अनु + स्था + तव्यत्। निखातः = भूमौ निक्षिप्तः, नि + खन् + क्त। परित्रायध्वम् = शीघ्रतायां द्विरुक्तिः। त्रैङ्—पालने लोटि मध्यमपुरुषबहुवचने रूपम्।

प्रथमश्चाण्डालः—अले वेणुवेत्तका! गेह्ण इमं चन्दनदासं। घलजणो स्सअं ज्जेव गमिस्सदि। (अरे वेणुवत्तक! गृहाणेमं चन्दनदासं गृहजनः स्वयमेव गमिष्यति।

द्वितीयश्चाण्डालः—अले वज्जलोमआ! एसे गेह्णामि (अरे वज्रलोमक! एष गृह्णामि)।)

चन्दनदासः—भद्दमुह ! चिट्ठ मुहुत्तअं, जाव पुत्तअं परिस्सआमि। (इति पुत्रं परिष्वज्य मूर्ध्नि समाघ्राय) जाद ! पुत्तअ ! अवस्सं भविदब्बे वि विणासे मित्तकज्जं समुब्बहमाणो विणासमणुभवामि। (भद्रमुख ! तिष्ठ मुहूर्तं, यावत् पुत्रकं परिष्वजे। जात ! पुत्रक ! अवश्यम्भवितव्येऽपि विनाशे मित्रकार्यं समुद्वहमानो विनाशमनुभवामि।)

पुत्रः—ताद ! एदं क्खु भणिदब्बं, किं कुलक्कमो क्खु एसो अह्माणं (तात ! इदं खलु भणितव्यं, किं कुलक्रमः खल्वेषोऽस्माकम् ?) (इति पादयोः पतति।)

(चण्डालः—अले गेह्ण वज्जलोमआ ! अरे गृहाण वज्रलोमक !)

(चण्डालौ गृह्णीतश्चन्दनदासमारोपयितुं शूले।)

कुटुम्बिनी—(सोरस्ताडम्) अज्जा ! पलित्ताअध पलित्ताअध। (आर्याः ! परित्रायध्वम् परित्रायध्वम्।)

प्रथम चाण्डाल—अरे वेणुवेत्रक, इस चन्दनदास को पकड़ लो। घर के लोग स्वयं लौट जायँगे।

दूसरा चाण्डाल—अरे वज्रलोमक, लो मैं पकड़ता हूँ।

चन्दनदास—भद्रमुख, थोड़ी देर ठहरो जब तक मैं पुत्र का आलिङ्गन कर लूँ (पुत्र को आलिङ्गन करके और मस्तक सूँघ कर) पुत्र, यद्यपि मृत्यु अवश्यंभावी है। फिर भी मित्र के कार्य को वहन करता हुआ मैं मृत्यु को प्राप्त हो रहा हूँ।

पुत्र—पिताजी ! यह तो बता दीजिये कि क्या हमारे कुलकी रीति यही रही है ? (पैरों पर गिरता है।)

चाण्डाल—अरे वज्रलोमक, पकड़ ले।

(दोनों चाण्डाल शूली पर चढ़ाने के लिये चन्दनदास को पकड़ते हैं)

कुटुम्बिनी—(छाती पीटती हुई) आर्यो, बचाओ, बचाओ।

टिप्पणी

व्याकरणम्—परिष्वज्य = परि + ष्वज् + क्त्वा (ल्यप्) = समालिङ्ग्य।

समुद्वहमानः = सम्पादयन्, सम् + उत् + वह् + शानच् (मानादेशः) सोरस्ताडमिति = ताडनं ताडः उरसः ताडः तेन सहितं सोरस्ताडम् क्रियाविशेषणम्। कुलक्रमः = कुलस्य क्रमः। क्रमु (पादविक्षेपे + घञ्। समाघ्राय – घ्रात्वा, सम् + आ + घ्रा (गन्धोपादाने) + क्त्वा (ल्यप्)। "चाण्डालः प्लवः मातङ्गः दिवाकीर्तिः जनङ्गमः" एते चाण्डालस्य पर्यायाः। कुटुम्बिनी = गृहिणी, कुटुम्ब इनि + ङीप्।

(प्रविश्य पटाक्षेपेण राक्षसः।) भवति ! न भेतव्यम्। नभेतव्यम् भो भो शूलायतनाः ! न खलु व्यापादनीयश्चन्दनदासः। कुतः—

येन स्वामिकुलं रिपोरिव कुलं दृष्टं विनश्यत् पुरा
मित्राणां व्यसने महोत्सव इव स्वस्थेन येन स्थितम्।
आत्मा यस्य वधाय वः परिभवक्षेत्रीकृतोऽपि प्रियः
तस्येयं मम मृत्युलोकपदवी वध्यस्रगावध्यताम् ॥४॥

(पर्दा हटाकर राक्षस का प्रवेश) अरे डरो मत, डरो मत, अरे शूली देने वाले लोगों, चन्दनदास को न मारो। क्यों—

प्रसङ्गः—राक्षसः शूलमारोढुं उद्यतं चन्दनदासं ध्यायं ध्यायं विस्मारं विस्मारं च स्वप्राणरक्षणचिन्तां दिवाकीर्तिं वक्ति।

अन्वयः—येन पुरा रिपोः कुलमिव स्वामिकुलं विनश्यत् दृष्टम्, येन मित्राणां व्यसने महोत्सवे इव स्वस्थेन स्थितम् यस्य परिभवक्षेत्रीकृतोऽपि आत्मा वः वधाय प्रियः, तस्य मम इयं मृत्युलोकपदवी वध्यस्रक् आवध्यताम्।

भावार्थः—जिस मुझ राक्षस से पहले शत्रुकुल के समान नष्ट होता स्वामी का कुटुम्ब देखा गया। जो मित्रों के कष्ट में ऐसा आनन्दित था मानों महान् उत्सव में, जिसका शरीर पराभव का क्षेत्र बना दिया जाने पर भी वध करने के लिये तुम लोगों को प्रिय है, उस मुझको, मृत्युलोक की पगडण्डी, वध्य लोगों के गले में डाली जाने वाली यह माला पहना दो।

संस्कृतार्थः—येन = मया राक्षसेन, पुरा = पूर्वं, रिपोः = अरेः, कुलमिव = वंश इव, स्वामिकुलं = भर्तृवंशः, विनश्यत् = विनाशं प्राप्नुवत्, दृष्टम् = अक्षिलक्ष्यीकृतम्, येन = मया राक्षसेन, मित्राणां = सखीनां व्यसने = विपत्तौ,

महोत्सवे इव महानन्दकाले इव, स्वस्थेन=निश्चिन्तेन, अविकारेण, स्थितम्=उषितम् । यस्य=मम राक्षसस्य, परिभवक्षेत्रीकृतोऽपि=परिभवस्य=तिरस्कारस्य, क्षेत्रं=पात्रं, कृतोऽपि=सम्पाद्यमानोऽपि, आत्मा=शरीरम्, वः=युष्माकं चाण्डालानां, वधाय=हन्तुं, प्रियः=अभिलषितः, इष्टः इति यावत् । तस्य=मम, इयं=पुरः अवलोक्यमाना, मृत्युलोकपदवी=मृत्युलोकस्य=यमपुरस्य, पदवी=पद्धतिः, इव=यथा, वध्यस्रक्= वध्यमाला, आवध्यताम्=पिनह्यताम् । भवता चाण्डालेनेति शेषः ।

भावार्थः—भोः भोः चाण्डाल ! चन्दनदासस्य स्थाने मां राक्षसमेव व्यापादयेति भावः ।

टिप्पणी

व्याकरणम्—पटाक्षेपेण—पटस्य आक्षेपः तेन, आ सम्यक् प्रकारेण क्षेपः अपसारणं=आक्षेपः, असूचितस्य सहसा सम्भ्रमेण प्रवेशः पटाक्षेपः । शूलायतनाः=शूलं आयतनं जीवनं येषां ते शूलायतनाः दिवाकीर्तयः बहुव्रीहिसमासः, आ+यत्+ल्युट्=आयतनम् । परिभवक्षेत्रीकृतम्=परिभवस्य क्षेत्रीकृतम् षष्ठीतत्पुरुषः,अक्षेत्रं क्षेत्रं सम्पद्यमानं इति क्षेत्रीकृतं"अभूततद्भावे च्वि" । वधाय—"तुमर्थाच्च भाववचनात्" अनेन वधाय इत्यत्र चतुर्थी । वध्यस्रक्=हन्तुं योग्यः वध्यः तस्य स्रक् माला; सृज् (विसर्गे)+क्विप्=स्रक् । कोषः—स्रक् "माल्यं माला स्रजौ मूर्ध्नि" इत्यमरः । "पन्थानः पदवी सृतिः" इति चाप्यमरः । अलङ्कारः—उपमा और रूपक । तत्र द्वितीयपादे श्रौती पूर्णोपमा, चतुर्थपादे वध्यस्रक् इत्यत्र रूपकम् । छन्दः—शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ।

चन्दनदासः—अमच्च ! सव्वं वि मे णिप्फलं एदं प्पआसं करन्तेण णमे प्पिअं अणुचिट्ठिदं अमच्चेण । [अमात्य । सर्वमपि मे निष्फलमिमं प्रयासं कुर्वता न मे प्रियमनुष्ठितममात्येन] ।

राक्षसः—सखे चन्दनदास ! कृतमुपालम्भेन, स्वार्थप्रधानो हि जीवलोकः । भद्रमुख ! अयमर्थो निवेद्यतां तावद्दुरात्मने चाणक्याय ।

राक्षसः

चण्डालौ—अध किं त्ति ? [अथ किमिति ?]

दुष्कालेऽपि कलावसज्जनरुचौ प्राणैः परं रक्षता
नीतं येन यशस्विनातिलघुतामौशीनरीयं यशः ।
बुद्धानामपि चेष्टितं सुचरितैः क्लिष्टं विशुद्धात्मना
पूजार्होऽपि स यत्कृते तव गतो वध्यत्वमेषोऽस्मि सः ।।५।।

चन्दनदास—(देखकर साश्रु) अमात्य, आपने यह क्या किया ।

राक्षस—आपके उच्च चरित्र के एक अंश का अनुकरण है ।

चन्दनदास—अमात्य, मेरे इस सब प्रयत्न को निष्फल बनाकर आपने मेरा प्रिय नहीं किया ।

राक्षस—मित्र चन्दनदास, उलाहना देने से बस, यह संसार स्वार्थप्रधान है । भद्रमुख, यह बात दुष्ट चाणक्य से कह दो ।

दोनों चाण्डाल—क्या ?

प्रसङ्गः—निश्चितस्वात्मसमर्पणः राक्षसः चन्दनदासं स्तुवन् घातकानामन्यतमं चाणक्यनिवेदनाय संशास्ति दुष्कालेऽपीति ।

अन्वयः—असज्जनरुचौ दुष्काले कलौअपि प्राणैः परं रक्षता यशस्विना येन औशीनरीयं यशः अतिलघुतां नीतम्; विशुद्धात्मना येन सुचरितैः बुद्धानां चेष्टितमपि क्लिष्टम्; सः पूजार्होऽपि यत्कृते तव वध्यत्वं गतः सः एषः अस्मि ।

भाषार्थ—दुष्ट रुचि वाले पापी कलियुग में भी अपने प्राणों से दूसरों की रक्षा करते हुए यशस्वी जिस चन्दनदास ने महाराज उशीनर के पुत्र शिवि के यश को अत्यन्त लघुता को पहुँचा दिया है । अपने शुद्ध आचरण के बल पर निर्मल अन्तःकरण वाले बुद्धों को भी तिरस्कृत करने वाले चन्दनदास जिसके लिये मारा जा रहा है वह मैं राक्षस यह हूँ ।

संस्कृतार्थ.—असज्जनरुचौ = असती = असाध्वी, जनरुचिः = लोकप्रवृतिः, यस्मिन् तस्मिन् दुष्टजनप्रीतिकरे, दुष्काले = पापिनि, कलौ = कलियुगे, अपि प्राणैः = स्वजीवितैः, परम् = अन्यम्, रक्षता = अवता, यशस्विना = कीर्तिशालिना, येन = चन्दनदासेन, औशीनरीयं = औशीनरस्य महाराजस्य शिवेः, यशः = कीर्तिं, अतिलघुतां = अतिहीनतां, नीतम् = प्रापितम्. कदर्थितमिति भावः । विशुद्धात्मना = पवित्रात्मना, येन = चन्दनदासेन, सुचरितैः = सुकृतैः पुण्यैरिति-

यावत्, बुद्धानामपि = बोधिसत्त्वानामपि, चेष्टितं = चरितम्, क्लिष्टम् = तिरस्कृतं, सः = प्रसिद्धः चन्दनदासः, यत्कृते = यस्मै राक्षसाय, तव = ते चाण्डालस्य, वध्यत्वं = हननीयत्वं, गतः = अधिगतः सः = राक्षसः, एषः अस्मि = अयमहं तवाधीनोऽस्मि ।

भावार्थः—स्वार्थप्रधानेऽपि कलियुगे स्वप्राणैः परप्राणान् रक्षतः कृतयुगे शरणागतवत्सलात् शिविनृपतेरप्यधिकमस्य चन्दनदासस्य महत्त्वमस्ति, किञ्च बुद्धादप्यधिकं दयाशालित्वमस्य वर्तते इति भाव; ।

टिप्पणी

व्याकरणम्—औशीनरीयं यशः = उशीनरस्य अपत्यं पुमान् औशीनरः उशीनर + अञ् । औशीनरस्य इदं औशीनरीयं यशः "तस्येदं" छः, छस्येयादेशः । स्वार्थप्रधानः—स्वस्य अर्थः स्वार्थः, स प्रधानं यस्मिन् सः । विशुद्धात्मनां = विशुद्धः आत्मा यस्य तेन बहुव्रीहिः । रक्षता—रक्ष् + शतृ = रक्षत् तेन । अतिलघुताम् – लघोर्भावः लघुता भावे तल्, अतिलघु + तल् + टाप् द्वितीयैकवचनम् । कोषः—"चतुर्थेऽपि युगे कलिः" चौथा युग अर्थात् कलियुग । कलिके अर्थ कलिः पुंल्लिङ्ग, अपिशब्दात् कलिः स्त्रीलिंग कौयल का वाचक है । अलंङ्कारः—शिविबुद्धापेक्षया चन्दनदासरूपाधिक्यवर्णनात् व्यतिरेकः । एक चन्दनदास का अनेक क्रियाओं से सम्बन्ध होने से दीपक । छन्दः—शार्दूलविक्रीडितम् ।

प्रथमः—अले बेणुबेत्तआ । तुमं दाव सेट्ठिचन्दणदासं गेह्णिअ इमस्स मसाणपादवस्स छाआए मुहुत्तअं चिट्ठ, जाव अहं अज्जचाणक्कस्स णिवेदेमि, जधा गहीदो अमच्चलक्खसो त्ति । (अरे वेणुवेत्रक ! त्वं तावच्छ्रेष्ठिचन्दनदासं गृहीत्वाऽस्य श्मशानपादपस्यच्छायायां मुहूर्तं निष्ठ, यावदार्यचाणक्यस्य निवेदयामि, यथा गृहीतोऽमात्यराक्षस इति ।)

द्वितीयः—अले वज्जलोमआ ! एव्वं होदु । (अरे वज्रलोमक ! एवं भवतु ।

(इति सपुत्रदारेण चन्दनदासेन सह निष्क्रान्तः ।)

प्रथमः—(राक्षसेन सह परिक्रम्य) के के एत्थ दुआलिआणं ? णिबेदेध् दाव, णन्दकुलसेण्णसञ्चअचुण्णणकुलिसस्स मौलिअकुलपदिट्ठाविदधम्मसञ्चअस्स अज्जचाणक्कस्स । (कः कोऽत्र दौवारिकाणाम् ? निवेदयत तावत्, नन्दकुलसैन्यसञ्चयचूर्णनकुलिशस्य मौर्यकुलप्रतिष्ठापितधर्मसञ्चयस्यार्यचाणक्यस्य ।)

राक्षसः—(स्वगतम्) एतदपि नाम राक्षसेन श्रोतव्यम ।

चण्डालः—एसो क्खु अज्जणोदिसंजमिदबुद्धिपलिसले गहीदे अमच्चलक्खसे त्ति (एष खल्वार्यनीतिसंयमितबुद्धिपरिसरो गृहीतोऽमात्यराक्षस इति ।)

(ततः प्रविशति जवनिकावृतशरीरः मुखमात्रदृश्यः सहर्षश्चाणक्यः)

चाणक्यः—भद्र ! कथय कथय—

केनोत्तुङ्गशिखाकलापकलितो बद्धः पटान्ते शिखी ?
पाशैः केन सदागतेरगतिता सद्यः समासादिता ?
केनानेकपदानवासितसटः सिंहोऽर्पितः पञ्जरे ?
भीमः केन चलैकनक्रमकरो दोर्भ्यां प्रतीर्णोऽर्णवः ? ।।६।।

प्रथम चाण्डाल—अरे वेणुवेत्रक ! तब तक तुम सेठ चन्दनदास को पकड़ कर इस श्मशान-वृक्ष की छाया में मुहूर्त भर बैठो जब तक मैं आर्य चाणक्य से निवेदन कर दूं कि अमात्य राक्षस पकड़ लिये गये हैं ।

दूसरा—अरे वज्रलोमक ! ऐसा ही हो ।

(पुत्र पत्नी सहित चन्दनदास के साथ निकल जाता है)

प्रथम—(राक्षस के साथ घूम कर) अरे द्वारपालों में यहाँ कौन है । नन्दकुल के सैन्य समूह को नाश करने में वज्र समान तथा मौर्य कुल में धर्म-राशि की प्रतिष्ठा करने वाले आर्य चाणक्य से कह दो ।

राक्षस—(मन में) यह भी राक्षस को सुनना है ।

चाण्डाल—आर्य की नीति से कुंठित बुद्धि-प्रसार वाले अमात्य राक्षस पकड़ लिये गये हैं ।

(तदनन्तर पर्दे से ढके शरीर वाला और केवल मुँह बाहर किये हुए प्रसन्न चाणक्य प्रवेश करता है)

चाणक्य—भद्र, कहो कहो ।

प्रसङ्गः—श्रुतराक्षसग्रहणवृत्तान्तः चाणक्यः परां मनःप्रसत्तिं प्राप्तः निवेदितैतद्वृत्तान्तं चाण्डालं गर्भितस्वात्मश्लाघं वक्ति ।

अन्वयः—उत्तुङ्गशिखाकलापकपिलः शिखी केन पटान्ते बद्धः ? सदागतेः अगतिता केन सद्यः पाशैः समासादिता ? अनेकपदानवासितसटः सिंहः केन पञ्जरे अर्पितः ? चलैकनक्रमकरः भीमः अर्णवः केन दोर्भ्यां प्रतीर्णः ?

भाषार्थः—ऊँची लपटों के समूह से लालिमा लिये लाल-लाल आग को कपड़े के छोर में कहो किसने बाँधा ? वायु की गति का निरोध तत्काल रस्सियों से कहो किसने कर डाला ? हाथियों के मदजल से भीगी सटाओं वाले सिंह को किसने पिञ्जड़े में बन्द कर दिया ? चञ्चल नक्र और मगर वाले भयङ्कर समुद्र को किसने बाहों से पार किया ?

संस्कृतार्थः—उत्तुङ्गशिखाकलापकपिलः = उत्तुङ्गैः = उन्नतैः, शिखाकलापैः = शिखासमूहैः, कपिलः = पीतवर्णः, शिखी = वह्निः, केन = दिव्यपुरुषेण, पटान्ते = वस्त्रान्ते, बद्धः = संयतः । सदागतेः = वायोः, अगतिता = स्थिरता, केन = बुद्धिशालिना, सद्यः = सत्वरं, तत्क्षणमिति यावत्, पाशैः = रज्जुभिः, समासादिता = अधिगता । अनेकपदानवासितसटः = अनेकपानां = गजानां, दानैः = वदवारिभिः, वासिताः = सुरभीकृताः, सटाः = केसराः, यस्य तादृशः सिंहः = मृगराजः, केन = वलवता, पञ्जरे = सिंहादिबन्धनागारे, अर्पितः = बद्धः । चलैकनक्रमकरः = चलाः = चञ्चलाः, एके = महान्तः, नक्राः = कुम्भीराः, मकराः = ग्राहाः = यस्मिन् तादृशः, भीमः = भयानकः, अर्णवः = समुद्रः, केन = महासाहसिकेन, दोर्भ्यां, प्रतीर्णः = अतीर्यत ।

भावार्थः—राक्षसग्रहणं किल वह्नेः ज्वाला समूहानां वस्त्रान्ते बन्धनमिव, सिंहस्य पञ्जरग्रहणमिव, समुद्रस्य प्रतीर्णमिव जनैरसम्भाव्यं किमपि महत्कर्म येन कृतं सोऽहं चाणक्योऽस्मि इति भावः ।

टिप्पणी

व्याकरणम्—सदागतिः=सदा सततं गतिः यस्य सः, वायुः बहुव्रीहिः। अगतिता= अविद्यमाना गतिः यस्य सः अगतिः, अगतेः भावः अगतिता, नञ्+गति+तल्+टाप्। अनेकपः=न एकः अनेकः, अनेकाभ्यां शुण्डा-मुखाभ्यां पिबतीति, अनेक+पा (पाने)+कः। उत्तुङ्गैः—विशेषणम्, उत्+तुङ्ग्+घञ् कुत्वं च। तृतीया बहुवचनम्। पाशैः=पश्यते बध्यते अनेन इति पाशः, पश्-बन्धने चौरादिकः पश्+घञ्, तैः। भीमः=बिभेति अस्मात् इति भिभी (भये)+मक् अपादाने=भीमः—भयङ्करः। अर्णवः=अर्णांसि जलानि सन्ति यस्मिन्, अर्णस्+व प्रत्ययः सलोपः। कोपः—"उदन्वानुदधिः सिन्धुः सरस्वान् सागरोऽर्णवः" इत्यमरः। अलंकारः—'अप्रस्तुतप्रशंसा 'अप्रस्तुत वह्न्यादिवर्णनात् प्रस्तुतस्य राक्षसस्य वर्णनम्। अतिशयोक्तिश्च—पटान्तेन वह्नेः, रज्जुभिः वायोः, पञ्जरेण सिंहस्य, बाहुनाऽर्णवस्य तरणस्याऽयोगेऽपि तद्योगोक्त्यातिशयोक्तिः। छन्दः—शार्दूलविक्रीडितम्।

चण्डालः—णं णीदिणिउणबुड्ढिणा अज्जेण ज्जेव (ननु नीतिनिपुणबुद्धिनार्येणैव।)

चाणक्यः—भद्र! मा मैवम्। नन्दकुलद्वेषिणा दैवेनेति ब्रूहि।

राक्षसः—(विलोक्य स्वगतम्) अये! अयं स दुरात्मा, अथवा अयं स महात्मा कौटिल्यः। यतः—

आकरः सर्वशास्त्राणां रत्नानामिव सागरः।
गुणैर्न परितुष्यामो यस्य मत्सरिणो वयम्॥७॥

चाण्डाल—नीतिनिपुण बुद्धि वाले आपके द्वारा (यह कार्य हुआ)

चाणक्य—भले आदमी, ऐसा मत कहो। यह कहो कि नन्दकुल के द्वेषी भाग्य से।

राक्षस—(देखकर मन ही मन) अरे यही वह दुरात्मा अथवा महात्मा कौटिल्य है।

प्रसङ्गः—राक्षसः सम्मुखे वर्तमानं चाणक्यमक्षिलक्ष्यीकुर्वन् प्रीतमनाः स्वगतं ब्रवीति।

अन्वयः—रत्नानां सागरः इव सर्वशास्त्राणां आकरः। यस्य गुणैः मत्सरिणः वयं न परितुष्यामः।

भाषार्थ—रत्नों के आकर यानी समुद्र के समान यह सब शास्त्रों का आकर है। जिसके गुणों से हम मत्सरी डाह करने वाले भी सन्तुष्ट नहीं हैं। अर्थात् उसके गुणों से प्यार नहीं करते हैं।

संस्कृतार्थः—रत्नानां = महामूल्यानां मणीनां, सागरः इवः = अर्णवः इव सर्वशास्त्राणां = सम्पूर्णशास्त्रज्ञानानां, आकरः = खनिः अस्ति। यस्य = चाणक्यस्य, गुणैः = दाक्षिण्यादिभिः, मत्सरिणः = मत्सरवन्तः, गुणेषु द्वेषवन्तः इत्यर्थः, वयम्, न परितुष्यामः = न परितोषं आवहामः।

भावार्थः—एष एवार्थः कौटिल्यार्थशास्त्रे इत्थमभिहितः—

प्रदीपः सर्वविद्यानां उपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रयः सर्वधर्माणां शश्वदान्वीक्षिकी मता॥

राक्षसोऽपि चाणक्यगुणान् प्रशंसते परं मत्सरत्वात् अहमप्रीतोऽस्मि इति राक्षसस्याभिप्रायः।

टिप्पणी

व्याकरणम्—आकरः = आ कुर्वन्त्यस्मिन्, आ + कृ + घ। शास्त्रम् = शिष्यतेऽनेन शास् + ष्ट्रन्। सागरः = सगरेण निर्वृत्तः सगर + अण्, रत्नम् = रमतेऽत्र, रमु + न तान्तादेशः। कोषः—"रत्नं मणिर्द्वयोरश्मजातौ मुक्तादिकेऽपि च" अमरः। अलंकारः—उपमा। छन्दः—अनुष्टुप् वृत्तम्।

चाणक्यः—(विलोक्य सहर्षम्) अये। अयममात्यराक्षसः येन महात्मना।

गुरुभिः कल्पनाक्लेशैर्दीर्घजागरहेतुभिः।
चिरमायासिता सेना वृषलस्य मतिश्च मे॥८॥

चाणक्य—(देखकर प्रसन्नता से) अये यह अमात्य राक्षस है। जिस महापुरुष के कारण—

प्रसङ्गः—चाणक्यः सम्मुखमुपस्थितममात्यराक्षसं निशाम्य सम्प्रहृष्टमनाः तमेव श्लाघमानः कथयति।

अन्वयः—(येन महात्मना) दीर्घजागरहेतुभिः गुरुभिः कल्पनाक्लेशैः मे मतिः वृषलस्य च सेना चिरं आयासिता ।

भाषार्थ—जिस महापुरुष के कारण मौर्य सम्राट् की सेना और मेरी बुद्धि दिन रात जागरण करके बड़ी-बड़ी तैयारियों से और चिन्ताओं से अब तक कष्ट झेलती रही हैं ।

संस्कृतार्थः—अयममात्यराक्षसः येन महात्मना, दीर्घजागरहेतुभिः = दीर्घस्य = सन्ततस्य, जागरस्य = जागरणस्य, हेतुभिः = कारणैः, गुरुभिः = महद्भिः, कल्पनाक्लेशैः = उपायचिन्तनकष्टैः, मे = मम चाणक्यस्य, मतिः = मनीषा, वृषलस्य = चन्द्रगुप्तस्य च, सेना = अनीकिनी, चिरम् = दीर्घकालपर्यन्तं, आयासिता = आयासं—परिश्रमं अनुभाविता ।

भावार्थः अयमसौ महामन्त्री राक्षसः यस्य बुद्धिमहिम्ना मम चाणक्यस्य मौर्यसेनायाश्च चिरमायासोऽभूत् ।

टिप्पणी

व्याकरणम्—दीर्घजागरहेतवः = दीर्घश्चासौ जागरः दीर्घजागरः तस्य हेतवः तैः । कल्पना = कृप् + णिच् + युच् कर्मणि । आयासिता = आयासेन योजिता आयासं गमिता वा आयास + णिच् + क्त + टाप् । जागरः = जागृ + घञ् गुणः । कोषः—सेना—"ध्वजिनी वाहिनी सेना पृतनाऽनीकिनी चमूः ।" अलङ्कारः—वृषलसेना, मम बुद्धिः उभयोः प्रस्तुतयोः आयासिता, रूपैक-क्रियान्वितत्वेन तुल्ययोगिताऽलंकारः । यथोक्तम्—पदार्थानां प्रस्तुतानामन्येषां वा यदा भवेत् । एकधर्माऽभिसम्बन्धः स्यात्तदा तुल्ययोगिता ।। छन्दः—अनुष्टुप् वृत्तम् ।

(जवनिकामपनीयोपसृत्य च) भो भो अमात्यराक्षस ! विष्णुगुप्तोऽभिवादयते ।

राक्षसः—(स्वगतम्) अमात्य इति लज्जाकरमिदानीं विशेषणपदम् । (प्रकाशम्) भो भो विष्णुगुप्त ! न मां श्वपाकस्पर्शदूषितं स्प्रष्टुमर्हसि ।

चाणक्यः—अमात्य राक्षस ! नायं श्वपाकः । अयं खलु दृष्टपूर्वं

एव भवता सिद्धार्थकनामा राजपुरुषः, योऽयमसौ द्वितीयः, सोऽपि सुसिद्धार्थकनामा राजपुरुष एव। ताभ्यामेव सौहार्दमुत्पाद्य शकटदासोऽपि तपस्वी तं तादृशमजानन्नेव कपटलेखं मयैव लेखितः।

राक्षसः—(आत्मगतम्) दिष्ट्या शकटदासं प्रत्यपनीतो विकल्पः।

भाषार्थ—(पर्दा हटाकर पास में जाकर)

चाणक्य—अये, अमात्य राक्षस, विष्णुगुप्त आपका अभिवादन करता है।

राक्षस—(मन में) इस समय "अमात्य" यह विशेषण मेरे लिये लज्जाजनक है। (प्रकट) अरे विष्णुगुप्त, मैं चाण्डाल के स्पर्श से अपवित्र हो गया हूँ, इसलिये आप मुझे न छुयें।

चाणक्य—अमात्य राक्षस, यह चाण्डाल नहीं हैं। इसको आपने पहले देखा है। यह सिद्धार्थक नाम का राजपुरुष है। इन्हीं दोनों के साथ मित्रता पैदा करके मैंने ही बेचारे शकटदास से विना उसके जाने हुए ही वैसा जाली पत्र लिखवाया था।

राक्षस—(मन में) भाग्य से शकटदास पर जो सन्देह था वह दूर हो गया।

चाणक्यः—किं वहुना, सङ्क्षपतः कथयामि—

भृत्या भद्रभटादयः स च तथा लेखः स सिद्धार्थकः
तच्चालङ्करणत्रयं स भवतो मित्रं भदन्तः किल।
जीर्णोद्यानगतः स चार्तपुरुषः क्लेशः स च श्रेष्ठिनः
सर्वं मे—(इत्यर्धोक्ते लज्जां नाटयति।)
वृषलस्य वीर! भवता संयोगमिच्छोर्नयः ॥९॥
तदेष वृषलस्त्वां द्रष्टुमागच्छति। पश्यैनम्

चाणक्य—अधिक कहने से क्या लाभ, संक्षेप में कहे देता हूँ।

प्रसङ्गः—चाणक्यः अमात्यराक्षसमुद्दिश्य यत् यत् कृतवान् तत् सर्वं स्वकृतं स्पष्टयन् ब्रवीति।

अन्वयः—हे वीर! भद्रभटादयः भृत्याः स तथा लेखश्च, सः सिद्धार्थकः

तत् अलंकरणत्रयं च, भवतः किल मित्रं स भदन्तः, जीर्णोद्यानगतः स आर्तपुरुषः, सः श्रेष्ठिनः क्लेशः, सर्वं वृषलस्य भवता संयोगमिच्छोः मे नयः ।

भाषार्थः—भद्र भटादिक अनुचर, उस प्रकार का लेख, वह सिद्धार्थक, वे तीनों आभूषण, आपका मित्र वह बौद्ध संन्यासी, जीर्णोपवन में गया हुआ वह दुःखी पुरुष और वह सेठ चन्दनदास का क्लेश यह सब (ऐसा आधा कहकर लज्जा का अभिनय करता है) मेरी नीति थी जो चन्द्रगुप्त और आपका मेल कराना चाहता था ।

वह वृषल आपसे मिलने आ रहा है । उसे देखिये ।

संस्कृतार्थः— वीर = हे शूर !, भद्रभटादयः = भद्रभटप्रभृतयः, भृत्याः = अनुचराः, सः, तथा = तथाविधः छलेन रचितः, लेखश्च = पत्रञ्च, सः सिद्धार्थकः = हन्यमानं शकटदासं अपवाह्य भवन्तमाश्रितः, तत् = कपटवणिग्भिः विक्रीतं, अलङ्करणत्रयं = त्रीणि आभूषणानि, भवतः = तव राक्षसस्य, किल = मिथ्या, मित्रं = सुहृत्, सः = जीवसिद्धिनामाख्यः, भदन्तः = बौद्धभिक्षुः, जीर्णोद्यानगतः = प्राचीननष्टभ्रष्टोपवनगतः, सः आर्तपुरुषः = मर्तुकामः दुःखी जनः, श्रेष्ठिनः = चन्दनदासस्य, सः क्लेशः = तद्दुःखं, सर्वं = समस्तं, वृषलस्य = मौर्यस्य, भवता = त्वया राक्षसेन साकं, संयोगं = सन्धि, इच्छोः = कर्तुकामस्य, मे = मम चाणक्यस्य, नयः = नीतिः आसीत् ।

भावार्थः—हे पराक्रमशालिन्, एतत्सर्वं भद्रभटादीनां प्रेषणं कपटलेखः, भवन्तमाश्रितः सिद्धार्थकः, त्रयाणामलङ्काराणां विक्रयः, भदन्तस्य सौहार्द्रं चन्दनदासस्य कारावासः भवन्तं चन्द्रगुप्तस्याऽमात्यपदारूढं कर्तुमेवैतत्सर्वं मया कृतम् ।

टिप्पणी

व्याकरणम—किल = मिथ्यार्थकं अव्ययपदम् । सर्वम् = सामान्ये नपुंसकम् । भृत्यः = भृञ् (भरणे) = क्यप् तुक् च । अलङ्करणम् = अलङ्क्रियतेऽनेनेति अलम् + कृ + ल्युट् । जीर्ण + उद्यान, जॄ (वयोहानौ) + क्तः । जीर्णः । उत् + या + ल्युट् = उद्यानम् । संयोगः = सम् + युज् + घञ् । कोषः—किल "वार्ता सम्भाव्ययोः किल" अर्थात् वार्ता, सम्भावना के योग्य, हेतु, असत्य,

अरुचि ये पाँच अर्थ होते हैं। यथा वार्तायां—जघान कंसं किल वासुदेवः। सम्भावनायाम्—अर्जुनः किल विजेष्यते कुरून्। हेतु—स किल कविरेवमुक्तवान्। असत्य—भवतो मित्रं भदन्तः किल। अरुचि—त्वं किल योत्स्यसे। अलंकारः—काव्यलिङ्गम्। छन्दः—शार्दूलविक्रीडितम्।

राक्षसः—(स्वगतम) का गतिः? (प्रकाशम्) एष पश्यामि।

(ततः प्रविशति राजा विभवतश्च परिवारः।)

राजा—(स्वगतम्) विनैव युद्धादार्येण पराजितं दुर्जयं रिपुकुलमिति लज्जित इवास्मि। मम हि—

फलयोगमवाप्य सायकाना-
मनियोगेन विलक्षतां गतानाम्।
न शुचेव भवत्यधोमुखानां
निजतूणीशयनव्रतं प्रतुष्ट्यै ॥१०॥

राक्षस—(मन में) क्या उपाय है (प्रकट) यह मिलता हूँ। (राजा का अपने अनुचर-परिचरों के साथ प्रवेश)

राजा—(मन में) युद्ध के बिना ही आर्य चाणक्य ने दुर्जय शत्रु-कुल को पराजित कर दिया, इसमें मैं लज्जित सा हो रहा हूँ।

प्रसङ्गः—सम्राट् चन्द्रगुप्तः नायकं चाणक्यं नीतिजितं प्रतिनायकं राक्षसं विभावयन् आत्मनोऽभिरुचिं प्रदर्शयति।

अन्वयः—फलयोगमवाप्य अनियोगेन विलक्षतां गतानां मुखशुचेन अधोमुखानां सायकानां निजतूणीशयनव्रतं प्रतुष्ट्यै न भवति।

भाषार्थ—फल (बाण का अग्रभाग) से सम्बन्ध प्राप्त करके भी बिना प्रयोग लक्ष्यहीनता को प्राप्त कर अतएव शोक से झुके हुए अग्रमुख वाले नीचे को मुख किये हुए अपने तूणीर में निश्चल होकर पड़े रहना सन्तोषजनक नहीं है।

चन्द्रगुप्त पक्ष में—कार्य-सिद्धि को प्राप्त करके भी आज्ञा देने योग्य न होने के कारण लज्जित शोक से मुख नीचे किये हुए निश्चेष्ट होकर अपने घर में पड़े रहना मुझे सन्तोष नहीं दे रहा है।

संस्कृतार्थः—बाणपक्षे – फलयोगं = फलेन बाणाग्रभागेन, योगं = सम्बन्धं अवाप्य = लब्ध्वा, अनियोगेन = कार्येऽनियुक्तेन, विलक्षतां = अशरव्यतां, गतानां, = प्राप्तानां, शुचेव - दुःखेनैव, अधोमुखानां = आनताग्रभागानां, सायकानां = शराणां, निजतूणीशयनव्रतम् = स्वेषुधिस्थापनं, प्रतुष्ट्यै = प्रीत्यै, न भवति । चन्द्रगुप्तपक्षे—फलयोगं = शत्रोःजयरूपं, योगं = संयोगं, अवाप्य = अधिगत्य, अनियोगेन = नियोगाऽयोग्यत्वेन, चाणक्याधीनत्वात्, विलक्षतां – लज्जावतां, प्राप्तानां, शुचेव - शोकेन इव, निजतूणीशयनमेव = स्वगृहे निर्व्यापारतयाऽवस्थानमेव प्रत्युष्ट्यै न भवति = न जायते ।

भावार्थः—चाणक्यनीतेः युद्धं विनैव शत्रुपराजयरूपं फलं प्राप्याधुना युद्धाभावात्, क्षत्रियस्य च युद्धस्वभावात् चन्द्रगुप्तः स्वमनसि चिन्तयति यदधुना मम निश्चेष्टत्वेन निजगृहावस्थानं मम प्रत्युष्ट्यै न जायते ।

टिप्पणी

व्याकरणम्—अवाप्य = लब्ध्वा, अव + आप्लृ + क्त्वा (ल्यप्) । विलक्षताम् = वि लक्ष् + अच् + तल् + टाप् द्वितीयैकवचनम् । अनियोगेन = न नियोगेन = नञ् तत्पुरुषः, न + नि + युज् + घञ् अनियोगस्तेन । प्रतुष्ट्यै = प्र + तुष् + क्तिन् चतुर्थ्येकवचनम् । कोषः—फल = "सस्ये हेतुकृते फलम्" ॥ बाण की नोक, परिणाम, वृक्षादि फल आदि कई अर्थ होते हैं । अलंकारः—श्लिष्टोपमा, नशुचेव अंश में वाच्योत्प्रेक्षा । छन्दः—मालभारिणीयम्, इसका दूसरा नाम औपच्छन्दसिक भी है । लक्षणं यथा "विषमे ससजा यदा गुरू चेत् । सभरा येन तु मालभरिणीयम् ॥"

अथवा—

विगुणीकृतकार्मुकोऽपि जेतुं भुवि जेतव्यमसौ समर्थ एव ।
स्वपतोऽपि ममेव यस्य तन्त्रे गुरवो जाग्रति कार्यजागरूकाः ॥ १ ॥

प्रसङ्गः—चन्द्रगुप्तः युद्धाऽभावेन लज्जितोऽपि स्वमनसि समादधानः विगुणीकृतेति पद्यं व्याचष्टे ।

अन्वयः—स्वपतः अपि मम इव यस्य तन्त्रे कार्यजागरूका गुरवः जाग्रति असौ विगुणीकृतकार्मुकोऽपि भुवि जेतव्यं जेतुं समर्थः एव ।

भाषार्थ—मेरे समान सोते हुए भी जिस राजा के राज्य में कार्य की चिन्ता से गुरुजन जागते रहते हैं, वह राजा प्रत्यंचारहित धनुष वाला होने पर भी पृथ्वी पर शत्रु को जीतने में समर्थ होता है।

संस्कृतार्थः—स्वपतः = शयानस्य, अपि = समुच्चये, असावधानस्यापीत्यर्थः मम = चन्द्रगुप्तस्य, इव = यथा, यस्य = नृपस्य, तन्त्रे = राष्ट्रे, कार्यजागरूकाः = कर्तव्यकर्मणि सावधानाः, गुरवः = आचार्याः, जाग्रति = सततं जागरूकाः सन्ति। असौ = सः नृपः विगुणीकृतकार्मुकोऽपि = विगुणीकृतं = मौर्वीरहितं, कृतम् = विहितं, कार्मुकं धनुः यस्य तथाविधोऽपि, भुवि = पृथिव्यां, जेतव्यं = शत्रुं, जेतुं = विजेतुं, समर्थः शक्तः एवेति।

भावार्थः—यस्य राज्ञः राष्ट्रे मन्त्रिणः कर्तव्यकर्मपरायणाः यथासमयं कार्यकलापं साधयन्ति तत्र नृपः स्वयं किञ्चिदकुर्वाणः अपि शत्रून् वसुधायां जेतुं समर्थो जायते। तस्मात् शुचः न किमपि कारणम्।

टिप्पणी

व्याकरणम्—विगुणीकृतकार्मुकः = अविगुणं विगुणं कृतं इति विगुणीकृतं, अभूततद्भावे च्विः विगुण + च्वि, ईत्वम्, विगुणीकृतं कार्मुकं येन सः बहुव्रीहिसमासः। जागरूकः = जागरणशीलः, जागृ + ऊक। स्वपतः—स्वप् + शतृ षष्ठ्येकवचनम्। कोषः—कार्मुकम् "धन्वशरासनकोदण्डकार्मुकम्" इत्यमरः। अलंकारः—काव्यलिंग, उपमा, विभावना। छन्दः—मालभारिणी या औपच्छन्दसिकवृत्तम्।

(चाणक्यमुपसृत्य) आर्य ! चन्द्रगुप्तः प्रणमति।

चाणक्यः—वृषल ! सम्पन्नास्ते सर्वाशिषः। तदभिवादयस्व तत्रभवन्तममात्यराक्षसम्; पैतृकस्तवायममात्यमुख्यः।

राक्षसः—(स्वगतम्) योजितोऽनेन सम्बन्धः।

राजा—(राक्षसमुपसृत्य) आर्य ! चन्द्रगुप्तोऽहमभिवादये।

राक्षसः—(विलोक्य स्वगतम्) अये ! अयं चन्द्रगुप्तः !! य एषः—

(प्रकाशम्) राजन् विजयस्व

भाषार्थ—(चाणक्य के पास जाकर) आर्य, चन्द्रगुप्त प्रणाम करता है।

चाणक्य—वृषल, मेरे सभी आशीर्वाद पूरे हो गये। अब पूज्य अमात्य राक्षस को प्रणाम करो। यह परम्परागत तुम्हारे महाअमात्य हैं।

राक्षस—(मन में) अरे इसने तो अब नाता जोड़ दिया।

राजा—(राक्षस के पास जाकर) आर्य, मैं चन्द्रगुप्त अभिवादन करता हूँ।

राक्षस—(रेखकर मन में) अये यह चन्द्रगुप्त हैं। जो यह

बाल एव हि लोकेऽस्मिन् सम्भावितमहोदयः।
क्रमेणारूढवान् राज्यं यूथैश्वर्यमिव द्विपः ॥१२॥

प्रसङ्गः—अमात्यराक्षसः चन्द्रगुप्तं विभावयन् स्वमनसि चन्द्रगुप्तविषये किमपि चिन्तयति।

अन्वयः—अस्मिन् लोके सम्भावितमहोदयः बाल एव द्विपः यूथैश्वर्यमिव क्रमेण राज्यं हि आरूढवान्।

भाषार्थ—इस संसार में अपने बाल्यकाल से ही अपने महान् अभ्युदय की आशा सबको बँधवाता रहा है। इसने तो उसी प्रकार साम्राज्य का सिंहासन पा लिया जैसे छोटेपन से ही होनहार कोई हाथी का बच्चा हाथियों के समुदाय का आधिपत्य पा ले।

सस्कृतार्थः—अस्मिन् लोके = अमुष्मिन् संसारे, सम्भावितमहोदयः = सम्भावितः = अनुमितः, महोदयः = महान् उदयः विशिष्टाभ्युदयः यस्य सः, बाल एव = शिशुरेव, द्विपः = गजः, यूथैश्वर्यमिव = गजयूथाधिपत्यमिव, क्रमेण = अनुक्रमेण शनैः शनैरित्यर्थः, राज्यं = मगधसाम्राज्यं, आरूढवान् = अधिष्ठितवान्।

भावार्थः—विस्मृतशत्रुभावस्य अमात्यराक्षसस्य, "करिशावकः यथा कालक्रमेण यूथाधिपत्यं प्राप्नोति तथैव चन्द्रगुप्तोऽपि मगधसाम्राज्यं प्राप्तवानिति विचारः प्रतिनायकीभूतस्य किमपि महदौदार्यमभिव्यनक्ति।

टिप्पणी

व्याकरणम्—सम्भावितमहोदयः = सम्भावितः महान् उदयः यस्य सः, बहुव्रीहिसमासः। सम् + भू + णिच् + क्तः, महांश्चासौ उदयः, कर्मधारयः।

आरूढवान् = आ + रुह् + क्तवतु प्रथमैकवचनं कृदन्तरूपम् । द्विपः = द्वाभ्यां शुण्डामुखाभ्यां पिबति इति द्विपः, द्वि + पा + कः । कोषः—द्विपः "दन्ती दन्तावलो हस्ती द्विरदोऽनेकप द्विपः" इत्यमरः । अलङ्कारः—ऐश्वर्यमिव "उपमा" । छन्दः—अनुष्टुप्वृत्तम् ।

(प्रकट) राजन् विजयी हो ।

जगतः किं न विजितं मयेति प्रविचिन्त्यताम् ।
गुरौ षाड्गुण्यचिन्तायामार्ये चार्ये च जाग्रति ।।१३।।

प्रसङ्गः—राक्षसमुखान् "राजन् विजयस्व" इति शुभाशिषं लब्ध्वा राजा चन्द्रगुप्तः अमात्यराक्षसं संवर्धयन् ब्रूते ।

अन्वयः—गुरौ आर्ये च आर्ये च षाड्गुण्यचिन्तायां जाग्रति जगतः किं न मया विजितम्, इति प्रविचिन्त्यताम् ।

भाषार्थ—आर्य ! आपके और गुरु आचार्य चाणक्य के सन्धि-विग्रह-यान-आसन-संश्रय-द्वैधीभाव छः गुणों के चिन्तन में सतत लगे रहने पर संसार में कौन सी विजय है जो मैंने नहीं कर ली ।

संस्कृतार्थः—गुरौ = आचार्यचाणक्ये, आर्ये च = पूज्ये राक्षसे च, षाड्गुण्यचिन्तायां = षाड्गुण्यस्य = सन्धिविग्रहादीनां षण्णां गुणानां, चिन्तायां = अनुध्याने, जाग्रति = जागरूके विद्यमाने, मया = चन्द्रगुप्तेन, जगतः = संसारस्य, किं न विजितम् = सर्वं जगत् विजितमिति, प्रविचिन्त्यताम् = बुद्ध्यताम् ।

भावार्थः—चन्द्रगुप्तः राक्षसमुद्दिश्य ब्रूते यत् चाणक्यसदृशः गुरुः राजनीतौ पटुः भवान् राक्षसः यत्र मन्त्री तत्र विजयमन्तराऽन्यत्किं भवितुमर्हति ।

टिप्पणी

व्याकरणम्—विजयस्व – "विपराभ्यां जेः" आत्मनेपदम् । षाड्गुण्यचिन्तायां—षड्गुण + ष्यञ्, षाड्गुण्यस्य चिन्ता तस्याम् । सन्धि – विग्रह – यान – आसन – संश्रय – द्वैधीभावाः षड्गुणाः । आर्ये = ऋ + ण्यत् तस्मिन् । जगतः = गम् + क्विप्, द्वित्वं तुगामश्च तस्य । कोषः—जगत् "विष्टपं भुवनं जगत्" इत्यमरः । अलंकारः—काव्यलिङ्गम् – समुच्चयः । छन्द—अनुष्टुप् वृत्तम् ।

राक्षसः—(स्वगतम्) स्पृशति मां भृत्यभावेन कौटिल्यशिष्यः। अथवा विनय एवैष चन्द्रगुप्तस्य। मत्सरस्तु मे विपरीतं कल्पयति। सर्वथा स्थाने यशस्वी चाणक्यः। कुतः—

राक्षस—(मन में) कौटिल्य का शिष्य मुझे सेवक भाव से छू रहा है। यानी सेवकत्वेन व्यवहार कर रहा है। अथवा यह तो चन्द्रगुप्त की विनय ही है। डाह के कारण मैं उलटा समझता हूँ। चाणक्य हर प्रकार से उचित ही यशस्वी है। क्योंकि—

द्रव्यं जिगीषुमधिगम्य जडात्मनोऽपि।
नेतुर्यशस्विनि पदे नियता प्रतिष्ठा।
अद्रव्यमेत्य भुवि शुद्धनयोऽपि मन्त्री
शीर्णाश्रयः पतति कूलजवृक्षवृत्त्या ॥१४॥

प्रसङ्गः—अमात्यराक्षसः स्वमनसि चाणक्यं यशस्विनं निर्वर्णयन् वदति द्रव्यमितिः—

अन्वयः—द्रव्यं जिगीषुं अधिगम्य जडात्मनोऽपि नेतुः यशस्विनि पदे प्रतिष्ठा नियता भवति। अद्रव्यं एत्य शुद्धनयः अपि मन्त्री शीर्णाश्रयः सन् कूलजवृक्षवृत्त्या भुवि पतति।

भाषार्थः—योग्य और विजय की इच्छा रखने वाले राजा को पाकर मूर्ख मन्त्री भी यशस्वी हो जाता है। अयोग्य राजा को पाकर शुद्धनीति वाला भी मन्त्री आश्रयहीन होता हुआ किनारे के पेड़ की भाँति गिर पड़ता है।

संस्कृतार्थः—द्रव्यं = पात्रं योग्यमित्यर्थः, विजिगीषुम् = जयकामं, राजानमिति शेषः, अधिगम्य = प्राप्य, जडात्मनोऽपि = मन्दबुद्धेरपि, नेतुः = नायकस्य अमात्यस्य वा, यशस्विनि पदे = प्रतिष्ठिते पदे, प्रतिष्ठा = स्थितिः, नियता = अवधारिता, भवति। अद्रव्यं = अयोग्यं = नृपं, एत्य = प्राप्य, शुद्धनयः = विशुद्धनीतिशाली अपि, मन्त्री = सचिवः, जीर्णाश्रयः = उत्खातमूलः सन्, कूलजवृक्षवृत्त्या = नदीतटजातस्य वृक्षस्य वृत्त्या, भुवि = पृथिव्यां, पतति।

भावार्थः—उच्छिन्नमूलः तीरतरुः यथा पतति तथाऽनुद्योगिनृपाश्रितः नीतिज्ञोऽपि सचिवः कार्यसाधको न जायते उद्योगशालिनृपाश्रितमन्त्रिणः जयः, अनुद्योगिनृपाश्रितस्य सचिवस्य पराजयः इति भावः।

टिप्पणी

व्याकरणम्—द्रव्यम् = द्रवति ऊर्ध्वं गच्छति इति द्रु (गतौ) + डु = द्रुः = द्रु + यत् इवार्थे = द्रव्यम् । शुद्धनयः = शुद्धः नयः यस्य सः । शीर्णाश्रयः = शीर्णः उत्खातः आश्रयः यस्य सः शीर्णाश्रयः बहुव्रीहिः, शॄ + क्त = शीर्णः आ + श्रि + अच् = आश्रयः । प्रतिष्ठा = प्रति + स्था + अङ् + टाप् । यशस्विनि = अश् (स्तुतौ) + असुन्, धातोः युट् च = यशस् + विनि, = यशस्विन् सप्तम्येकवचने रूपम् । मन्त्री = मन्त्र् + अच् = मन्त्र + णिनि = मन्त्रिन् । प्रथमैकवचने मन्त्री । कोषः—"मन्त्री सचिवोऽमात्यः" अमरः । अलंकारः—अप्रस्तुतप्रसंशा, अर्थान्तरन्यास, निदर्शना । छन्दः—वसन्ततिलकावृत्तम् ।

चाणक्यः—अमात्य राक्षस ! अपीष्यते चन्दनदासस्य जीवितम् ?

राक्षसः—भो विष्णुगुप्त ! कुतः सन्देहः ?

चाणक्यः—अमात्य राक्षस ! अगृहीतशस्त्रेण भवताऽनुगृह्यते वृषल इत्यतः सन्देहः । तद्यदि सत्यमेव चन्दनदासस्य जीवितमिष्यते, ततो गृह्यतामिदं शस्त्रम् ।

राक्षसः—भो विष्णुगुप्त ! मा मैवम् । अयोग्या वयमेतस्य ग्रहणे, विशेषतस्त्वया गृहीतस्य शस्त्रस्य ।

चाणक्य—अमात्य राक्षस, क्या आप चन्दनदास के प्राण बचाना चाहते हो ?

राक्षस—हे विष्णुगुप्त, इसमें सन्देह कैसे ।

चाणक्य—अमात्य राक्षस, सन्देह इस लिये हो रहा है कि आप बिना शस्त्र लिये ही चन्द्रगुप्त पर कृपा कर रहे हो । यदि सचमुच आप चन्दनदास के प्राण बचाना चाहते हैं तो इस हथियार को लो ।

राक्षस— हे विष्णुगुप्त, ऐसा मत करो । मैं इसको ग्रहण करने योग्य नहीं हूँ, विशेष कर आप द्वारा ग्रहण किये शस्त्र के ग्रहण करने में ।

चाणक्य—आप अयोग्य हैं, और मैं योग्य हूँ यह आप कैसे कहते हैं । देखिये:—

चाणक्यः—अमात्यराक्षस ! योग्योऽहमयोग्यो भवान् इति कथमेतत् ? पश्य,—

अश्वैः सार्द्धमजस्रदत्तकविकाक्षामैरशून्यासनान्
स्नानाहारविहारपानशयनस्वेच्छासुखैर्वर्जितान् ।
माहात्म्यादतिपौरुषस्य भवतो दृप्तारिदर्पच्छिदः,
पश्यैतान् परिकल्पनाव्यतिकरप्रोच्छूनवंशान् गजान् ॥१५॥

प्रसङ्गः—चाणक्योऽमात्यराक्षसं मौर्यसाम्राज्यसञ्चालनधुरीणं मन्यमानः तं भृशं समुपश्लोकयति ।

अन्वयः—दृप्तारिदर्पच्छिदः अतिपौरुषस्य भवतः माहात्म्यात् अशून्यासनैः, अजस्रदत्तकविकाक्षामैः अश्वैः सार्द्धं स्नानाऽऽहारपानशयनस्वेच्छासुखैः अर्जितान् परिकल्पनाव्यतिकरप्रोच्छूनवंशान् एतान् गजान् पश्य ।

भाषार्थः—अभिमानी शत्रु के मद को नाश करने वाले तथा महापराक्रमी आपके प्रभाव से घोड़ों की पीठ पर से जीन कभी हटाई न जाती थी तथा उनके मुख में लगाम सदा पड़ी रहती थी अतः वे घोड़े क्षीणवदन हो गये थे । उनके साथ-साथ हमारी सेना के हाथी भी हमेशा प्रस्तुत रखे जाते थे, उनकी पीठ पर से परिकल्पना अर्थात् होदा कभी उतरता नहीं था, अतः उनकी पीठ में सूजन आ गई थी और वे गज स्वेच्छापूर्वक आहार पान विहार शयनादिक सुखों से वंचित रहते थे ।

संस्कृतार्थः—दृप्तारिदर्पच्छिदः—दृप्तानां = गर्वितानां, अरीणां = शत्रूणां, दर्पच्छिदः = अहंकारहारिणः, अतिपौरुषस्य = अत्यन्तपराक्रमशालिनः, भवतः = तव राक्षसस्य, माहात्म्यात्—प्रभावात्, अशून्यासनैः = अनपनीतासनैः पर्याणैरित्यर्थः, अजस्रं = सततं, दत्तैः = मुखेऽर्पितैः, कविकाभिः = खलीनैः, अतएव क्षामैः = कृशैः, अश्वैः = वाजिभिः, सार्द्धं = साकं, स्नानाहारविहारपानशयनस्वेच्छासुखैः = स्नानैः = निमज्जनैः, आहारैः = भोजनैः, विहारैः = भ्रमणैः, पानैः = तृषावारणैः, शयनैः = स्वापैः, स्वेच्छासुखैः = स्वेच्छाव्यापारैः, वर्जितान् = रहितान्, परिकल्पनायाः = पल्याणस्य, व्यतिकरात् = नित्यसंयोगात्, प्रोच्छूनान् = जातशोफान्, वंशान् = पृष्ठास्थीनि, एतान् = इमान्, गजान् = करिणः, पश्य = अक्षिलक्ष्यीकुरु ।

भावार्थः—चाणक्यः राक्षसं सम्बोध्य कथयति तस्य पौरुषातिशयं च दर्शयति यद्भो अमात्य ! भवतः पौरुषमहिम्ना अस्माकं गजाश्वादयो मुहूर्तमपि न-विश्रान्ति लभन्ते, एतादृशस्य भवतः आयुधग्रहणं कथं अयोग्यम् । अतः भवान् सम्राजः चन्द्रगुप्तस्य साचिव्यमवश्यं गृह्णातु ।

टिप्पणी

व्याकरणम्—अगृहीतशस्त्रेण = न गृहीतं अगृहीतं शस्त्रं येन नञ् + ग्रह् (उपादाने) + क्त बहु० स० । परिकल्पना = हाथी का जीन अम्बारी, व्यतिकरः = नित्यसंयोगः, वि – अति + कृ + अप् । प्रोच्छून = शोथ वाली, सूजन वाली पीठ की हड्डी । प्र + उद् + श्वि + क्तः । कोषः—"कविका तु खलीनोऽस्त्री" लगाम । अलङ्कारः—अस्मिन् पद्ये गजाश्वयोः प्रस्तुतयोः एकक्रियाऽभिसम्बन्धेन तुल्ययोगिताऽलङ्कारः । छन्दः—शार्दूलविक्रीडितम् ।

अथवा किमनेन । न खलु भवतः शस्त्रग्रहणमन्तरेण चन्दनदासस्य जीवितमस्ति ।

राक्षसः—(स्वगतम्)

नन्दस्नेहकणाः स्पृशन्ति हृदयं भृत्योऽस्मि तद्विद्विषां
ये सिक्ताः स्वयमेव पाणिपयसा च्छेद्यास्त एव द्रुमाः ? ।
शस्त्रं मित्रशरीररक्षणकृते व्यापारणीयं मया
कार्याणां गतयो विधेरपि न यान्त्यालोचनागोचरम् ।।१६।।

अथवा इससे क्या, आपके शस्त्र ग्रहण किये बिना चन्दनदास की प्राण-रक्षा नहीं हो सकती ।

राक्षस—(अपने मन में)

प्रसङ्गः—अमात्यराक्षसः सर्वमचिन्तितमेवोपनतं ध्यायं ध्यायं स्वमनसि तदेव वक्ति ।

अन्वयः—नन्दस्नेहकणाः हृदयं स्पृशन्ति, तद्विद्विषां भृत्योऽस्मि । ये द्रुमाः स्वयमेव पाणिपयसा सिक्ताः ते एव छेद्याः । मया मित्रशरीररक्षणकृते शस्त्रं व्यापारणीयम् । कार्याणां गतयः विधेरपि आलोचनागोचरं न यान्ति ।

भाषार्थः—एक तरफ तो नन्द के स्नेह के कण मुझे स्पर्श कर रहे हैं और

दूसरी ओर उनके शत्रुओं का सेवक भी बन रहा हूँ। जिन वृक्षों को अपने हाथों जल से सींचा उन्हीं को काटना पड़ रहा है। मित्र की शरीर-रक्षा के लिये मुझे शस्त्र ग्रहण करना चाहिए। कर्मों की गति ब्रह्मा भी नहीं समझ सकते।

संस्कृतार्थः—नन्दस्नेहकणाः=नन्दसम्बन्धिनः, स्नेहकणाः=अनुरागांशाः, हृदये=स्वान्ते, स्पृशन्ति=समावर्जयन्ति, अहं पुनः, तद्विद्विषां=तेषां नन्दानां शत्रूणां, भृत्यः=दासः, अस्मि। ये द्रुमाः=ये वृक्षाः, म्लेच्छराजप्रभृतयः, स्वयमेव=आत्मनैव, पाणिपयसा=स्वहस्तदत्तजलेन, सिक्ताः=सिञ्चिताः परिपालिताः, ते एव वृक्षाः, छेद्याः=चन्द्रगुप्तसाचिव्यं गृहीत्वा विनाश्याः। मया=राक्षसेन, मित्रशरीररक्षणकृते=मित्रस्य=सुहृदः चन्दनदासस्य यत् शरीररक्षणं=देहपरिरक्षणं, तस्य कृते=तदर्थं, शस्त्रं - चाणक्यप्रदत्तायुधं, व्यापारणीयम्=अङ्गीकार्यम्। कार्याणां=पुराकृतकर्मणां, गतयः=परिणामाः, विधेरपि=विधातुरपि, आलोचनागोचरं=दर्शनविषयं, न यान्ति=न गच्छन्ति।

भावार्थ—महाराजनन्दस्य स्नेहस्मरणशीलस्य मे मित्ररक्षार्थं चन्द्रगुप्तसाचिव्यग्रहणं, इत्यत्र दैवप्राबल्यहेतुत्वात् न मे कोऽपि दोषः, दैववशात् मौर्यमन्त्रिपदं स्वीकार्यमेवेति भावः।

टिप्पणी

व्याकरणम्—आलोचनागोचरम्=आ+लोच् (दर्शने)+णिच्+युच् गो+चर् (गतिभक्षणयोः)+ट। आलोचनायाः गोचरमिति षष्ठीतत्पुरुषः। कार्याणां गतयः=कृ+ण्यत्=कार्यं, गम्+क्तिन् प्रथमाबहुवचनं गतयः। "स्त्रीचरित्रं पुरुषस्य भाग्यं देवो न जानाति कुतो मनुष्यः"। दैवं="पूर्वजन्मकृतं कर्म तद्दैवमितिकथ्यते"। वृक्षः=ओव्रश्चु (छेदने)+क्स। शस्त्रम्=शस्+ष्ट्रन्। व्यापारणीयम्=वि+आ+पृ+णिच्+अनीयर्। कोषः—विधिः "स्रष्टा प्रजापतिर्वेधाः विधाता विश्वसृट् विधिः" अमरः। अलङ्कारः—अत्र प्रथमपादे "विषमालंकारः" नन्दानुरागवत्त्वतद्रिपुभृत्यकार्यत्वयोः संघटनया विषमः। द्वितीयचरणे मलयकेतौ वृक्षत्वारोपणात् रूपकं, तृतीयचरणे शस्त्रग्रहणे मित्र-

शरीररक्षणस्य निमित्तत्वात् पदार्थहेतुकं काव्यलिङ्गम् । छन्दः—शार्दूलविक्रीडितम् ।

(प्रकाशम्) भो विष्णुगुप्त ! उपानय खड्गम् । नमः कार्यप्रतिपत्तिहेतवे सुहृत्स्नेहाय । का गतिः ? एष सज्जोऽस्मि ।

चाणक्यः—(सहर्षं शस्त्रमर्पयित्वा) वृषल ! वृषल ! अमात्यराक्षसेनेदानीं गृहीतशस्त्रेणानुगृहीतः, दिष्ट्या वर्धते भवान् ।

राजा—आर्यप्रसाद एष चन्द्रगुप्तेनानुभूयते ।

(प्रविश्य पुरुषः) जेदु जेदु अज्जो । अज्ज ! एसो क्खु भद्दभटभाउराअणप्पमुहेहिं संजमिअकलचलणो मलअकेदू प्पड़िहारभूमिए अवत्थापिदो, ता एव्वं सुणिअ, एत्थ अज्जो प्पमाणं त्ति । (जयतु जयत्वार्यः ! एष खलु भद्रभटभागुरायणप्रमुखैः संयमितकरचरणो मलयकेतुः प्रतीहारभूमावुपस्थापितः, तदिदं श्रुत्वाऽत्रार्यः प्रमाणमिति ।)

चाणक्यः—आं श्रुतम् । भद्र ! निवेद्यताममात्यराक्षसाय, अयमिदानीं राजकार्यं करिष्यति ।

राक्षसः—(स्वगतम्) कथं दासीकृत्येदानीं विज्ञापनाय मां मुखरीकरोति कौटिल्यः ! ! का गतिः ? (प्रकाशम्) राजन् चन्द्रगुप्त ! विदितमेव यथा वयं मलयकेतौ किञ्चित् कालान्तरमुषिताः तत परिरक्ष्यन्तामस्य प्राणाः ।

राजा—(चाणक्यमुखमवलोकयति)

राक्षस—(प्रकट) हे विष्णुगुप्त ! तलवार लाइये । मित्र के स्नेह को नमस्कार है । जिसके कारण सभी कार्य स्वीकार करने पड़े । क्या उपाय है । यह तैयार हूँ ।

चाणक्य—(प्रसन्नता से शस्त्र देकर) वृषल ! वृषल ! अब अमात्य राक्षस ने शस्त्र ग्रहण कर तुम्हें अनुगृहीत किया । भाग्य से तुम बढ़ रहे हो ।

राजा—यह चन्द्रगुप्त आपकी कृपा का अनुभव कर रहा है । (पुरुष प्रवेश करके) आर्य की जय हो । भद्रभट, भागुरायण आदि से हाथ पैर बँधा हुआ

मलयकेतु द्वार पर उपस्थित किया गया है। यह सुनकर आगे आर्य की जैसी आज्ञा हो।

चाणक्य—हाँ सुन लिया। भद्र अमात्य राक्षस से निवेदन करो, अब यही राजकार्य करेंगे।

राक्षस—(मन में) कैसे दास बनाकर अब चाणक्य मुझे निवेदन करने के लिये वाचाल बना रहा है (अर्थात् अब वह यह चाहता है कि मैं उससे कुछ माँगू)। क्या उपाय है (प्रकट) राजन् चन्द्रगुप्त! आपको मालूम है कि हम मलयकेतु के आश्रय में कुछ दिन रह चुके हैं। इसलिये इनके प्राणों की रक्षा की जाय।

टिप्पणी

व्याकरणम्—सर्वकार्यप्रतिपत्तिहेतवे=सर्वाणि च तानि कार्याणि इति सर्वकार्याणि, तेषां प्रतिपत्तिः, तस्याः हेतुः तस्मै। संयमितकरचरणः—करौ च चरणौ च इति करचरणम् द्वन्द्वः, संयमितं करचरणमस्य इति संयमितकरचरणः। प्राणी के अङ्ग होने से समाहार द्वन्द्व नपुंसक लिङ्ग भी। दासीकृत्य—नौकर बनाकर। अदासं दासं कृत्वेति दासीकृत्य अभूततद्भावे च्वि प्रत्ययः। मुखरीकरोति—अमुखरं मुखरं करोतीति मुखरीकरोति। उपस्थापितः—उप+स्था+णिच्+क्त। धातोः आकारान्तात् पुगागमः। प्रमाणम्—प्रमाण शब्दस्य नित्यनपुंसकत्वं, यथा अत्र वेदाः प्रमाणम्।

चाणक्यः—वृषल! प्रतिमानयितव्योऽयममात्यराक्षसस्य प्रथमः प्रणयः। (पुरुषमवलोक्य) भद्र! अस्मद्वचनादुच्यतां भद्रभटप्रभृतयः, अमात्यराक्षसविज्ञापितो देवश्चन्द्रगुप्तः प्रयच्छति मलयकेतवे पित्र्यमेव विषयम् अतो गच्छन्तु भवन्तः सहानेन, प्रतिष्ठते चास्मिन् पुनरागन्तव्यम्।

पुरुषः—जं अज्जो आणवेदि त्ति। (यदार्य आज्ञापयतीति।)

चाणक्यः—तिष्ठ तावत्, भद्र! एवमपरमुच्यतां विजयपालो दुर्गपालश्च, अमात्यराक्षस्य गृहीतशस्त्रस्य प्रीत्या देवश्चन्द्रगुप्तः समाज्ञापयति, एष तावच्छ्रेष्ठी चन्दनदासः पृथिव्यां सर्वेषु नगरेषु श्रेष्ठिपदमारोप्यतामिति।

पुरुषः—जं अज्जो आणबेदि । (यदार्य आज्ञापयति ।)

(इति निष्क्रान्तः ।)

चाणक्यः—भो राजन्, चन्द्रगुप्त ! किं ते भूयः प्रियमुपकरोमि ?

चाणक्य—वृषल, अमात्य राक्षस की यह प्रथम प्रार्थना स्वीकार कर लेनी चाहिये । (पुरुष को देखकर) भद्र, हमारी ओर से भद्रभट आदि से कह दो कि अमात्य राक्षस के कहने पर महाराज चन्द्रगुप्त मलयकेतु को उसका पैतृक राज्य ही देते हैं, इसलिये आप लोग उसके साथ जाइये और उसके प्रतिष्ठित हो जाने पर पुनः वापिस चले आइये ।

पुरुष—जैसी आर्य की आज्ञा ।

चाणक्य—रुको, भद्र ! विजयपाल और दुर्गपाल से इस प्रकार दूसरी बात कहो कि अमात्य राक्षस के शस्त्र ग्रहण करने के कारण प्रसन्न होकर महाराज चन्द्रगुप्त आज्ञा देते हैं कि सेठ चन्दनदास पृथ्वी पर सभी नगरों के सेठ के पद पर नियुक्त कर दिये जायँ ।

पुरुष—जैसी आर्य की आज्ञा ।

(चला जाता है)

चाणक्य—हे राजन् चन्द्रगुप्त ! तुम्हारा और क्या प्रिय करूँ ।

टिप्पणी

व्याकरणम्—प्रतिमानयितव्यम्—प्रति+मन्+णिच्+तव्यत्; स्वीकार किया जाना चाहिये । अमात्यराक्षसविज्ञापिते—अमात्यराक्षस्य विज्ञापिते वि+ज्ञा+णिच्+क्त पुगागमः । पित्र्यं—पैतृकराज्यम्, पितुः इदं पितृ+यत् रीङ् आदेशः । प्रणयः=प्र+नी+अच्, प्रणीयते अनेन इति प्रणयः । पित्र्यमेव—अत्र एव शब्दोऽवधारणार्थकः, तावन्मात्रमेव नाल्पमप्यधिकमिति भावः । भोः राजन् चन्द्रगुप्त !—राक्षस के मन्त्री बन जाने पर चन्द्रगुप्त का राज्य चाणक्य की दृष्टि में अब स्थिर है अतः राजन्, चन्द्रगुप्त यह सम्बोधन पद है ।

राजा—किमतः परं प्रियमस्ति ?

राक्षसेन सम मैत्री राज्ये चारोपिता वयम् ।
नन्दाश्चोन्मूलिताः सर्वे किं कर्तव्यमतःपरम् ? ।।१७।।

राजा—इससे बढ़कर अब और क्या प्रिय है।

प्रसङ्गः—सम्राट् चन्द्रगुप्तः प्राप्ततत्तदर्थजातः अतएव प्रहृष्टान्तरात्मा वदति।

अन्वयः—राक्षसेन समं मैत्री, वयं च राज्ये आरोपिताः, सर्वे नन्दाः उन्मूलिताश्च, अतः परं किं कर्तव्यम्।

भाषार्थ—राजा—इससे बढ़कर अब और अधिक प्रिय क्या होगा, राक्षस के साथ मैत्री हो गई, मुझे राज्य मिल गया, नन्दवंशीय सभी नष्ट कर दिये गये, अब इससे अधिक और क्या चाहिये।

संस्कृतार्थः—राक्षसेन = तदाख्यसचिवेन, समं = साकं, मैत्री = सौहार्दं, जातेति शेषः। वयं च राज्ये आरोपिताः = अहं चन्द्रगुप्तः राज्यं प्राप्तवान्। सर्वे नन्दाः = समस्ताः नन्दवंशीयाः, उन्मूलिताः = उत्खाताः नष्टाः इत्यर्थः, अतः परं = इतोऽधिकं, किं कर्तव्यम् = किं विधेयम्। अर्थात् न किमपीत्यर्थः।

भावार्थः—भोः आर्य चाणक्य! भवत्प्रतिज्ञातं सम्पूर्णं, मया च राज्यमधिगतं, राक्षसेन सह सौहार्दं सञ्जातं, शत्रवो नन्दाः सर्वे समूलमुन्मीलिताः अस्मादधिकं करणीयं किमपि नास्ति।

टिप्पणी

व्याकरणम्—राक्षसेन समं = सहयुक्तेऽप्रधाने इस नियम से समं के योग में 'राक्षसेन' यहाँ तृतीया हुई। राज्ये = राज्ञः भावः कर्म वा राजन् + यत् नलोपश्च। आरोपितः = आ + रुह् = णिच् + क्त, हस्य पादेशः प्रथमाबहुवचनम्, कृदन्तप्रयोगः। कोषः—समं = "सह साकं सार्द्धं सत्रा समम्" इत्यमरः। अलंकारः—समनामालंकारः। "समं स्यादानुरूपेण श्लाघा योग्यस्य वस्तुनः"। छन्दः—अनुष्टुप् वृत्तम्।

चाणक्यः—विजये! उच्यतां दुर्गपालो विजयपालश्च, अमात्यराक्षसपरिग्रहेण प्रीतो देवश्चन्द्रगुप्तः समाज्ञापयति—विना हस्त्यश्वं क्रियतां सर्वबन्धमोक्ष इति। अथवा अमात्यराक्षसे नेतरि किं हस्त्यश्वेन प्रयोजनम्? तदिदानीम्—

सह वाहनहस्तिभ्यां मुच्यतां सर्वबन्धनम्।

मया पूर्णप्रतिज्ञेन केवलं बध्यते शिखा ।।१८।।

(इति शिखां बध्नाति)

प्रतीहारी—जं अज्जो आणवेदि । यदार्य आज्ञापयति ।

(इति निष्क्रान्ता ।)

चाणक्य—विजये, दुर्गपाल और विजयपाल से कह दो कि अमात्य राक्षस के साथ मेल हो जाने के कारण प्रसन्न होकर महाराज चन्द्रगुप्त ने आज्ञा दी है कि हाथी घोड़ों को छोड़कर सभी बन्धन से मुक्त कर दिये जायँ । अथवा अमात्य राक्षस के नेता होते हुए हाथी और घोड़ों की क्या आवश्यकता है ।

तो इस समय—

प्रसङ्गः—सम्पूर्णसमस्ताभिलाषः चाणक्योऽमात्यराक्षसं संवर्द्धयन्नाह सह वाहनहस्तिभ्यामिति—

अन्वयः—वाहनहस्तिभ्यां सह सर्वबन्धनं मुच्यताम् । पूर्णप्रतिज्ञेन मया केवलं शिखा बध्यते ।

भाषार्थः—हाथी और घोड़ों के साथ सब का बन्धन खोल दिया जाय, मेरी प्रतिज्ञा पूर्ण हो गई है । मैं अब शिखा को बाँधता हूँ ।

संस्कृतार्थः—वाहनहस्तिभ्यां सह = अश्वद्विपाभ्यां साकं, सर्वेषां = विश्वेषां जीवानां, बन्धनं = संयमनं, मुच्यताम् = त्यज्यताम् । पूर्णप्रतिज्ञेन = पूर्णा प्रतिज्ञा यस्य तथभूतेन मया = चाणक्येन, केवलं = एकमात्रं, शिखा = चूडा, बध्यते = संयम्यते ।

भावार्थः—नन्दोन्मूलनान्तं शिखामोचनस्य प्रतिज्ञातत्वात् इदानीं प्रतिज्ञा-पूर्णा अतः तद्बन्धनमुचितमेवेति भावः ।

टिप्पणी

व्याकरणम्—वाहनहस्तिभ्याम् = वाहनाश्च हस्तिनश्च ताभ्याम्, द्वन्द्व समासः "द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम्" से समास है । सर्वबन्धनम् = सर्वेषां प्रणिनां बन्धनमिति तत्पुरुष समासः । पूर्णप्रतिज्ञेन = पूर्णा = प्रतिज्ञा यस्य तेन बहुव्रीहिः । प्रतिज्ञा = प्रति + ज्ञा + अङ् + टाप् । पूर्ण = पूर् + क्त । कोषः—"शिखा चूडा केशपाशी" इत्यमरः । अलंकारः—एकस्यां शिखायां विरूपयोः

बन्धमोक्षयोः संघटनया "विषमः" छन्दः—अनुष्टुप् वृत्तम्। (शिखा को बाँधता है)

प्रतीहारो– जैसी आर्य की आज्ञा।

(बाहर चली जाती है)

चाणक्यः—अमात्यराक्षस ! तदुच्यतां, किं ते भूयः प्रियमुपकरोमि ?

राक्षसः—किमतः परमपि प्रियमस्ति ? यदि न परितोषस्तदिदमस्तु—

(भरतवाक्यम्

वाराहीमात्मयोनेस्तनुमतनुबलामास्थितस्यानुरूपां
यस्य प्राग्दन्तकोटिं प्रलयपरिगता शिश्रिये भूतधात्री।
म्लेच्छैरुद्वेज्यमाना भुजयुगमधुना संश्रिता राजमूर्तेः
स श्रीमद्बन्धुभृत्यश्चिरमवतु महीं पार्थिवश्चन्द्रगुप्तः ॥१९॥

(इति निष्क्रान्ताः सर्वे।)

॥इति मुद्राराक्षसे सप्तमोऽङ्कः॥

चाणक्य—अमात्य राक्षस, कहिए, अब आपका और प्रिय क्या करूँ।

राक्षस—क्या इससे भी बढ़कर कोई प्रिय कार्य है। यदि आपको सन्तोष नहीं है तो ऐसा हो।

भरतवाक्यम्

प्रसङ्गः—मुद्राराक्षसनाटककविः श्रीविशाखदत्तः भरतवाक्यं निबध्नन्नाह वाराहीमात्मयोनेरिति—

अन्वयः—प्रलयपरिगता भूतधात्री प्राक् अतनुबलाम् अनुरूपां वाराहीं तनुं आस्थितस्य यस्य आत्मयोनेः दन्तकोटिं शिश्रिये, अधुना म्लेच्छैः उद्वेज्यमाना सती राजमूर्तेः भुजयुगं संश्रिता सः श्रीमद्बन्धुभृत्यः पार्थिवः चन्द्रगुप्तः महीं चिरं अवतु।

भाषार्थः—प्रलय के समय पृथ्वी ने पहले अधिक बलयुक्त तथा रक्षा

T59.4542
सिं६४९मु

करने में समर्थ वराह का शरीर धारण किए जिस विष्णु के दाँतों के अग्रभाग का सहारा लिया था और अब म्लेच्छों से पीडित होने पर राजा का शरीर धारण किये हुए जिस विष्णुरूप चन्द्रगुप्त का आश्रय लिया है वह श्रीसम्पन्न तथा बन्धु और अनुचरों वाला चन्द्रगुप्त बहुत दिन तक पृथ्वी की रक्षा करे।

संस्कृतार्थः—प्रलयपरिगता = प्रलयेन = कल्पान्तेन, परिगता = व्याप्ता, भूतधात्री = पृथिवी, प्राक् = पूर्वं कल्पादौ, अतनुबलाम् = अतिबलयुक्तां, अनुरूपां = योग्यां, वाराहीं = शौकरीं शूकरस्य, तनुं = शरीरं, आस्थितस्य = अधिष्ठितस्य, यस्य आत्मयोनेः = स्वयंभुवः श्रीविष्णोः, दन्तकोटिं = दशनाग्रभागं, शिश्रिये = आश्रयं स्वीचकार, अधुना = साम्प्रतं, म्लेच्छैः = यवनैः, उद्वेज्यमाना = परिपीड्यमाना, राजमूर्तेः = नृपशरीरे स्थितस्य यस्य, भुजयुगं = बाहुयुगलं, संश्रिता = समवलम्बिता, सः, श्रीमद्बन्धुभृत्यः = श्रीमन्तः = सम्प्राप्तसर्वैषणाः, बन्धवः = स्वजनाः भृत्याः = सेवकाः यस्य तादृशः, पार्थिवः = नृपश्चन्द्रगुप्तः, महीं = पृथ्वीं, चिरं = बहुकालपर्यन्तं, अवतु = रक्षतु।

भावार्थः—नाटककविः भरतवाक्यं निबध्नाति यत् महाराजाऽधिराजश्चन्द्रगुप्तः सश्रीमत्सगोत्रः सभृत्यः महीं चिरमवतु।

टिपण्णी

व्याकरणम्—भूतधात्री - भूतानां जीवानां धात्री, धा + तृच् + ङीप्। वाराहीम्—वराहस्य इयं वाराही तां, वराह + अण् + ङीप्, द्वितीयैकवचनम्। उद्वेज्यमाना = उद् + विज् + णिच् + शानच् + टाप्। संश्रिता – सम् + श्रि + क्त + टाप्। भरतवाक्यम् = भरं तनोति इति—तन् + ड। तस्य वाक्यम् वच् (परिभाषणे) + ण्यत् चस्य कुत्वम्। कोषः—"ब्रह्माऽऽत्मभूः सुरज्येष्ठः, स्वयंभूश्चतुराननः"। अलङ्कारः—चन्द्रगुप्ते विष्णुत्वारोपाद्रूपकम्। अतिशयोक्तिश्च। छन्दः—स्रग्धरावृत्तम्।

(सब बाहर चले जाते हैं।)

॥ मुद्राराक्षस में सातवाँ अंक समाप्त ॥

6888